

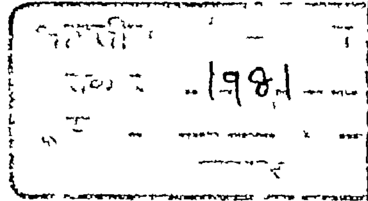
ॐ

श्रीवीतरागाय नम. ।

श्री पद्मनंदी आचार्यद्वारा विरचित—

इतिश्रीपद्मनंदिपञ्चविंशतिका

नवीन हिंदीभाषानुवाद सहित



श्री दि० जैन १०८ मल्लि सागर ग्रन्थमाला

कृष्णा फ्लोर मिल्स (मेरठ)

श्री वीरनिर्वाण संवत २४७७] [१ दिसम्बर सन् १९५०

प्रभात प्रेस, नौचन्दी मैदान, मेरठ।

प्रथमवार १९०० } { मूल्य

मंगलाचरण ।

(इसे शास्त्र वांचनेके पहले निरंतर पढ़ना चाहिये)

ओंकारं बिंदुसंयुक्तं नित्यं ध्यायंति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमोनमः ॥१॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरांधानां ज्ञानांजनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

परमगुरवे नमः परंपराचार्यश्रीगुरवे नमः। सकलकलुषविध्वंसकं श्रेयसां परिवर्द्धकं धर्मसंबंधकं भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकमिदं शास्त्रं श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकानामधेयं अस्यमूलग्रंथकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवाः तदुत्तरग्रंथकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः तेषां वचोनुसारमासाद्य श्रीपद्मनंद्याचार्येण विरचितं श्रोतारः सावधानतया शृणवंतु पठन्तुवा ।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुंदकुंदाद्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम् ॥

विनम्र प्रार्थना

प्रिय जिनवाणी भक्त

संसार चक्र अतीव वेग से चल रहा है अपरिमित इस भूमंडल पर यद्यपि सर्वप्राणी अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये अहर्निशिसतत प्रयत्नशील रहते हैं तदपि उन्हे सच्ची सुख और शान्ति नहीं मिलती है वर्तमान समय में भी सभी मतमतान्तर वादी भोले सरल प्राणियों को अपने वाग्जाल मे फंसा कर सन्मार्ग से विमुख कर रहे हैं ऐसे विकराल अशान्ति मय समय मे यदि मानव सुख और शान्ति की खोज करे तो कैसे ? कारण स्पष्ट है सब जीव विषय कषाय रूपी पिशाच से ग्रसित हैं हा यदि यह भव्य प्राणी कुछ समय स्वाध्याय में दे तो उसे अवश्य ही शान्ति और शान्ति का मार्ग सूझ सकता है। यही समझकर जैनाचार्यों ने तो स्वाध्याय को भी तप कहा है जिस प्रकार तप में सर्व योगों को निरोध होना आवश्यक है उसी प्रकार से स्वाध्याय में भी स्वाध्यायी जिस समय सम्यग्रीति से स्वाध्याय में लीन हो जाता है उस समय जो आत्मनुभाव से स्वानंद की लहर आत्मा में उठती है। उसे वही जीव जानता है या सर्वज्ञ देव अस्तु यही समझकर प्रस्तुत ग्रन्थ सजिल्द आप जिनवाणी भक्तों के, समक्ष श्री दि० जैन १०८ पूज्य मल्लि सागर ग्रन्थ माला की से स्वाध्याय प्रचारार्थ आजन्म स्वाध्याय प्रेमियों को भेट में दिया जा रहा है इसके सम्पादन की योग्यता मुझ अल्पज्ञ में नहीं थी परन्तु श्री जिन देव और परमगुरू की असीम कृपा से यह आप के सम्मुख उपस्थित कर रहा हूं प्रमाद जन्य त्रुटियों को सूचित करें।

विद्वज्जन सेवक—

गुलाब चन्द्र जैन न्याय तीर्थ,

जैन मंदिर सदर मेरठ।

॥ पद्मनंदी आचार्य के कुछ जीवन विषय का उल्लेख ॥

पाठकगण !

कोई समय इस जैन धर्म के लिये इस भारतवर्ष मे ऐसा बीत चुका है कि जिस समय इस पवित्र जैनधर्म का नकारा चारो ओर इस भूमंडल पर निर्भय रीति से बजता था। अनंते केवली इस भूमंडल पर विहार कर अपने ज्ञान रूपी सूर्य से समस्त संसार के अज्ञानांधकार को दूर करते थे। जीवों को उत्तम मार्ग का उपदेश देकर मोक्ष की ओर झुकाते थे। , और अनंते मुनिगण भांति २ के उग्रतपों को करते थे, उग्रध्यान के बल से अपने आत्मरूप के रस को भलीभाति आस्वादन करते थे, और जीवों को भी आस्वादन कराने की रातदिन कोशिश किया करते थे। उन निर्ग्रंथ मुनीश्वरों में कोई तो आचार्य पद के और कोई उपाध्यायपद के धारी होते थे। शिक्षा दीक्षा देना इत्यादि आचार्यों का मुख्य कर्म था उसको वे आचार्य भली भांति करते थे। उन्हीं आचार्यों की कृपा से एवं शिक्षा से अनगिनते जीव निर्ग्रंथ अवस्था प्राप्त करते थे और मोक्ष की प्राप्ति में सदा प्रयत्नशील रहा करते थे। इसी भांति अनेक उपध्यायगण भी इस पृथ्वी मंडल के ऊपर विहार करते थे। अपने पठन पाठन कर्म में ये पवित्र आत्मा के स्वरूप के जानने वाले उपाध्याय पद के धारी मुनीश्वर हज़ारों शिष्यों को वास्तविक स्वरूप का अध्यापन करा रहे थे। कहीं पर किसी विषय का वर्णन किया जा रहा था।

पंचम काल के प्रभाव से वह प्राचीन ऋषि समाज बहुत काल से कम दृष्टिगोचर होने लगा तब जैन धर्म का पठन पाठन बहुत कम होने लगा। यहां तक कि २५ वर्ष पहले की बात है कि संस्कृत शास्त्रों के पाठी कहीं कोई दृष्टि गोचर होते थे। परन्तु हर्ष है कि १०–१५ वर्ष से फिर पवित्र धर्म का पठन पाठन इस तरह बढ़ रहा है कि जिससे विधर्मी लोगों की भी श्रद्धा जैनधर्म पर होने लगी है।

पाठक! यह कृपा और किसी की मत समझिये, सिर्फ यह सब कृपा है तो जैन ग्रन्थों की ही है क्योंकि जब से लोगों को जैन ग्रथों के देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है तबसे उन्होंने जैन धर्म के स्वरूप को जाना है तब से यह बात हुई है।

जैन धर्म प्रेमियो! यद्यपि आपके कुछ प्राचीन ग्रन्थों का अब उद्धार हुआ है तथापि अब भी आपके सैकड़ों ग्रंथ भंडार मे कीड़ो के भोजन बन रहे हैं दयाकर उनके उद्धार का प्रयत्न कीजिये। नहीं तो आचार्यों का प्रयत्न व्यर्थ जायगा और आप लोगों को कृतघ्नी बनना पड़ेगा क्योंकि लोग बराबर जैनधर्म के देखने की, उसके ग्रन्थो के अभ्यास करने की अभिलाषा प्रकट कर रहे हैं। ग्रन्थों को मगा रहे हैं। किंतु खेद है जैन ग्रन्थ उनको मांगने पर भी नहीं मिलते हैं। मिले कहां से ? सिर्फ एक २ दो २ प्रतियां हैं उनको वे रक्खें या मांगने वालों को देवें क्योंकि शुद्ध लेखक मिलते नहीं बड़ी कठिनाई सी अटक गई है।

इस उक्त त्रुटि के दूर करने के लिये तथा हर एक मनुष्य को सुलभरीति से जैनधर्म के स्वरुप का ज्ञान होवे इस वास्ते यह अत्युत्तम महान ग्रंथ श्री पद्मनंदिपंचविंशतिका प्रकाशित किया गया है। कोई कहते हैं कि यह ग्रंथ साहित्यका मामूली ग्रंथ है किंतु यह उनकी भारी भूल है इस ग्रंथ का अभ्यासी बखूबी रीति से जैनधर्म का जानकार हो सकता है. इसमें कोई संदेह नहीं। इस ग्रंथ का पद्मनंदीपंचविंशतिका का नाम इसलिये पड़ा है कि पद्मनन्द्याचार्य मे इस ग्रंथ में बड़ी भारी सुन्दर कविता मे पचीस अध्यायों मे पचीस प्रकरण का वर्णन किया है उन प्रकरणों

के नाम तथा संक्षेप रीति से वर्णन इस प्रकार है। प्रथम ही प्रथम इस ग्रंथ में धर्मोपदेशामृतरूप अधिकार का वर्णन किया गया है इस अधिकार मे धर्म का सामान्यस्वरूप, विस्तार पूर्वक दया धर्म का स्वरूप, श्रावक धर्म का स्पष्टतया स्वरूप, मुनिधर्म का विस्तार पूर्वक कथन, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यकचारित्र रूप रत्नत्रयधर्म का स्वरूप, उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच संयम तप. त्याग आकिंचन्य ब्रह्मचर्य इस प्रकार स्पष्ट रीति से दशधर्म का स्वरूप शुद्ध आत्मा की परिणतिरूप धर्म का स्वरूप और धर्म की महिमा, धर्म का दुर्लभपना, आदिक बातों का विस्तार पूर्वक सरल रीति से वर्णन किया गया है। १। दूसरा अधिकार दानोपदेशाधिकार है। इसमें उत्तम पत्रों से आहार औषध अभय और शास्त्र इन चार बातो का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है तीसरा अधिकार अनित्यत्वाधिकार हैं। इसमे समस्त वस्तुओ की अनित्यता का वर्णन किया गया है चौथा एकत्वाधिकार है इसमे एक ही जीव उत्पन्न होता हैं एक ही गर्भ में शरीर ग्रहण करता है एक ही बालक और युवा है इसको दूसरा कोई स.ाय संसार में नहीं है इत्यादि बातों का भलीभाति वर्णन है। पाचवा अधिकार यतिभावनाष्टक हैं। इस अधिकार में भलीभांति यतियों की भावनाओं का वर्णन किया गया है। छट्वा अधिकार उपासकसंस्कार है इसमें भलीभांति श्रावकों के व्रतों का वर्णन किया गया है और बारह भावनाओं का भी स्वरूप दिखाया गया है। ७ सातवा देशव्रतोद्योतन नामक अधिकार है इसमें एकदेशव्रत का भलीभांति प्रकाश किया गया है ८ वां अधिकार सिद्धपरमेष्टीस्तुति है इसमें सिद्धों के स्वरूप की उत्तमरीति से स्तुति की गई है। ९ वा आलोचनाधिकार है इस अधिकार में जिनेन्द्रदेव के सामने बैठकर पापोंकी आलोचना का भली भांति वर्णन किया है। १० वां अधिकार सद्बोधचन्द्रोदय इसमे बखूबी रीति से चैतन्य तत्त्व का वर्णन किया गया है ११वॉ अधिकार निश्चयपंचाशत है इसमे ५० श्लोकों में निश्चयनय का वर्णन उत्तम रीति से किया गया है १२ वां ब्रह्मचर्यरक्षावर्ती अधिकार है इसमें ब्रह्मचर्य की रक्षा किस प्रकार क्यों करना चाहिये तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा करने से मनुष्यों का क्या फायदा होता है इन बातों का भली भांति वर्णन किया गया है। १३ वा अधिकार ऋषभजिनेन्द्रस्तोत्र है। इस स्तोत्र में प्राकृत भाषा में भलीभाति जिनेन्द्र भगवान की स्तुति की गई है। १४ वा जिनेन्द्रस्तोत्राधिकार है इस अधिकार मे भलीभाति समान्यरीति से जिनेन्द्र भगवान की स्तुति की गई है। १५ वा सरस्वतीस्तोत्र नामका अधिकार है इसमे जिनवाणी माता के गुणों का भली भाति वर्णन है।१६ वा स्वयंभूस्तोत्र नाम का अधिकार है इसमें चोबीसों तीर्थंकारों की उत्तम रिति से स्तुति की है। १७ वां प्रभाताष्टक नामका अधिकार है इसमे जिनेद्र के सुप्रभात का भली भाति वर्णन किया गया है यह स्तोत्र प्रात काल में बोलने के लिये बहुत ही अपूर्व है। १८ वा शातिनाथस्तोत्र है इसमें शातिनाथ भगवान की उत्तम रीति से स्तुति की गई है। १९ वा पूजाष्टक है इसमे जल चंदन आदि के जुदे २ अष्टको का वर्णन किया गया है। २० वा करुणाष्टक है यह स्तोत्र इतना मधुर है कि इसके पढ़ने से कंठ करुणा से गद्गद हो जाता है। २१ वा क्रियाकाड चूलिका नाम का अधिकार हैं इसमें बखूबी रीति से जिनेन्द्र भगवान के सामने पापों के प्रायश्चित का वर्णन किया गया है। २२ वा एकत्वभावना नामक अधिकार है इसमें एकत्वभावना का विस्तार पूर्वक कथन है २३ वां परमार्थविंशति नामक अधिकार है इसमे भलीभाति परमार्थ का वर्णन किया गया है। २४ वा शरीराष्टक नामक अधिकार है इसमें इस शरीर के गुण दोषों का वर्णन है।२५ वा स्नानाष्टक है इस अधिकार मे स्नान के शुद्धि मानने वालों की निंदा का वर्णन किया गया है। इन पच्चीस अधिकारों के अतिरिक्त अंत में ब्रह्मचर्याष्टक है उन आचार्य महाराज की ब्रह्मचर्य में सब धर्मों से अधिक भक्ति थी इसलिये ब्रह्मचर्य अधिकार में इस ग्रंथ की समाप्ति की है ऐसा मालूम होता है॥ इति॥

हमारी समझ से यह ग्रंथ प्रत्येक भंडार तथा घर में रहना चाहिये और यह ग्रंथ औपदेशिक परीक्षा में भी भर्ती होजाना चाहिये क्योंकि जो विद्यार्थी औपदेशिक परीक्षा देंगे वे अवश्य ही इस ग्रंथ को याद करेंगे और इसके याद करने से वे अच्छी तरह जैन धर्म के जानकार हो जावेंगे तथा उत्तमवक्ता भी हो जावेंगे इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं॥

इस ग्रंथ की कविता बहुत ही उत्तम और गंभीर है॥

आचार्यवर पद्मनंदी।

सज्जनगण! यह जो ग्रंथ आपके सामने विराजमान है इस ग्रंथ के कर्ता महात्मा आचार्य पद के धारी श्रीपद्मनंदी आचार्य हैं। जैनियों का इतिहास सबसे पीछे पिछड़ा हुवा है, सामग्री कुछ भी नजर नहीं आती, एक २ नाम के कई आचार्य भी हो गये हैं इसलिये पद्मनंदी सरीखे विद्वानों में ये कौन पद्मनंदी आचार्य थे इस बात का हम जरा भी निर्णय नहीं कर सकते, क्या करें।

पूना लायब्रेरी की रिपोर्ट से यह पता लगा है कि पद्मनंदी नाम के कई आचार्य हो गये हैं उनमें एक पद्मनंदी जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के कर्ता हैं जो कि वीरनंदी के शिष्य बलनंदी, बलनंदी के शिष्य पद्मनंदी हैं। ये आचार्य विजय नगर के निकट वारा नगर के शक्ति भूपाल के समय में हुवे हैं। दूसरे पद्मनंदी के पंचविंशतिका, चरणसारप्राकृत, धर्मरसायन-प्राकृत ये तीन ग्रंथ बनाये हैं। इनके समयादिक का कुछ भी पता नहीं लगता। तीसरे कर्णखेट ग्राम में हुवे हैं जिन्होंने सुगंधदशमी उद्यापनादि बनाये हैं। चौथे पद्मनंदी कुंडलपुर निवासी हुवे हैं जिन्होंने चूलिका सिद्धांत की वृत्ति नामक व्याख्या १२००० श्लोकों में बनाई हैं। पांचवें विक्रम सं० १३६५ में हुवे हैं छटे पद्मनंदी भट्टारक नाम से प्रसिद्ध हुवे जिनकी बनाई हुई देवपूजा रत्नत्रयपूजा पूना की लायब्रेरी मे प्राप्त है। सातवे विक्रम सं० १३६२ मे भट्टारक नाम से हुवे हैं इनकी लघुपद्मनंदी संज्ञा भी है इनके बनाये हुवे यत्याचार आराधना संग्रह परमात्मप्रकाश की टीका, निघंटु (वैद्यक) श्रावकाचार कलिकुंडपार्श्वनाथविधान अनत कथा आदि ग्रंथ हैं किन्तु पद्मनंदी जो कि जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के कर्ता हैं और विजय नगर के निकट वारा नगर के शक्ति भूपाल के समय में हुवे हैं वे ही पद्मनंदीपंचविंशतिका के कर्ता जान पड़ते हैं क्योंकि इसमें प्रथम प्रमाण तो यह है कि ये प्राकृत भाषा के भी पूर्ण जानकार थे क्योंकि इन्होंने इस ग्रंथ में ऋषभ स्तोत्र का तथा जिनेंद्र स्तोत्र का प्राकृत भाषा में वर्णन किया है इसलिये प्राकृत ग्रंथ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति इन्हीं का बना हुवा होना चाहिये। दूसरे—जगह २ इस ग्रंथ मे इन्होंने वीरनंदी गुरू को नमस्कार किया है इसलिये यदि ये वीरनंदी के शिष्य प्रशिष्यों में से हैं इस पद्मनंदीपंचविंशतिका के कर्ता येही हैं इन्होने बलनंदी को इस ग्रंथ में नमस्कार नहीं किया है इसलिये संभावना होती है कि शायद बलनंदी इनके सहपाठियो मे उत्तम नंबर के सहपाठी हों इसलिये इनकी प्रखर गुरुत्व बुद्धि उन मे न हो? इन प्रमाणों से यह भी बात समझ मे आती है कि दूसरे पद्मनंदी नाम के आचार्य ने जो पंचविंशतिका बनाई है वह इस पंचविंशतिका से भिन्न कोई दूसरी पंचविंशतिका होनी चाहिये यद्यपि इनके बनाये हुवे ग्रंथों से यह बात बखूबी रीति से जानी जाती है कि प्राकृत भाषा के जानकार ये भी थे इसलिये इस पद्मनंदीपंचविंशतिका के कर्ता ये ही हो सकते है किन्तु इस बात का बतलाने वाला कोई बलवान प्रमाण नजर नहीं आता कि ये वीरनंदी के शिष्य प्रशिष्यों में से ही होवे इसलिये यही बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि इस पद्मनंदीपंचविंशतिका के कर्ता प्रथम पद्मनंदी ही हैं। जो सज्जनगण जैन जाति मे इतिहास के वेत्ता है उनको चाहिये कि वे इस ग्रंथ के कर्ता पद्मनदी आचार्य के समयादिका पतालगावे और इनके समय आदि का निर्णय करें हमारे पास सामग्री आदि के न होने से हम ऐसे महान आचार्यों के समय आदि के निर्णय करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

पूर्व प्रकाशित ग्रंथ के आधार से।

सम्पादक—

मुनिपादपद्मचञ्चरीकः

पं० गुलाबचंद जैन न्याय तीर्थ शास्त्री

जैन मंदिर मेरठ सदर।

अधिकार सूची श्री पद्मनंदीपंचविंशतिका ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

अशुद्धिशुद्धि पाठ

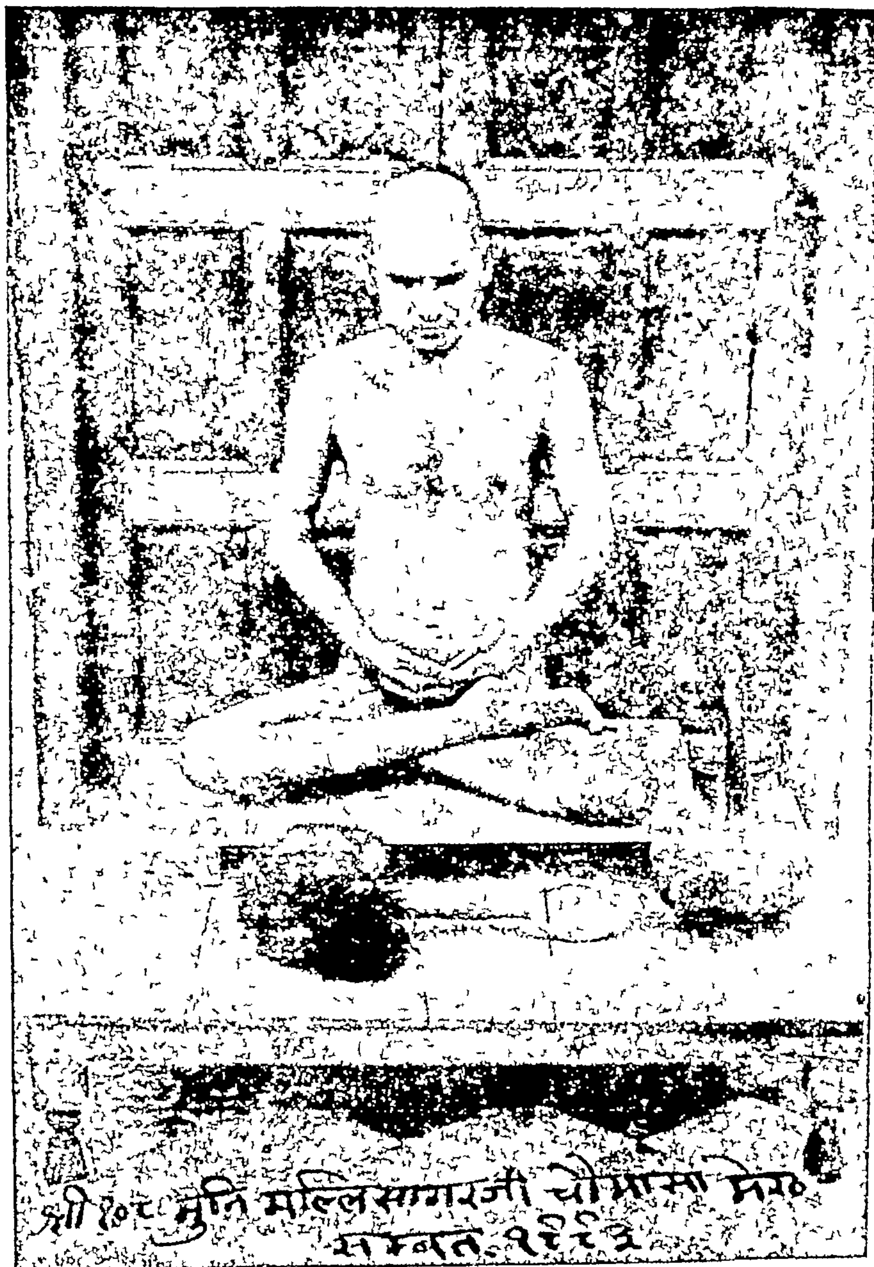
अध्या०	अशुद्धि	शुद्धि	पृ०	पंक्ति	श्लोक
१	कायोत्सर्गायताङ्गो	कायोत्सर्गायताङ्गो	१	१	१
,,	कों	को	२	२	६
,,	हैं	हैं	३	२	३
,,	धर्मात्यया	धर्मात्यया	४	२०	७
,,	अथवा	अथवा	५	४	९
,,	अर्थात	अर्थात	५	१२	-
,,	धर्मात्मा	धर्मात्मा	५	१५	८
,,	अर्थात	अर्थात	,,	१७	८
,,	निर्ग्रंथ गुरुओ की	निर्ग्रंथ गुरुओं की	८	२	१२
,,	वर्ताव	वर्ताव	८	३	१२
,,	अधीन	आधीन	१०	३	१७
,,	अर्थात	अर्थात	१०	६	१७
,,	उदयमे	उदयमें	१०	१	१८
,,	सक्ता	सकता	११	६	२०
,,	प	पर	१२	२	२१
,,	नहीं	नहीं	१७	३	३०
,,	नं	न	१७	,,	३१
,,	पढे	पढ़े	१८	२	३१
,,	राज	राजा	१८	३	३१
	सेठि	सेठ	१८	३	३१
,,	दारिद्र्य	दारिद्र्य	२०	१	३७
,,	निर्मल	निर्मल	२१	७	३८
,,	आयुः	आयु	२१	३	३९
,,	मूलछेनक	मूलछेदक	२२	६	३९
,,	ककुम्मगाद्दलम्	ककुम्भराड्लम्		४	४१
,,	हैं	हैं	२४	३	४५
,,	धुर्षम	धुर्षम्	२५	४५	(७) ४८
,,	तर जाते हैं	तिर जाते हैं	२६		(८) ४९
,,	मोख	मुक्ति	२६		(६) ४९
१	परीषहं	परीषहां	२८ (१)		
,,	मुनियो	मुनियों	३० (५)		५०
,,	विक्रिद्रिः	विक्रीडित	३१		३५
	अर्थात	अर्थात	३४ (५)		

अध्या०	अशुद्धि	शुद्धि	पृ० पं०	श्लोक	पं०
,,	स्पृष्ट	स्पर्शति	३६ (२)	३६	
,,	वीजमुर्त्तँत्वशङ्का	वीजमुत्तत्वशङ्का	(३७)	७३	(१)
,,	नधिमतपदमन्यो	अभिमतपदमन्यो		७४	(४)
,,	शुद्ध नय	शुद्धनय	४० (१)	८६	(२)
,,	लोकोजड़	लोकजड	४४	८५	(२)
,,	आर्य (छंद)	आर्याछंद ४५			
,,	तीथेपु	तीर्थेपु	४७	६५	(१)
,,	गलि	गल	५२ (१)	१०२	
,,	अर्थात्	अर्थात	५३ (४)	१०५	
,,	आचार्य	आचार्य	५४ (१)	१०६	
,,	दोष्वलं	दोपेष्वलं	५६	११२	(१)
,,	जड्यति	जडयति	६२	१२२	(३)
,,	ज्ञानवरणादि	ज्ञानावरणादि	६३२	१२४	
,,	श्रेष्ठ	श्रेष्ठ	६५ (१)	१२६	
,,	पदाथ	पदार्थ	६५ (५)	,,	
,,	पटत्व	घटत्व	६६ (६)	१२८	
,,	संसकार	संस्कार	७० (१६)	१३४	
,,	श्रेष्टमार्ग	श्रेष्ठमार्ग	७१ (८)	१३४	
,,	वाली	वाला	७३ (११)	१३७	
,,	का	से	७५ (२)	१४०	
,,	किमाल	किमालं	७७	१४४	(१)
,,	कच्छाकारुजि	कच्छाकारुचि	१		(४)
,,	संधवभाक्			१५२	(२)
,,	अशुद्धनय	शुद्धनय	८४ (८)	१५७	
,,	सयाय	सिवाय	८६ (८)	१६२	
,,	योगिश्वरों	योगीश्वरो	८८ (२)	१६३	
,,	वैरणं प्रति	वैरिणं प्रति	९४	१७५	(१)
,,	माहात्मा	माहात्म्य	१०१ (७)	१८७	
,,	तलावर	तलवार	(१०४) (२)	१९१	
२	प्रम्मेदात्	प्रमोदात्	१२१	२७	(४)
	धमर्तमापने	धर्मात्मापने	१२२ (४)	३१	
	आसस्तर्धेपि	आसस्तद्धर्मपि		३२	(१)
	सन्धुओं	बन्धुओं	१२८ (४)	४३	(
	नहीं	ही	१३३ (४)	५३	
	करुते	कुरुते	१५५	५७	(४)
	हैं	है	१६१ (१)	७	
	के	से	१६६ (२)	३०	

अध्या०	अशुद्धि	शुद्धि	पृ० पं०	श्लोक	पं०
	हैं	है	१७७ (६)	६१	
	में	हैं	१७८ (१)	६५	
	सदुपदेशमुपाश्रिनाम	सदुपदेशमुपाश्रितानां	१८२	७८	(२)
	प्रयासत्तेर्भवति	प्रत्यासत्तेर्भवति	१८३	७६	(२)
	शादूलविक्रीड़ित	शार्दूलविक्रीड़ित	१८५ (१)	२	
५	गुरे.	गुरोः	१६५	२१	(२)
	परियाण	परिमाण	१६६ (४)	२४	
	दद्याद्यदतीनां	दद्याद्यतीनां	१६६	३४	(१)
६	बोधिदुर्लभधर्मता	बोधिदुर्लभधर्मता	२०२	४४	(१)
७	नाच्यते	नार्च्यते	२१७	१८	(१)
	दर्पणादद्मिरपि	दर्पणादभिरपि	२२०	२३	(३)
	घ्रुवम्	ध्रुवम्	२२१	२७	(२)
	मुक्ति	युक्ति	२२६ (२)	५	
८	हस्मावलम्बी	हर्मावलम्बी	२३६	२६	(३)
९	इसयिये	इसलिये	२४७ (२)	१३	
	ने भी	न भी	२४८	१५	(३)
	मिलया	मिलता	२५० (३)	१८	
	वाया	वाला	२५२ (१२)	१८	
	प्रमतो		२५३	२४	(३)
	वध	बन्ध	२५४ (१२)	२५	
	चाहिते	चाहिए	२५५ (१०)	२६	
	वह्ये पु	वाह्ये पु	,,	२७	(१)
	आत्ममत्व	आत्मतत्व	२६० (५)	१	
	रूसी	रूपी	२६१ (२)	३	
१०	सगाधन	समाधान	२६३ (३)	७	
	द	च	२६६	१६	(२)
	अमूतीक	अमूर्तीक	२७१ (५)	२३	
	तद्वगतोऽपि	तद्गतोऽपि	२७१	२४	(१)
	यायरतीर्थ कोटिभि	यात्यतीर्थ कोटिभिः	२७३	२८	(१)
	जातते	जायते	२७३	२६	(१)
	यस्तुदेयमिरञ्च	यस्तुद्देयमितरञ्च	२७८	३६	(१)
	पवर्तो	प्रवर्तो	२८३ (३)	४७	
	चैतन्यसरूप	चैतन्यस्वरूप	२८४ (६)	४६	
११	हृदियानि	हृदयानि	३१२	५२	(२)
	पञ्चाशत्	पञ्चाशत्	३१८ (४)	६२	
१२	ब्रह्मविक्तिबोधनिलयो	ब्रह्मविविक्तबोधिनलयो		२	(१)
	कयते	करते	३१६ (७)	३	

अध्या०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ० पं०	श्लोक पं०
	शानिन	शानीन	३०७	७ (संस्कृत १२०)
१३	नव	नक	३५४ (७)	१८
	म	मास	३६६ (४)	२० गाथा
१४	दर्शन	दर्शन	३७२ (१)	१०
	भर	भर	३८६ (७)	७
१५	उद	[illegible]	३८१ (१)	६
	प्रतियुगेन	प्रतियुगेन	३८३	८
	हि	है	,, (७)	८
	ज्ञानधर्मादि	ज्ञानधर्मादि	३९१ (२)	२
	दुर्लभ	दुर्लभ	३९६ (१)	१६
	भगवन्तिविभिन्नपूर्व	संपूर्ण	३९२	१७
	स्वर्गसपूर्णस्मिरोपराजिता	पूर्णादि	३९३	१७
	तार्थ	तीर्थं	३९८	२४
	पुष्पदन्तप्रभुतगो	पुष्पदन्तप्रभुतगो	३९९	२४
	स्वयम्भुवा	स्वयम्भुव	४००	१
	श्र समभवनाथ	श्री सम्भवनाथ	४०२ (३)	३
१६	चन्द्रप्रभ	चन्द्रप्रभ	४०४ (१)	८
	जगत्गये	जगत्त्रये	४०६	११
	धर्मवर्द्धमान	वर्द्धमान	४१२ (२४)	
	नतस्कार	नमस्कार	४१३ (५)	१
१७	ष्यहर्ताम्	अर्हताम्	४१७	६
१८	संतिथ	संस्थितः	४१०	३
	प्राद्गता	मोद्गता	४२२	७
१९	स्वघ	स्वच्छ	४२८	६
२०	घोद	छोड़	४३३ (४)	१
	मिया	मिला	४३३ (११)	१
		कुछ	४३५ (२)	५
		अधिक	४३५ (२)	५
२१	का	की	४४० (२)	१५
	स	उस	४५० (६)	६
	परतो	परयतो	४५१	८
२२	उत्पन	उत्पन्न	४५६ (२)	१७
	विघत	विघात	४७३ (४)	१
२३	मैतुन	मैथुन	४७३ (११)	१
		छोड़ने	४७८ (२)	८

श्री पूज्य १०८ मुनि मल्लिसागर जी महाराज



इस वर्षायोग में आपने मेरठ सदर में चातुर्मास किया ।

१—१२—५०

नमः श्री मल्लिनाथाय

आज मैं उन परम पूज्य प्रात· स्मरणीय जगद्वन्द्य करुणानिधान श्री १०८ मुनि मल्लि सागर मुनि महाराज का अतीव आभारी हू जिन की असीम कृपा से यह महान शास्त्र पुनः प्रकाशित हो रहा है।

बन्धुवर---हम लोगों के महान पुण्योदय से इस वर्ष अर्थात् सं० २००७ के द्वितीय आषाढ़ के चातुर्मास वर्षा योग का सुयोग सदर निवासियों को मिला---आप के अतीव शास्त्र प्रवचन एवम् अद्भुत वचनिका शैली को देखते हुये हमें पूर्व आचार्यों का अनुमान होता है इस वर्ष आपने अपनी शास्त्र सभा में पद्मनन्दी पञ्चविंशतिका का प्रवचन किया उस के सरल और यथार्थ ग्रहस्थोपयोगिता को अनुभव करते हुये अन्यान्य श्रावकों की रुचि भी इस के प्रचार की ओर लगी ततः मेरठ सदर निवासियों ने ८०० रु१के अनुमान निधि एकत्रित थी और महाराज से प्रार्थना की कि भगवन ऐसे उत्तम शास्त्र का तो अधिक से अधिक मात्रा में प्रचार होना चाहिए श्री पूज्य महाराज जी ने प्रार्थना स्वीकार करली और अपनी ग्रन्थ माला की ओर से प्रकाशन की सम्मति देदी---यद्यपि मेरठ सदर-शहर सरधना इत्यादि के धर्म बन्धुओं ने भी इस प्रकाशन में अपनी ओर से भी कुछ २ भेंट दी है परन्तु इस मे सर्व प्रकार की जिम्मेदारी श्री मल्लि सागर सरस्वती भंडार की ही है यह ग्रन्थ श्री मान् पं० गजाधरलाल जी शास्त्री ने १९१४ में वीर सं० २४४० में अनुवाद सहित प्रकाशित किया था परन्तु शास्त्राकार होनेसे बहुत परेशानी होती थी अतः इस बार पुस्तकाकार प्रकाशित हो रहा है।

श्री पूज्य १०८ मुनि मल्लि सागर जी का सं० जीवन चरित्र

बम्बई प्रान्त में मांदगाव (नासिक) नामका एक नगर है जिसमें अनेक धर्मात्मा श्रावक और श्राविकायें प्रतिदिन षट् कर्मों का सम्यग्रीति से परिपालन करते थे उन्हीं धर्मात्मा श्रावकोत्तमों में श्री मान् दौलतराम जी सेठी (खण्डेलवाल भी) धर्म अर्थ काम पुरुषार्थ पूर्वक मोक्ष पुरुषार्थ की ओर संलग्न थे भव्यजीवो के महान पुण्योदय से आपकी धर्म पत्नी पूज्यनीया श्री मती सुन्दर बाई के १९५६ में गर्भाधान हुआ और यथा समय आपके सुपुत्र का लाभ हुआ दैवज्ञों ने तो प्रारम्भ में ही आप के उत्तम श्रेष्ठ महात्मा घोषित किया था। और आप का नाम मोती लाल जी रक्खा गया।

विद्यारम्भ :---५ वर्ष की आयु मे शास्त्रोक्त आपका विद्यारम्भ संस्कार हुआ और आपने स्वल्प काल में ही धार्मिक शिक्षण के साथ ही साथ लौकिक ज्ञान भी प्राप्त कर लिया आप की विनय शीलता अद्भुत स्मरण शक्ति को देखकर सभी अतीव आनन्दित होते थे।

यथा समय पूर्णवयस्क होने पर आपके कुटुम्बियों ने आपके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रक्खा परन्तु जिस प्रकार श्री १००८ मल्लि नाथ भगवान ने विवाह न कराया इसी तरह आपने भी पूर्व धार्मिक संस्कारों से तथा भावि विधिविधान से आजन्मब्रह्मचर्य व्रत पालने का अपना विचार प्रगट कर दिया।

शुभकर्मोदय से पूज्य श्री ऐलक १०५ पन्ना लाल जी महाराज ने वहीं चातुर्मास किया कुछ तो आपके हृदय में पूर्व से ही वैराग्य की तरंगे उठ रहीं थी कुछ विद्वान ऐलक जी के प्रवचन एवं धार्मिकता की छाप पड़ने से आपने

उन से सं० १९७९ में द्वितीय व्रत प्रतिमा २५ वर्ष की नौजवानी में ली बन्धुओ कुछ ध्यान तो दीजिये जो अवस्था भोग भोगने की थी उसी में आपने वैराग्य धारण किया और अखंड ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने की प्रतिज्ञा लेकर पूज्य ऐलक जी के साथ ही घर से मोह त्यागकर साथ ही साथ रहकर उत्तम २ प्रतिमाओं का पालन करने लगे। आपने प्रथम वर्षा काल पूज्य ऐलक १०५ पन्ना लाला जी १९८० मे फीरोजपुर छावनी (पंजाब) में किया तदनु, (२) देवबन्द सहारनपुर मे किया, (३) रामपुर मे किया, (४) वर्द्धा में किया इस तरह आप ने चार वर्ष तक पूज्य ऐलक जी के साथ मे रह कर भले प्रकार से आचार विचार देश कालादि का अनुभव प्राप्त किया तत्पश्चात गुरू जी की आज्ञा लेकर उदासीन रूप से विहार करते हुये बारासिवनी सी० पी० मे चातुर्मास किया। तत्पश्चात आपने १९८४ में मऊईडर राज्य में वर्षा काल समाप्त किया।

उन्हीं दिनों श्री पूज्य १०८ प्रात. स्मरणीय शान्ति सागर जी छाणी से मंगसिर सुदि ७ सं० १९८४ को आपने सहस्त्रों नरनारियों के समक्ष ७ सप्तम प्रतिमा धारण की वहां से भ्रमण करते हुये आपने नरक तिर्यंचादिगतिके उन्मूलक पर्वतराज श्री सम्मेद शिखर की यात्रा की वहां पर श्री १०८ आचार्य शान्ति सागर जी दक्षिण ससंघ विराजमान थे अत आपने उनके भी दर्शन किये तथा उन्हीं के संघ मे रह कर धर्म ध्यान करने लगे। विहार करते हुये आपने पूज्य संघ के साथ १९८५ मे कटनी में चातुर्मास किया पश्चात् १९८६ में कानपुर में पश्चात् १९८७ में पूज्य १०८ में पूज्य शान्ति सागर जी छाणी के पादमूल मे इन्दौर मे चातुर्मास किया। तथा वहीं पर ५००० पांच हजार नरनारियों के समक्ष पूज्य आचार्य शान्ति सागर छाणी से क्षुल्लक दीक्षा संसार की छेदने वाली ली वहा से विहार करते हुये आप सिद्ध वरकूट पहुचे जहा रेवा नदी के तट जहा से २ चक्री दश-काम कुमार और साढे तीन करोड़ भव्यात्माओं ने अपनी निधिको प्राप्त किया था वहीं आपने भी पूज्य पाद आचार्य शान्ति सागर जी महाराज से जैनेश्वरी दीक्षा की याचना की श्री गुरू ने आसन्न भव्यजान कर तीर्थराज सिद्ध वरकूट पर आपको असंख्यजन समुदायके समक्ष दीक्षा दी उस समयका दृश्य दर्शनीय ही था इस तरह २ री ७ मी ११ प्रतिमा का आपने ८ वर्ष तक अभ्यास करने के बाद १९८७ मे दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की इस समय आप को दीक्षित हुये १० वर्ष हो गये हैं भारत वर्ष में कोई प्रान्त नगर शेष नहीं रहा जहा आपकी अमृत मयी वाणी का पान न किया गया हो आप अपना अधिक समय शास्त्र पठन मे ही व्यतीत करते हैं आप की अभिलाषा सदा संसार से भयभीत प्राणियों के हृदय में जिन वाणी का आभास हो उन्हें सद्बोध का लाभ हो ऐसी रहती है उसी का मूर्ति रूप आप ने मेरठ में श्री कृष्ण फ्लोर मिल्स में एक बड़ा भारी सरस्वती भंडार खोल रक्खा है जहां से सहस्त्रों प्राणियों को शास्त्र लाभ होता रहता है और उसी की ओर से यह महान ग्रन्थराज श्री पद्मनन्दी पंचविंशतिका का पुन. पुस्तकार रूप से प्रकाशन हो रहा है।

पं० गुलाबचन्द्र जैन,
न्यायतीर्थ शास्त्री।

॥ ॐ शान्ति ॥

ॐ

नमः सिद्धेभ्य : ।

भाषानुवाद सहित–

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ।

* मंगलाचरण *

स्रग्धरा ।

कायोत्सर्गायताङ्गो जयति जिनपतिर्नाभिसूनुर्महात्मा
मध्यान्हे यस्य भास्वानुपरि परिगतो राजतेस्मोग्रमूर्तिः
चक्रम् कर्मेन्धनानामतिबहुदहतो दूरमौदास्यवात
स्फूर्यत्सद्ध्यानवन्हेरिव रुचिरतरः प्रोद्गतो विस्फुलिङ्गः ॥१॥

अर्थ—दुपहर के समय जिस आदीश्वर भगवानके ऊपर रहाहुआ तेजस्वीसूर्य ज्ञानावरणादि कर्मरूपी ईंधन को पलभर में भस्म करने वाली तथा वैराग्यरूपी पवन से जलाई हुई, ध्यानरूपी अग्नि से उत्पन्न हुये मनोहर फुलिंगा के समान जान पडता है ऐसे कायोत्सर्गसहित विस्तीर्णशरीर के धारी तथा अष्टकर्मों के जीतनेवाले उत्तम-पुरुषों के स्वामी महातमा श्री नाभिराजा के पुत्र श्री ऋषभदेव भगवान सदा जयवन्त है ।

भावार्थ—इस श्लोक में उत्प्रेक्षालंकार है इसलिये ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते है कि जिस प्रकार पवनसे चेताई हुई अग्नि जिस समय काष्टके समूहको जलाती है उस समय जैसे उसके फुलिंगे आकाश में उड़कर जाते हैं। उसही प्रकार ऋषभदेव भगवान ने भी अपनी वैराग्यरूपी अग्नि से ज्ञानावरणादि कर्मों के समूह को जलाया था तथा उसके भी फुलिंगे आकाश में उड़कर गये थे उन फुलिगाओं में से ही यह सूर्य भी एक फुलिंगा है ।

सारार्थ—भगवान की ध्यानरूपी अग्नि सूर्य से भी अधिक तेजवाली थी ॥१॥

हाथों को नीचे किये तथा निश्चल और नासाग्रदृष्टि तथा एकान्त स्थान में ध्यानी भगवान को अपने मन में ध्यान कर ग्रन्थकार फिर भी उत्प्रेक्षा करते हैं।

शार्दूलविक्रीड़ित।

नो किञ्चित्करकार्यमस्ति गमनप्राप्यं न किञ्चिद्दृशो
दृश्यं यस्य न कर्णयोः किमपि हि श्रोतव्यमप्यस्ति न।
तेनालम्बितपाणिरुज्झितगतिर्नासाग्रदृष्टीरहः
संप्राप्तोऽतिनिराकुलो विजयते ध्यानैकतानो जिनः ॥२॥

अर्थ—भगवान को हाथ से करने योग्य कोई कार्य नहीं रहा है इसलिये तो उन्होंने हाथों को नीचे लटका दिया है तथा जाने के लायक कोई स्थान नहीं रहा है इसलिये वे निश्चल खड़े हुये हैं और देखने योग्य कोई पदार्थ नहीं रहा है इसलिये भगवान ने नाक के ऊपर अपनी दृष्टि दे रक्खी है तथा एकान्त वास इसलिये किया है कि भगवान को पास में रहकर कोई बात सुनने के लिये नहीं रही है इसलिये इस प्रकार अत्यंत निराकुल तथा ध्यानरस में लीन भगवान सदा लोकमें जयवन्त हैं ॥२॥

रागो यस्य न विद्यते क्वचिदपि प्रध्वस्तमोहग्रहा
दस्त्रादेः परिवर्जनान्न च बुधैर्द्वेषोऽपि सम्भाव्यते।
तस्मात्साम्यमथात्मबोधनमतो जातः क्षयःकर्मणा
मानन्दादिगुणाश्रयस्तु नियत सोऽर्हन् सदा पातु वः ॥३॥

अर्थ—मोह तथा परिग्रह के नाश हो जाने के कारण न तो किसी पदार्थ में जिस अर्हंत का रागही प्रतीत होता है तथा अर्हंत भगवान ने समस्त शस्त्र आदि को छोड़ दिया है इसलिये विद्वानों को किसी में जिस अर्हंत का द्वेषभी देखने में नहीं आता तथा द्वेषके न रहने के कारण जो शान्तस्वभावी है तथा शान्तस्वभावी होने के ही कारण जिस अर्हंत ने अपनी आत्मा को जान लिया है तथा आत्मा का ज्ञाता होने के कारण जो अर्हंत कर्मों कर रहित है तथा कर्मों से रहित होने के ही कारण जो आनन्दआदिगुणों का आश्रय है ऐसा अर्हंत भगवान मेरी सदा रक्षा करो अर्थात् ऐसे अर्हंत भगवान का मैं सदा सेवक हूं।

भावार्थ—जो रागी तथा द्वेषी है और जो निरन्तर स्त्रियों में रमण करता है तथा जो मोही है और शत्रु से भीत हो कर जो निरन्तर शस्त्र को अपने पास रखता है तथा कर्मों का मारा नाना प्रकार की गतियों में भ्रमण करता रहता है ऐसा स्वयं दुखी अर्हंत दूसरे की क्या रक्षा कर सकता है ? किन्तु जो वीतराग है तथा काम मोह आदि जिस के पास भी नहीं फटकने पाते और जो जन्म मरणादि कर रहित है और कर्मों का जीतने वाला है वही दूसरे की रक्षा कर सकता है इसलिये ऐसे आप्त (अर्हन्त) के मैं शरण हूं ॥३॥

इन्द्रस्य प्रणतस्य शेखरशिखारत्नार्कभासानख
श्रेणीतेक्षणबिम्बशुम्भदलिभृद्दूरोल्लसत्पाटलम् ।
श्रीसद्माङ्घ्रियुगं जिनस्य दधदप्यम्भोजसाम्यं रज
स्त्यक्तं जाड्यहरं परं भवतु नश्चेतोऽर्पितं शर्मणे ॥४॥

अर्थ—जिस प्रकार कमलों पर भ्रमर गुंजार करते हैं उस ही प्रकार भगवान के चरण कमलों को बड़े २ इन्द्र आकर नमस्कार करते हैं तथा उनके मुकुट के अग्र भाग में लगे हुये जो रत्न उन की प्रभासहित भगवान के चरणों के नखों में उन इन्द्रों के नेत्रों के प्रतिबिम्ब पड़ते है इसलिये भगवान के चरणों पर भी इन्द्रों के नेत्ररूपी भौंरे निवास करते हैं तथा जिस प्रकार कमल कुछ सफेदी लिये लाल होते हैं उसी ही प्रकार भगवान के चरणकमल भी कुछ सफेदी लिये हुये लालवर्ण है तथा जिस प्रकार कमलों में लक्ष्मी रहती है उस ही प्रकार भगवान के चरणकमल भी लक्ष्मी के स्थान हैं अर्थात् चरण कमलों के आराधन करने से भव्य जीवों को उत्तम मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। इसलिये यद्यपि कमल तथा भगवान के चरणकमल इन गुणों से समान हैं तथापि कमल धूलिसहित है तथा जड़ है और भगवान के चरण कमल धूलि (पाप) रहित है तथा जड़ता के दूर करने वाले हैं अतः कमलों से भी उत्कृष्ट भगवान के चरण कमल सदा मेरे मन में स्थित रहो तथा कल्याण करो।

भावार्थ—रज का अर्थ धूलि भी होता है तथा पाप भी होता है इसलिये कमल तो धूलिकर सहित है किन्तु भगवान के चरण कमल धूलिकर रहित हैं अर्थात् चरण कमलों की सेवा करने से समस्त पापों का नाश हो जाता है। तथा कमल सर्वथा जड़ है किन्तु भगवान के चरण कमलों में अंशमात्र भी जड़ता नहीं है अर्थात् चरण कमलों की आराधना करने से समस्त प्रकार की जड़ता नष्ट हो जाती है ॥४॥

मालिनी

जयति जगदधीशः शान्तिनाथो यदीयं स्मृतमपि हि जनानां पापतापोपशान्त्यै।
विबुधकुलकिरीटप्रस्फुरन्नीलरत्नद्युतिचलमधुपालीचुम्बितंपादपद्मम् ॥५॥

अर्थ—नाना प्रकार के देवताओं के जो मुकुट उन में लगी हुई जो चमकती हुई नीलमणि उनकी जो प्रभा वही जो चलती हुई भ्रमरों की पंक्ति उसकर सहित जिस शान्तिनाथ भगवान के चरणकमल स्मरण किये हुये ही समस्त जनोंके पाप तथा संताप को दूर करदेते हैं ऐसे वे तीन लोक के स्वामी श्रीशान्तिनाथ भगवान सदा जयवन्त हैं ॥५॥

स जयति जिनदेवः सर्वविद्विश्वनाथो
वितथवचनहेतुक्रोधलोभाद्विमुक्तः।
शिवपुरपथपांथप्राणिपाथेयमुच्चै
र्जनितपरमशर्मा येन धर्मोऽभ्यधायि ॥६॥

अर्थ—सब के जानने वाले तथा तीनों लोक के स्वामी और असत्य वचनों के कारण भूत ऐसे क्रोध लोभादि कर रहित श्रीजिनदेव सदा जयवंत हैं जिन श्रीजिनदेव ने मोक्ष मार्ग को गमन करने वाले प्राणियों को पाथेय (तोसा) स्वरूप तथा उत्तम कल्याण के करने वाले उत्कृष्टधर्म का निरूपण किया है ॥६॥

इस प्रकार मंङ्गलाचरणकर आचार्य धर्मके स्वरूप के वर्णन का प्रारम्भ करते है
प्रथमही धर्म कितने प्रकार का है इस वातकों वतलाते हैं।

शार्दूलविक्रीड़ित।

धर्मो जीवदया गृहस्थशमिनोर्भेदाद्द्विधा च त्रयं
रत्नानां परमं तथा दशविधोत्कृष्टक्षमादिस्ततः।
मोहोद्भूतविकल्पजालरहिता वागङ्गसङ्गोज्झिता
शुद्धानन्दमयात्मनः परिणतिर्धर्माख्यया गीयते ॥७॥

अर्थः—समस्त जीवोंपर दयाकरना इसीका नाम धर्म है अथवा एकदेश गृहस्थका धर्म तथा सर्वदेश मुनियोंका धर्म इस प्रकार उसधर्मके दो भी भेद हैं अथवा उत्कृष्ट रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र) ही धर्म है अथवा उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव आदिक दश प्रकारभी धर्म है अथवा मोहसे उत्पन्न हुवे समस्त विकल्पोंकर रहित तथा जिसको वचनसे निरूपण नहीं करसकते एसी जो शुद्ध तथा आनन्दमय आत्माकी परणति उसीका नाम उत्कृष्ट धर्म है इसप्रकार सामान्यतया धर्मका लक्षण तथा भेद इस श्लोक में बतलाये गये है ॥७॥

अब आचार्य चार श्लोकोंमें दयाधर्मका वर्णन करते हैं।

आद्या सद्व्रतसञ्चयस्य जननी सौख्यस्य सत्सम्पदां
मूलं धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनिःश्रेणिका।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकैः
धिङ्नामाऽप्यदयस्य तस्य च परंसर्वत्र शून्या दिशः ॥८॥

अर्थः—जो समस्त उत्तम व्रतोंके समूहमें मुख्य है तथा सच्चे सुख और श्रेष्ट संपदाओं की उत्पन्न करनेवाली है और जो धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है (अर्थात् जिस प्रकार जड़ विना वृक्ष नहीं ठहरता उसी प्रकार दया बिना धर्मभी नहीं ठहर सकता) तथा जो मोक्षरूपी महलके अग्रभाग में चढ़ने के लिये सीढ़ीके समान है ऐसी धर्मात्मा पुरुषोंको "समस्त प्राणियों पर दया" अवश्य करनी चाहिये किन्तु जिस पुरुषके चित्तमें लेशमात्र भी दया नहीं है उस पुरुष के लिये धिक्कार है तथा समस्त दिशा उसके लिये शून्य है अर्थात् जो निर्दयी है उसका कोई भी मित्र नहीं होता ॥

संसारे भ्रमतश्चिरं तनुभृतः के के न पित्रादयो
जातास्तद्वधमाश्रितेन खलु ते सर्वे भवन्त्याहताः।
नन्वात्मापि हतो यदत्र निहतो जन्मान्तरेऽपि ध्रुवं
हंतारं प्रतिहंति हंत बहुशः संस्कारतो नु क्रुधः ॥९॥

अर्थः—चिरकाल से संसार में भ्रमण करते हुवे इसदीन प्राणीके कौन कौन माता पिता भाई आदिक नहीं हुवे ? अर्थात् सर्व ही हो चुके इसलिये यदि कोई प्राणी किसी जीवको मारे तो

समझना चाहिये कि उसने अपने कुटुम्बीको ही मारा तथा अपनी आत्माका भी उसने घात किया क्योंकि यह नियम है जो मनुष्य किसी दीन प्राणी को एकबार मारता है उस समय उस मरेहुये जीव के क्रोधादिकी उत्पत्ति होती है तथा जन्मान्तर में उसका संस्कार बैठा रहता है इसलिए जिस समय कारण पाकर उस मृत प्राणी का संस्कार प्रकट होजाता है उस समय वह हिंसक को (अर्थात् पूर्वभव में अपने मारनेवाले जीवको) अनेक बार मारता है इसलिये ऐसे दुष्ट हिंसकके लिये धिक्कार हो ॥६॥

त्रैलोक्यप्रभुभावतोऽपि सरुजोऽप्येकं निजं जीवितं
प्रेयस्तेन विना स कस्य भवितेत्याकांक्षतः प्राणिनः।
निःशेषव्रतशीलनिर्मलगुणाधारात्ततो निश्चितं,
जन्तोर्जीवितदानतस्त्रिभुवने सर्वप्रदानम् लघु ॥१०॥

अर्थः—यदि किसी रोगी से भी यह बात कही जावे कि भाई तू अपने प्राण दे दे तथा तीनलोककी संपदा लेले तब वह यही कहता है कि यदि मैं ही मरजाऊंगा तो उस संपदाको कौन भोगेगा। अतःतीनलोककी संपदासे भी प्राणियोंको अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिये समस्त व्रत तथा शीलादि निर्मलगुणोंका स्थानभूत जो यह प्राणीका जीवनदान है उसकी अपेक्षा संसारमें सर्वदान छोटे हैं यह बात भलीभांति निश्चित है।

भावार्थः—आहार औषधि अभय तथा शास्त्र इसप्रकार दानके चारभेद हैं उन सबमें अभयदान सब से उत्कृष्ट दान माना गया है तथा अभयदान उसही समय पल सकता है जब किसी जीवके प्राण न दुखाये जांय इसलिये इस उत्तम अभयदानके आकांक्षी मनुष्योंको किसी भी जीव की हिंसा नही करनी चाहिये ॥१०॥

शार्दूलविक्रीडित।

स्वर्गायाऽव्रतिनोऽपि सार्द्रमनसः श्रेयस्करी केवला
सर्वप्राणिदया तयां तु रहितः पापस्तपस्थोऽपि च।
तद्दानं बहु दीयतां तपसि वा चेतः स्थिरं धीयतां
ध्यानञ्च क्रियतां जना न सफलं किञ्चिद्दयावर्जितम् ॥११॥

अर्थ—चाहे मनुष्य अव्रतो व्रतरहित क्यों न होवे यदि उस का चित्त समस्त प्राणियों के प्राणों को किसी प्रकार दुःख न पहुंचानारूप दया से भीगा हुआ है तो समझना चाहिये कि उस पुरुष को वह दया स्वर्ग के कल्याण को देने वाली है किन्तु यदि किसी पुरुष के हृदय में दया का अंश न हो तो चाहे वह कैसा भी तपस्वी क्यों न होवे तथा वह चाहे इच्छानुसार ही दान क्यों न देता हो अथवा वह कितना भी तप में चित्त को क्यों न स्थिर करता हो तथा वह कैसा भी ध्यानी क्यों न हो पापी ही समझा जाता है क्योंकि दया रहित कोई भी कार्य सफल नहीं होता।

अब आचार्य श्रावक धर्म का वर्णन करते हैं :—

सन्तः सर्वसुरासुरेन्द्रमहितं मुक्तेः परं कारणं
रत्नानां दधति त्रयं त्रिभुवनप्रद्योति काये सति।
वृत्तिस्तस्य यदन्नतःपरमया भक्त्यार्पिताज्जायते
तेषां सद्गृहमेधिनां गुणवतां धर्मो न कस्य प्रियः॥१२॥

अर्थ—जिस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र रूपी रत्नत्रय की समस्त सुरेन्द्र तथा असुरेन्द्र भक्ति से पूजन करते हैं तथा जो मोक्ष का उत्कृष्ट कारण है, अर्थात् जिस के बिना कदापि मुक्ति नहीं हो सकती तथा जो तीन लोक का प्रकाश करने वाला है ऐसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय को देह की स्थिरता रहते सन्तेही मुनिगण धारण करते हैं तथा श्रद्धातुष्टि आदि गुणोंकर संयुक्त गृहस्थियों के द्वारा भक्ति से दिये हुये दान से उन उत्तम मुनियों के शरीर की स्थिति रहती है इसलिये ऐसे गृहस्थों का धर्म किस को प्रिय नहीं है अर्थात् सब ही उस को प्रिय मानते हैं॥१२॥

स्रग्धरा।

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैः
पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या।
तत्वाभ्यासः स्वकीयव्रतिरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं
तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदो मोहपाशः॥१३॥

अर्थ—तथा जिस गृहस्थाश्रम में जिनेन्द्र भगवान की पूजा उपासना की जाती है तथा निर्ग्रंथगुरुओं की भक्ति सेवा आदि की जाती है और जिस गृहस्थाश्रम में धर्मात्मा पुरुषों का परस्पर में स्नेह से वर्ताव होता है तथा मुनि आदि उत्तमादि पात्रों को दान दिया जाता है तथा दुःखी दरिद्रियों को जिस गृहस्थाश्रम में करुणा से दान दिया जाता है और जहां पर निरन्तर जीवादि तत्वों का अभ्यास होता रहता है तथा अपने २ व्रतों में प्रीति रहती है और जिस गृहस्थाश्रम में निर्मल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है वह गृहस्थाश्रम विद्वानों के द्वारा पूजनीक होता है किन्तु उस से विपरीत इस संसार में केवल दुःख का देने वाला है तथा मोह का जाल है ॥१३॥

अब आचार्य श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं के नाम बताते हैं :—

आदौ दर्शनमुन्नतं व्रतमितः सामायिकं प्रोषधस्
त्यागश्चैव सचित्तवस्तुनि दिवाभक्तं तथा ब्रह्म च ।
नारम्भो न परिग्रहोऽननुमतिर्नोद्दिष्टमेकादश
स्थानानीति गृहिव्रते व्यसनितात्यागस्तदाद्यः स्मृतः ॥१४॥

अर्थ—सब से पहले जीवादि पदार्थों में शंकादि दोष रहित श्रद्धानरूपसम्यग्दर्शन का जिस में धारण होवे उस को दर्शन प्रतिमा कहते है । तथा अहिंसादि पांच अणुव्रत तथा दिग्व्रतादि तीन गुणव्रत और देशावकाशिकादि चार शिक्षा व्रत इस प्रकार जिस में बारह व्रत धारण किये जावें वह दूसरी व्रत प्रतिमा कहलाती है २ तथा तीनों कालों में समता धारण करना सामायिक प्रतिमा है ३ और अष्टमी आदि चारों पर्वों में आरम्भ रहित उपवास करना चौथी प्रोषधप्रतिमा है ४ तथा जिस प्रतिमा में सचित्त वस्तुओं का भोग न किया जाय उसको सचित्तत्याग नामक पांचवीं प्रतिमा कहते हैं अ५ तथा जिस प्रतिमा के धारण करने में रात्रि भोजन का सर्वथा निषेध किया गया है उस को रात्रिभुक्तत्याग प्रतिमा कहते है ६ तथा जिस प्रतिमा के धारण करने से आजन्म स्वस्त्री तथा परस्त्री दोनों का त्याग करना पड़ता है वह ब्रह्मचर्यनामक सातवीं प्रतिमा है तथा किसी प्रकार धनादि का उपार्जन न करना आरम्भत्याग नामक आठवीं प्रतिमा है और जिस प्रतिमा के धारण करते समय धनधान्य दासी दासादिका त्याग किया जाता है वह नवमी परिग्रह त्याग नामक प्रतिमा है तथा घर के कामों में और व्यापार में (ऐसा करना चाहिये ऐसा नहीं करना चाहिये) इत्यादि अनुमतिका न देना अनुमतित्यागनामक दसवीं प्रतिमा है तथा ग्यारहवीं प्रतिमा

उस को कहते हैं कि जहां पर अपने उद्देश से भोजन न किया गया हो ऐसे गृहस्थों के घर में मौन सहित भिक्षा पूर्वक आहार करना। इस प्रकार ये ग्यारह व्रत (प्रतिमा) श्रावकों के हैं, इन सब व्रतों में भी प्रथम सप्त व्यसनों का त्याग अवश्य कर देना चाहिये क्योंकि व्यसनों के विना त्याग किये एक भी प्रतिमा धारण नहीं की जासकती ॥१४॥

शार्दूल विक्रिड़ित।

यत्प्रोक्तं प्रतिमाभिरेभिरभितो विस्तारिभिः सूरिभि
र्ज्ञातव्यं तदुपासकाध्ययनतो गेहिव्रतं विस्तरात्।
तत्रापि व्यसनोज्झनं यदि तदप्यासूत्र्यते ऽत्रैवयत्
तन्मूलः सकलः सतां व्रतविधिर्याति प्रतिष्ठां पराम् ॥१५॥

अर्थ—समन्तभद्र आदि वड़े २ आचार्यों ने ग्यारह प्रतिमा तथा और भी गृहस्थों के व्रत अत्यन्त विस्तार के साथ अपने २ ग्रन्थों में वर्णन किये हैं इसलिये उपासकाध्ययन से इनका स्वरूप विस्तार से जानना चाहिये और उन्हीं आचार्यों ने जूआ खेलना १ मद्यपीना २ मांस खाना ३ आदि सातो व्यसनों का भलीभांति स्वरूप दिखाकर उनके त्याग की अच्छी तरह विधि वतलाई है तथा इस ग्रन्थ में भी उन सप्तव्यसनों के त्याग का वर्णन किया जायगा क्योंकि सप्तव्यसनों के त्याग से ही सज्जनों की व्रतविधि अत्यन्त प्रतिष्ठाको प्राप्त करती है विना व्यसनों के त्याग के नहीं ॥१५॥

अनुष्टुप।

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः।
महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥१६॥

अर्थ—जूआ खेलना १—मांस खाना २—मद्यपीना ३—वेश्या के साथ उपभोग करना ४—शिकार खेलना ५—चोरी करना ६—परस्त्री का सेवन करना ७ ये सात व्यसनों के नाम हैं तथा विद्वानों को इन व्यसनों का त्याग अवश्य करना चाहिये ॥१६॥

आचार्य सप्तव्यसनों से उत्पन्न हुई हानि तथा सप्तव्यसनों के स्वरूप को पृथक् २ वर्णन करते हैं।

प्रथम ही दो श्लोकों में द्यूतनामक व्यसन का निषेध करते हैं।

मालिनी।

भवनमिदमकीर्तेश्चौर्यवेश्यादिसर्व व्यसनपतिरशेषापन्निधिः पापबीजम्।
विषमनरकमार्गेष्वग्रयायीति मत्वा क इह विशदबुद्धिर्द्यूतमङ्गीकरोति॥

अर्थ—जो समस्त अपकीर्तिओं का घर है अर्थात् जिसके खेलने से संसार में अकीर्ति ही फैलती है तथा जो चोरी वेश्यागमन आदि बचे हुये व्यसनों का स्वामी है (अर्थात् जिस प्रकार राजा के आधीन मन्त्री आदि हुआ करते हैं उस ही प्रकार जुए के अधीन समस्त बचे हुये व्यसन हैं) और जो समस्त आपत्तियों का घर है तथा जिसके सम्बन्ध से निरन्तर पाप की उत्पत्ति होती रहती है तथा जो समस्त नरकादि खोटी गतियों का मार्ग बतलाने वाला है ऐसे सर्वदा निकृष्ट जूआ नामक व्यसन को कौन बुद्धिमान अंगीकार कर सकता है? अर्थात् कोई नहीं॥ १७॥

शार्दूल बिक्रीड़ित।

क्वाकीर्तिः क्व दरिद्रता क्व विपदः क्व क्रोधलोभादय-
श्चौर्यादिव्यसनं क्व च क्व नरके दुःखं मृतानां नृणाम्।
चेतश्चेद्गुरुमोहतो न रमते द्यूते वदन्त्युन्नत
प्रज्ञायद्भुवि दुर्नयेषु निखिलेष्वेतद्धुरि स्मर्यते॥१८॥

अर्थ—इस जूआके विषयमें बड़े २ गणधरादिकोंका यह कथन है कि मोहके उदयमे मनुष्यकी जूआमें प्रवृत्ति होती है यदि मनुष्यके मोहके उपशम होनेसे जूआमें प्रवृत्ति न होवे तो कदापि संसारमें इसकी अकीर्त्ति नहीं फैल सकती है और न यह दरिद्री ही बन सकता है तथा न इसको कोई प्रकारकी विपत्ति घेर सकती है और इस मनुष्यके क्रोधलोभादिकी भी उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती तथा चोरी आदि व्यसन भी इसका कुछ नही कर सकते और मरने पर यह नरकादि गतियोंकी वेदनाका भी अनुभव नहीं करसकता क्योंकि समस्तव्यसनोंमें जूआ ही मुख्य कहा गया है इसलिये सज्जनोंको इस जूवेसे अपनी प्रवृत्तिको अवश्य हटा लेना चाहिये॥१८॥

आगे दो श्लोकोंमें मांस व्यसनका निषेध किया जाता है।

स्रग्धरा।

बीभत्सुप्राणिघातोद्भवमशुचि कृमिस्थानमश्लाघ्यमूलं
हस्तेनाक्ष्णापि शक्यं यदिह न महतां स्पृष्टुमालोकितुं च।
तन्मांसं भक्ष्यमेतद्वचनमपि सतां गर्हितं यस्य साक्षात्पापं
तस्यात्र पुंसो भुवि भवति कियत्कागतिर्वा न विद्मः॥१९॥

अर्थः—देखते ही जो मनुष्योंको प्रबल घृणा का उत्पन्न करने वाला है तथा जिसकी उत्पत्ति दीनप्राणियों के मारने पर होती है और जो अपवित्र है तथा नानाप्रकारके दृष्टिगोचर जीवोंका जो स्थान है और जिसकी समस्त सज्जनपुरुष निन्दा करते हैं तथा जिसको इस संसारमें सज्जनपुरुष न हाथ से ही छू सकते हैं और न आंखसे ही देख सकते हैं और "मांस खाने योग्य होता है" यह वचन भी सज्जनोंको प्रबल घृणाका उत्पन्न करनेवाला है ऐसे सर्वथा अपावन मांसको साक्षात् खाता है आचार्य कहते हैं हम नहीं जान सकते उस मनुष्य के कितने पापोंका संसारमें संचय होता है! तथा उसकी कौनसी गति होती है! ॥१९॥

शिखरणी।

गतो ज्ञातेः कश्चिद्बहिरपि न यद्येति सहसा
शिरो हत्वा हत्वा कलुषितमना रोदिति जनः।
परेषामुत्कृत्य प्रकटितमुखं खादति पलं कले रे
निर्विण्णा वयमिहभवच्चित्रचरितैः॥ २० ॥

अर्थ :—यदि कोई अपना भाई पिता पुत्र आदि दैवयोगसे (मरना तो दूर रहे) बाहर भी चलाजावे तथा वह जल्दी लौट कर न आवे तो मनुष्य शिरकूट २ कर रोता है तथा नानाप्रकारके मनमें बुरेभावों का चिंतवन करता है किन्तु अपने कुटुम्बियोंसे भिन्न दूसरेजीवोंके मांसको उपाट २ कर खाता है तथा लेशमात्र भी लज्जा नहीं करता है इसलिये आचार्य कहते हैं कि अरे कलिकाल तेरे नानाप्रकार के चरित्रोंसे हम सर्वथा विरक्त हैं, अर्थात् तेरे चरित्रों का हमको पता नहीं लगसक्ता ॥ २० ॥

अब आचार्य दो श्लोकोंमें मदिरा का निषेध करते है।

मालिनी।

सकलपुरुषधर्मभ्रंशकार्यत्रजन्मन्यधिक
मधिकमपरं यत्परं दुःखहेतुः।
तदपि यदि न मद्यं त्यज्यते बुद्धिमद्भिः
स्वहितमिहकिमन्यत्कर्म धर्माय कार्यम् ॥ २१ ॥

अर्थ:—यह मदिरा इस जन्ममें समस्त पीनेवाले प्राणियों के धर्मको मूलसे खोनेवाली है तथा परलोकमें अत्यन्त तीव्र नाना प्रकार के नरकों के दुःखोंकी देनेवाली है ऐसा होने पर भी यदि विद्वान् मद पीना न छोड़े तो समझ लेना चाहिये कि उन मनुष्योंके द्वारा अपने हितकारी धर्म के लिये कोई भी उत्कृष्ट कार्य नहीं बनसका क्योंकि व्यसनी कुछ भी उत्तमकार्य नही करसकते ॥ २१ ॥

मन्दाक्रान्ता।

आस्तामेतद्यदिह जननीं वल्लभां मन्यमाना
निन्द्याश्चेष्टा विदधति जना निस्त्रपाः पीतमद्याः।
तत्राधिक्यं पथि निपतिता यत्किरत्सारमेयाद्वक्त्रे
मूत्रं मधुरमधुरं भाषमाणाः पिबन्ति ॥२२॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि मदिरा के पीने वाले मनुष्य यदि निर्लज्ज होकर अपनी माता को स्त्री मानें तथा उसके साथ नाना प्रकार की खोटी चेष्टा करें, तो यह बात तो कुछ बात नहीं किन्तु सब से अधिक बात यह है कि मद्य के नशे में आकर जब मार्ग में गिर जाते हैं तथा जिस समय उनके मुख में कुत्ते मूतते है उसको मिष्ट २ कहते हुवे तत्काल गटक जाते हैं।

भावार्थः—जो मनुष्य मद्य पान करते हैं वे समस्त खोटी चेष्टा करते हैं तथा उनकी बुरी हालत होती है और उनको किसी प्रकार हित का मार्ग भी नहीं सूझता इस लिये विद्वानों को इस निकृष्ट मद्य से जुदा ही रहना चाहिये ॥२२॥

अब आचार्य दो श्लोकों में वेश्या व्यसन का निषेध करते हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित।

याः खादन्ति पलम् पिवन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम्।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते
लालापानमहर्निशम् न नरकम् वेश्यां विहायापरम् ॥२३॥

अर्थः—जो सदा मांस खाती हैं तथा जो निरन्तर मद्यपान करती हैं और जिनको झूठ बोलने में अंशमात्र भी सकोच नहीं होता तथा जिनका स्नेह विषयी मनुष्यों के साथ केवल धन के ही लिये है और जो द्रव्य तथा प्रतिष्ठा को मूल से उड़ाने वाली हैं अर्थात् वेश्या के साथ संयोग करने से धन तथा प्रतिष्ठा दोनों किनारा कर जाते है तथा जिनके चित्त में सदा छल कपट दगावाजी ही रहती है और जो अत्यन्त पापिनी है तथा जो धन के लाभ से अत्यन्त नीच धीवर चमार चाण्डाल आदि की लार का भी निरन्तर पान करती है ऐसी वेश्याओं से दूसरा नरक संसार में है। यह बात सर्वथा झूठ है।

भावार्थः—वेश्या ही नरक है ॥२३॥

आर्या।

रजकशिलासदृशीभिः कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः।
गणिकाभिर्यदि सङ्गः कृतमिह परलोकवार्ताभिः ॥२४॥

अर्थः—जो वेश्या धोबी की कपड़े पछीटने की शिला के समान है अर्थात् जिस प्रकार शिला पर समस्त प्रकार के कपड़े लाकर पछीटे जाते है उसही प्रकार इस वेश्या के साथ भी समस्त निकृष्ट से निकृष्ट जाति के मनुष्य आकर रमण करते हैं अथवा दूसरा इसका आशय यह भी है कि जिस प्रकार शिला पर समस्त प्रकार के कपड़ों के मैल का संचय होता है उसही प्रकार वेश्यारूपी शिला पर भी नाना जातियों के मनुष्य के वीर्यरूपी मैल का समूह इकट्ठा होता है तथा जो वेश्या कुत्तों के लिये कपाल के समान हैं अर्थात् जिस प्रकार मरे हुवे मनुष्य के कपाल पर

लड़ते लड़ाते नाना प्रकार के कुत्ते इकट्ठे होते हैं उसही प्रकार इस वेश्या पर भी नाना जातियों के मनुष्य आकर टूटते हैं तथा नाना प्रकार के परस्पर में कलह करते हैं इस लिये ऐसी निकृष्ट वेश्याओं के साथ यदि कोई पुरुष सम्बन्ध करे तो समझ लेना चाहिये कि उसका परलोक उत्तम हो चुका।

भावार्थः—जो मनुष्य वेश्याओं के साथ सम्बन्ध करते हैं उनके इहलोक तथा परलोक सर्वथा बिगड़ जाते हैं।

अब आचार्य दो श्लोकों में शिकार व्यसन का निषेध करते हैं।

स्रग्धरा।

या दुर्देहैकवित्ता वनमधिवसति त्रातृसम्बन्धहीना
भीतिर्यस्याः स्वभावादृशनधृततृणा नापराधम् करोति।
वध्यालम् सापि यस्मिन्ननुमृगवनिता मांसपिण्डस्यलोभा
दाखेटेऽस्मिन् रतानामिहकिमुनकिमन्यत्रनो यद्विरूपम् ॥२५॥

अर्थः—जिस बिचारी मृगी का सिवाय देह के दूसरा कोई धन नहीं है तथा जो सदा वन में ही भ्रमण करती रहती है और जिसका कोई भी रक्षा करने वाला नहीं है तथा जिसको स्वभाव से ही भय लगता है तथा जो केवल तृण की ही खाने वाली है और किसी का जो लेश-मात्र अपराध नहीं करती ऐसी भी दीन मृगी को केवल मांस टुकड़े के लोभी तथा शिकार के प्रेमी, जो दुष्ट पुरुष बिना कारण मारते हैं उनको इस लोक में तथा परलोक में नाना प्रकार के विरुद्ध कार्यों का सामना करना पड़ता है अर्थात् इस लोक में तो वे दुष्ट पुरुष रोग शोक आदि दुःखों का अनुभव करते हैं तथा परलोक में उनको नरक जाना पड़ता है ॥२५॥

मालिनी।

तनुरपि यदि लग्ना कीटिका स्याच्छरीरे
भवति तरलचक्षुर्व्याकुलो यः स लोके।
कथमिह मृगयासानन्दमुत्खातशस्त्रो
मृगमकृतविकारम् ज्ञातदुःखोऽपि हन्ति ॥२६॥

अर्थः—आचार्य महाराज कहते हैं कि जो मनुष्य शरीर से किसी प्रकार कीड़ी आदि के सम्बन्ध हो जाने से ही अधीर होकर जहां तहां देखने लग जाता है (अर्थात् वह उसको चिंउटी आदि का सम्बन्ध ही पीड़ा का पैदा करने वाला होजाता है) तथा जो दुःख का भलीभांति जानने वाला है वह मनुष्य भी शिकार में आनन्द मानकर निरपराध दीन मृग को हथियार उठाकर मारता है ? यह बड़ा आश्चर्य है ॥२६॥

भावार्थः—विना जाने किसी कार्य करने में आश्चर्य नहीं किन्तु जो भली भांति अपने तथा परके दुःख को जानता है फिर ऐसा दुष्टकाम करता है उसके लिये आश्चर्य है ॥ २६ ॥

शार्दूल विक्रीड़ित !

यो येनैव हतः स तं हि वहुशो हन्त्येव यैर्वञ्चितो
नूनं वञ्चयते स तानपि भृशं जन्मान्तरेप्यत्र च ।
स्त्रीवालादिजनादपि स्फुटमिदं शास्त्रादपि श्रूयते
नित्यं वञ्चनहिंसनोज्झनविधौ लोकाः कुतो मुह्यत २७ ॥

अर्थः—स्त्री वालक आदि से तथा शास्त्रसे जब यह बात भलीभांति मालूम है कि जो प्राणी इस जन्ममें एकबार भी दूसरेप्राणी को मारता है वह दूस रे जन्म में उस मरे हुए प्राणीसे अनन्तवार मारा जाता है तथा जो मनुष्य इसजन्ममें एक बारभी दूसरे प्राणी को ठगता है वह दूसरे जन्म में अनन्तवार उसी पूर्वभवमे ठगेहुए प्राणीसे ठगाया जाता है फिर भी हे लोक तू दूसरे के ठगने में तथा मारने में छोडने में रातदिन लगा रहता है यह बड़े आश्चर्यकी बात है इसलिये भव्य जीवोंको चाहिये कि वे ऐसे अनर्थके करनेवाले दूसरे के मारने ठगने में अपने चित्त को न लगावे २७॥

और भी आचार्य चोरी कपट करने का दोष दिखाते है।

अर्थादौ प्रचुरप्रपञ्चरचनैं र्ये वञ्चयन्ते परान्
नूनं ते नरकं व्रजन्ति पुरतः पापिव्रजादन्यतः ।
प्राणाः प्राणिषु तन्निवन्धनतया तिष्ठन्ति नष्टे धने
यावान् दुःख भरो नरे न मरणे तावानिह प्रायशः ॥२८॥

अर्थः—जो दुष्ट मनुष्य नानाप्रकार के छल कपट दगावाजीसे दूसरे मनुष्यों को धन आदि के लिये ठगते हैं उनको दूसरे पापी जनों से पहिले ही नरक जाना पड़ता है क्योंकि (धनं वै प्राणाः) इस नीति के अनुसार मनुष्यों के धन ही प्राण हैं, यदि किसी रीति से उनका धन नष्ट हो जावे तो उनको इतना प्रबल दुःख होता है कि जितना उनको मरते समय भी नहीं होता इसलिये प्राणियों को चाहिये कि वे प्राणस्वरूप दूसरे के धन को कदापि हरण न करे तथा न हरण करने का प्रयत्न ही करें ॥२८॥

परस्त्रीसेवन में क्या २ हानि है इस बात को आचार्य दो श्लोकों में दिखाते हैं।

चिन्ताव्याकुलताभयारतिमतिभ्रंशाऽतिदाहभ्रम

क्षुत्तृष्णाहतिरोगदुःखमरणान्येतान्यहो आसताम् ।

यान्यत्रैव पराङ्गनाहतमतेस्तद्भूरिदुःखं चिरं

श्वभ्रे भावि यदग्निदीपितवपुर्लोहाङ्गनालिंगनात् ॥ २९ ॥

अर्थ—जो मनुष्य परस्त्री के सेवन करनेवाले हैं उनको इसी लोक में जो चिंता, व्याकुलता, भय, द्वेष, बुद्धि का भ्रष्टपना, शरीर का दाह, भूख, प्यास, रोग, जन्म मरण आदिक दुःख होते हैं। वे कोई अधिक दुःख नहीं किन्तु जिस समय उन परस्त्रीसेवी मनुष्यों को नरक में जाना पड़ता है तथा वहां पर जब उनको परस्त्री की जगह लोह की पुतली से आलिंगन करना पड़ता है उस समय उनको अधिक दुःख होता है।

भावार्थः—जो मनुष्य परस्त्रीके सेवी है उनको निरन्तर अनेकप्रकार की चिन्ता लगी रहती है, तथा उस स्त्रीसे मैं कैसे मिलूं कैसे उसको प्रसन्न करूं इस प्रकारका उनको निरन्तर आकुलता भी रहती है, और कोई हमें संभोग करते देख न लेवे तथा कोई मार न देवे, इसप्रकारका उनको सदा भय भी लगा रहता है तथा परस्त्री सेवन करने वाले मनुष्य की किसीके साथ प्रीति भी नहीं होती सबके साथ द्वेष ही रहता है तथा परस्त्रीसेवन करनेवाले मनुष्य की बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है क्योंकि उसको माता, बहिन, पुत्री आदि का कुछ भी ध्यान नहीं रहता तथा जो मनुष्य परस्त्री के विलासी हैं उनका शरीर सदा कामज्वर से संतप्त रहता है तथा परस्त्रीसेवी पुरुषों को भूख प्यासआदि नाना प्रकार के दुःख भी आकर सताते है और उनको अनेक प्रकार के गर्मी आदि प्राण घातक रोगों का भी सामना करना पड़ता है तथा अनेक प्रकारके दुःखभी उन्हें भोगने

पड़ते हैं और अन्तमें वे मर भी जाते हैं ये तो इस भव के दुःख हैं किन्तु जिस समय वे परभव में नरक जाते हैं तथा जिस समय उनको गरम की हुई लोह की पुतली से चिपका दिया जाता है तथा कहा जाता है कि जिस प्रकार तुमने पूर्वभव में परस्त्री के साथ संभोग किया था वैसी ही यह स्त्री है इसके साथ भी वैसा ही संभोग करो तब उनको और भी अधिक दुःख होता है इसलिये उत्तम पुरुषों को चाहिए कि वे किसी भी परस्त्री के साथ संबंध न करें ॥२६ ॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित।

धिक्तत् पौरुषमासनामनुचितास्ताबुद्धयस्तेगुणा
माभून्मित्रसहायसम्पदपि सातज्जन्म यातु क्षयम्।
लोकानामिह येषु सत्सु भवति व्यामोहमुद्राङ्कितं
स्वप्नेऽपि स्थितिलङ्घनात्परधन- स्त्रीषु प्रसक्तं मनः ॥ ३० ॥

अर्थः—जिन पौरुष आदि के होते सन्ते अपनी स्थितिको उल्लंघन कर मोहसे स्वप्न में भी परस्त्री तथा पर धनमें मनुष्योंका मन आसक्त हो जावे ऐसे उस पौरुष के लिये धिक्कार हो तथा वह अनुचित बुद्धि भी दूर रहो तथा वे गुण भी नहीं चाहिये और ऐसी मित्रोंकी सहायता तथा संपत्ति की भी आवश्यकता नहीं।

भावार्थ—जागृत अवस्थाकीतो क्या बात! जिन पौरुष आदिके होते संते मनुष्यों का चित्त स्वप्न में भी यदि परस्त्री में आसक्त हो जावे तो, ऐसे पौरुष आदिकी कोई आवश्यकता नहीं इसलिये भव्यजीवों को कदापि परस्त्रीमें चित्त नहीं लगाना चाहिये ॥ ३० ॥

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि किन २ को क्या २ जूवा आदि खेलनेसे हानि उठानी पड़ी।

द्यूताद्धर्मसुतः पलादिह बको मद्याद्यदोर्नन्दना।
आरूः कामुकया मृगान्तकतया स ब्रह्मदत्तो नृपः॥
चौर्यत्वाच्छिवभूतिरन्यवनिता दोषाद्दशास्यो हठा।
देकैकव्यसनोद्धता इति जनाः सर्वैर्न को नश्यति ॥ ३१ ॥

अर्थ.---जूवासे तो युधिष्ठिरनामक राजा राज्यसे भ्रष्ट हुए तथा उनको नानाप्रकार के दुःख उठाने पडे तथा मांसभक्षणसे वक नामक राजा राज्यसे भ्रष्ट हुआ तथा अंतमें नरक गया और मद्यपीनेसे यदुवंशीराजके पुत्र नष्ट हुवे तथा वेश्याव्यसनके सेवनसे चारुदत्त सेठि दरिद्रावस्था को प्राप्त हुवे तथा और भी नानाप्रकारके दुःखोंका उनको सामना करना पड़ा और शिकारकी लोलुपतासे ब्रम्हदत्त नामका राजा राज्यसे भ्रष्ट हुवा तथा उसे नरक जाना पड़ा। तथा चोरीव्यसनसे सत्यघोषनामक पुरोहित गोवर खाना सर्वधनहरण हो जाना आदि नानाप्रकार के दुःखोंको सहनकर अंत में मल्लकी मुष्टिसे मरकर नरकको गया। तथा परस्त्रीसेवनसे रावणको अनेक दुःख भोगने पडे। तथा मरकर नरक गया। आचार्य कहते है कि एक २ व्यसनके सेवनसे जब इन मनुष्यों की ऐसी बुरी दशा हुई तथा ये नष्ट हुवे तब जो मनुष्य सातों व्यसनों का सेवन करने वाला है वह क्यों नहीं नष्ट होगा ?

नपरमियन्ति भवन्ति व्यसनान्यपराण्यपि प्रभूतानि ।
त्यक्त्वा सत्पथमपथप्रवृत्तयः क्षुद्रबुद्धीनाम् ॥३२॥

अर्थ :—आचार्य महाराज और भी उपदेश देते हैं कि जिन व्यसनों का ऊपर कथन किया गया है वे ही व्यसन हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये किन्तु और भी व्यसन हैं वे बहुत हैं अल्पबुद्धि मिथ्या दृष्टियों की श्रेष्ट मार्ग को छोड़ कर निकृष्ट मार्ग में प्रवृत्ति हो जाती है इसलिये जीवों को चाहिये कि वे व्यसनों की रक्षा के लिये निकृष्ट मार्गों में प्रवृत्ति न करें ॥३२॥

और भी आचार्य व्यसनों का दोष दिखाकर निषेध करते हैं।

सर्वाणि व्यसनानि दुर्गतिपथा स्वर्गापवर्गार्गला
वज्राणि व्रतपर्वतेषु विषमाः संसारिणां शत्रवः ।
प्रारम्भे मधुरेषु पाककटुकेष्वेतेषु सद्धीधनैः
कर्तव्या न मतिर्मनागपि हितं वाञ्छद्भिरत्रात्मनः॥३३॥

अर्थ :—जिन मनुष्यों की बुद्धि निर्मल है तथा जो अपनी आत्मा का हित चहते हैं उनको कदापि व्यसनों की ओर नहीं झुकना चाहिये क्योंकि यह समस्त व्यसन दुर्गति को ले जाने वाले हैं तथा स्वर्ग मोक्ष के प्रतिबन्धक हैं और समस्त व्रतों के नाश करने वाले हैं।

तथा प्राणियों के ये परम शत्रु हैं। तथा प्रारम्भ में मधुर होने पर भी अन्त में कटु हैं, इसलिये इनसे स्वप्न में भी हित की आशा नहीं होती ॥३३॥

आचार्य और भी उपदेश देते हैं।

मिथ्यादृशां विसदृशां च पथच्युतानां
मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च।
सङ्गं विमुञ्चत बुधाः कुरुतोत्तमानां
गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्ग एव ॥३४॥

अर्थ :—हे भव्य जीवो यदि तुम उत्तम मार्ग में जाने के लिये चाहते हो तो तुम कदापि मिथ्यादृष्टि विपरीत बुद्धि मार्गभ्रष्ट छली व्यसनी दुष्ट जीवों के साथ सम्बन्ध मत करो यदि तुमको सम्बन्ध ही करना है तो उत्तम मनुष्यों के साथ ही सम्बन्ध करो।

भावार्थ :—जैसी सँगति की जाती है उसी प्रकार के फल की प्राप्ति होती है यदि तुम मिथ्या दृष्टि आदि दुष्ट पुरुषो के साथ संगति करोगे तो तुम को कदापि उत्तम मार्ग आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती यदि तुम उत्तम मनुष्यों की संगति करोगे तो तुमको नाना प्रकार के गुणों की तथा उत्तम मार्ग की प्राप्ति होगी इसलिये यदि तुम उत्तम मार्ग की प्राप्ति करना चाहते हो तो तुमको उत्तम मनुष्यों की ही संगति करना चाहिये ॥३४॥

स्निग्धैरपि व्रजत मा सह सङ्गमेभिः
क्षुद्रैः कदाचिदपि पश्यत सर्षपाणाम्।
स्नेहोऽपि सङ्गतिकृतः खलताश्रितानां
लोकस्य पातयति निश्चितमश्रु नेत्रात् ॥३५॥

अर्थ :—यह नियम है कि दुष्ट पुरुष जब अपना काम निकालना चाहतेहैं तब मीठे वचनों से ही निकालते है किन्तु आचार्य इस बात का उपदेश देते हैं कि दुष्ट पुरुष चाहे जैसे सरल तथा मिष्टवादी क्यों न हों तो भी उनके साथ कदापि सज्जनों को सम्बन्ध नहीं करना

चाहिये क्योंकि इस बात को प्रत्यक्ष देखो कि जब सरसों खल रूप में परिणत हो जाती है उस समय उससे निकला हुआ तेल आंखों में लगाते ही मनुष्य को अश्रु पात करा देता है।

भावार्थ :—खल का अर्थ खल भी होता है तथा दुष्ट भी होता है उसी प्रकार स्नेह का अर्थ प्रीति भी होता है तथा तेल भी होता है जब तक सरसों अपने रूप में रहती है तब तक वह किसी का कुछ भी बिगाड़ नहीं करती किन्तु जिस समय उसकी खल रूपी पर्य्याय पलट जाती है उस समय उससे उत्पन्न हुआ तेल आंखों में लगाते ही मनुष्यों को अश्रु पात करा देता है। उसी प्रकार जब तक मनुष्य सज्जन रहते हैं तब तक तो वे किसी का कुछ भी बिगाड़ नहीं करते किन्तु जिस समय वे दुष्ट हो जाते हैं उस समय उनसे उत्पन्नहुई प्रीति मनुष्यों को नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव कराती है इसलिये सज्जनों को चाहिये कि वे किसी भी दुष्ट के साथ संबन्ध न करें

कलावेकः साधुर्भवति कथमप्यत्र भुवने।
सचाघातःक्षुद्रैःकथमकरुणैर्जीवति चिरम्॥
अति ग्रीष्मे शुष्यत्सरसि विचरच्चञ्चु चरतां।
बकोटानामग्रे तरलशफरी गच्छति कियत्॥३६॥

अर्थ :—जिस समय ग्रीष्म ऋतु में तलावों का पानी सूख जाता है उस समय पानी के अभाव से ही विचारी मछलियां मर जाती हैं यदि दैवयोग से दश पांच बच भी रहें तो लंबी चोंचों के धारी बगले उनको बातकी बात में गटक जाते हैं इस लिये ग्रीष्म ऋतु में मछलियों का नाम निशान दृष्टि गोचर नहीं होता उसी प्रकार प्रथम तो इस कलि काल में सज्जन उत्पन्न ही नहीं होते यदि दैवयोग से एक दो उत्पन्न भी होते हैं तो दया रहित दुष्ट पुरुषों के फन्देमें फँसकर अधिक समय तक जीने नहीं पाते इसलिये इस कलिकाल में प्रायः सज्जनों का अभावसा ही है॥३६॥

इह वरमनुभूतं भूरि दारिद्र्य दुःखं।
वरमति विकराले कालवक्त्रे प्रवेशः॥
भवतु वरमितोऽपि क्लेशजालं विशालं।
न च खलजनयोगाज्जीवितं वा धनं वा॥३७॥

अर्थ :—आचार्य कहते हैं कि संसार में दरिद्रता का दुःख भोगना अच्छा है अथवा मरजाना अच्छा है वा और भी सांसारिक नाना प्रकार की पीड़ाओं का सहन करना उत्तम है किन्तु दुष्टजन के सम्बन्ध से जीना तथा दुष्टजन के साथ धन कमाना उत्तम नहीं ॥ ३७ ॥

अब आचार्य मुनिधर्म का वर्णन करते हैं

आचारो दशधर्मसंयमतपोमूलोत्तराख्याःगुणाः
मिथ्यामोहमदोज्झनं शमदमध्यानाप्रमादस्थितिः
वैराग्यं समयोपबृंहणगुणा रत्नत्रयं निर्मलं,
पर्य्यन्ते च समाधिरक्षयपदानन्दाय धर्मो यतेः ॥ ३८ ॥

अर्थ :—जिस धर्म में दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तप आचार, वीर्याचार इस प्रकार पांच प्रकार के आचार, तथा उत्तमक्षमा उत्तममार्दव उत्तमआर्जव उत्तमसत्य उत्तमशौच उत्तमसंयम उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिंचन्य तथा उत्तमब्रह्मचर्य इस प्रकार का दश धर्म तथा बारह प्रकार का संयम, तथा बारह प्रकार का तप, और आठ प्रकार के मूलगुण, तथा चौरासीलाख उत्तरगुण, तथा मिथ्यात्व मोह मद का त्याग, और शम दम ध्यान तथा प्रमाद रहित स्थिति और वैराग्य, तथा जिनशासन की महिमा के बढाने वाले अनेक गुण और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप निर्मल रत्नत्रय तथा अन्त में समाधि विद्यमान है ऐसा मुनियों का धर्म अक्षयपद आनन्द के लिये है ॥ ३८ ॥

स्वं शुद्धं प्रविहाय चिद्गुणमयंभ्रान्त्याणुमात्रेऽपि यत्
संबन्धाय मतिः परे भवति तद्बंधाय मूढात्मनः
तस्मात्त्याज्यमशेषमेव महतामेतच्छरीरादिकं
तत्कालादि विनादियुक्तित इदं तत्त्यागकर्मव्रतम् ॥ ३९ ॥

अर्थ :—अपने शुद्ध चैतन्य को छोड़कर परमाणुमात्र पर पदार्थों में भी चैतन्यगुण के भ्रम से यदि मूढ़पुरुषों की बुद्धि लग जावे तो उस बुद्धि से केवल कर्म बंध ही होता है इसलिये सज्जन पुरुषों को शरीर आदि के समस्त पदार्थों का अवश्य त्याग कर देना चाहिये यदि आयुःकर्म के

प्रबल होने से शरीरादि का त्याग न हो सके तो शरीरादि के त्याग करने के लिये मुनिव्रत ही धारण करने योग्य है क्योंकि मुनिव्रत धारण करना ही शरीर आदि के त्याग की क्रिया है ॥ ३९ ॥

मुक्त्वा मूलगुणान्यतेर्विदधतः शेषेषु यत्नं परं
दण्डो मूलहरो भवत्यविरतं पूजादिकं वाञ्छतः ।
एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वा शिरश्छेदकं
रक्षत्यङ्गुलिकोटिखण्डनकरं कोऽन्यो रणे बुद्धिमान् ॥ ४० ॥

अर्थः—युद्ध करते समय अनेक प्रकार के प्रहार होते हैं उनमें कई एकतो शिर के छेदने वाले होते है तथा कई एक अंगुली से अग्र भाग के छेदने वाले होते हैं उनमें यदि कोई पुरुष शिर के छेदने वाले प्रहार को छोड़कर अंगुली के अग्र भाग को छेदन करने वाले प्रहार से रक्षा करे तो उसका जिस प्रकार उससे रक्षा करना व्यर्थ है उसी प्रकार जो यति मूलगुणों को छोड़कर शेष उत्तरगुणों के पालन करने के लिये प्रयत्न करते है तथा निरंतर पूजा आदि को चाहते है उनको आचार्य मूलछेनक दण्ड देते है इसलिये मुनियों को प्रथम मूलगुण व्रत पालना चाहिये पीछे उत्तरगुणों का पालन करना चाहिये ॥ ४० ॥

आचेलक्य मूलगुण किस लिये पाला जाता है इस बात को आचार्य दिखाते है।

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झटिति क्रोधःसमुत्पद्यते
तन्नित्यं शुचिरागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥४१॥

अर्थः—यदि संयमी वस्त्र रक्खे तो उसके मलिन होने पर धोने के लिये जल आदि का उनको आरंभ करना पड़ेगा और यदि जल आदि का आरम्भ करना पड़ा तो उनका संयम ही कहां रहा तथा यदि वह वस्त्र नष्ट हो गया तब उनके चित्त में व्याकुलता होगी तथा उसके लिये यदि वे किसी से प्रार्थना करेंगे तो उन की अयाचक वृत्ति छूट जावेगी और वस्त्रों को छोड़ कर यदि वे कौपीन (लंगोट) ही रक्खे तो भी उसके खो जाने पर उन को क्रोध पैदा

होगा इसलिये समस्त वस्त्रों का त्याग कर मुनिगणों का नित्य पवित्र राग का नाशक दिशा का मंडल ही वस्त्र है ऐसा समझना चाहिये ॥ ४१ ॥

आचार्यवर लोचनामक मूल गुण को दिखाते हैं।

काकिण्या अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते
चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपिवा तत्सिद्धये नाश्रितम् ।
हिंसाहेतुरहोजटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थने
वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः ॥४२॥

अर्थ—मुनिगण अपने पास एक कौड़ी भी नहीं रखते जिससे कि वे दूसरे से मुण्डन करा सकें तथा मुण्डन के लिये छुरा कैंची आदि अस्त्र भी नहीं रखते क्योंकि उनके रखने से क्रोधादि की उत्पत्ति से चित्त बिगड़ता है तथा वे जटा भी नहीं रख सकते क्योंकि जटाओं में अनेक जूं आदि जीवों की उत्पति होती है इस लिये जटा रखने से हिंसा होती है तथा मुण्डन कराने के लिये वे दूसरे से द्रव्य भी नहीं मांग सकते क्योंकि उनकी आयाचक वृत्ति का परिहार होता है इसलिये वैराग्य की अतिशय वृद्धि के लिये ही मुनिगण अपने हाथों से केशों को उपाटते हैं, इस में अन्य कोई मानादि कारण नही है ॥४२॥

अब आचार्य स्थितिभोजन नामक मूलगुण को बताते है।

यावन्मे स्थितिभोजनेऽस्ति दृढ़ता पाण्योश्च संयोजने
भुञ्जे तावदहंरहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यतेः ।
कायेऽप्यस्पृहचेतसोऽन्त्यविधिषु प्रोल्लासिनःसन्मते
र्नह्येतेन दिविस्थितिर्न नरके सम्पद्यते तद्विना ॥४३॥

अर्थ—जो मुनिगण अपने शरीर में भी ममत्वकर रहित है तथा समाधिमरण करने में उत्साही है तथा श्रेष्ट ज्ञान के धारक हैं उनकी विधि में यही कड़ी प्रतिज्ञा रहती है कि जब तक हमारी खड़े होकर अहार लेने में तथा दोनों हाथों के जोड़ने में शक्ति मौजूद है तब तक हम भोजन करेंगे नहीं तो कदापि न करेंगे जिस से उनको स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा उनको नरक नहीं जाना पड़ता किन्तु जो इस प्रतिज्ञा से रहित है उनको अवश्य नरक जाना पड़ता है ॥४३॥

और भी आचार्य मुनि धर्म का वर्णन करते हैं।

एकस्यापि ममत्वमात्मवपुषः स्यात्संसृतेःकारणं
कावाह्यार्थकथाप्रथीयसि तपस्याराध्यमानेऽपि च।
तद्वासां हरिचन्दनेऽपि च समःसंश्लिष्टतोऽप्यङ्गतो
भिन्नं स्वं स्वयमेकमात्मनि धृतं पश्यत्यजस्रं मुनिः ॥४४॥

अर्थः—विस्तीर्ण तप के आराधन करने पर भी यदि एक अपने शरीर में भी "यह मेरा है" ऐसा ममत्व हो जावे तो वह ममत्व ही संसार में परिभ्रमणका कारण हो जाता है तब यदि शरीर से अतिरिक्त धनधान्य में ममता की जावेगी तो वह ममता क्या न करेगी? ऐसा जानकर तथा चाहे कोई उनके शरीर में कुल्हाड़ी मारे चाहे उनके शरीर में चन्दन का लेप करे तो भी कुल्हाड़ी और चंदन में सम होकर मुनिगण क्षीरनीर के समान आत्मा शरीर का संबंध होने पर भी अपने में अपने से अपने को निरंतर भिन्न ही देखते हैं ॥४४॥

शिखरिणी।

तृणं वा रत्नं वा रिपुरथ परं मित्रमथवा
सुखं वा दुःखं वा पितृवनमथो सौधमथवा।
स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ
स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम् ॥४५॥

अर्थ :—तथा उन शान्त रस के लोलुपी मुनियों के तृण तथा रत्न, मित्र और शत्रु, सुख तथा दुःख, श्मसानभूमि और राजमन्दिर, स्तुति तथा निन्दा, मरण और जीवित दोनों समान हैं॥

भावार्थ :—जो मुनि परिग्रहकर रहित है तथा शान्त स्वरूप हैं वे तृण से घृणा भी नहीं करते है तथा रत्न को अच्छा भी नहीं समझते हैं और अपने हित के करने वाले को मित्र नहीं समझते हैं तथा अहित करने वाले को वैरी नहीं समझते हैं तथा सुख होने पर सुख नहीं मानते है दुःख होने पर दुःख नहीं मानते है और श्मसान भूमि को बुरी नहीं कहते है तथा राजमन्दिर को अच्छा नहीं कहते है तथा स्तुति होने पर संतुष्ट नहीं होते है तथा निन्दा होने पर रुष्ट नहीं होते हैं तथा जीवित मरण को समान मानते हैं ॥४५॥

वीतरागी इस प्रकार का विचार करते हैं।

मालिनी।

वयमिह निजयूथभ्रष्टसारङ्गकल्पाः
परपरिचयभीताः क्वापि किंचिच्चरामः।
विजनमधिवसामो न व्रजामः प्रमादं
सुकृतमनुभवामो यत्र तत्रोपविष्टाः ॥४६॥

अर्थ :—जिस प्रकार मृग अपने समूह से जुदा होकर तथा दूसरों से भयभीत होकर जहां तहां विचरता फिरता है तथा एकान्त में रहता है तथा प्रति समय प्रतिबुद्ध रहता और जहां तहां बैठ कर आनन्द भोगता है उसी प्रकार हमारे लिये भी वह कौनसा दिन आवेगा जिस दिन हम अपने कुटुम्बियों से जुदे होकर तथा फिर उन से परिचय न हो जावे इस से भयभीत होकर हम भी यहां वहां विचरेंगे तथा एकान्तवास में रहेंगे और प्रमादी न बनेंगे, तथा जहां तहां बैठकर अपने आत्मानंद का अनुभव करेंगे ॥४६॥

और भी वीतरागी इस प्रकार की भावना करते रहते हैं।

कतिन कतिन वारान् भूपतिर्भूरिभूतिः
कतिन कतिन वारानत्र जातोऽस्मि कीटः।
नियतमिति न कस्याप्यस्ति सौख्यं न दुःखं
जगति तरलरूपे किं मुदा किं शुचा वा ॥४७॥

अर्थः—इस संसार में कितनी २ वारतों हम बड़ी बड़ी संपत्तियों के धारी राजा न हो गये तथा कितनी २ वार इसी संसार में हम क्षुद्र कीड़े न हो चुके इसलिये यही मालूम होता है कि चंचल रूप इस संसार में किसी का सुख तथा दुःख निश्चित नहीं है अतः सुख और दुःख के होने पर हर्ष और विषाद कदापि नहीं करना चाहिये ॥४७॥

पृथ्वी।

प्रतिक्षणमिदं हृदि स्थितमतिप्रशान्तात्मनो
मुनेर्भवति संवरः परमशुद्धहेतुर्ध्रुवम्।

रजःखलु पुरातनं गलति नो नवं ढौकते
ततोऽपि निकटं भवेदमृतधाम दुःखोज्झितम् ॥४८॥

अर्थः—परमशान्त मुद्रा के धारी मुनियों के इस प्रकार उपर्युक्त भावना करने से परम शुद्धि का करने वाला संवर होता है तथा उसके होते सन्ते जो कुछ प्राचीन कर्म आत्मा के साथ लगे रहते हैं वे गल जाते हैं तथा नवीन कर्मों का आगमन भी वन्द हो जाता है तथा उन मुनियों के लिये समस्त प्रकार के दुःखोंकर रहित मुक्ति भी सर्वथा समीप रह जाती है ॥४८॥

और भी आचार्य मुनिधर्म की महिमाका वर्णन करते हैं।

शिखरिणी।

प्रबोधो नीरन्ध्रं प्रवहणममन्दं पृथुतपः
सुवायुर्यैः प्राप्तो गुरुगणसहायाः प्रणयिनः।
कियन्मात्रस्तेषां भवजलधिरेषोऽस्य च परः
कियद्दूरे पारः स्फुरति महतामुद्यमवताम् ॥ ४९ ॥

अर्थ :—जिन मुनियोंके पास छिद्ररहित सम्यग्ज्ञानरूपी जहाज मोजूद है, तथा अमन्द विस्तीर्ण तपरूपी पवनभी जिनके पास है तथा स्नेही बड़े २ गुरूभी जिनके सहायी हैं उन उद्यमी महात्मा मुनियोंके लिये यह संसाररूपी समुद्र कुछ भी नहीं है तथा इस संसाररूपी समुद्रका पारभी उनके समीप में ही है ॥

भावार्थ :—जिस मनुष्यके पास छिद्ररहित तथा जहाजके लिये योग्य पवन तथा चतुर खेवटिया होतेहैं वह मनुष्य बातकी बातमें समुद्रकी चौरस को तय कर लेता हैं उसी प्रकार जो मुनि सम्यग्ज्ञानके धारक है तथा विस्तीर्ण तपके करने वाले है और जिनके बड़े २ गुरूभी सहायी हैं वे मुनि शीघ्रही संसार समुद्रसे तरजाते हैं तथा मोक्ष उनके सर्वथा समीप में आजाती है ॥४९॥

आचार्य मुनियों को शिक्षा देते हैं।

वसंततिलका।

अभ्यस्यतान्तरदृशं किमु लोकभक्त्या
मोहं कृशीकुरुत किं वपुषा कृशेन।
एतद्द्वयं यदि न किं वहुभिर्नियोगैः
क्लेशैश्च किं किमपरैः प्रचुरैस्तपोभिः॥ ५० ॥

अर्थ :—भो मुनिगण! आनन्द स्वरूप शुद्धात्माका अनुभव करो लोकके रिझावने के लिये प्रयत्न मत करो तथा मोह को कृष करो शरीरके कृष करने में कुछ भी नहीं रक्खा है क्योंकि जव तक तुम इन दो वातोंको न करोगे तव तक तुम्हारा यम नियम करना भी व्यर्थ है तथा तुम्हारा क्लेश सहना भी विना प्रयोजनका है और तुम्हारे, नाना प्रकारके, किये हुवे तप भी व्यर्थ हैं।

भावार्थ :—जब तक ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्धात्माका अनुभव न किया जायेगा तथा मोहको कृष न किया जायगा तव तक वाह्य में तुम चाहे जितना यम नियम उपवास तप आदि करो सर्व तुम्हारे व्यर्थ हैं इसलिये सव से प्रथम तुमको ज्ञानानन्दस्वरूप शुद्धात्माका अनुभव करना चाहिये पीछे इन सब बातों पर ध्यान देना चाहिये॥ ५०॥

॥ और भी आचार्य मुनिधर्मके स्वरूपका वर्णन करते हैं॥

वंशस्थ।

जुगुप्सते संसृतिमत्र मायया तितिक्षते प्राप्तपरीषहानपि।
न चेन्मुनिर्दुष्टकषायनिग्रहाच्चिकित्सति स्वान्तमघप्रशान्तये॥ ५१॥

अर्थ :—जो मुनि सर्वथा आत्माके अहित करनेवाले दुष्ट कषायों को जीतकर पापोंके नाश के लिये अपने चित्तको स्वस्थ वनाना नहीं चाहता वह मुनि समस्त लोकके सामने कपट से संसार की निन्दा करता है तथा कपट से ही वह क्षुधा तृषा आदि वाईस परीषहों को सहन करता है।

भावार्थ :—संसार का त्याग तथा परीषहों को जीतना उसी समय कार्यकारी माना जाता है जबकि कषायों का नाश होवे तथा चित्त स्वस्थ रहे किन्तु जिन मुनियों का चित्त कषायके नाश होने से शुद्ध ही नहीं हुवा है वे मुनि क्या तो संसार का त्याग कर सकते हैं? तथा क्या वे परीषहों को ही सहन कर सकते है, यदि ये संसारकी निन्दा करे तो उनका वह सर्वकार्य ढोंग से किया हुवा ही समझना चाहिये। इसलिये मुनियों को चाहिये कि वे प्रथम कषायआदिको नाशकर चितको शुद्ध बना लेंगे पीछे संसारकी निन्दा तथा परीषहोंका सहन करे ॥ ५१ ॥

शार्दूल विक्रीडित ।

हिंसा प्राणिषु कल्मषं भवति सा प्रारम्भतः सोऽर्थतः
तस्मादेव भयादयोऽपि नितरां दीर्घा ततः संसृतिः ।
तत्रासातमशेषमर्थत इदं मत्वेति यस्त्यक्तवान्
मुक्त्यर्थी पुनरर्थमाश्रितवता तेनाहतः सत्पथः ॥५२॥

अर्थः—प्राणियों को मारने से पाप होता है तथा वह पाप आरंभ से होता है और वह आरंभ धन के होते संते होता है तथा धन के होते संते लोभ आदि की उत्पत्ति होती है और लोभ आदि के होने से दीर्घ संसार होता है तथा संसार से अनन्त दुःख होते है इस प्रकार से सब बातें द्रव्य से होती है इस बात को जानकर मोक्ष के अभिलाषी मुनियों ने द्रव्य का त्याग कर दिया है किन्तु जिसने धन को आश्रयण किया है उसने सच्चे मार्ग का नाश ही कर दिया है ऐसा समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये
शय्याहेतुतृणाद्यपि प्रशमिनां लज्जाकरं स्वीकृतम् ।
यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं साम्प्रतं
निर्ग्रन्थेष्वपि चेत्तदस्ति नितरां प्रायः प्रविष्टः कलिः ॥५३॥

अर्थः—आचार्य कहते है निर्ग्रंथमुनि शय्या के कारण यदि घास आदि को भी स्वीकार करलें तो वह स्वीकार भी उनके खोटे ध्यान के लिये होता है तथा निन्दा का करने वाला और

निर्ग्रन्थता में हानि पहुंचाने वाला होता है तथा लज्जा को करने वाला भी होता है तब वे निर्ग्रन्थ यतीश्वर गृहस्थ के योग्य सुवर्ण आदि को कब रख सकते हैं ? यदि इस काल में निर्ग्रंथ सुवर्ण आदि को रक्खें तो समझना चाहिये कि यह कलिकालका ही महात्म्य है ॥ ५३ ॥

आर्या ।

कादाचित्को बंधः क्रोधादेः कर्मणः सदा सङ्गात् ।
नातः क्वापि कदाचित्परिग्रहग्रहवतां सिद्धिः ॥५४॥

अर्थः—और भी आचार्य कहते हैं कि क्रोधादि कर्मों के द्वारा तो प्राणियों के कर्मों का बंध कभी २ ही होता है किन्तु परिग्रह से प्रतिक्षण बंध होता रहता है अतएव परिग्रह धारियों को किसी काल में तथा किसी प्रदेश में भी सिद्धि नहीं होती। इसलिये भव्यजीवों को कदापि धनधान्य से ममता नहीं रखनी चाहिये ॥ ५४ ॥

इंद्रवज्रा ।

मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषो विशेषतो मोक्षनिषेधकारी ।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो मुमुक्षुर्भवेत्किमत्र कृताभिलाषः ॥५५॥

अर्थः—स्त्री पुत्र आदि की अभिलाषा का करना तो दूर रहो यदि मोक्ष के लिये भी अभिलाषा की जावे तो वह दोषस्वरूप समझी जाती है तथा इसीलिये वह मोक्ष की निषेध करने वाली है। इसी लिये जो मुनि अपनी आत्मा के रस में लीन है तथा मोक्ष के अभिलाषी हैं वे स्त्री पुत्र आदि में कब अभिलाषा कर सकते है।

भावार्थः—मोह के उदय से ही पदार्थों में इच्छा होती है तथा जब तक मोह रहता है तब तक मोक्ष कदापि नहीं हो सकता इसलिये मोक्ष के लिये भी अभिलाषा करना दोष है अतः मोक्षाभिलाषी मुनियों को आत्मरस में ही लीन रहना चाहिये ॥ ५५ ॥

पृथ्वी ।

परिग्रहवतां शिवं यदि तदानलः शीतलो
यदीन्द्रियसुखं सुखं तदिह कालकूटः सुधा ।

स्थिरा यदि तनुस्तदा स्थिरतरं तडिच्चाम्बरे
भवेऽत्र रमणीयता यदि तदिन्द्रजालेऽपि च ॥५६॥

अर्थः—यदि परिग्रहधारियों को भी मुक्ति कही जावेगी तो अग्नि को भी शीतल कहना पड़ेगा तथा यदि इन्द्रियों से पैदा हुवे सुख कहोगे तो विष को भी अमृत मानना पड़ेगा, और यदि शरीर को स्थिर कहोगे यो आकाश में बिजली को भी स्थिर कहना पड़ेगा तथा संसार में रमणीयता कहोगे तो इन्द्रजाल में भी रमणीयता कहनी पड़ेगी। इसलिये इस बात को मानो कि जिस प्रकार अग्नि शीतल नहीं होती उसी प्रकार परिग्रह धारियों को कदापि मुक्ति नहीं हो सकती और जिस प्रकार विष अमृत नहीं होता उसी प्रकार इन्द्रियसुख भी कदापि सुख नहीं हो सकता तथा जिस प्रकार बिजली स्थिर नहीं होती उसी प्रकार यह शरीर भी स्थिर नहीं हो सकता तथा जिस प्रकार इन्द्रजाल में रमणीयता नहीं होती उसी प्रकार संसार में भी रमणीयता नहीं हो सकती॥ ५६॥

मालिनी।

स्मरमपि हृदि येषां ध्यानवन्हिप्रदीप्ते
सकलभुवनमल्लं दह्यमानं विलोक्य।
कृतभिय इव नष्टास्ते कषाया न तस्मिन्
पुनरपि हि समीयुः साधवस्ते जयन्ति ॥५७॥

अर्थः—वे यतीश्वर सदा इस लोक मे जयवंत है कि जिन यतीश्वरों के हृदय में ध्यानरूपी अग्नि के जाज्वल्यमान होने पर तीनों लोक के जीतने वाले कामदेवरूपी प्रबल योधा को जलते हुये देख कर कषाय भय से ही मानो भाग गई तथा ऐसे भागीं कि फिर न आ सकीं।

भावार्थः—जिन मुनियोंके सामने कामदेव का प्रभावहत हो गया है तथा जो अत्यंत ध्यानी हैं और कषायों कर रहित है उन मुनियो के लिये सदा में नमस्कार करता हूं॥ ५७॥

अब आचार्य गुरुओं की स्तुति करते है।

उपेन्द्रवज्रा।

अनर्घ्यरत्नत्रयसम्पदोऽपि निर्ग्रन्थतायाः पदमद्वितीयम्।
जयन्ति शान्ताः स्मरवैरिवध्वाः वैधव्यदास्ते गुरवो नमस्याः ॥५८॥

अर्थः—अमूल्य रत्नत्रय रूपी संपत्ति के धारी होकर भी जो निर्ग्रंथपद के धारक हैं तथा शान्तमुद्रा के धारी होने पर भी जो कामदेव रूपी वैरी की स्त्री को विधवा करने वाले हैं ऐसे वे उत्तमगुरु सदा नमस्कार करने योग्य हैं।

भावार्थः—इस श्लोक में विरोधाभास नामक अलंकार है इसलिये आचार्य विरोधाभास को दिखाते हैं कि जिसके अमूल्य रत्नत्रय मौजूद हैं वह परिग्रह करके रहित कैसे हो सकता है। तथा जो शान्त है वह कामदेव की स्त्री को विधवा कैसे बना सकता है इसलिये ऐसे चमतकारी गुरु सदा वन्दनीक ही हैं।

सारांशः—जो रत्नत्रय के धारी हैं तथा निर्ग्रन्थ हैं और शान्त मुद्रा के धारक हैं तथा कामदेव के जीतने वाले हैं उन गुरुओं को सदा मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥ ५८ ॥

आचार्य परमेष्ठी की स्तुति।

शार्दूल विक्रिड़ित।

ये स्वाचारमपारसौख्यसुतरोर्बीजं परं पञ्चधा
सद्बोधाः स्वयमाचरन्ति च परानाचारयन्त्येव च।
ग्रन्थग्रन्थिविमुक्तमुक्तपदवीं प्राप्ताश्च यैः प्रापिताः
ते रत्नत्रयधारिणः शिवसुखं कुर्वन्तु नः सूरयः ॥५९॥

अर्थः—जो सद्ज्ञान के धारक आचार्य अपार जो सौख्यरूपी वृक्ष उसको उत्पन्न करने वाले पांच प्रकार के आचार को स्वयं आचारण करते है तथा दूसरों को आचरण कराते हैं तथा जहां पर किसी प्रकार के परिग्रह का लेश नहीं ऐसी मुक्ति को स्वयं जाते हैं और दूसरों को पहुँचाते हैं इसलिये इस प्रकार निर्मलरत्नत्रय के धारी आचार्यवर हमारे लिये मोक्ष सुख को प्रदान करो॥ ५९ ॥

वसंततिलका।

भ्रान्तिप्रदेषु वहुवर्त्मसु जन्मकक्षे
पन्थानमेकममृतस्य परं नयन्ति।

ये लोकमुन्नतधियः प्रणमामि तेभ्य-
स्तेनाप्यहं जिगमिषुर्गुरुनायकेभ्यः ॥६०॥

अर्थः—इस संसार में भ्रम के करने वाले अनेक मार्गों में से जो गुरु लोक को सुख को देने वाले एक मोक्ष मार्ग को ले जाते हैं तथा स्वयं उच्चज्ञान के धारक हैं ऐसे उन श्रेष्ठ गुरुओं को उसी मार्ग में जाने की इच्छा करने वाला मैं भी मस्तक झुका कर नमस्कार करता हूं ॥६०॥

॥ उपाध्याय परमेष्ठी की स्तुति ॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

शिष्याणामपहाय मोहपटलं कालेन दीर्घेण यत्
जातं 'स्यात्पदलाञ्छितोज्वलवचोदिव्याञ्जनेन' स्फुटम् ।
ये कुर्वन्ति दृशं परामतितरां सर्वावलोके क्षमां
लोके कारणमन्तरेण भिषजस्ते पान्तु नोऽध्यापकाः ॥६१॥

अर्थः—जो उपाध्याय परमेष्ठी अनादिकाल से लगे हुये मोह के परदे को स्याद्वाद से अविरोधी ऐसे अपने उपदेश रूपी दिव्य अंजन से हटा कर शिष्यों की दृष्टि को अत्यंत निर्मल तथा समस्त पदार्थों के देखने में समर्थ बनाते हैं ऐसे बिना कारण के ही वैद्य ये उपाध्याय मेरी इस संसार में रक्षा करो ॥६१॥

साधु परमेष्ठी की स्तुति ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

उन्मुच्यालयबंधनादपि दृढात्कायेऽपि वीतस्पृहाः
चित्ते मोहविकल्पजालमपि यद् दुर्भेद्यमन्तस्तमः ।
भेदायास्य हि साधयन्ति तदहो ज्योतिर्जितार्कप्रभं
ये सद्बोधमयं भवन्तु भवतां ते साधवः श्रेयसे ॥६२॥

अर्थः—जो साधू परमेष्ठी अत्यन्त कठिन भी गृहरूपी बन्धन से अपने को छुटा कर तथा अपने शरीर में भी इच्छा रहित होकर कठिनता से भेदने योग्य ऐसे मोह से पैदा हुये विकल्पों के समूह रूप भीतरी अंधकार के नाश करने के लिये सूर्य की प्रभा को भी नीची करने वाली सम्यग्ज्ञान रूपी ज्योती को निरन्तर सिद्ध करते रहते हैं। ऐसे उन साधु परमेष्ठी के लिये नमस्कार है अर्थात् वे मेरे कल्याण के लिये होवे ॥६२॥

॥ वीतराग की महिमा का वर्णन ॥

वसंत तिलका ।

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोकमुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात् ।
बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥६३॥

अर्थः—जिस वज्र के शब्द के भय से चकित होकर समस्त लोक मार्ग को छोड़ देते हैं ऐसे वज्र के गिरने पर भी जो शान्तात्मा मुनि ध्यान से कुछ भी विचलित नहीं होते तथा जिन्होंने सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक से समस्त मोहान्धकार को नाश कर दिया है और जो सम्यग्दर्शन के धारी हैं वे मुनि परीषहों के जीतने में कब चलायमान हो सकते हैं ? अर्थात् परीषह उनका कुछ भी नहीं कर सकतीं ॥६३॥

ग्रीष्म ऋतु में पर्वत के शिखर पर ध्यानीमुनीश्वरों की स्तुति ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

प्रोद्यत्तिग्मकरोग्रतेजसि लसच्चण्डानिलोद्यद्दिशि
स्फारीभूतसुतप्तभूमिरजसि प्रक्षीणनद्यम्भसि ।
ग्रीष्मे ये गुरुमेघनीध्रशिरसि ज्योतिर्निधायोरसि
ध्वान्तध्वंसकरं वसन्ति मुनयस्ते सन्तु नः श्रेयसे ॥६४॥

अर्थः—जिस ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त तीक्ष्ण धूप पड़ती है तथा चारों दिशाओं में भयंकर लू चलती है तथा जिस ऋतु में अत्यन्त संताप का देने वाला गरम रेता फैला हुआ है तथा नदियों का पानी सूख जाता है ऐसी भयंकर ग्रीष्म ऋतु में जो मुनि समस्त अन्धकार को

नाश करने वाली सम्यग्ज्ञान रूपी ज्योति को अपने मन में रखकर अत्यन्त ऊंचे पहाड़ की चोटी पर निवास करते हैं उन मुनियों के लिये मेरा नमस्कार हो अर्थात् ये मुनि मेरे कल्याण के लिये होवे ॥६४॥

वर्षाकाल में वृक्षों के नीचे स्थित मुनियों की स्तुति।

शार्दूल विक्रीड़ित।

ते वः पान्तु मुमुक्षवः कृतरवैरब्दै रतिश्यामलैः
शश्वद्वारि वमद्भिरब्धिविषयक्षारत्वदोषादिव।
काले मज्जदिले पतद्गिरिकुले 'धावद्धुनीसंकुले'
झंझावातविसंस्थुले तरुतले तिष्ठन्ति ये साधवः ॥ ६५ ॥

अर्थः—जिस वर्षाकाल में काले २ मेघ भयंकर शब्द करते है तथा समुद्र के क्षार दोष से ही मानो जो जहां तहां जल वर्षाते है तथा जिस काल में जमीन नीचे को धसक जाती है तथा पर्वतों से बड़े २ पत्थर गिरते हैं तथा जल की भरी हुई नदियां सब जगह दौड़ती फिरती हैं तथा जो वर्षा काल वृष्टि सहित पवन से भयंकर हो रहा है ऐसे भयंकर वर्षाकाल में जो मोक्षाभिलाषी मुनि वृक्षों के नीचे बैठकर तप करते हैं उन मुनियों के लिये नमस्कार है अर्थात् वे मुनि मेरी रक्षा करो ॥ ६५ ॥

शीतकाल में खुले हुवे मैदान में तप करने वाले यतीश्वरों की स्तुति।

शार्दूल विक्रीड़ित।

म्लायत्कोकनदे गलत्पिकमदे भ्रंश्यद्द्रुमौघच्छदे
हर्षद्रोमदरिद्रके हिमऋतावत्यन्तदुःखप्रदे।
ये तिष्ठन्ति चतुष्पथे पृथुतपः सौधस्थिताः साधवो
ध्यानोष्णप्रहितोग्रशीतविधुरास्ते मे विदध्युः श्रियम् ॥ ६६ ॥

अर्थः—जिस शीतकाल में कमल कुम्हला जाते हैं तथा बन्दरों का मद गल जाता है और वृक्षों के पत्ते जल जाते है तथा जिस शीतकाल में वस्त्ररहित दरिद्रों के शरीर पर रोमांच

खड़े हो जाते हैं और भी जो नाना प्रकार के दुःखों का देने वाला है ऐसे भयंकर शीतकाल में अत्यंततपस्वी तथा ध्यानरूपी अग्नि से समस्त शीत को नाश करने वाले जो यतीश्वर खुले मैदान में निर्भयता से निवास करते हैं वे यतीश्वर मुझे अविनाशी लक्ष्मी प्रदान करो ॥६६॥

और भी मुनिधर्म के स्वरूप को आचार्य दिखाते हैं।

वसंत तिलका।

कालत्रये वहिरवस्थितजातवर्षा
शीतातपप्रमुखसंघटितोग्रदुःखे।
आत्मप्रबोधविकले सकलोऽपि काय
क्लेशो वृथा वृतिरिवोज्झितशालिवप्रे ॥ ६७ ॥

अर्थः—जो मुनि अपने आत्मज्ञान की कुछ भी परवाह न कर वाहिर में रहकर वर्षा शीत गर्मी तीनों कालों में उत्पन्न हुवे दुःखों को सहन करते हैं उनका उस प्रकार का दुःख सहना वैसा ही निरर्थक मालूम होता है जैसाकि धान्य के कट जाने पर खेत की वाड़ लगाना निरर्थक होता है इसलिये मुनियों को आत्मज्ञान पर विशेष ध्यान देना चाहिये ॥ ६७ ॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

सम्प्रत्यस्ति न केवली किल कलौ त्रैलोक्यचूड़ामणिः
तद्वाचः परमासतेऽत्र भरतक्षेत्रे जगद्द्योतिकाः।
सद्रत्नत्रयधारिणो यतिवरास्तेषां समालंवनं
तत्पूजा जिनवाचिपूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥ ६८ ॥

अर्थः—यद्यपि इस समय इस कलिकाल में तीन लोक के पूजनीक केवली भगवान विराजमान नहीं है तो भी इस भरत क्षेत्र में समस्त जगत को प्रकाश करने वाली उन केवली भगवान की वाणी मौजूद है तथा उन वाणियों के आधार श्रेष्ठ रत्नत्रय के धारी मुनि हैं इसलिये उन मुनियों की पूजन तो सरस्वती की पूजन है तथा सरस्वती की पूजन साक्षात्केवली भगवान की पूजन है ऐसा भव्यजीवों को समझना चाहिये ॥ ६८ ॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

स्पृष्टा यत्र मही तदंघ्रिकमलैस्तत्रैति सत्तीर्थतां
तेभ्यस्तेपि सुराः कृताञ्जलिपुटा नित्यं नमस्कुर्वते ।
तन्नामस्मृतिमात्रतोऽपि जनता, निष्कल्मषा जायते
ये जैना यतयश्चिदात्मनिरता ध्यानं समातन्वते ॥ ६६ ॥

अर्थः—जो यतीश्वर आत्मा में लीन होकर ध्यान करते हैं उन जैन यतीश्वरों के चरण कमलों से स्पृष्ट भूमि उत्तम तीर्थ बन जाती है तथा उन यतीश्वरों को हाथ जोड़ मस्तक नवाकर बड़े २ देव आकर नमस्कार करते हैं तथा उनके स्मरणमात्र से ही जीवों के समस्त पाप गल जाते हैं इसलिये यतीश्वरों को सदा ध्यान में लीन रहना चाहिये ॥ ६६ ॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

सम्यग्दर्शनवृत्तबोधनिचितः शान्तः शिवैषी मुनिः
मन्दैः स्यादवधी रतोऽपि विशदः साम्यं यदालम्ब्यते ।
आत्मा तैर्विहतो यदत्र विषमध्वान्तश्रिते निश्चितं
सम्पातो भवितोग्रदुःखनरके तेषामकल्याणिनाम् ॥७०॥

अर्थः—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का धारी तथा शांत और मोक्षाभिलाषी जो मुनि दुष्टों से अपमानित होकर भी स्वच्छ अंतः करण से समता को धारण करता है उसकी तो आत्मा शुद्ध ही होती है किन्तु जो उन की निन्दा करनेवाले हैं उन्होंने अपनी आत्मा का घात कर लिया क्योंकि वे दुष्ट कल्याणरहित पुरुष ऐसे नरक में गिरेंगे जो नरक भयंकर अंधकार से व्याप्त है तथा कठिन दुःख का स्थान है इसलिये मुनियों को चाहिये कि दुष्ट कैसी भी निंदा करें तो भी उनको समताही धारण करनी योग्य है ॥७०॥

स्रग्धरा ।

मानुष्यं प्राप्य पुण्यात्प्रशममुपगता रोगवद्भोगजालं
मत्वा गत्वा वनांतं दृशिविदिचरणे ये स्थिताःसंगमुक्ताः ।

कस्तोता वाक्पथातिक्रमणपटुगुणैराश्रितानांमुनीनां
स्तोतव्यास्तेमहद्भिर्भुवि य इह तदंघ्रिद्वयेभक्तिभाजः ॥७१॥

अर्थः—पुण्य योग से मनुष्य भव को पाकर तथा शान्ति को प्राप्त होकर और भोगों को रोगतुल्य जानकर तथा वन में जाकर समस्त परिग्रह से रहित होकर जो यतीश्वर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र में स्थित होते है वचनागोचर गुणोंकर सहित उन मुनियों की प्रथम तो कोई स्तुति का करनेवाला ही नही यदि कोई स्तुति कर सके भी तो वे ही पुरुष उनकी स्तुति कर सकते हैं जो उन मुनियों के चरणकमलों को आराधन करनेवाले महात्मा पुरुष हैं ॥७१॥

इस प्रकार धर्मोपदेशामृताधिकार में मुनि धर्म का वर्णन समाप्त हुवा ॥

अब आचार्य रत्नत्रयधर्म का वर्णन करते हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित।

तत्वार्थाप्ततपोभृतां यतिवराः श्रद्धानमाहुर्दृशं
ज्ञानं जानदनूनमप्रतिहतं स्वार्थावसन्देहवत्।
चारित्रं विरतिः प्रमाद्विलसत्कर्मास्रवाद्योगिना
मेतन्मुक्तिपथस्त्रयं च परमोधर्मो भवच्छेदकः ॥७२॥

अर्थः—गणधरादि देव जीवादि पदार्थ तथा आप्त और गुरुओं पर श्रद्धान रखने को सम्यग्दर्शन कहते हैं तथा जिसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं है तथा जो संशय रहित तथा पूर्ण है ऐसे ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते है तथा प्रमाद सहित कर्मों के आगमन के रुक जाने को सम्यक् चारित्र कहते है तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र ही मुक्ति का मार्ग हैं तथा संसार को नाश करने वाला परम धर्म है ॥७२॥

मालिनी

हृदयभुवि दृगेकं वीजमुप्तंत्वशङ्का
प्रभृति गुणसदम्भःसारिणीसिक्तमुच्चैः।
भवदवगमशाखश्चारुचारित्रपुष्पः
तरुरमृतफलेन प्रीणयत्याशु भव्यम् ॥७३॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि अंतःकरणरूपी पृथ्वी में बोया हुआ तथा निःशंकित आदि आठगुण रूपी उत्तम जल की भरी हुई नलियों से सींचा हुवा सम्यग्दर्शन रूपी बीज सम्यग्ज्ञानरूपी शाखाओं का धारी तथा चारित्ररूपी पुष्प करसहित वृक्ष रूप में परिणत होकर शीघ्र ही भव्य जीवों को मोक्ष रूपी फल से संतुष्ट करता है ॥२७॥

और भी आचार्य रत्नत्रयकी महिमा दिखाते हैं ॥

दृगवगमचरित्रालंकृतः सिद्धिपात्रं
लघुरपि न गुरुः स्यादन्यथात्वे कदाचित् ।
स्फुटमवगतमार्गो याति मन्दोऽपि गच्छन्
नभिमतपदमन्यो नैव तूर्णोऽपि जन्तुः ॥७४॥

अर्थ :—जिसको मार्ग मालूम है ऐसा मनुष्य यदि धीरे २ चले तो भी जिस प्रकार अभिमत स्थानपर पहुंच जाता है किन्तु जिसको मार्ग कुछ भी नहीं मालूम है वह चाहे कितनी भी जल्दी चले तो भी वह अपने अभिमत स्थान पर पहुंच सकता उसी प्रकार जो मुनि तप आदिका तो बहुत थोड़ा करनेवाला है किन्तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकाधारी हैं वह शीघ्रही मुक्तिको प्राप्त हो जाता है किन्तु जो तपआदिका तो बहुत करनेवाला है परन्तु सम्यग्दर्शन आदिरत्नत्रयका धारी नहीं है, वह कितना भी प्रयत्न करे तो भी मोक्षको नहीं पा सकता है इसलिये मोक्षाभिलाषियों को सम्यग्दर्शनादिकी सबसे अधिक महिमा समझनी चाहिये ॥७४॥

मालिनी ।

वनशिखिनिमृतोऽन्धः सञ्चरन्वाढमंघ्रि
द्वितयविकलमूर्ति वीक्षमाणोऽपि खञ्जः ।
अपि सनयनपादोऽश्रद्दधानश्चतस्मा-
द्दृगवगमचरित्रैः संयुतैरेव सिद्धिः ॥७५॥

अर्थ :—वनमें अग्नि लगने पर उस वन में रहने वाला अन्धा तो देख न सका इसलिये दौड़ता हुआ भी मरगया तथा दोनों चरणोंका लूला लगी हुई अग्नि देखता हुवा दौड़ न सकने के कारण तत्काल भस्म होगया और आंख तथा पैर सहित भी आलसी इसलिये मर गया कि

उसको अग्नि लगने का श्रद्धान ही नहीं हुवा इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि केवल सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान और केवल सम्यक्चरित्र मोक्ष के लिये कारण नहीं हैं किन्तु तीनों मिले हुवे ही हैं ॥७५॥

भावार्थ :—यद्यपि अन्धे को अग्नि का श्रद्धान तथा आचरण था तो भी देखना रूप ज्ञान न होने के कारण वह मर गया तथा पंगु को ज्ञान श्रद्धान होने पर दौड़ना रूप आचरण नहीं था इसलिये भस्म होगया। आलसी को ज्ञान भी था और आचरण भी था किन्तु श्रद्धान नहीं था इसलिये वह जल कर मर गया यदि इन तीनों के पास तीनों चीजें होतीं तो उनमें से एक भी नहीं मरता इसलिये जुदे २ सम्यग्दर्शन आदि केवल दुःख ही के देने वाले हैं किन्तु तीनों मिले हुवे ही कल्याण के देने वाले हैं इसलिये भव्यजीवों को तीनों का ही आराधन करना चाहिये ॥

मालिनी।

वहुभिरपि किमन्यैः प्रस्तरैः रत्नसंज्ञैः
वपुषिजनितखेदैर्भारकारित्वयोगात्।
हतदुरिततमोभिश्चारुरत्नैरनर्घैः
त्रिभिरपि कुरुतात्मालंकृतिं दर्शनाद्यैः ॥७६॥

अर्थ :—संसार में यद्यपि रत्नसंज्ञा वहुत से पत्थरों की भी है किन्तु उनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं क्योंकि वे केवल भारकारी होने के कारण शरीर को खिन्न करने वाले ही हैं इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि हे मुनीश्वरो जो समस्त अन्धकार के नाश करने वाले हैं तथा अमूल्य और मनोहर हैं ऐसे सम्यग्ज्ञान सम्यक्चरित्ररूपी तीन रत्नों से ही अपनी आत्मा को शोभित करो ये ही वास्तविकरत्न हैं ॥ ७६ ॥

मालिनी।

जयति सुखनिधानं मोक्षवृक्षैकबीजं
सकलमलविमुक्तं दर्शनं यद्विना स्यात्।
मतिरपि कुमतिर्नु दुश्चरित्रं चरित्रं
भवति मनुजजन्म प्राप्तमप्राप्तमेव ॥७७॥

अर्थ :—जिस सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है चरित्र मिथ्याचरित्र कहलाता है प्राप्त हुवा भी मनुष्य जन्म न पाया हुवा सा कहलाता है ऐसा सुख स्वरूप तथा मोक्ष रूपी सुखका देने वाला और निर्मल सम्यग्दर्शनरूपीरत्न सदा इस लोकमें जयवंत है ॥ ७७ ॥

आर्या

भवभुजगनागदमनी दुःखमहादावशमनजलवृष्टिः ।
मुक्तिसुखामृतसरसी जयति दृगादित्रयी सम्यक् ॥७८॥

अर्थः—संसार रूपी सर्प को नाश करने में नागदमनी तथा दुःख रूपी दावानल के बुझाने के लिये जलवृष्टि और मोक्ष रूपी सुखामृत की सरोवरी (तालाव) ऐसी समीचीन रत्नत्रयी सदा इस लोक में जयवंत हैं ।

अब आचार्य निश्चय रत्नत्रय का वर्णन करते हैं ।

मालिनी ।

वचनविरचितैवोत्पद्यते भेदबुद्धिर्दृगवगमचरित्राण्यात्मनः स्वं स्वरूपम् ।
अनुपचरितमेतच्चेतनैकस्वभावं, व्रजति विषयभावं योगिनां योगदृष्टेः ॥७९॥

अर्थ—व्यवहारनय की अपेक्षा से ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र जुदे जुदे मालूम पड़ते है निश्चयनय की अपेक्षा से इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है किन्तु ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं-तथा समस्त लोकालोक को देखने वाले केवली-भगवान् वास्तविक रीति से इन तीनों को चैतन्य से अभिन्न स्वरूप ही देखते है ।

उपेन्द्रवज्रा ।

निरूप्य तत्वं स्थिरतामुपागता मतिः सतां शुद्धनयावलम्बिनी ।
अखण्डमेकं बिशदं चिदात्मकं निरन्तरं पश्यति तत्परं महः ॥८०॥

अर्थ—जीवाजीवादिसमस्ततत्वों को देख कर जिन सज्जनों की मति स्थिर हो गई है तथा शुद्धनय को आश्रयण करने वाली हो गई है वे ही मनुष्य निर्मल तथा उत्कृष्ट चित्स्वरूप ज्योति को देखते हैं ॥८०॥

स्रग्धरा ।

दृष्टिर्निर्णीतिरात्माह्वयविशदमहस्यत्र बोधः प्रबोधः
शुद्धं चारित्रमत्र स्थितिरिति युगपद्वंधविध्वंसकारि ।
बाह्यं बाह्यार्थमेव त्रितयमपि तथा स्याच्छुभोवाऽशुभोवा ।
बन्धः संसारमेवं श्रुतिनिपुणधियः साधवस्तं वदन्ति ॥८१॥

अर्थ—आत्मारूपी निर्मल तेज में निश्चय (विश्वास) करना तो निश्चय सम्यग्दर्शन है तथा उसी तेज में जान पना निश्चय ज्ञान है तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान स्वरूप में स्थित रहना सम्यक्चारित्र है और इन तीनों की एकता कर्मबन्ध के नाश करने वाली है तथा इस निश्चय रत्नत्रय से जो बाह्य है सो बाह्य ही है और चाहे वह शुभ हो चाहे अशुभ हो बन्ध का ही कारण होने से संसार का भी कारण है ऐसा श्रुतज्ञान के पारंगत आचार्य कहते हैं । इसलिये भव्य जीवों को निश्चय रत्नत्रय के ही लिये प्रयत्न करना चाहिये । तथा व्यवहार रत्नत्रय को भी सर्वथा न छोड़ कर निश्चय रत्नत्रय का साधक समझना चाहिये ॥८१॥

॥ इस प्रकार रत्नत्रय का वर्णन समाप्त हुआ ॥



॥ अब आचार्य दश धर्म का वर्णन करते हैं ॥

उत्तम क्षमा धर्म का स्वरूप ।

मालिनी ।

जड़जनकृतबाधाक्रोधहासप्रियादा-
वपिसति न विकारं यन्मनो याति साधोः ।
अमलविपुलचित्तैरुत्तमा सा क्षमादौ
शिवपथपथिकानां सत्सहायत्वमेति ॥८२॥

अर्थ—मूर्खजनोंकर किये हुवे बन्धन हास्य आदि के होने पर तथा कठोर वचनों के बोलने पर जो साधु अपने निर्मल धीर वीर चित्त से विकृत नहीं होता उसी का नाम उत्तमक्षमा है तथा वह उत्तमक्षमा मोक्ष मार्ग को जाने वाले मुनियों को सब से प्रथम सहायता करने वाली है ॥८२॥

वसंत तिलका ।

श्रामण्यपुण्यतरुरत्र गुणौघशाखा
पत्रप्रसूननिचितोऽपि फलान्यदत्वा ।
याति क्षयं क्षणत एव घनोग्रकोप-
दावानलात् त्यजत तं यतयोऽत्र दूरम् ॥८३॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि गुणरूपी जो शाखा पत्र फूल उनकरके सहित ऐसा यह यतिरूपी वृक्ष है यदि इसमें भयंकर क्रोधरूपी दावानल प्रवेश कर जावे तो यह किसी प्रकार फल न देकर ही बात की बात में नष्ट हो जाता है इसलिये यतीश्वरों को चाहिये कि क्रोध आदि को वे दूर से ही छोड़ देवें ॥

भावार्थ—जिस वृक्ष पर नानाप्रकार की मनोहर शाखा मौजूद है तथा पत्र फूलोंसे भी जो शोभित हो रहा है और अल्पकाल में ही जिसपर फल आने वाले है ऐसे वृक्ष में यदि अग्नि प्रवेश कर जावे तो वह शीघ्र ही जल जाता है तथा उसपर किसी प्रकार का फल नहीं आता

रागद्वेषरहित मध्यस्थ होकर रहना चाहें वे मध्यस्थ रहकर ही सुखसे रहैं। इस प्रकार समस्त जगत सुख से रहो किन्तु किसी भी संसारी को मुझसे दुःख न पहूंचे ऐसा मैं सबके सामने पुकार २ कर कहता हूं ॥ ८५ ॥

शार्दूल विक्रीडित।

किं जानासि न वीतरागमखिलं त्रैलोक्यचूड़ामणिं
किंतद्धर्ममुपाश्रितं न भवता किंवा न लोकोजड़ः ।
मिथ्यादृग्भिरसज्जनै रपटुभिः किञ्चित्कृतोपद्रवात्
यत्कर्मार्जनहेतुमस्थिरतया वाधां मनोमन्यसे ॥८६॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि दुर्जन जनोंसे किये हुवे उपद्रव से चंचल होकर कर्मों के पैदा करने में कारणभूत ऐसी वेदना का तू अनुभव करता है सो क्या? हे मन तीन लोक के पूजनीक वीतरागपने को तू नहीं जानता है अथवा जिस धर्म को तूने आश्रयण किया है उस धर्मको तू नहीं जानता है अथवा यह समस्त लोक अज्ञानी जड़ है इस वात का तुझे ज्ञान नहीं है।

भावार्थ—तीन लोक के पूजनीक वीतराग भाव को जानता हुआ भी तथा सच्चे धर्म का अनुयायी होकर भी तथा समस्त लोक को जड़ समझता हुवा भी "हेमन" मिथ्यादृष्टियों से दिये हुवे दुःख से दुःखित होता है यह वड़ा आश्चर्य है ॥८६॥

मार्दवधर्मका वर्णन।

वसंत तिलका

धर्माङ्गमेतदिह मार्दवनामधेयं
जात्यादिगर्वपरिहारमुषन्ति सन्तः ।
तद्धार्यते किमु न वोधदृशा समस्तं
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं जगदीक्षमाणैः ॥८७॥

अर्थ—उत्तम पुरुष जाति वल ज्ञान कुल आदि गर्वोंके त्याग को मार्दव धर्म कहते हैं तथा यह धर्मों का अंगभूत है इसलिये जो मनुष्य अपनी सम्यग्ज्ञान रूपी दृष्टि से समस्त जगत को

स्वप्न तथा इन्द्रजाल के तुल्य देखते हैं वे अवश्य ही इस मार्दव नामक धर्म को धारण करते हैं ॥८७॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

कास्था, सद्मनि, सुन्दरेऽपि, परितो, दंदह्यमानेऽग्निभिः
कायादौतुजरादिभिःप्रतिदिनं गच्छत्यवस्थान्तरम्
इत्यालोचयतो, हृदि, प्राशमिनः भास्वद्विवेकोज्वले
गर्वस्यावसरः कुतोऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि ॥८८॥

अर्थ—अत्यन्त मनोहर भी है किन्तु जिसके चारो तरफ अग्नि जलरही है ऐसे घर के बचने में जिस प्रकार अंशमात्र भी आशा नहीं की जाती उसी प्रकार जो शरीर वृद्धावस्थाकर सहित है तथा प्रतिदिन एक अवस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्था को धारण करता रहता है वह शरीर सदा काल रहेगा यह कब विश्वास हो सकता है ? इस प्रकार निरन्तर विवेक से अपने निर्मलहृदय में विचार करने वाले मुनि के समस्त पदार्थों में अभिमान करने के लिये अवसर ही नहीं मिल सकता इसलिये मुनियों को सदा ऐसा ही ध्यान करना चाहिये ॥८८॥

आर्या

हृदि यत्तद्वाचि वहिः, फलतितदेवार्जवंभवत्येतत्
धर्मो निकृतिरधर्मो, द्वाविह "सुरसद्मनरकपथौ" ॥८९॥

अर्थ—मन में जो बात होवे उसही को वचन से प्रकट करना (न कि मन में कुछ दूसरा होवे तथा वचन से कुछ दूसरा ही बोले) इस को आचार्य आर्जव धर्म कहते हैं तथा मीठी बात लगाकर दूसरे को ठगना इस को अधर्म कहते हैं और इन में आर्जव धर्म से स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा अधर्म नरक को ले जाने वाला होता है इसलिये आर्जव धर्म के पालन करने वाले भव्य जीवों को, किसी के साथ माया से बर्ताव नहीं करना चाहिये ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

मायित्वं कुरुते कृतं सकृदपिच्छायाविघातं गुणे
ष्वाजातेर्यमिनोऽर्जितेष्विह गुरुक्लेशैः शमादिष्वलम्[1] ।

1 समाधिष्वपीत्यपिपाठन्तरम् ।

सर्वे तत्र यदासते विनिभृता: क्रोधादयस्तत्वत:
तत्पापं वत येन दुर्गतिपथे जीवश्चिरंभ्राम्यति ॥६०॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यदि एक बार भी किसी के साथ मायाचारी की जावे तो वह मायाचारी बड़ी कठिनतासे संचय किये हुवे अहिंसा सत्यादि मुनियों के गुणों को फीका बना देती है अर्थात् वे गुण आदरणीय नहीं रहने पाते और उस मायारूपी मकान में नानाप्रकार के क्रोधादि शत्रु छिपे हुवे बैठे रहते हैं और उस मायाचार से उत्पन्न हुवे पाप से जीव नाना प्रकार के दुर्गति मार्गों में भ्रमण करता फिरता है इसलिये मुनियों को माया अपने पास भी नहीं फटकने देना चाहिये ॥६०॥

आगे आचार्य सत्यधर्म का वर्णन करते हैं।

आर्या।

स्वपरहितमेव मुनिभि, र्मितममृतसमं सदैव सत्यं च
वक्तव्यं वचनमथप्रविधेयं धीधनैर्मौनम् ॥६१॥

अर्थ—उत्कृष्ट ज्ञान के धारण करने वाले मुनियों को प्रथम तो बोलना ही नहीं चाहिये यदि बोले तो ऐसा वचन बोलना चाहिये जो समस्त प्राणियों के हितका करने वाला हो तथा परमित हो और अमृत के समान प्रिय हो तथा सर्वथा सत्य हो किन्तु जो वचन जीवों को पीड़ा देने वाला हो तथा कड़वा हो तो उस वचन की अपेक्षा मौन साधना ही अच्छा है ॥६१॥

सति सन्ति व्रतान्येव सूनृते वचसि स्थिते।
भवत्याराधिता सद्भिर्जगत्पूज्या च भारती ॥६२॥

अर्थ—जो सत्य वचन बोलने वाला है अर्थात् सत्य व्रत का पालन करने वाला है उस के समस्त व्रत विद्यमान रहते है अर्थात् सत्य व्रत के पालन करने से ही वह समस्त व्रतों का पालन करने वाला हो जाता है और वह सत्यवादी सज्जन पुरुष तीन लोक की पूजनीक सरस्वती को भी सिद्ध कर लेता है।

भावार्थ—सरस्वती भी उसके आधीन हो जाती है ॥६२॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

आस्तामेतदमुत्र सूनृतवचाः कालेन यल्लप्स्यते
सद्भूपत्वसुरत्वसंसृतिसरित्पारादिमुख्यं फलम् ।
यत्प्राप्नोति यशः शशांकविशदं शिष्टेषु यन्मान्यतां
यत्साधुत्वमिहैव जन्मनि परं तत्केन संवर्ण्यते ॥६३॥

अर्थ—तथा और भी आचार्य कहते हैं कि सत्यवादी मनुष्य परभव में जाकर श्रेष्ठ चक्रवर्ती राजा बनते हैं तथा इन्द्रादि फल को प्राप्त कर लेते हैं और सब से उत्कृष्ट मोक्षरूपी फल को भी प्राप्त कर लेते हैं यह बात तो दूर रही किन्तु इसी भवमें वे चन्द्रमा के समान उत्तम कीर्ति को पा लेते हैं तथा शिष्ट मनुष्य उनको बड़ी प्रतिष्ठा से देखते हैं और वे सज्जन कहे जाते हैं इत्यादि नाना प्रकार के उत्तम फल उनको मिलते हैं जो कि सर्वथा अवर्णनीय है। इसलिये सज्जनों को अवश्य ही सत्य बोलना चाहिये ॥६३॥

अब आचार्य शौच धर्म का वर्णन करते हैं।

आर्या

यत्परदारार्थादिषु जन्तुषु निस्पृहमहिंसकं चेतः
दुर्भेद्यान्तमलहृत्तदेव शौचं परं नान्यत् ॥६४॥

अर्थ—जो पर स्त्री तथा पराये धन में इच्छा रहित है तथा किसी भी जीव के मारने की जिसकी भावना नहीं है और जो अत्यन्त दुर्भेद्य लोभ क्रोधादिमलका हरण करनेवाला है ऐसा चित्त ही शौच धर्म है किन्तु उससे भिन्न कोई शौचधर्म नहीं है।

भावार्थ—गंगा आदि नदियों में स्नान भी किया तथा पुष्कर आदि तीर्थों में भी गये किन्तु मन लोभ आदि कर ही संयुक्त बना रहता तो कदापि शौचधर्म नहीं पल सकता इसलिये मन को सबसे पहले शुद्ध करना चाहिये ॥६४॥

शार्दूल विक्रीडित ।

गंगासागरपुष्करादिषु सदा तीर्थेषु सर्वेष्वपि
स्नातस्यापि न जायते तनुभृतः प्रायो विशुद्धिः परा ।

मिथ्यात्वादिमलीमसं यदि मनोवाह्येऽतिशुद्धोदकैः
धौतं किं वहुशोऽपि शुध्यति सुरापूरप्रपूर्णो घटः ॥६५॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं जिस प्रकार अत्यन्तघृणित मद्य से भरा हुआ घड़ा यदि वहुत वार शुद्ध जल से धोया भी जावे तो भी वह शुद्ध नहीं हो सकता उस ही प्रकार जो मनुष्य वाह्य में गंगा पुष्कर आदि तीर्थों में स्नान करने वाला है किन्तु उसका अंतःकरण नाना प्रकार के क्रोधादिकषायों से मलीमस है तो वह कदापि उत्कृष्ट शुद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता इसलिये मनुष्य को सब से प्रथम अपने अंतःकरण को शुद्ध करना चाहिये क्योंकि जब तक अन्तःकरण शुद्ध न होगा तब तक सर्व वाह्यक्रिया व्यर्थ हैं ॥६५॥

अब आचार्यवर संयम धर्म का वर्णन करते हैं।

आर्या।

जन्तुकृपार्दितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य
प्राणेंद्रियपरिहारः संयममाहुर्महामुनयः ॥ ६६ ॥

अर्थ—जिसका चित्त जीवों की दया से भीगा हुवा है तथा जो ईर्या भाषा एषणा आदि समितियों का पालन करने वाला है ऐसे साधु के जो षट्काय के जीवों की हिंसा का तथा इन्द्रियों के विषयों का त्याग है उसी को गणधरादि देव संयम धर्म कहते हैं।

भावार्थ—जब तक दया से चित्त भीगा न रहेगा तथा इर्या भाषा एषणा आदि समितियों का पालन न किया जावेगा और समस्त जीवों की हिंसा का तथा इन्द्रियों के विषय का त्याग न किया जावेगा तब तक कदापि संयम धर्म नहीं पल सकता है इसलिये संयमियों को उपर्युक्तबातों पर विशेषतया ध्यान देना चाहिये ॥ ६६ ॥

शार्दूल विक्रिड़ित।

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादयः
तेष्वेवाप्तवचःश्रुतिःस्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने।

प्राप्ते ते [1]अपिनिर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते
स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयमः ॥ ६७ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि प्रथम तो इस संसार रूपी गहन वन में भ्रमण करते हुवे प्राणियों को मनुष्य होना ही अत्यन्त कठिन है किन्तु किसी कारण से मनुष्य जन्म प्राप्त भी हो जावे तो उत्तम ब्राह्मणादि जाति मिलना अति दुःसाध्य है यदि किसी प्रवल दैवयोग से उत्तम जाति भी मिल जावे तो अर्हन्त भगवान के बचनों का सुनना बड़ा दुर्लभ है यदि उनके सुनने का भी सौभाग्य प्राप्त हो जावे तो संसार में अधिक जीवन नहीं मिलता यदि अधिक जीवन भी मिले तो सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होनी अति कठिन है यदि किसी पुण्य के उदय से अखण्ड तथा निर्मल सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी हो जावे तो उस संयम धर्म के बिना वे स्वर्ग तथा मोक्षरूपी फल के देने वाले नहीं हो सकते इसलिये सबकी अपेक्षा संयम अति प्रशंसनीय है अतः ऐसे संयम की अवश्य संयमियों को रक्षा करनी चाहिये ॥ ६७ ॥

आचार्य तप धर्म का वर्णन करते हैं।

आर्या।

कर्ममलविलयहेतोर्बोधदृशा तप्यते तपः प्रोक्तम्
तद्द्वेधा द्वादशधा जन्माम्बुधियानपात्रमिदम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानरूपी दृष्टि से भले प्रकार वस्तु के स्वरूप को जानकर ज्ञानावरणादि कर्ममलके नाश की बुद्धि से जो तप किया जाता है वही तप कहा गया है तथा वह तप मूल में वाह्य आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार है और अनशन १ अवमौदर्य २ वृत्तिपरिसंख्यान ३ रसपरित्याग ४ विविक्तशय्यासन ५ कायक्लेश ६ इस रीति से छै प्रकार का वाह्य तथा प्रायश्चित १ विनय २ वैयावृत्य ३ स्वाध्याय ४ व्युत्सर्ग ५ ध्यान ६ इस प्रकार छैप्रकार का आभ्यन्तर इस रीति से इस तप के वारह भी भेद हैं तथा वह तप संसार रूपी समुद्र से पार करने के लिये जहाज के समान है अर्थात् मोक्ष का देने वाला है ॥ ६८ ॥

१ अपिनिर्मले—इत्यपि पाठान्तरम्।

पृथ्वी ।

कषायविषयोद्भटप्रचुरतस्करौघो
हठात्तपःसुभटताडितो विघटते यतो दुर्जयः ।
अतोहि निरुपद्रवश्चरति तेन धर्मश्रिया
यतिः समुपलक्षितः पथि विमुक्तिपुर्याः सुखम् ॥९९॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं यद्यपि क्रोधादिकषायरूपी उद्धत तथा प्रबल चौरों का समूह दुर्जय है अर्थात् साधारण रीति से जीतने में नहीं आ सकता तो भी जिस समय तपरूपी प्रबल योधा उसके सामने आता है उस समय उसकी कुछ भी तीन पांच नहीं चलती अर्थात् बात की बात में वह जीत लिया जाता है इसलिये जो योगीश्वर तपरूप सुभट के साथ धर्म रूपी लक्ष्मीकर युक्त है। वह मोक्ष रूपी नगर के मार्ग में निरुपद्रव तथा सुख से चला जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य विदेश को निकले तथा उसके पास लक्ष्मी भी हो किन्तु उसके पास कोई सुभट न हो तो वह बात की बात में भयंकर डाकुओं से लूट लिया जाता है परन्तु यदि उसके पास थोड़े से भी प्रबल योधा होवें तो उसका डाकू कुछ भी नहीं कर सकते अर्थात् उन डाकुओं को योधा तत्काल में जीत लेते हैं उस ही प्रकार संसार में कषाय तथा विषय रूपी योधा यद्यपि अत्यन्त दुर्जय है किन्तु जिस मुनि के पास तपरूपी प्रबल सुभट मौजूद हैं उसका वे कुछ भी नहीं कर सकते तथा वे मुनि उपद्रव रहित सुख से मोक्ष को चले जाते हैं इस लिये मोक्षाभिलाषी मुनियों को तप सब से प्रिय समझना चाहिये ॥९९॥

मन्दाक्रान्ता ।

मिथ्यात्वादेर्यदिह भविता दुःखमुग्रं तपोभ्भो-
जातं तस्मादुदककणिकैकेव सर्वाब्धिनीरात् ।
स्तोकं तेन प्रसभमखिलकृच्छ्रलब्धे नरत्वे
यद्येतर्हि स्खलसि तदहो का क्षतिर्जीव ते स्यात् ॥१००॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि हे जीव जिस प्रकार समस्त समुद्र की अपेक्षा जल का कण अत्यन्त छोटा होता है उस ही प्रकार तप के करने से बहुत थोड़े दुःख का तुझे अनुभव करना पड़ता है किन्तु जिस समय मिथ्यात्व के उदय से तू नरक में जावेगा उस समय तुझ को नाना प्रकार के छेदन भेदन आदि असह्य दुःखों का सामना करना पड़ेगा तो भी तू न जाने तप से क्यों भयभीत होता है ? तथा तेरी तप के करने में क्या हानि है ? ॥१००॥

त्याग धर्म का वर्णन ।

शार्दूल विक्रीडित ।

व्याख्या या क्रियते श्रुतस्य यतये यद्दीयते पुस्तकं
स्थानं संयमसाधनादिकमपि प्रीत्या सदाचारिणा ।
स त्यागो वपुरादिनिर्ममतया नो किंचनास्ते यते-
राकिंचन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मः सतां सम्मतः ॥१०१॥

अर्थ—शास्त्रों का भली भांति व्यख्यान करना तथा मुनियों को पुस्तकें तथा स्थान और संयम के साधन पीछी कमण्डलु आदि का देना सदाचारियों का उत्कृष्ट त्याग धर्म है और मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा विचार कर अत्यन्त निकट शरीर में भी ममता छोड़ देना आकिंचन्यनामक धर्म है तथा वह यति के होता है और वह समस्त संसार का नाश करने वाला है तथा समस्त श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा वह आदरणीय है ॥१०१॥

और भी आकिंचन्य धर्म का स्वरूप वर्णन किया जाता है ।

शिखरिणी ।

विमोहा मोक्षाय स्वहितनिरताश्चारुचरिता
गृहादि त्यक्त्वा ये विदधति तपस्तेऽपि विरलाः ।
तपस्यंतोऽन्यस्मिन्नपि यमिनि शास्त्रादि ददतो
सहायाः स्युर्ये ते जगति यमिनो दुर्लभतराः ॥१०२॥

अर्थ—जिन का सर्वथा मोह गलि गया है तथा अपने आत्मा के हित में ही निरन्तर लगे रहते हैं और सुन्दर चारित्र के धारण करने वाले हैं तथा घर स्त्री पुत्रादि को छोड़ कर मोक्ष के लिये तप करते हैं वे मुनि संसार में विरले ही है तथा जो स्वतः अपने हित के लिये तप करने वाले हैं तथा दूसरे तपस्वियों के लिये जो शास्त्रादिक का दान करते हैं और उनके सहायी भी हैं ऐसे योगीश्वर तो संसार के बीच में अत्यन्त ही दुर्लभ है अर्थात् बड़ी कठिनाई से मिलते हैं।१०२।

परंमत्वा सर्वं परिहृतमशेषं श्रुतविदा
वपुः पुस्ताद्यास्ते तदपि निकटं चेदिति मतिः।
ममत्वा भावे तत्सदपि न सदन्यत्र घटते
जिनेन्द्राज्ञाभंगो भवति च हठात् कल्मषमृषेः ॥१०३॥

अर्थ—समस्त शास्त्रों के जानने वाले वीतराग ने अपनी आत्मा से समस्त वस्तु को भिन्न जान कर सब का त्याग कर दिया है यदि कहोगे कि सब को छोड़ते समय शरीर पुस्तकादिक क्यों नहीं त्याग किया ? तो उसका समाधान यही है कि उनकी शरीरादि में भी किसी प्रकार की ममता नहीं रही है इसलिये वे मौजूद भी नहीं मौजूद की तरह ही है अर्थात् मुनियों का शरीरादि "बिना आयुकर्म के नाश हुवे छूठ नहीं सकता यदि वे बीच में ही छोड़ देवें तो उन को प्राणघात करने के कारण हिंसा का भागी होना पड़ेगा इस लिये शरीरादि में किसी प्रकार का ममत्व करे तो उनको जिनेन्द्र की आज्ञाभंगरूप महानदोष का भागी होना पड़ेगा अर्थात् जब तक ममत्व रहेगा तब तक वे मुनि ही नहीं कहलाये जा सकते ॥१०३॥

आगे ब्रह्मचर्यधर्मका वर्णन करते है।

स्रग्धरा

यत्संगाधार मेतच्चलति लघु च यतीक्ष्णदुःखौघधारं।
मृत्पिण्डीभूतभूतं कृतबहुविकृति भ्रांतिसंसारचक्रम्।
ता नित्यं यन्मुमुक्षुर्यतिरमलमतिः शान्तमोहः प्रपश्येत्
जामीः पुत्रीः सवित्रीरिवहरिणदृशस्तत्परं ब्रह्मचर्यम् ॥१०४॥

अर्थ :—जिसप्रकार कुम्भकारकाचाक जमीनके आधार से चलता है तथा उस चाककी तीक्ष्ण धारा रहती है और उसके ऊपर मिट्टी का पिण्ड भी रहता है तथा वह चाक नाना प्रकार के कुसूल स्थास आदि घटके विकारों को करता है उस प्रकार संसार रूपी चाककी आधार यह स्त्री है अर्थात् यह स्त्री न होती तो कदापि संसार भटकना न फिरता तथा इस संसाररूपी चाकमें अत्यन्ततीक्ष्णदुःखों का समूह ही धार है अर्थात् संसार में नाना प्रकार के नरकादि दुःखों का सामना करना पड़ता है और इससंसार रूपी चाक के ऊपर नाना प्रकार के जीव जो हैं वे ही पिण्ड है तथा वह संसाररूपीचाक देव मनुष्यादि नाना प्रकार के विकार करारकर जीवों को भ्रमण कराने वाला है अतः स्त्री ही संसारचक्रकी कारण है इसलिये जो मोक्षका अभिलापी मनुष्य उनस्त्रियोंको माता बहिन पुत्रीकेसमान मानता है उसहीके उत्कृष्टधर्मका भली भांति पालन होता है अतः ब्रह्मचारीमनुष्योंको चाहिये कि वे कदापि स्त्रियों के साथ सम्बन्ध न रक्खे ॥१०४॥

मालिनी।

अविरतमिह तावत्पुण्यभाजो मनुष्या
हृदिविरचितरागाः कामिनीनां वसन्ति ।
कथमपि न पुनस्ता जातु येषां तदंघ्रीः
प्रतिदिनमतिनम्रास्तेऽपि नित्यं स्तुवन्ति॥१०६॥

अर्थ—जो पुरुप निरन्तर स्त्रियों के हृदय में प्रीति उपजावने वाले हैं अर्थात् जिन को स्त्रियां चाहतीं हैं यद्यपि वे भी संसार में धन्य हैं परन्तु जिन मनुष्यों के हृदय में स्त्रियां स्वप्न में भी निवास नहीं करतीं वे उनसे भी अधिक धन्य हैं तथा उन वीतरागी पुरुषों के चरण कमलों को स्त्रियों के प्रिय पात्र बड़े बड़े चक्रवर्ती आदि भी शिर झुकाकर नमस्कार करते हैं इसलिये जिन पुरुषों को संसार में अपनी कीर्ति फैलाने की इच्छा है उनको कदापि स्त्रियों के जाल में नहीं फसना चाहिये ॥१०५॥

स्रग्धरा

वैराग्यत्यागदारुकृतरुचिरचना चारु निश्रेणिका यैः
पादस्थानैरुदारैर्दशभिरनुगता निश्चलैर्ज्ञानदृष्टेः ।

योग्या स्यादारुरुक्षोः शिवपदसदनं गन्तुमित्येषु केषां
नो धर्मेषु त्रिलोकीपतिभिरपि सदा स्तूयमानेषु हृष्टिः ॥ १०६ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जिसके इधर उधर वैराग्य तथा त्यागरूपी मनोहर काष्ट लगे हुवे हैं तथा जिनमें बड़े २ मजबूत दश धर्मरूपी पादस्थान (दण्डे) मौजूद हैं ऐसी सीढ़ी मोक्षरूपी महल को चढ़ने की इच्छा करने वाले मनुष्य को चढ़ने के लिये योग्य है क्योंकि जो तीनलोक के पति इन्द्रादिकों से वन्दनीक हैं उन दशधर्मों के धारण करने से किसको हर्ष नहीं हो सकता है ? अर्थात् समस्त मोक्षाभिलाषी उनको हर्ष के साथ पाल सकते हैं ॥ १०६ ॥

॥ इस प्रकार दशधर्म का निरुपण हो चुका ॥

अब आचार्य शुद्धात्मा की परणतिरूप धर्म का वर्णन करते हैं।

शार्दूल विक्रिड़ित ।

निःशेषामलशीलसद्गुणमयामत्यन्तसम्यस्थितां
बंदे तां परमात्मनः प्रणयिनीं कृत्यान्तगां स्वस्थताम् ।
यत्रानन्तचतुष्टयामृतसरित्यात्मानमन्तर्गतं
प्राप्नोति जरादिदुःसहशिखः संसारदावानलः ॥ १०७ ॥

अर्थ—समस्त निर्मल शीलगुण स्वरूप तथा सर्वथा समता रूप अवस्था में होने वाली और उत्कृष्ट आत्मा से प्रीति कराने वाली तथा जिसके होते सन्ते किसी प्रकार का कर्तव्य बाकी नहीं रहता ऐसी स्वस्थता को मैं नमस्कार करता हूं जिस अनंतविज्ञानादि अनन्त चतुष्टय स्वरूप स्वस्थतारूपी अमृत नदी के भीतर रहे हुवे आत्मा को जरा आदि दुःसहशिखा को धारण करने वाला भी संसार रूपी वड़वानल प्राप्त नहीं हो सकता।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई नदी के जल में प्रवेश करजावे तो उसका भयंकर भी अग्नि कुछ भी नहीं कर सकती उसही प्रकार जो अनन्त चतुष्टय स्वरूप स्वस्थतारूपी अमृत नदी में प्रविष्ट है उसको असह्य भी संसाररूपी वड़वाग्नि अंशमात्र भी नहीं सता सकती ॥ १०७ ॥

आयातेऽनुभवे भवारिमथने निर्मुक्तमूर्त्याश्रये
शुद्धेऽन्यादृशि सोमसूर्यहुतभुक्कान्तेरनन्तप्रभे ।
यस्मिन्नस्तमुपैति चित्रमचिरान्निःशेषवस्त्वन्तरं
तद्वन्दे विपुलप्रमोदसदनं चिद्रूपमेकं महः ॥ १०८ ॥

अर्थ—समस्त कर्मादिवैरियों के नाश करने वाले तथा शरीर आदि के आश्रय कर रहित अर्थात् जिसको किसी प्रकार के शरीर आदि का आश्रय नहीं है, और शुद्ध तथा दूसरे के प्रत्यक्ष के अगोचर तथा चन्द्रमा सूर्य और अग्नि से भी अनन्तगुणी प्रभा को धारण करने वाले जिस चैतन्य स्वरूप उत्कृष्टतेज के अनुभव होने पर बात की बात में समस्त परपदार्थ अस्त हो जाते हैं ऐसे अनेक प्रकार के प्रमोद को पैदा करने वाले उस चैतन्य स्वरूपतेज को मैं शिर झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥ १०८ ॥

जातिर्यामि न यत्र यत्र च मृतो मृत्युर्जरा जर्जरा
जाता यत्र न कर्मकायघटना नोवाग्रुजो व्याधयः ।
यत्रात्मैवपरं चकास्ति विशदंज्ञानैकमूर्तिर्विभु-
र्नित्यं तत्पदमाश्रितो निरुपमा सिद्धाः सदा पान्तु वः ॥ १०९ ॥

अर्थ—जहां पर न जन्म है, न मरण है, न कर्मों का तथा शरीर का सम्बन्ध है, न वाणी है और न रोग है तथा जहां पर निर्मलज्ञान का धारण करने वाला और प्रभु आत्मा सदा प्रकाशमान है ऐसे उस अविनाशी पद में रहने वाले उपामरहित (अर्थात् जिनको किसी की उपमा ही नहीं दे सकते ऐसे) सिद्ध भगवान मेरी रक्षा करो अर्थात् ऐसे सिद्धों का मैं शरण लेता हूं ॥ १०९ ॥

दुर्लक्ष्येपि चिदात्मनि श्रुतबलात्किंचित्स्वसंवेदनात्
ब्रूमः किंचिदिह प्रबोधनिधिभिर्ग्राह्यं न किञ्चिच्छलम् ।
मोहे राजनि कर्मणामतितरां प्रौढेऽन्तराये रिपौ
दृग्बोधावरणद्वये सति मतिस्तादृक्कुतो मादृशाम् ॥ ११० ॥

अर्थ—जिस प्रकार अमूर्तीक होने के कारण आकाश आदि किसी के देखने में नहीं आ सकते उस ही प्रकार यद्यपि यह आत्मा किसी के दृष्टिगोचर नहीं है तो भी उस चैतन्य स्वरूप आत्मा के स्वरूप को शास्त्र के वल से अथवा अपने अनुभव से मैं वर्णन करता हूं इसलिये बुद्धिमानों को इसमें किसी प्रकार की दगावाजी नहीं समझनी चाहिये क्योंकि समस्त कर्मों का राजा मोहनीय और अत्यंत प्रवल अन्तरायरूपी शत्रु तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण अभी मेरे आत्मा के साथ लगे हुये हैं इसलिये वास्तविक स्वरूप के कहने में मेरी बुद्धि कैसे प्रवीण हो सकती है।

भावार्थ—वास्तविक रीति से आत्मा के स्वरूप का वर्णन अर्हन्त ही कर सकते हैं अल्पज्ञानी हूं इसलिये मेरा कथन सर्वज्ञदेवप्रणीत शास्त्र के अनुसार होने के कारण तथा कुछ अनुभव होने के कारण विद्वानों को अवश्य मानना चाहिये ॥११०॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

विद्वन्मान्यतया सदस्यतितरामुद्दण्डवाग्डम्बराः
शृङ्गारादिरसैः प्रमोदजनकं व्याख्यानमातन्वते ।
ये ते च प्रतिसद्म सन्ति वहवो व्यामोहविस्तारिणो
येभ्यस्तत्परमात्मतत्वविषयं ज्ञानं तु ते दुर्लभाः ॥१११॥

अर्थ—अपने को विद्वान् मानकर शृङ्गारादिरस सहित नाना प्रकारके प्रमोदजनकव्याख्यानों को कहने वाले तथा सभा में व्यर्थ वचनों के आडम्बर को धारण करने वाले और मनुष्यों को सन्मार्ग के भुलाने वाले पुरुष संसार में प्रतिग्रह बहुत से मिलेंगे परन्तु जो परमात्मतत्व के ज्ञान के देने वाले हैं ऐसे मनुष्य वड़ी कठिनाई से मिलते हैं ॥१११॥

आपद्धेतुषु रागरोषनिकृतिप्रायेषु दोषष्वलं
मोहात्सर्वजनस्य चेतसि सदा सत्सु स्वभावादपि ।
तन्नाशाय च संविदे चफलवत्काव्यं कवेर्जायते
शृङ्गारादिरसं तु सर्वजगतो मोहाय दुःखाय च ॥११२॥

अर्थ—समस्त मनुष्यों के चित्तों में नाना प्रकार के दुःख देने वाले ऐसे राग द्वेष माया क्रोध लोभ आदि दोष स्वभाव से ही रहे आते हैं इसलिये जो कवि का काव्य उनको मूल में उड़ा देता है तथा सम्यग्ज्ञान का उत्पन्न करनेवाला होता है वास्तव में वही कार्यकारी समझना चाहिये अर्थात् जिसमें वीतरागपने का वर्णन होवे वही काव्य फल के देने वाला है और शृङ्गारादिरस तो समस्त जगत को मोह के उत्पन्न करने वाले तथा दुःख के देनेवाले हैं इसलिये भव्यों को चाहिये कि वे वीतराग भाव को दर्शाने वाले शास्त्रों का ही अभ्यास करें ॥११२॥

वसंततिलका

कालादपि प्रसृतमोहमहांधकारे
मार्गं न पश्यति जनो जगति प्रशस्ते ।
क्षुद्राःक्षिपन्ति दृशि दुःश्रुतिधूलिमस्य
नस्यात्कथं गतिरनिश्चितदुष्पथेषु ॥११३॥

अर्थ—अनादि काल से फैले हुवे मोहरूपी महान् अन्धकार से व्याप्त इस जगत में विचारे मोही जीव एक तो स्वयमेव ही श्रेष्ट मार्ग को नहीं देख सकते हैं यदि किसी रीति से देख भी सकें तो दुष्ट पुरुष और भी उनकी आंखों में शृङ्गारादि शास्त्र सुना कर धूली डालते हैं इसलिये कहांतक वे जीव खोटे मार्ग में गमन नहीं कर सकते ?

भावार्थ—जिस प्रकार जात्यन्ध पुरुष को एक तो स्वयमेव ही मार्ग नहीं सूझता किन्तु उसकी आंखों में यदि धूलि डाल दी जावे तो और भी वह घबड़ाकर खोटे मार्ग में गिर पड़ता है उस ही प्रकार संसार में भ्रमण करते हुवे प्राणियों को एक तो मोह के उदय से स्वयं मार्ग नहीं सूझता परन्तु शृङ्गारादि रसों के सुनने से वे और भी खोटे मार्गों में गिरते हैं इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे कदापि शृङ्गारादि रूप शास्त्रों को न सुनें जिससे उनको खोटे मार्ग में न गिरना पड़े ॥११३॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

विण्मूत्रक्रुमिसंकुले कृतघृणैरंत्रादिभिः पूरिते
शुक्रासृग्वरयोषितामपि तनुर्मातुः कुगर्भेऽजनि ।

सापि क्लिष्टरसादिधातुघटिता पूर्णा मलाद्यै रहो
चित्रं चंद्रमुखीति जातमतिभिर्विद्वद्भिराववर्ण्यते ॥११४॥

अर्थ—यह स्त्री का शरीर विष्टा मूत्र तथा नानाप्रकार के कीड़ोंकर व्याप्त और प्रबल घृणा को पैदा करने वाले आंत मांस आदिकर पूरित तथा वीर्य रक्त आदि से पुष्ट ऐसे खोटे माता के गर्भ से उत्पन्न हुवा है और स्वयं भी वह स्त्री नानाप्रकार के खोटे वीर्य रक्त आदिकर बनी हुई है तथा मल आदिसे युक्त है तो भी नीच विद्वान कवि ऐसी स्त्री को चन्द्रमुखी कहते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥११४॥

शिखरिणी ।

कचा यूकावासा मुखमजिनवद्धास्थिनिचयः
कुचौ मांसोच्छ्रायौ जठरमपि विष्टादिघटिका ।
मलोत्सर्गे यंत्रं जघनमबलायाः क्रमयुगं
तदाधरस्थूणे किमिह किल रागाय महताम् ॥११५॥

अर्थ—स्त्री के केश तो जूवां के घर है मुख, चर्म से वेष्टित हाड़ों का समूह हैं स्तन मास के पिण्ड हैं उदर विष्टा आदि खराब चीजों का घर है योनिस्थान, मूत्र आदि के बहने का नाला है और दोनों चरण उस योनिस्थान के ठहरने के लिये खंभो के समान हैं इसलिये ऐसी खराब स्त्री में विद्वान पुरुष कदापि राग नहीं कर सके ॥११५॥

द्रुतविलम्बित ।

परमधर्मनदाजनमीनकान् शशिमुखीवड़िशेनसमुद्धतान् ।
अतिसमुल्लसिते रतिमुर्मुरे पचति हा हतकःस्मरधीवरः ॥११६॥

अर्थ—आचार्य कहते है कि यह हिंसक कामदेवरूपी धीवर जीवरूप मछलियों को उत्कृष्ट धर्मरूपी तालाब से निकालकर स्त्री रूपी मांस सहित कांटे पर लटकाकर अत्यंत प्रज्वलित संभोगरूपी भूभर में भूंजता है यह बड़े दुःख की बात है ।

भावार्थ—जिस प्रकार धीमर जिह्वा इन्द्रिय की लोभी मछलियों को मांसलिप्त कांटे से बाहर निकालकर भूभर में भूंजता है उस ही प्रकार यह कामदेव भी जीवों को धर्म से हटाकर स्त्रियों के जाल में फंसा देता है इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे सर्वथा प्राणों के घात करने वाले इस कामदेव को अपने हृदय में फटकने तक न देवें ॥११६॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

येनेदं जगदापदाम्बुधिगतं कुर्वीत मोहो हठात्
येनैते प्रतिजन्तु हन्तुमनसः क्रोधादयो दुर्जयाः।
येन भ्रातरियं च संसृतिसरित् संजायते दुस्तरा-
स्तज्जानीहि समस्तदोषविषमं स्त्रीरूपमेतद् ध्रुवम् ॥११७॥

अर्थ—जिस स्त्री के रूप की सहायता से मोह, जवर्दस्ती मनुष्य को नानाप्रकार के दुःख देता है तथा उसी रूपकी सहायता से समस्त जीवों के नाशक क्रोधादि कषाय दुर्जय हो जाते हैं और उसी रूप की सहायता से संसाररूपी नदी तिरी नहीं जा सक्ती अर्थात् अथाह हो जाती है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्यो उस स्त्री के रूपको समस्त दोषों से भी भयंकर समझो।

भावार्थ—जितने भर संसार में दोष हैं वे किसी न किसी अहितको तो अवश्य ही करते हैं परन्तु स्त्री का रूप भयंकर अहित को करता है इसलिये हितैषियों को कदापि स्त्री के रूप में नहीं फंसना चाहिये ॥११७॥

मोहव्याधभटेन संसृतिवने मुग्धेणवंधापदे
पाशाः पंकजलोचनादिविषयाः सर्वत्र सज्जीकृताः।
मुग्धास्तत्र पतन्ति तानपि वरानास्थाय वांछन्त्यहो
हा कष्टं परजन्मनेऽपि न विदः कापीतिधिङ्मूर्खताम् ॥

अर्थ—इस ससार वन में भोले जीवरूपी मृगों को वांधकर दुःख देने के लिये मोहरूपी सुभट चिड़िया मारने सब जगह लोचनादि विषयरूपी जाल फैला रक्खे हैं और उन विषयरूपी जालों को श्रेष्ठ मानकर भोले जीव उनमें आकर फंस जाते हैं यह बड़े दुःख की वात है किन्तु

आत्मा के स्वरूप को जानने वाले विद्वान् स्वप्न में भी उन जालों में नहीं फंसते और परलोक के लिये भी उन विषयों को हितकारी नहीं समझते इसलिये आचार्य कहते है कि मूर्खता के लिये धिक्कार है।

भावार्थ—जिस प्रकार चिड़ियामार कुछ चावल आदि डालकर वन में जाल बिछा देते हैं उसमें चावलों के लोलुपी नानाप्रकार के कबूतर आदि पक्षी फंस जाते है उस ही प्रकार संसार में मोह के उदय से मुग्ध पुरुष विषयों में प्रवृत्त हो जाते है तथा नानाप्रकार के दुःखों को भोगते हैं किन्तु बुद्धिमान पुरुष विषयों के दुःखों को जानकर विषयों में नहीं फंसते है तथा उन विषयों की आकांक्षा भी नहीं करते इसलिये सदा सुखी रहते है अतः विद्वानों को विषयों की तरफ कदापि ऋजु नहीं होना चाहिये ॥११८॥

एतन्मोहठकप्रयोगविहितभ्रान्तिभ्रमच्चक्षुषा
पश्यत्येपजनोऽसमंजसमसद्बुद्धिभ्रुवं व्यापदे।
अप्येतान्विषयाननन्तनरकक्लेशप्रदानस्थिरान्
यच्छश्वत्सुखसागरानिव सतश्चेतःप्रियान्मन्यते ॥११९॥

अर्थः—यह कुबुद्धि मनुष्य मोहरूपी जो ठग उसके प्रयोग से उत्पन्न हुए भ्रम से, भ्रान्त जो नेत्र उससे विपरीत ही देखता है तथा विपरीत देखने से नानाप्रकार के दुःखोंका अनुभव करता है तो भी अनन्तनरकों के दुःखों को देखने वाले तथा बिजली के समान चंचलइनविषियों को स्थिर तथा निरन्तर सुख के देने वाले और चित्त को प्रिय मानता है।

भावार्थ:—जिस प्रकार कोई बैरी किसी मनुष्य पर मंत्रादिका प्रयोग करता है तो उससे उसके नेत्र घूमने लगजाते हैं तथा वह नानाप्रकार की आपत्तियों को भोगता है उसही प्रकार यह कुबुद्धिजन मोहरूपी बैरी के प्रयोग से विषयों में प्रवृत्त हो जाता है तथा समस्त चीजें उसको विपरीत ही सूझ निकलती हैं तथा उसी विपरीतता के सबब वह नानादुःखों को भोगता है तो भी विषयों को अच्छा मानता है यह कितने दुख की बात है ॥११९॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

संसारेऽत्र घनाटवीपरिसरे मोहष्ठकः कामिनी
क्रोधाद्याश्च तदीयपेटकमिदं तत्सन्निधौ जायते।

प्राणी तद्विहितप्रयोगविकलः तद्वश्वतामागतो
न स्वं चेतयते लभेत विपदं ज्ञातुः प्रभोः कथ्यताम् ॥१२०॥

अर्थः—इस संसाररूपी विस्तीर्णवनमें ठगतो मोह है और स्त्री तथा तथा क्रोध मान माया आदि उसके पास प्रणियों को ठगने की सामग्री है, (अर्थात् स्त्रीक्रौधदिकारणोंसे ही वह प्राणियों को ठगता है) तथा प्रणी उसके प्रयोग से विकल होकर आधीन पड़े हुवे है और अपने स्वरूप को भी नहीं जानते हैं तथा नानाप्रकार की आपत्तियों को सहते हैं इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि हे जीव तुझे उस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माहीका अर्थात् श्री सर्वज्ञ-देवकाही आश्रयण करना चाहिये।

भावार्थः—ज्ञानानन्दस्वरूपआत्मा के आश्रयण करने पर प्रबल ही ठग मोह कुछ भी नहीं करसकता है इसलिये भव्यजीवों की ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माकाही आराधन करना चाहिये ॥१२०॥

ऐश्वर्यादिगुणप्रकाशनतया मूढ़ा हि ये कुर्वते
सर्वेषां टिरिटिल्लितानि पुरतः पश्यन्ति नो व्यापदः।
विद्युल्लोलमपि स्थिरं परमपि स्वं पुत्रदारादिकं
मन्यन्ते यदहो तदत्र विषमं मोहप्रभोः शासनम् ॥१२१॥

अर्थः—मूढ़पुरुष मैं लक्ष्मीवान् हूं तथा में ज्ञानवान हूं इत्यादि अपने गुणों को प्रकाशित करते है तथा समस्त पुरुषों के सामने नाना प्रकार की गालियों को वकते हैं किन्तु आने वाली नरकादि विपत्तियों पर कुछभी ध्यान नहीं देते तथा बिजली के समान चंचलभी पुत्र स्त्री आदि को स्थिर मानते हैं और अपने से भिन्न भी उनको अपना मानते हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि मोहचक्रवर्ती की आज्ञा वड़ी कठोर है।

भावार्थ—परको अपना मानना तथा चंचल को स्थिर मानना और मत्त होकर व्यर्थ नाना प्रकार की खराव चेष्टा करना मोहके उदय से ही होता है इसलिये उत्तम पुरुषों को मोहके नाश करने के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥१२१॥

शिखरिणी।

कयामः किंकुर्मः कथमिह सुखं किंनु भविता
कुतोलभ्या लक्ष्मीः कइहनृपतिः सेव्यत इति।
विकल्पानां जालं जड़यति मनः पश्यत सतां
अपिज्ञातार्थानामिहमहदहो मोहचरितम् ॥१२२॥

अर्थ—हम कहां जावें क्या करें कैसे सुख हो किस रीति से लक्ष्मी मिलें किस राजा की सेवा टहल करें इत्यादि नाना प्रकार के विकल्पों के समूह संसार में प्राणियों के उत्पन्न होते रहते है तथा भले प्रकार वस्तु के स्वरूप को जानने वाले भी मनुष्यों के मन को जड़ बना देते हैं यह प्रत्यक्ष गोचर हैं इसलिये ग्रन्थकार कहते है कि मोह का चरित्र बड़ा आश्चर्यकारी है॥

भावार्थ—मोह के उदय से मनुष्यों को नाना प्रकार के नहीं करने योग्य भी काम करने पड़ते हैं इसलिये सबसे पहले मोह से मोह अवश्य तोड़ना चाहिये॥१२२॥

विहाय व्यामोहं धनसदनतन्वादिविषये
कुरुध्वं तत्तूर्णं किमपि निजकार्यंवत बुधाः।
न येनेदं जन्म प्रभवति सुनृत्वादिघटना
पुनः स्यान्नस्याद्वा किमपरवचोऽडम्बरशतैः॥१२३॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि अरे बुद्धिमानों विशेष कहांतक कहें शीघ्र स्त्री पुत्र धन घर आदि पदार्थों से मोह छोड़कर ऐसा कोई काम करो जिससे तुम को फिर जन्म न धारण करना पड़े क्योंकि नहीं मालूम फिर उत्तमकुल जैन धर्म की शरण, निर्ग्रन्थ गुरु का उपदेश, आदि मिले या नहीं मिले।

भावार्थ—जिस प्रकार चौराहे पर चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति दुर्लभ है उस ही प्रकार मनुष्य जन्म तथा जिन धर्म का शरण आदि मिलना दुर्लभ है इसलिये ऐसी अवस्था को पाकर ऐसा काम करना चाहिये जिससे तुमको इस पंच परावर्तनरूप संसार में परिभ्रमण न करना पड़े नहीं तो हाथ मलते रह जाओगे कुछ भी नहीं मिलेगा॥१२३

स्रग्धरा ।

वाचस्तस्यप्रमाणा यइह जिनपतिः सर्वविद्वीतरागो
रागद्वेषादिदोषैरुपहतमनसो नेतरस्यानृतत्वात् ।
एतन्निश्चित्य चित्ते श्रयत बत बुधा विश्वतत्वोपलब्ध्यै ।
मुक्तेर्मूलं तमेकं भ्रमति किमु वहुष्वंधवद् दुष्पथेषु ॥१२४॥

अर्थ—और भी आचार्य कहते हैं कि जो समस्त पदार्थों को अच्छी तरह जानने वाला है तथा वीतराग है और ज्ञानवरणादि चार घातिया कर्मों से रहित है उस ही का वाक्य प्रमाण है किन्तु उससे विपरीत जो अल्पज्ञानी रागी आदि हैं उनका वचन असत्य होने से प्रमाण नहीं है ऐसा मन में ठानकर हे पंडितो केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिये मुक्ति के देने वाले उस अर्हन्तका ही आश्रयण करो क्यों व्यर्थ अन्धे के समान जहां तहां खोटे मार्ग में गिरते फिरते हो ॥१२४॥

वसंततिलका ।

यः कल्पयेत् किमपि सर्वविदोऽपि वाचि
सन्दिह्य तत्वमसमञ्जसमात्मबुद्ध्या ।
खे पत्रिणां विचरतां सुदृशेक्षितानां
संख्यां प्रति प्रविदधाति सवादमंधः ॥१२५॥

अर्थ—जो मूढ़, सर्वज्ञ के वचन में भी सन्देह कर अपनी बुद्धि की गढ़ंत से अपरमार्थ भूततत्वों की कल्पना करता है वह वैसा ही काम करता है कि जिस प्रकार अंधा मनुष्य आकाश में जाते हुवे पक्षियों की गिनती में अच्छे नेत्र वाले पुरुष के साथ विवाद करता है ॥

भावार्थ—जिसको यह भी पता नहीं है कि पक्षी कहां उड़रहे हैं कहां नहीं, वह कैसे सूझते पुरुष के साथ पक्षियों की गिनती में विवाद कर सकता है उसही प्रकार जिसको अन्शमात्र भी विशेष ज्ञान नहीं वह सिवाय सर्वज्ञ की कृपा से कैसे वस्तु के यथार्थस्वरूप को जान सकता है इसलिये भव्यजीवों को सर्वज्ञ के वचन पर ही विश्वास करना चाहिये अल्पज्ञानियों के वचन पर कदापि नहीं ॥ १२५ ॥

इन्द्रवज्रा

उक्तं जिनैर्द्वादशभेदमङ्गं श्रुतं ततो बाह्यमनन्तभेदम् ।
तस्मिन्नुपादेयतया चिदात्मा ततः परं हेयतयाऽभ्यधायि ॥ १२६ ॥

अर्थ—श्रुत के दो भेद हैं एक अंगश्रुत दूसरा बाह्यश्रुत उनमें अंगश्रुत बारह प्रकार का जिनेंद्रभगवानने कहा है तथा बाह्यश्रुत के अनन्त भेद कहे हैं परन्तु उन दोनों श्रुतों में ज्ञान दर्शनशाली आत्मा ही ग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) कहा है किन्तु उससे जुदे समस्त पदार्थ हेय (त्यागने योग्य कहे हैं ॥१२६॥

अल्पायुषामल्पधियामिदानीं कुतः समस्तश्रुतपाठशक्तिः ।
तदत्रमुक्तिप्रतिबीजमात्रमभ्यस्यतामात्महितं प्रयत्नात् ॥१२७॥

अर्थ—इसपंचमकाल में ज्ञान आयु आदिके निरंतर क्षीण होने से मनुष्य अल्पायु तथा अल्पज्ञान के धारी रहगये हैं इसलिये वे समस्त श्रुतका अभ्यास नहीं करसकते अतः जो पुरुष मोक्षके अभिलाषी हैं उवको मुक्तिके देनेवाले तथा आत्माके हितकारी श्रुतका तो अवश्य ही बड़े प्रयत के साथ अभ्यास करना चाहिये ॥१२७॥

स्रग्धरा

निश्चेतव्योजिनेन्द्रस्तदतुलवचसां गोचरेर्थे परोक्षे
कार्यःसोऽपि प्रमाणं वदत किंपरेणात्र कोलाहलेन ।
सत्यां छद्मस्थतायामिह समयपथस्वानुभूतिप्रबुद्धा
भो भो भव्या यतध्वं दृगवगमनिधावात्मनि प्रीतिभाजः ॥१२८॥

अर्थ—वर्तमानकाल में जिनेन्द्र है ऐसा विश्वास अवश्य करना चाहिये तथा जो पदार्थ सूक्ष्म तथा दूर होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं है किंतु जिनेन्द्र ने उनका वर्णन अपनी दिव्यध्वनि से किया है तो वे भी अवश्य हैं ऐसा मानना चाहिये परन्तु जिनेन्द्र अथवा जिनेन्द्र के वचन में व्यर्थ संशय करना ठीक नहीं क्योंकि इस काल में समस्त जीव थोड़े ज्ञान के धारी है इस लिये आचार्य कहते हैं कि "जिन भगवान से कहे हुवे सिद्धांत मार्ग से स्वानुभव को प्राप्त

कर सदा प्रबुद्ध, और अपनी आत्मा में प्रीति को भजने वाले, हे भव्य जीवो तुम सम्यग्ज्ञान सम्यक्- चारित्र रूपी निधि में अवश्य यत्न करो ॥१२८॥

भावार्थ—संसार में ये तीनोंरत्न ही सारभूत पदार्थ हैं और इनहीं में प्रयत्न करने से उत्तम सुख की प्राप्ती हो सकती है इसलिये भव्यजीवों को रत्नत्रयका आराधन अवश्य करना चाहिये

आर्या ।

तद्ध्यायत तात्पर्याज्ज्योतिः सच्चिन्मयं विना यस्मात् ।
सदपि न सत्सति यस्मिन्निश्चितमाभासते विश्वम् ॥१२९॥

अर्थ—जिस श्रेष्ट तथा ज्ञानस्वरूप चैतन्य के विना समस्त पदार्थ मौजूद भी नहीं मौजूद के समान हैं और जिस चैतन्य के होतेसंते समस्तपदार्थों का प्रकटरीति से प्रतिभास होता है ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मारूपी ज्योति की भव्यजीवों को अवश्य आराधना तथा उपासना करनी चाहिये ॥१२९॥

भावार्थ—यद्यपि संसार में अनेक पदाथ हैं परंतु उन सबमें ज्ञानगुण का धारी आत्मा ही है तथा उस आत्मा के विना समस्त जगत शून्य है और उस आत्मा के होतेसंते समस्त पदार्थों का भलेप्रकार से ज्ञान होता है इसलिये भव्यजीवों को ऐसे सारभूत आत्मा का अवश्य ही ध्यान करना चाहिये ॥१२९॥

शार्दूल विक्रीड़ित !

अज्ञो यद्भवकोटिभिः क्षपयति स्वं कर्म तस्माद्बहु
स्वीकुर्वन् कृतसंवरः स्थिरमना ज्ञानी ते तत्तत्क्षणात्
तीक्ष्णक्लेशहयाश्रितोऽपि हि पदं नेष्टं तपःस्यन्दनो
नेयं तन्नयति प्रभु स्फुटतरज्ञानैकसूतोज्झितः ॥१३०॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि अज्ञानीजीव कठोर तप आदि के द्वारा जितने कर्मों को करोड़ वर्ष में क्षयकरता है उससे अधिक भी कर्मोंको, स्थिरमनहोकर संवरका धारी ज्ञानीजीव

क्षणमात्र में क्षय करदेता है सो ठीक ही है क्योंकि जिस तपरूपी रथ में तीक्ष्ण क्लेशरूपी घोड़ा लगेहुये में किन्तु ज्ञानरूपीसारथी नहीं हैं तो वह तपरूपीरथ कदापि आत्मारूपी प्रभू को मोक्षस्थान में नहीं लेजा सकता।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी रथ में यद्यपि अच्छे २ घोड़े मौजूद हैं किन्तु उन घोड़ों का चलाने वाला सारथी नहीं है तो कदापि वह रथ अपने में वैठने वाले पुरुष को यथेष्ट स्थान पर नहीं पहुंचा सक्ता उस ही प्रकार नानाप्रकार के दुखों को सहनकर पंचाग्नि आदि तप भी किये परन्तु वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न जाना तो कदापि उत्तमसुख की प्राप्ति नहीं हो सक्ती इसलिये भव्यों को चाहिये कि वे सम्यग्ज्ञान पूर्वक तप को करें तभी उनको उत्तम सुख की प्राप्ति हो सक्ती है ॥१३०॥

स्रग्धरा

कर्माब्धौ तद्विचित्रोदयलहरिभरव्याकुले व्यापदुग्र-
भ्राम्यन्नक्रादिकीर्णे मृतिजननलसद्वाड़वावर्तगर्ते ।
मुक्तःशक्त्या हतांगः प्रतिगति स पुमान् मज्जनोन्मज्जनाभ्या-
मप्राप्यज्ञानपोतं तदनुगतिजड़ः पारगामी कथं स्यात् ॥१३१॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कर्म एक प्रकार का वड़ा भारी समुद्र है क्योंकि जिस प्रकार समुद्र अनेक लहरियों कर व्याप्त है उस ही प्रकार यह कर्मरूपी समुद्र भी अनेक उदयरूप लहरियों कर व्याप्त है तथा जिस प्रकार समुद्र में नानाप्रकार के भयंकर मगर मच्छादि हुवा करते है उस ही प्रकार इस कर्मरूपी समुद्र में भी इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग आदि नानाप्रकार की आपत्ति रूप मगर मच्छादि विद्यमान है तथा जिस प्रकार समुद्र में वड़वानल भमर गड्ढे हुवा करते हैं उस ही प्रकार इस कर्मरूपी समुद्र में भी नानाप्रकार के जन्म मरण आदि वड़वानल भमर है इसलिये ऐसे भयंकर समुद्र में शक्तिहीन तथा अनादिकाल से सर्वत्र गोता खाता हुवा मनुप्य जव तक ज्ञानरूपी अनुकूल जहाज को न प्राप्त करेगा तव तक कदापि पार नहीं होसकता।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई शक्तिहीन मनुष्य मगर मच्छ आदि से भयंकरे समुद्र में पड़ जावे तो वह नानाप्रकार के गोते खाता है किंतु यदि उसको जहाज मिल जावे तो वह शीघ्र ही पार हो जाता है उस ही प्रकार कर्म (जिसका दूसरा नाम संसार है) एक प्रकार का भयंकर

समुद्र है इसमें भी जब तक जीव ज्ञानरूपी जहाज को प्राप्त नहीं करते तब तक नानाप्रकार की गतियों में भ्रमण करते हैं किंतु जिस समय वे उस अनुकूल ज्ञानरूपी जहाज को पाते हैं तो वे बात की बात में संसाररूपी समुद्र से पार हो जाते हैं तथा फिर उनको संसाररूपी समुद्र में आना भी नहीं पड़ता इसलिये जिन जीवों को इस संसाररूपी समुद्र के पार करने की अभिलाषा है उनको अवश्य ही ज्ञानरूपी अखंड जहाज का आश्रय लेना चाहिये ॥१३१॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

शश्वन्मोहमहान्धकारकलिते त्रैलोक्यसद्मन्यसौ
जैनीवागमलप्रदीपकलिका न स्याद्यदि द्योतिका।
भावनामुपलब्धिरेव न भवेत् सम्यक्तदिष्टेतर
प्राप्ति त्यागकृते पुनस्तनुभृतां दूरे मतिस्तादृशी ॥१३२॥

अर्थ—मोहरूपी गाढ़ अंधकार से व्याप्त इस तीन लोकरूपी मकान को प्रकाश करने वाला यदि यह भगवान् की वाणीरूप दीपक न होता तो इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्टका त्याग तो दूर हो मनुष्यों को पदार्थों का भी ज्ञान न होता।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी अंधेरे मकान में बहुत सी वस्तु रक्खी हुई हैं यदि उन वस्तुओं का प्रकाश करने वाला उस मकान में दीपक न होगा तो उनमें से न तो लेने योग्य इष्ट वस्तुओं को ले ही सकते हैं और न छोड़ने योग्य चीजों को छोड़ ही सकते है उस ही प्रकार जब तक पदार्थों के स्वरूप भली भांति न जानेंगे तब तक न तो ग्रहण करने योग्य वस्तुओं का ग्रहण ही कर सकते है और न त्यागने योग्य वस्तुओं का त्याग ही कर सकते हैं इसलिये सबसे पहले पदार्थ का स्वरूप जानना चाहिये उन पदार्थों का जानना (वर्तमान में केवली आदि के न होने के कारण) विना जिनवाणी के हो नही सकता इसलिये भव्य जीवों को जिनवाणी माता का प्रीतिपूर्वक आश्रय करना चाहिये ॥१३२॥

आत्मा ही धर्म है इस बात को ग्रन्थकार वर्णन करते हैं।

मन्दाक्रान्ता।

शान्ते कर्मण्युचितसकलक्षेत्रकालादिहेतौ
लब्धे स्वास्थ्यं कथमपि लसद्योगमुद्राविशेषम्।

आत्माधर्मो यदयमसुखस्फीतसंसारगर्ता
दुद्धृत्य स्वं सुखमयपदे धारयत्यात्मनैव ॥१३३॥

अर्थ—समस्त कर्मों के उपशम होने पर तथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप योग्य सामग्री के मिलने पर जब यह आत्मा ध्यान में लीन होकर अपने स्वरूप का चिंतवन करता है उस समय नानादुःखों के देने वाले संसार रूपी गड्ढे से छूटकर अपने से ही अपने को उत्तम सुख में पहुंचाता है इस लिये आत्मा से अतिरिक्त कोई धर्म नहीं है।

भावार्थ—संसार के दुःखों से छुटाकर जो उत्तम सुख में ले जाता है उस ही का नाम धर्म है आत्मा भी अपने से अपने को उत्तम सुख में ले जाता है इस लिये आत्मा ही परमधर्म है अतः भव्यों को चाहिये कि वे अपनी आत्मा का ही चिंतवन करें ॥१३३॥

आत्मा के वास्तविक स्वरूप का वर्णन।

शार्दूल विक्रीड़ित।

नो शून्यो न जड़ो न भूतजनितो नो कर्तृभावं गतो
नैको न क्षणिको न विश्ववितता नित्यो न चैकान्ततः।
आत्माकायमितिश्चिदेकनिलयः कर्ता च भोक्ता स्वयं
संयुक्तः स्थिरताविनाशजननैः प्रत्येकमेकक्षणे ॥१३४॥

अर्थ—एकांत से न आत्मा शून्य है न जड़ है न पंचभूत से उत्पन्न हुआ है न कर्ता है न एक है न क्षणिक है न लोकव्यापी है न नित्य है किन्तु अपने शरीर के परिमाण है तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि गुणों का आधार है और अपने कर्मों का कर्ता है और अपने ही कर्मों का भोक्ता है तथा एक ही क्षण में सदा काल उत्पाद व्यय और ध्रौव्य इन तीनों धर्मोंकर सहित है।

भावार्थ—इस श्लोक में ग्रन्थकार ने नास्तिक आदि सिद्धांत में एकांत से माना हुआ आत्मा का स्वरूप नहीं हो सकता यह बतलाकर जैन सिद्धांत के अनुसार असली आत्मस्वरूप का निरूपण किया है क्योंकि शून्यवादीका सिद्धांत है कि संसार में कोई वस्तु विद्यमान नहीं ये

जितने भर स्त्री घर कपड़ा घड़ा आदि पदार्थ हैं समस्त भ्रमस्वरूप हैं इस लिये आत्मा भी कोई पदार्थ नहीं यह भी एक भ्रमस्वरूप ही है इसका आचार्य समाधान देते हैं कि (नो शून्यः) अर्थात् तुमने जो एकांत से आत्मा को शून्य मान रक्खा है यह बात सर्वथा मिथ्या है क्योंकि मैं सुखी हूं तथा मैं दुखी हूं इत्यादि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से आत्मा प्रत्यक्ष सिद्ध है इस लिये सर्वथा शून्य न कह कर किसी रीति से आत्मा शून्य है किसी रीति से नहीं है ऐसा आत्मा का स्वरूप तुम को मानना चाहिये जब ऐसा मानोगे तो किसी प्रकार का दोष नहीं आ सकता क्योंकि पररूप की अपेक्षा से आत्मा की नास्तिक अर्थात् शून्य है किंतु स्वरूपादि की अपेक्षा से आत्मा विद्यमान ही है जिस प्रकार घट पट इन दोनों में घटत्वेन रूपेण तो घट है परंतु पटत्वेन रूपेण नहीं है क्योंकि घट का पटत्व ही स्वरूप है पटत्व स्वरूप नहीं किंतु पररूप है उस ही प्रकार आत्मा भी अपने आत्मारूप तथा ज्ञानादिगुणों की अपेक्षा से मौजूद है परंतु पुद्गलत्व तथा स्पर्शादि की अपेक्षा से नहीं है क्योंकि आत्मा के पुद्गलत्व तथा स्पर्शादिक स्वरूप नहीं पररूप है इस लिये इस रीति से कथंचित् आत्मा शून्य भी हो सकता है किन्तु सर्वथा नहीं।

तथा नैयायिक यह मानते है कि जब तक आत्मा संसार में रहता है तब तक तो ज्ञान सुख आदि के संबन्ध से यह ज्ञानी तथा चेतन कहा जा सकता है किन्तु जिस समय इस का मोक्ष हो जाता है उससमय इस आत्मा के साथ किसी प्रकार के ज्ञान सुख आदि का संबन्ध नहीं रहता। उनका सिद्धांत भी है कि (नवानामात्मविशेषगुणानामुच्छेदः पुरुस्य मोक्षइति) अर्थात् बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, ये आत्मा के नौ विशेषगुण हैं जिस समय ये नौ गुण आत्मा से जुदे हो जाते है उसी समय उस आत्मा की मोक्ष हो जाती है इसलिये मोक्षावस्था में आत्मा सर्वथा जड़ है उसका आचार्य समाधान देते हैं (नजड़ः) अर्थात् तुमने जो एकान्त से आत्मा को जड़ मान रक्खा है वह सर्वथा असत्य है. क्योंकि ज्ञान आदि गुण आत्मा से सर्वथा भिन्न स्वरूप नहीं हैं जिससे वे मोक्ष अवस्था में छूट जावे तथा ज्ञान गुण के छूटने से सर्वथा आत्मा जड़ रह जावे किन्तु कथंचित आत्मा जड़ है तथा कथंचित आत्मा चेतन भी है अर्थात् जब तक इस आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध रहता है उस समय तो इस को जड़ भी कह सकते हैं किंतु जिस समय मोक्षावस्था में कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है उस समय यह चेतन है जड़ नहीं क्यों कि ज्ञानादिगुणों से आत्मा कोई जुदी वस्तु नहीं तथा ज्ञानादिगुण चेतन हैं और ज्ञानादिगुणों का जिस अवस्था में प्रकटीकरण हो जाता है वही वास्तविक मोक्ष कही गई है इस लिये सर्वथा जड़ कदापि आत्मा नहीं हो सकता।

तथा चार्वाक जिसको नास्तिक कहते हैं उसका सिद्धांत है कि आत्मा कोई भिन्न पदार्थ नहीं तथा आदि अन्त से रहित भी नहीं किन्तु जिस समय पृथ्वी जल तेज वायु इन चार भूतों का परस्पर में मेल होता है उस समय एक दिव्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है वही आत्मा तथा चेतन नाम से पुकारी जाती है इसलिये जब आत्मा कोई वस्तु ही न ठहरा तो उसके आधीन जो स्वर्ग तथा मोक्ष आदि अवस्था मानी है वे सर्वथा झूठ हैं क्योंकि यदि वे होती तो प्रत्यक्ष देखने में आती तथा आत्मा भी आदि अंतकर रहित सिद्ध होता इसलिये यह देह ही आत्मा है तथा संसार में अच्छा २ खाने को न मिलना यही नरक है तथा अच्छा २ खाने को मिलना यही स्वर्ग है तथा मोक्ष है इसलिये जिसको स्वर्ग तथा मोक्ष के स्वरूप का अनुभव करना हो तो संसार में खूब कर्ज लेकर मिष्टान्न उड़ाना चाहिये क्योंकि जब यह देह (आत्मा) नष्ट होजावेगा तो फिर लौटकर नहीं आवेगा जिसमे वह लिया हुवा ऋण देना पड़े इस सिद्धान्त का आचार्य खंडन करते है कि (नभूतजनितः) अर्थात् जो तुम सर्वथा आत्मा को पृथ्वी आदि से पैदा हुवा मानते हो यह बात सर्वथा झूठ हैं क्योंकि अचेतन से चेतन की उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती आत्मा चेतन है पृथ्वी आदि अचेतन हैं वे किसी प्रकार आत्मा को उत्पन्न नहीं कर सकते—यदि ऐसा ही होवे तो रोटी आदि पदार्थों में पृथ्वी आदि का संबंध होते भी क्यों नहीं चेतन की उत्पत्ति होती दूसरे जिस समय बालक उत्पन्न होता है उस समय जब उसके मुख में स्तन दिया जाता है उस समय बिना ही सिखाये वह जन्मांतर के संसकार से दूध पी लेता है सो कैसे ? क्योंकि तुम तो जन्मांतर मानते ही नहीं तथा अनेक मनुष्य पूर्वभव की वस्तुओं को स्मरण करते हुवे देखने में आते है अतः सिद्ध होता है कि आत्मा अवश्य अनादि अनन्त है इसलिये आत्मा कथंचित भूतजनित ही तुमको मानना चाहिये जब ऐसा मानोगे तो कोइ दोप नहीं आ सकता क्योंकि संसारी आत्मा का संबंध देह से अनादिकाल से चला आता है अर्थात् कोई अवस्था संसारी जीव की ऐसी नहीं जिस अवस्था में देह के साथ संबंध न होवे इसलिये देह आत्मा का कथंचित् अभेद होने से आत्मा भूतजनित भी है परन्तु देह रहित अवस्था में वह भूतजनित न होने से सर्वथा भूतजनित नहीं हो सकती।

और बहुत से मनुष्य इस आत्मा को कर्ता मानते हैं अर्थात् उनका सिद्धान्त है कि बिना ईश्वर के यह विचित्र जगत कदापि नहीं बन सकता इसलिये कोई न कोई इस जगत का कर्ता अवश्य होना चाहिये उनको आचार्य समझाते है कि (नोकर्तृभावंगतः) अर्थात् यह कर्ता भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि ईश्वर जगत का कर्ता माना जायगा तो उसके ईश्वरत्व में हानि आवेगी क्योंकि यदि वह समस्त प्राणियों का पिता है तो उसको सबोंपर समान दृष्टि रखनी चाहिये किन्तु

देखने में आता है किसी के साथ उसका प्रेमपूर्वक वर्ताव होने से कोई राजा है तथा किसी के साथ उसका द्वेषपूर्वक वर्ताव होने से कोई अत्यंत दरिद्री है यदि कहोगे कि राजा तथा रंक होना यह अपने कर्मों के आधीन है तो कर्म को ही कारण मानना चाहिये ऐसे ईश्वर को मानने की क्या आवश्कता है इत्यादि अनेक युक्तियों से ईश्वर रूप आत्मा कदापि कर्ता नहीं बन सकता यदि किसी रीति से कर्ता मानो तो ठीक भी हो सकता है क्योंकि सर्वही जीव अपने २ कर्म तथा स्वरूप आदि के कर्ता हैं किंतु सर्वथा नहीं।

तथा अनेक वादियों का यह कथन है कि आत्मा एक रूप ही है अनेक रूप नहीं उनको आचार्य श्रेष्ट मार्ग पर लाकर कहते हैं (नैकः) अर्थात् आत्मा सर्वथा एक रूप नहीं किन्तु किसी रीति से एक रूप है तथा किसी रीति से अनेक रूप है अर्थात् अपने स्वरूप से तो एक रूप है किन्तु अनेक धर्मों को धारण करता है इसलिये वह अनेक रूप भी है तथा बौद्ध आत्मा को क्षणिक ही मानते हैं अर्थात् उनका सिद्धांत है कि जितने भर संसार में पदार्थ हैं वे सब क्षणिक हैं इसलिये आत्मा भी क्षणिक ही है उनको आचार्य समझते हैं कि (न क्षणिकः) अर्थात् तुमने जो आत्मा को सर्वथा क्षणिक मान रक्खा है वैसा सर्वथा आत्मा क्षणिक नहीं है किन्तु प्रत्येक द्रव्य की क्षण २ में पर्याय पलटती रहती हैं इसलिये तो आत्मा पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से क्षणिक भी है किन्तु द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से वह नित्य भी है इसलिये आत्मा को सर्वथा वैसा न मानकर किसी रीति से शून्य है किसी रीति से नहीं है ऐसा मानना चाहिये तथा शरीराकार प्रदेशी मानना चाहिये तथा ज्ञान का धारी मानना चाहिये और स्वयं करने वाला तथा भोगने वाला मानना चाहिये और उत्पाद आदि धर्मों का धारी मानना चाहिये इसी प्रकार से आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है ॥१३४॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

क्वात्मा तिष्ठति कीदृशः स कलितो केनात्र यस्येदृशी
भ्रान्तिस्तत्र विकल्पसंभृतमना यः कोऽपि स ज्ञायताम्।
किंचान्यस्य कुतोमतिः परमियं भ्रान्ताऽशुभात्कर्मणो
नीत्वा नाशमुपायतस्तदखिलं जानाति ज्ञाता प्रभु ॥१३५॥

अर्थ—आत्मा का नहीं जानने वाला यदि कोई मनुष्य किसी को पूछे कि आत्मा कहां रहता है? कैसा है? कौन आत्मा को भली भांति जानता है तो उसको यही कहना चाहिये कि

जिसके मन में कैसा है कहां है इत्यादि विकल्प उठ रहे हैं वही आत्मा है उससे अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है, क्योंकि जड़ में कैसा है कहां है इत्यादि कदापि बुद्धि नहीं हो सकती परन्तु अशुभ कर्म से जीवों की बुद्धि भ्रांत हो रही है इसलिये जब यह आत्मा उन कर्मों को मूल से नाश कर देता है उस समय आप से आप ही यह अपने स्वरूप को तथा दूसरे पदार्थों को जानने लग जाता है इसलिये आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानने के अभिलाषियों को तप आदि के द्वारा कर्मों के नाश करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥१३५॥

आत्मा मूर्तिविवर्जितोऽपि वपुषि स्थित्वापिदुर्लक्ष्यतां
प्राप्तोपि स्फुरतिस्फुटंयदहमित्युल्लेखतःसंततम् ।
तत्किं मुह्यत शासनादपि गुरोर्भ्रान्तिः समुत्सृज्यता-
मन्तः पश्यत निश्चलेन मनसा तं तन्मुखाक्षव्रजाः ॥१३६॥

अर्थ—यद्यपि इस आत्मा की कोई मूर्ति नहीं है और यह शरीर के भीतर ही रहता है इसलिये इसको प्रत्यक्ष देखना अत्यन्त कठिन है तो भी (अहंजानामि अहंकरोमि) मैं जानता हूं तथा मैं करता हूं इत्यादि प्रतीतियों से यह स्पष्ट रीति से जाना जाता है तथा गुरु आदि के उपदेश से भी भली भांति इसका ज्ञान होता है अतः ग्रन्थकार कहते हैं हे भव्यजीवो मन को तथा इंद्रियों को निश्चल कर अपने अभ्यंतर में इस आत्मा का अनुभव करो क्यों व्यर्थ बाह्य पदार्थों में मोह करते हो।

भावार्थ—अनेक मतवाले इस बात को स्वीकार करते हैं कि आत्मा कोई पदार्थ नहीं क्योंकि यदि होता तो उसका प्रत्यक्ष भी होता उनको आचार्य समझाते हैं कि यद्यपि आत्मा में कोई प्रकार का स्पर्श रस आदिक नहीं है तथा वह देहके भीतर है इसलिये स्पष्टरीति से यह देखने में नहीं आता तो भी मैं करता हूं तथा मैं जानता हूं इन विकल्पों से आत्मा को हरएक जान सकता है इसलिये इसका अभाव नहीं। अतः भव्यजीवों को चाहिये कि इसका भलीभांति अनुभव करें तथा बाह्यपदार्थों से मोह को हटावे ॥१३६॥

व्यापी नैव शरीर एव यदसावात्मा स्फुरत्यन्वहं
भूतो नान्वयतो न भूतजनितो ज्ञानी प्रकृत्यायतः ।

नित्ये वा क्षणिकेऽथवा न कथमप्यर्थक्रिया युज्यते
तत्रैकत्वमपि प्रमाणदृढ़या भेदप्रतीत्याहतम् ॥१३७॥

अर्थ—यह आत्मा निरंतर शरीर में ही रहाहुवा मालूम पड़ता है इसलिये तो व्यापक नहीं और स्वभाव से ही यह ज्ञानी है इसलिये यह पृथ्वी अप् तेज आदि पांच पदार्थों से भी पैदा हुवा नहीं मालूम होता तथा यह सर्वथा नित्यभी नहीं क्योंकि नित्यमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं होसक्ता और आत्मा के तो क्रोधादि परिणाम भलीभांति अनुभवमें आते हैं तथा यह आत्मा सर्वथा क्षणिक भी नहीं होसकता क्योंकि प्रथमक्षण में उत्पन्न होकर यदि यह द्वितीय क्षण नष्ट होजावेगा तो किसी प्रकार की क्रिया इसमें नहीं होसकती तथा आत्मा एक स्वरूप है यह भी नहीं कहा जासकता क्योंकि कभी क्रोधी कभी लोभी इत्यादि नानापर्याय आत्मा की मालूम होती हैं।

भावार्थ—नैयायिकादिका सिद्धांत है कि आत्मा व्यापक है अर्थात् ऐसा कोई भी आकाश का प्रदेश नहीं है जहां पर यह आत्मा न हो—किंतु आचार्य कहते हैं कि सिवाय शरीर के यह आत्मा और कही पर व्यापक नहीं है यदि शरीर से जुदे स्थान में होता तो मालूम पड़ता इसलिये यह शरीर के समान परिणाम वाली ही है तथा नास्तिक इसको पृथ्वी आदि से ही उत्पन्न हुवा मानते हैं वह भी ठीक नही क्योंकि यह ज्ञानी है और पृथ्वी आदि जड़ हैं इसलिये जड से कदापि चेतन की उत्पत्ति नही हो सकती और सांख्य आदिक आत्मा को सर्वथा कूटस्थही मानते हैं सो भी ठीक नहीं क्योंकि सर्वथा नित्य में किसी प्रकार परिणाम नहीं हो सकता किन्तु आत्मा का परिणामीपना तो भली भांति अनुभव में आता है तथा बौद्ध सर्वथा आत्मा को क्षणिकही मानता है यह भी ठीक नहीं क्योंकि सर्वथा क्षणिकपक्ष में भी किसी प्रकार का परिणाम नहीं बन सकता और भी अनेक दोष आते हैं। तथा अनेक सिद्धांतकार आत्मा को एक स्वरूप ही मानते है सो भी ठीक नहीं क्योंकि क्रोधी लोभी आदि अनेक भेदस्वरूप आत्मा अनुभव में आता है इसलिये आत्मा को किसी प्रकार से शरीर के परिमाण वाला तथा भूतों से नहीं उत्पन्न हुवा और किसी प्रकार से नित्य और क्षणिक तथा अनेक ही मानना चाहिये ॥१३७॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

कुर्यात्कर्म शुभाशुभं स्वयमसौ भुंक्ते स्वयं तत्फलं
सातासातगतानुभूति कलनादात्मा नचान्यादृशः।

चिद्रूपः स्थितिजन्मभंगकलितः कर्मावृतः संसृतौ
मुक्तौ ज्ञानदृगेकमूर्तिरमलैस्त्रैलोक्यचूडामणिः ॥१३८॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते है कि यह आत्मा शुभ तथा अशुभ कर्मों को निरन्तर करता रहता है तथा सातावेदनी और असातावेदनी कर्म के उदय से स्वयं उसका फल भोगता है किन्तु अन्य कोई कर्ता तथा भोगता नहीं और यह आत्मा सदा चैतन्य स्वरूप है तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों धर्मों से सहित है और संसारावस्था में इसके साथ किसी कर्म का संबंध नहीं तथा यह आत्मा सम्यक् दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का धारक है और तीनों लोक के शिखर पर विराजता है ॥१३८॥

वसंततिलका

आत्मानमेवमधिगम्य नयप्रमाण
निक्षेपकादिभिरभिश्रयतैकचित्ताः ।
भव्या यदीच्छत भवार्णवमुत्तरीतु-
मुत्तुङ्गमोहमकरोग्रतरंगभीमम् ॥१३९॥

अर्थ—फिर भी आचार्य उपदेश देते हैं भव्यजीवो यदि तुम मोहरूपी मगर कर सहित तथा गंभीर संसाररूपी समुद्र को तरने की इच्छा करते हो तो एकचित्त होकर नय प्रमाण तथा नाम स्थापना आदि के द्वारा आत्मा को भली भांति जानो और उस ही को आश्रय करो ॥

भावार्थ—सिवाय आत्मा के संसार में कोई भी वस्तु ग्राह्य नहीं इसलिये इस ही की तरफ भव्यों को अवश्य ऋजु होना चाहिये ॥१३९॥

मालिनी

भवरिपुरिह तावद् दुःखदो यावदात्म
स्तवविनिहतधामा कर्मसंश्लेषदोषः ।
स भवति किल रागद्वेषहेतोस्तदादौ
झटिति शिवसुखार्थी यत्नतस्तौ जहीहि ॥१४०॥

अर्थ—फिर भी आचार्य कहते हैं कि अरे आत्मा जब तक तेरे साथ समस्त तेज को मूल से उड़ाने वाला कर्मों का बंध लगा हुवा है तब तक तुझको संसाररूपी वैरी नानाप्रकार के दुःखों का देने वाला है तथा वह संसाररूपी वैरी राग द्वेष से उत्पन्न होता है इसलिये यदि तू मोक्षसुख का अभिलाषी है तो शीघ्र ही राग द्वेष को त्याग कर जिससे तेरी आत्मा के साथ कर्म का बंध नहीं रहे तथा तुझे संसार का दुःख न भोगना पड़े ॥१४०॥

स्रग्धरा

लोकस्य त्वं न कश्चिन्न स तव यदिह स्वार्जितं भुज्यते कः
संबन्धस्तेन सार्धं तदसतिसतिवा तत्र कौ रोषतोषौ
कायेप्येवं जड़त्वात्तदनुगतसुखादावपि ध्वंसभावा
देवं निश्चित्य हंस स्वबलमनुसर स्थायि मापश्य पार्श्वम् ॥

अर्थ—भो आत्मन् न तो तू लोक का है न तेरा ही लोक है तथा तू ही शुभ अशुभ को उत्पन्न करता है तथा तू ही उसको भोगता है फिर इस लोक के साथ संबंध करना वृथा है तथा लोक के होते सन्ते दुःख तथा लोक के होते संते संतोष करना भी व्यर्थ है और शरीर तो जड़ है इसलिये इसके नहीं होते संते क्रोध तथा इसके होते संते संतोष करना भी विना प्रयोजन का है तथा इन्द्रिय आदि पदार्थों से उत्पन्न हुवा सुख विनाशीक है इसलिये इसके होते सन्ते रोष तथा इसके होते सन्ते संतोष मानना भी निष्प्रयोजन है इसलिये ऐसा भली भाँति विचारकर तुझे अपना बल जो अनन्तज्ञानादिक है उसको आराधना करनी चाहिये और तुझे अपने स्वरूप से दूर नहीं रहना चाहिये अर्थात् अपने अंतरंग में प्रवेश कर तुझे समस्त परिग्रह का त्याग कर देना चाहिये ॥

भावार्थ—स्त्री पुत्र कुटुम्ब शरीर इन्द्रिय सुख आदि में प्रीति कर तथा अपने स्वरूप को भूलकर बहुत काल तक इस संसार में भ्रमण किया अब विषयों में आशाकर दीन की तरह तुझे जहां तहां डोलना ठीक नहीं इसलिये समस्त परिग्रह का नाश कर अपने स्वरूप में लीन हो अब अपने स्वरूप से दूर रहना भी ठीक नहीं ॥१४१॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

आस्तामन्यगतौ प्रतिक्षणलसद्दुःखाश्रितायामहो
देवत्वेऽपि न शान्तिरस्ति भवतो रम्येऽणिमादिश्रिया।
यत्तस्मादपि मृत्युकालकलयाधस्ताद्धठात्पात्यसे
तत्तन्नित्यपदं प्रति प्रतिदिनं रे जीव यत्नं कुरु ॥१४२॥

अर्थ—जहां पर प्रतिक्षण में दुःख ही दुःख है ऐसी नरक तिर्यंचादि गति तो दूर ही रहो परन्तु जहां पर सदा अणिमा महिमा आदिक लक्ष्मी निवास करती हैं ऐसी देवगति में भी तेरे लिये अंशमात्र भी सुख नहीं है क्योंकि वहां से भी तुझे मरण की बेला बलात्कार से नीचे गिरा देती है अर्थात् मृत्यु के समय में स्वर्ग से भी नीचे गिरना पड़ता है इसलिये आचार्य कहते हैं हे जीव तुझे अविनाशी मोक्षपद के लिये ही सर्वदा प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ—सिवाय मोक्ष के कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहां पर लेशमात्र भी सुख मिले इसलिये भव्यजीवों को जहां पर किसी प्रकार का क्लेश नहीं ऐसे मोक्षपद के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥१४२॥

यद्दृष्टं वहिरङ्गनादि सुचिरं तत्रानुरागो भवेत्
भ्रान्त्या भूरि तथापि ताम्यसि ततो मुक्त्वा तदन्तर्विश।
चेतस्तत्र गुरोः प्रवोधवसतेः किञ्चित्तदाकर्ण्यते
प्राप्ते यत्र समस्तदुःखविरमाल्लभ्येत नित्यं सुखम् ॥१४३॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि अरे मन चिरकाल से तूने वाह्य स्त्री आदि पदार्थों को देखा है इसलिये तेरा भ्रम से उनमें अनुराग होता है तथा उसी अनुराग से सदा तू दुःखित होता है इसलिये स्त्री आदि से राग छोड़कर तू अपने अंतरंग में प्रवेश कर तथा ज्ञान के सागर श्रीपरमगुरु से ऐसा कोई उपदेश सुन जिससे तेरे समस्त दुःखों का नाश हो जावे तथा तुझे अविनाशी मोक्षरूपी सुख की प्राप्ति हो जावे।

भावार्थ—बाह्य चीजों में अनुराग तथा ममता कर हे मन तूने बहुत से दुःखों को भोगा इसलिये अब अपने अंतरंग में प्रवेश कर, तथा श्रीगुरु का उपदेश सुन, जिससे तुझको अविनाशी सुख की प्राप्ति होवे ॥१४३॥

पृथ्वी।

किमाल कोलाहलैरमलबोधसम्पन्निधेः
समस्ति किल कौतुकं किल तवात्मनो दर्शने।
विरुद्धसकलेन्द्रियो रहसि मुक्तसंगग्रहः
कियन्त्यपि दिनान्यतः स्थिरमना भवान् पश्यतु ॥१४४॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि यदि तू समस्त निर्मल ज्ञान के धारी आत्मा के देखने की इच्छा करता है तो तुझे समस्त स्पर्शनादि इन्द्रियों को रोककर तथा समस्त प्रकार के स्थान परिग्रह का नाश कर और कुछ दिन एकान्त में बैठकर तथा कुछ दिन स्थिरमन होकर उसको देखना चाहिये व्यर्थ कोलाहल करने में क्या रक्खा है।

भावार्थ—जब तक इन्द्रियां बाह्य पदार्थों में फंसी रहेंगी तथा जब तक निरन्तर परिग्रह में ममता रहेगी और जब तक मन चंचल रहेगा तब तक कदापि आत्मा का स्वरूप देखने में नहीं आ सकता इसलिये जो भव्यजीव आत्मा के स्वरूप को देखना चाहते है उनको इन्द्रियों को रोकना चाहिये तथा परिग्रह का त्याग करना चाहिये और मन को निश्चल करना चाहिये तभी आत्मा का स्वरूप मालूम पड़ सकता है ॥१४४॥

(जीव और मन का परस्पर में संवाद)

शार्दूल विक्रीड़ित।

भोचेतः किमु जीव तिष्ठसि कथं चिंतास्थितं सा कुतो
रागद्वेषवशात्तयोः परिचयः कस्माच्च जातस्तव।
इष्टानिष्टसमागमादिति यदि स्वभ्रं तदावां गतौ
नोचेन्मुञ्च समस्तमेतदचिरादिष्टादिसंकल्पनम् ॥१४५॥

अर्थ—जीव मन से पूछता है कि रे मन तू कैसे रहता है, मन उत्तर देता है कि मैं सदा चिंता में व्यग्र रहता हूं फिर जीव पूछता है कि तुझे चिंता क्यों है फिर मन उत्तर देता है कि मुझे राग द्वेष के कारण से चिंता है फिर जीव पूछता है कि तेरा इनके साथ परिचय कहां से हुवा फिर मन उत्तर देता है कि भली बुरी वस्तुओं के संबंध से राग द्वेष का परिचय हुवा है तब फिर जीव कहता है कि हे मन यदि ऐसी बात है तो शीघ्र ही भली बुरी वस्तुओं के सम्बन्ध को छोड़ो नहीं तो हम दोनों को नरक में जाना पड़ेगा।

भावार्थ—स्वभाव से न कोई वस्तु इष्ट है न अनिष्ट है इसलिये इष्ट तथा अनिष्ट में संकल्प कर राग द्वेप करना निष्प्रयोजन है क्योंकि रागद्वेप से केवल दुःख ही भोगने पड़ते हैं इसलिये समस्त पर वस्तुओं को छोड़कर समता ही धारण करनी चाहिये ऐसी अपने २ मन को निरन्तर भव्य जीवों को शिक्षा देनी योग्य है ॥१४५॥

ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसो भेदः समुत्पद्यते
सानन्दा कृतकृत्यता च सहसा स्वान्ते समुन्मीलति।
यस्यैकस्मृतिमात्रतोऽपि भगवानत्रैव देहान्तरे
देवस्तिष्ठति मृग्यतां स रभसादन्यत्र किं धावत ॥१४६॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि जिस एक आत्मा के स्मरण मात्र से सम्यग्ज्ञान रूपी तेज का उदय होता है तथा मोहरूपी अंधकार दूर हो जाता है और चित्त में नानाप्रकार का आनन्द होता है तथा कृतकृत्यताभी चित्त में उदित हो जाती है वही अनन्त शक्ति का धारक भगवान् आत्मा इस ही शरीर में निवास करता है उसको ढूंडो व्यर्थ क्या दूसरी जगह अज्ञानी होकर फिरते हो ॥१४६॥

शार्दूल विक्रिड़ित।

जीवाजीवविचित्रवस्तुविविधाकारर्द्धिरूपादयो
रागद्वेषकृतोऽत्र मोहवशतो दृष्टाः श्रुताः सेविताः।
जातास्ते दृढ़बंधनं चिरमतो दुःखं तवात्मन्निदं
जानात्येव तथापि किं वहिरसावद्यापि धीर्धावति ॥ १४७॥

अर्थ—फिर भी आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि अरे जीव इस संसार में चेतन अचेतन स्वरूप नाना प्रकार के पदार्थ तथा नाना प्रकार के आकार और भांति २ की संपदा तथा रूप रस आदि सर्व मोह के वश से राग द्वेप को करने वाले हैं और मोह के वश से ही देखेगये हैं तथा सुने गये हैं और सेवन किये गये हैं और इस ही कारण मोह से चिरकाल पर्यंत वे सर्वपदार्थ तेरे दृढ़बंधन हुवे हैं तथा दृढ़बंधन से ही तुझै नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़े हैं ऐसा भली भांति जानते हुवे भी तेरी बुद्धि बाह्यपदार्थों में दौड़ती है यह बड़े आश्चर्य की बात है।

भावर्थ—चेतन अचेतन स्त्री पुत्र कलत्र गृह धन धान्यादि बाह्य पदार्थों में मोहकर चिरकाल से तुझे नाना प्रकार के बंधनों फसना पड़ा है तथा नाना प्रकार के दुःख भी भोगने पड़े हैं ऐसा भली भांति तुझे ज्ञान है तौ भी नहीं मालूम क्यों अब भी तेरी चित्तवृत्ति बाह्यपदार्थों में लगी हुई है इसलिये अब बाह्यपदार्थों से मोह छोडकर तुझे अपने वास्तविक अनन्त विज्ञान आदि स्वरूप का चिंतवन करना चाहिये॥ १४७॥

अब आचार्य इस बात को दिखलाते हैं कि निम्नलिखित प्रकार से विचार करने पर किस प्रकार संसार से भय नहीं हो सकता।

भिन्नोऽहं वपुषो वहिर्मलकृतान्नानाविकल्पौघतः
शब्दादेश्च चिदेकमूर्तिरमलः शान्तः सदानन्दभाक्।
इत्यास्था स्थिरचेतसो दृढ़तरं साम्यादनारम्भिणः
संसाराद्भयमस्ति किं यदि तदप्यन्यत्र कः प्रत्ययः॥ १४८॥

अर्थ—नानाप्रकार के विष्टा मूत्र आदि मलके घर स्वरूप इस शरीर से मैं भिन्न हूं तथा मन में उठे हुवे नानाप्रकार के विकल्पों से भी मैं भिन्न हूं और शब्द रस आदि से भी मैं जुदा हूं तथा मेरी एक चैतन्तमयी मूर्ति है और मैं समस्त प्रकार के मलकर रहित हूं तथा क्रोधादि के अभाव से मैं सदा शांत हूं और सदाकाल आनन्द का भजने वाला हूं इस प्रकार का जिसके मन में मजबूत श्रद्धान है तथा समता का धारी होने से जिसका समस्त प्रकार का आरम्भ छूट गया है ऐसे मनुष्य को किसी प्रकार संसार से भय नहीं हो सकता और जब उसको संसार ही भय का करने वाला नहीं तब उसको वस्तु भय की करने वाली नहीं हो सकती।

भावार्थ—जिस मनुष्य के इस प्रकार के विचार करने से समस्त प्रकार से संसार का भय जाता रहा है उस पुरुष को और किसी वस्तु से भय नहीं हो सकता इसलिये भव्यजीवों को इस प्रकार विचारकर संसार से कदापि भयभीत नहीं होना चाहिये ॥१४८॥

किंलोकेन किमाश्रयेण किमर्थद्रव्येण कायेन किं
किं वाग्भिः किमुतेन्द्रियैः किमसुभिः किंते विकल्पैः परैः ।
सर्वे पुद्गलपर्यया वत परे त्वत्तः प्रमत्तो भवन्
आत्मन्नभिरभिश्रयिष्यतितरामालेन किं बंधनम् ॥ १४९ ॥

अर्थ—आचार्य फिर भी उपदेश देते हैं कि न तो तुझे लोक से प्रयोजन है न लोक के आश्रय से प्रयोजन है और न तुझे द्रव्य से प्रयोजन है न वाणी से प्रयोजन है तथा न तुझे स्पर्शनादि इन्द्रियों से प्रयोजन है न तुझे खोटे विकल्पों से प्रयोजन है क्योंकि ये समस्त पुद्गल द्रव्य की पर्याय है तू चैतन्य स्वरूप है इसलिये ये तेरे स्वरूप से सर्वथा जुदे ही है अतः इन वस्तुओं में प्रमाद करता हुवा क्यों वृथा तू दृढ़बंधनों को बांधता है अर्थात् लोक आदि से ममता करने से तू बंधेगा ही छूटेगा नहीं ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई चोर यदि पर के द्रव्य को चुराकर अपना कहने लगे तो वह कैद में जाकर नाना प्रकार के बंधन को प्राप्त होता है उस ही प्रकार हे जीव यदि तूभी परकी चीज को अपनावेगा तो दृढ़बंधन को प्राप्त होगा इसलिये तुझे परवस्तु को अपनी कदापि नहीं कहनी चाहिये किंतु अपनी ज्ञान दर्शनादि वस्तुओं को ही अपनाना चाहिये ॥१४९॥

अनुष्टप् ।

सतताभ्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम् ।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्ववित् ॥१५०॥

अर्थ—जिस मनुष्य के चित्त में ऐसा विचार उत्पन्न हो गया है कि निरंतर भोगे हुवे भी भोगों से पैदा हुवा सुख अशुभ है तथा केवल आतमा से उत्पन्न हुवा सुख अपूर्व तथा शुभ है वही पुरुष भले प्रकार तत्व का ज्ञाता है ऐसा समझना चाहिये किन्तु उससे भिन्न विपरीत श्रद्धानी कदापि तत्व ज्ञाता नहीं हो सकता ॥१५०॥

पृथ्वी।

प्रतिक्षणमयं जनो नियतमुग्रदुःखातुरः
क्षुदादिभिरभिश्रयंस्तदुपशान्तयेऽन्नादिकम्।
तदेव मनुते सुखं भ्रमवशाद्यदेवासुखं
समुल्लसति कच्छ्काकारुजि यथा शिखिस्वेदनम् ॥१५१॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं-जिस प्रकार खाज का रोगी मनुष्य अग्नि से खाज के सेकने में सुख मानता है परन्तु अग्नि से सेकना केवल दुःख का ही देने वाला है उस ही प्रकार यह संसारी जीव जब क्षुधा तृषा आदि व्याधियों से पैदा हुवे दुःखों से अत्यन्त पीड़ित होता है तथा उसकी शान्ति के लिये अन्न जल का आश्रयण करता है उस समय यद्यपि वह अन्न जल आदि पदार्थ दुःख स्वरूप है तो भी भ्रम से उनको सुख मानता है।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्नि से सेकते समय खाज में सुख मालूम होता है किन्तु अन्त में अत्यन्त दुःख ही भोगना पड़ता है उस ही प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न हुवा सुख यद्यपि थोड़े समय तक सुख है परन्तु अन्त में दुःखदायी है इसलिये भव्य जीवों को इन्द्रियों के सुख की कदापि अभिलाषा नहीं करनी चाहिये किंतु अविनाशी सुख के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥१५१॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

आत्मा स्वं परमीक्ष्यते यदि समं तेनैव संचेष्टते
तस्मा एव हितस्ततोऽपि च सुखी तस्यैव संबंधभाक्।
तस्मिन्नेवगतो भवत्यविरतानन्दामृताम्भोनिधौ
किं चान्यत्सकलोपदेशनिवहस्यैतद्रहस्यं परम् ॥१५२॥

अर्थ—जब यह आत्मा अपने स्वरूप को देखता है तो स्वयं अपने स्वरूप के साथ ही चेष्टा करता है तथा अपने स्वरूप के लिये ही हितस्वरूप बनता है तथा अपने से ही सुखी होता है तथा अपना ही संबंधी होता है तथा निरंतर जो आनन्द रूप अमृत उसका समुद्र स्वरूप

जो अपना स्वरूप उसमें ही लीन होता है इस प्रकार समस्त प्रवृत्तियों की आत्मा में जो दृढ़स्थिति यही समस्त उपदेश का असली तात्पर्य है। इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है ॥१५२॥

आर्या।

परमानन्दाब्जरसं, सकलविकल्पान्यसुमनसस्त्यक्त्वा।
योगी स यस्य भजते, स्तिमितान्तःकरणषट्चरणः ॥१५३॥

अर्थ—जिस योगी का निश्चल मनरूपी भ्रमर समस्त विकल्प रूपी अन्य फूलों को छोड़कर उत्कृष्ट आनंद के धारी शुद्धात्मा रूपी कमल के रस का सेवन करता है वही योगीश्वर पूजने योग्य है।

भावार्थ—जिस प्रकार भ्रमर संपूर्ण पुष्पों को छोड़कर कमल के रस को अस्वादन करता है उसही प्रकार जो मुनि समस्त विकल्पों को छोड़कर शुद्धात्मा का आस्वादन करते हैं वे ही भव्य जीवों के पूजने योग्य हैं ॥१५३॥

जायन्ते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथाकौतुकं
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्मशुद्धात्मन-
श्चिंतायामपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पञ्चताम् ॥१५४॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि परमानंदस्वरूप शुद्धात्मा की प्राप्ति तो दूरही रहो किंतु केवल उसकी चिंता करने पर ही शृंगारादि रस विरस हो जाते हैं स्त्री पुत्र आदि की गोष्टी (सलाह) नष्ट हो होती है और उनकी कथा और कुतर्क दूर भाग जाते हैं तथा इन्द्रियों के विषय भी सर्वथा नष्ट होजाते हैं और स्त्री पुत्र आदि की प्रीति तो दूर ही रहो शरीर में भी प्रीति नहीं रहती और वचन भी मौन को धारणकर लेता है और समस्त राग द्वेषादि दोषों के साथ मन भी विनाश को प्राप्त हो जाता है इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे शुद्धात्मा की चिंता ही में निमग्न बने रहें ॥१५४॥

आचार्य आत्मध्यान का वर्णन करते हैं।

आत्मैकः सोपयोगोमम किमपिततोनान्यदस्तीतिचिंता-
भ्यासास्ताशेषवस्तोःस्थितपरममुदायद्गतिर्नोविकल्पे।

ग्रामे वा कानने वा जनजनितसुखे निःसुखे वा प्रदेशे
साक्षादाराधना सा श्रुतविशदमतेर्बाह्यमन्यत्समस्तम् ॥१५५॥

अर्थ—दर्शन ज्ञानमयी आत्मा ही एक मेरा है इससे भिन्न कोई भी वस्तु मेरी नहीं है इस प्रकार की चिंता से जिस मनुष्य के मन की परिणति बाह्य पदार्थों से सर्वथा छूट गई है तथा जिसकी शास्त्र के अभ्यास से बुद्धि निर्मल होगई है और जो परमानंद का धारी है उस मनुष्य के मन की प्रवृत्तिका विकल्पों से हट जाना तथा गांव में अथवा वन में मनुष्यों को सुख के उपजाने वाले प्रदेश में भी मन का न जाना किंतु अपने आत्मा के अनुभव में लीन होना यही उत्कृष्ट आराधना है परन्तु इससे भिन्न सब बाह्य है तथा सर्व त्याग ते योग्य है ॥१५५॥

यद्यन्तर्निहितानि खानि तपसा बाह्येन किं फल्गुना
नैवान्तर्निहितानि खानि तपसा बाह्येन किं फल्गुना।
यद्यंतर्वहिरन्यवस्तुतपसा बाह्येन किं फल्गुना
नैवान्तर्वहिरन्यवस्तुविषया बाह्येन कि फल्गुना ॥१५६॥

अर्थः—आचार्य फिर भी उपदेश देते हैं कि बाह्य वस्तु से जुदे होकर यदि इंद्रियों का शुद्धात्मा के साथ सम्बन्ध रहा तो बाह्य में तप करना व्यर्थ है और यदि इन्द्रियों का शुद्धात्मा के साथ सम्बन्ध न रहा तो भी तप करना व्यर्थ है और यदि अंतरंग अथवा बाह्य में अन्य पदार्थों की ममता बनी रही तो तप करना व्यर्थ है तथा यदि अंतरंग में तथा बाह्य में किसी पदार्थ से ममता नहीं रही तो भी तप करना व्यर्थ है।

भावार्थ—तप इंद्रिय तथा पदार्थ में ममता के दूर करने के लिये किया जाता है यदि इन्द्रियों का सम्बन्ध तथा ममता बनी रही तो भी किया हुवा भी तप व्यर्थ ही है अर्थात् वह तप निष्प्रोयजन ही है यदि इंद्रियों का संबंध टूटगया तथा पदार्थों से ममता भी दूर हो गई तो भी तप करना व्यर्थ ही है क्योंकि जिनके नाश के लिये तप किया जाता है वे तो प्रथम से ही नष्ट हो चुकी इसलिये इंद्रियों का सम्बन्ध तथा पदार्थों में ममता दूर करने के लिये ही तप करना चाहिये ॥१५६॥

शुद्धं वागतिवर्तितत्वमितरद्वाच्यं च तद्वाचकं
शुद्धादेशमिति प्रभेदजनकं शुद्धेतरत्कल्पितं।
तत्राद्यं श्रयणीयमेव विदुषा शेषद्वयपायोतः
सापेक्षा नयसंहतिः फलवती संजायते नान्यथा ॥१५७॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि शुद्धनय तो वचन के द्वारा कहा नहीं जा सकता किन्तु व्यवहारनय ही वचन के द्वारा कहा जाता है तथा वह व्यवहारनय शुद्धनय को कहने वाला है इसलिये उसको शुद्धादेश शुद्धनय को कहने वाला भी कहते है और जो भेद को उत्पन्न करने वाला है उस को अशुद्धनय कहते हैं इस रीति से शुद्ध शुद्धादेश तथा अशुद्ध के भेद से नय के तीन भेद हुये उन तीनों में शुद्धनय जो है सो शुद्धादेश तथा अशुद्धनय के उपाय से होता है इसलिये विद्वानों को शुद्धनय का ही आश्रय करना चाहिये तथा यह नियम है कि आपस में एक दूसरे की अपेक्षा करने वाला ही नय का समूह कार्यकारी हो सकता है परन्तु एकान्त से भिन्न नहीं।

भावार्थ—यद्यपि शुद्धनय ही ग्रहण करने योग्य है तथापि व्यवहार विना अशुद्धनय कदापि नहीं हो सकता इस लिये व्यवहार से ही शुद्धनय का सिद्ध करना योग्य है क्योंकि व्यवहार की नहीं अपेक्षा करने वाला शुद्धनय कोई कार्यकारी नहीं तथा निश्चयनय की नहीं अपेक्षा करने वाला व्यवहार नय भी कोई प्रयोजन का नहीं है। किन्तु एक दूसरे की अपेक्षा करने वाला ही नय कार्यकारी है ॥१५७॥

फिर भी ग्रन्थकार शुद्धात्मा का वर्णन करते हैं।

ज्ञानं दर्शमप्यशेषविषयं जीवस्य नार्थान्तरं
शुद्धादेशविवक्षया स हि ततश्चिद्रूप इत्युच्यते।
पर्यायैश्च गुणैश्च साधुविदिते तस्मिन् गिरा सद्गुरो-
र्ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः ॥१५८॥

अर्थ—यद्यपि व्यवहार नय से ज्ञानदर्शन आत्मा भिन्न है तथापि शुद्धनय की विवक्षा करने पर समस्त पदार्थों को हाथ की रेखा के समान जानने वाला तथा देखने वाला ज्ञान तथा

दर्शन आत्मा से कोई भिन्न वस्तु नहीं है किन्तु दर्शनज्ञान चेतना स्वरूप ही यह आत्मा है इस लिये जिन योगियों ने श्रेष्ठ गुरुओं के उपदेश से यदि गुण तथा पर्यायों सहित आत्मा को जान लिया तो उसने समस्त को जान लिया तथा सब को देख लिया तथा जो कुछ प्राप्त करने योग्य वस्तु थी उस सब को भी पा लिया।

भावार्थ—जिन पुरुषों ने दर्शन ज्ञानस्वरूप आत्मा को गुण पर्यायों सहित जान लिया तो समझना चाहिये उसने सब को जान लिया तथा देख लिया ॥१५८॥

यन्नान्तर्न वहिःस्थितं न च दिशि स्थूलं न सूक्ष्मं पुमान्
नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां प्राप्तं न यल्लाघवम्।
कर्मस्पर्शशरीरगंधगणनाव्याहारवर्णोज्झितं
स्वच्छं ज्ञानदृगेकमूर्तितदहं ज्योतिःपरं नापरम् ॥१५९॥

अर्थ—आत्मज्ञानी पुरुष इस प्रकार का विचार करता है कि न मैं भीतर हूं न बाहिर हूं न किसी दिशा में हूं न मोटा हूं न पतला हूं न पुरुष हूं न स्त्री हूं न नपुंसक हूं न भारी हूं न हलका हूं और न मेरा कर्म है न स्पर्श है न शरीर है न गन्ध है न संख्या है न शब्द है न वर्ण है तथा जो अत्यन्त स्वच्छ तथा ज्ञानदर्शन मयी मूर्ति की धारक ज्योति है वही मैं हूं और उस से भिन्न कोई नहीं हूं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष इस बात का विचार करता है कि स्थूल सूक्ष्मादिक तथा स्त्री पुरुष नपुंसकादिक तथा स्पर्श रस गन्धआदिक सब पुद्गल के विचार है तथा मैं उन से सर्वथा भिन्न हूं किन्तु मेरी एक ज्ञान दर्शनमयी ही मूर्ति है ॥१५९॥

और भी आचार्य शुद्धात्मा का वर्णन करते हैं।

जानाति स्वयमेव यद्धि मनसश्चिद्रूपमानंदव-
त्प्रोच्छिन्ने यदनाद्यमंदमसकृन्मोहान्धकारे हठात्।
सूर्याचंद्रमसावतीत्य यदहो विश्वप्रकाशात्मकं
तज्जीयात्सहजं सुनिष्कलमहं शब्दाभिधेयं महः ॥१६०॥

अर्थ—आनन्द के धारी जिस चैतन्यरूपी तेज को अनादिकाल से विद्यमान तथा गाढ़ मोहरूपी अन्धकार को तप के द्वारा सर्वथा नाशकर केवल ज्ञान के धारी पुरुष अपने आप जान लेते हैं तथा जो चैतन्यरूपी तेज सूर्य चन्द्रमा के तेज को फीका करने वाला है तथा समस्त पदार्थों का भलीभांति प्रकाश करने वाला है और जिस का मैं (अहम्) इस शब्द से अनुभव होता है तथा जो स्वाभाविक है ऐसा वह चैतन्यरूपी तेज सदा काल जयवन्त रहो ॥१६०॥

ज्ञानी पुरुष इस प्रकार का भी विचार करता है।

वसंत तिलका।

यज्जायते किमपि कर्मवशादसातं
सातं च यत्तदनुयायि विकल्पजालम् ।
जातं मनागपि न यत्र पदं तदेव
देवेन्द्रवन्दितमहं शरणं गतोऽस्मि ॥ १६१ ॥

अर्थ—जिस मोक्ष पद में न तो कर्म के वश से साता होती है और न कर्म के वश से असाता होती है तथा न उन साता तथा असाता के भाव जहां पर किसी प्रकार के विकल्प ही उठते हैं और जिस पद की बड़े २ इंद्रादिक भी स्तुति करते हैं ऐसे मोक्षपद के शरण को मैं प्राप्त होना चाहता हूं ॥ १६१ ॥

आगे आचार्य और भी ज्ञानी के विचार को दिखाते हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित।

धिक्कान्तास्तनमण्डलं धिगमलप्रालेयरोचिःकरान्
धिक्कर्पूरविमिश्रचंदनरसं धिक् ताञ्जलादीनपि ।
यत्प्राप्तं न कदाचिदत्र तदिदं संसारसंतापहृत्
लग्नं चेदिति शीतलं गुरुवचो दिव्यामृतं मे हृदि ॥ १६२ ॥

अर्थ—संसार में वह बात भलीभांति प्रचलित है तथा अज्ञानी मनुष्य इस बात को मानते भी हैं कि यदि किसी प्रकार का संताप भी होजावे तो उस संतप्त प्राणि को स्त्री के स्तनों

के स्पर्श से तथा चन्द्रमा की किरण आदि के सेवने से संताप को दूर कर देना चाहिये परन्तु ज्ञानी मनुष्य इस बात को सर्वथा नहीं मानता तथा इससे विपरीत ही विचार करता है अर्थात् वह कहता है कि जिसकी कभी भी प्राप्ति नहीं हुई है तथा जो सब संसार के दुःखों को दूर करने वाला है और जो अत्यंत शीतल है ऐसा यदि गुरुओं का वचन मेरे मन में मौजूद है तो जिनको मनुष्य शीतल करने वाले कहते हैं ऐसे स्त्री के कुचों को धिक्कार हो तथा चंद्रमा की शीतल किरणों को धिकार हो तथा कपूर मिले हुवे चंदन को धिकार हो तथा जल आदि को भी धिकार हो ॥

भावार्थ— सवाय गुरु के उपदेश के ये समस्त चीजें संताप ही की करने वाली हैं अंश मात्र भी शांति की करने वाली नहीं है इसलिये जो मनुष्य शांति के अभिलाषी हैं उनको गुरु के वचन का ही आश्रय लेना चाहिये ॥ १६२ ॥

अब आचार्य शुद्ध आत्मा की परिणति स्वरूप धर्म में मग्न हुवे योगियों को नमस्कार करते हैं।

जित्वा मोहमहाभटं भवपथे दत्तोग्रदुःखश्रमे
विश्रान्ता विजनेषु योगिपथिका दीर्घे चरन्तः क्रमात्।
प्राप्ता ज्ञानधनाश्चिरादभिमतं स्वात्मोपलं तिष्ठति
नित्यानंदकलत्रसंगसुखिनो ये तत्र तेभ्यो नमः ॥ १६३ ॥

अर्थ—जो योगीश्वर रूप पथिक अत्यन्त दुःख को देने वाले संसाररूपी विशाल मार्ग में विचरते हुवे समस्त ज्ञानादिक धन को चुराने वाले मोहरूपी योधा को जीतकर निर्जन स्थान में विश्राम लेते हैं तथा जो ज्ञानरूपी धन के स्वामी है और जिसका कभी भी नहीं नाश होने वाला है ऐसा जो आत्मिक सुखरूपी स्त्री उसके संग से जो सदा सुखी है तथा अपने आत्मा के स्वरूप की जहां पर प्राप्ति होती है ऐसे स्थान में विराजमान हैं उन योगियों को मैं नमस्कार करता हूं ॥

भावार्थ—जिस प्रकार कोई धनयुक्त पथिक किसी बड़े मार्ग में मिले हुवे चोरों को जीतकर तथा अपने धन को बचाकर जब वांछित स्थान पर पहुंच जाता है तब वह अपनी स्त्री के साथ नाना प्रकार के भोगविलासों को करता हुवा सुख से रहता है उसही प्रकार जिन योगिश्वरों ने संसाररूपी गहन मार्ग में रहने वाले तथा ज्ञानरूपी धन को चुराने वाले मोहरूपी ठग को जीत

कर अपने ज्ञान धन की रक्षा की है तथा जो मोक्षरूपी स्त्री के साथ नाना प्रकार के सुखों का भोग करते हैं और अपने आत्मस्वरूप में लीन हैं ऐसे उन योगिश्वरों को मैं मस्तक नवाकर नमस्कार करता हूं ॥ १६३ ॥

आगे आचार्य बीस श्लोकों में धर्म की महिमा का तथा धर्म के उपदेश का वर्णन करते हैं।

स्रग्धरा

इत्यादिधर्म एष क्षितिपसुरसुखानर्घ्यमाणिक्यकोषः
पाथो दुःखानलानां परमपदलसत्सौधसोपानराजिः ।
एतन्माहात्म्यमीशः कथयति जगतां केवलीसाध्वधीति
सर्वस्मिन्वाङ्मयेऽथस्मरति परमहोमादृशस्तस्यनाम ॥१६४॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि पूर्व में जो दया आदिक पांच प्रकार का धर्म कहा है वह धर्म बड़े २ चक्रवर्ती आदिक राजाओं के तथा इन्द्र अहमिन्द्र आदि के सुख का देने वाला है तथा समस्त दुःखों को मूल से नाश करने वाला है और वह धर्म निर्वाण रूपी महल के चढ़ने के लिये पैड़ी के समान है अर्थात् जो मनुष्य धर्म को धारण करता है उनको मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसे उस धर्म के माहात्म्य को साक्षात्केवली अथवा समस्त द्वादशांग के पाठी गणधर ही वर्णन कर सकते हैं, परन्तु मेरे समान मनुष्य तो केवल उसके नाम को ही स्मरण कर सकते हैं ॥

भावार्थः—धर्म की महिमा का वर्णन सिवाय केवली अथवा गणधर देव के दूसरा कोई नहीं कर सकता ॥१६४॥

धर्म ही धारण करने योग्य है ऐसा उपदेश कहते हैं।

शार्दूल विक्रीडित।

शश्वज्जन्मजरान्तकालविलसद् दुःखौघसारीभवत्
संसारोग्रमहारुजोऽपहतयेऽनन्तप्रमोदाय वै ।
एतद्धर्मरसायनं ननु बुधाः कर्तुं मतिश्चेत्तदा
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादनिकरः क्रोधादि संत्यज्यताम् ॥१६५॥

अर्थ—भो भव्यजीवो यदि तुम निरन्तर जन्म जरा मरण आदिक समस्त दुःखों को देने वाले संसार रूपी भयंकर रोग के दूर करने के लिये धर्मरूपी रसायन का आश्रय लेना चाहते हो तथा अनन्त सुख की प्राप्ति के लिये भी धर्मरूपी रसायन का आश्रय करना चाहते हो तो मिथ्यात्व अविरति प्रमाद तथा क्रोधादि कषायों का सर्वथा त्याग करो ॥

भावार्थ—जब तक क्रोधादि कषायों का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहेगा तब तक न तुम नाना दुःखों के देने वाले संसाररूपी महारोग का शमन कर सकते हो और न तुम अविनाशी सुख की ही तरफ झांक सकते हो इसलिये यदि तुम संसार रूपी महारोग के दूर करने की अभिलाषा करते हो तथा यदि तुम अविनाशी सुख को चाहते हो तो मिथ्यात्व आदि की तरफ झांक झांक करके भी न देखो ॥१६५॥

अब आचार्य धर्म का दुर्लभपना दिखाते हैं।

नष्टं रत्नमिवाम्बुधौ निधिरिव प्रभ्रष्टदृष्टेर्यथा
योगो यूपशलाकयोश्च गतयोः पूर्वापरौ तोयधीः ।
संसारेऽत्र तथा नरत्वमसकृद् दुखप्रदे दुर्लभं
लब्धे तत्र च जन्म निर्मलकुले तत्रापि धर्मे मतिः ॥१६६॥

अर्थ—जिस प्रकार अथाह समुद्र में यदि रत्न गिर पड़े फिर उसका मिलना बहुत कठिन है तथा जैसे अंधे को निधि मिलना अत्यंत दुर्लभ है और जिस प्रकार समुद्र में किसी स्थान पर दो काष्ट खण्डों को छोड़ देना उनमें एक को पूर्व दिशा की ओर बहा देना तथा दूसरे को पश्चिम दिशा की ओर को बहा देना फिर उनका उस ही स्थान पर मिलना दुःसाध्य है उस ही प्रकार निरंतर नाना प्रकार के दुःखों के देने वाले इस संसार में मनुष्य जन्म का पाना बहुत कठिन है यदि दैवयोग से मनुष्य जन्म भी मिल जावे तो फिर उत्तम कुल मिलना अत्यन्त दुर्लभ है यदि किसी समय में उत्तम कुल की भी प्राप्ति हो जावे तो फिर धर्म में श्रद्धा होना अत्यंत दुःसाध्य है इसलिये भव्यजीवों को ऐसे अत्यन्त दुर्लभ धर्म की अवश्य उपासना करनी चाहिये ॥१६६॥

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि अत्यंत दुर्लभ धर्म आदिक वस्तु खोटे उपदेश से प्राणियों के व्यर्थ चली जाती है।

न्यायादंधकवर्तकीयकजनाख्यानस्य संसारिणां
प्राप्तं वा बहुकल्पकोटिभिरिदं कृच्छ्रान्नरत्वं यदि।
मिथ्यादेवगुरूपदेशविषयव्यामोहनीचान्वय
प्रायैः प्राणभृतां तदेव सहसा वैफल्यमागच्छति ॥१६७॥

अर्थ—प्रथम तो मनुष्य जन्म पाना संसार में अत्यंत कठिन काम है दैव योग से अंधे के हाथ में वटेर के समान करोड़ों कल्पों के बाद यदि इस अत्यन्त दुःसाध्य मनुष्य जन्म की प्राप्ति भी हो जावे तो वह मनुष्य जन्म खोटे देव तथा खोटे गुरुओं के उपदेश से निष्फल चला जाता है तथा विषयों में आसक्तता से तथा व्यसनादिक नीच कार्य करने से भी वह बात की बात में व्यर्थ चला जाता है॥

भावार्थ—वटेर एक जाति का अत्यंत चंचल पक्षी होता है वह चतुर से चतुर भी नेत्रधारियों के हाथ में बड़ी कठिनता से आता है फिर अन्धे के हाथ में आना तो उसका अत्यन्त ही कठिन है यदि दैव योग से वह अन्धे के हाथ में आ जावे तो जिस प्रकार उसका आना बहुत कठिन समझा जाता है उस ही प्रकार यह मनुष्य जन्म है क्योंकि सबसे निकृष्ट निगोद राशि है उसमें से निकलकर बड़े पुण्य के उदय से यह जीव एकेंद्री होता है फिर दोइंद्री तेइंद्री चौइंद्री पञ्चेंद्री होता है फिर बड़े पुण्य के उदय से इस मनुष्य जन्म को धारण करता है किंतु ऐसा भी कठिन वह मनुष्य जन्म खोटे देव तथा गुरु आदि के उपदेश आदि से व्यर्थ ही चला जाता है इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर वे खोटे देव को सेवा तथा खोटे गुरुओं के उपदेश का श्रवण न करें तथा विषयों में भी मग्न न रहे॥१३७॥

कुगुरु कुदेवादिकी सेवा आदि के त्याग से ही मनुष्य जन्म सफल होता है ऐसा आचार्य वर्णन करते हैं।

वसंत तिलका।

लब्धे कथं कथमपीहमनुष्यजन्म-
न्यङ्गप्रसंगवशतो हि कुरु स्वकार्यम्।

प्राप्तं तु कामपि गतिं कुमते तिरश्चां
कस्त्वां भविष्यति विबोधयितुं समर्थः ॥१६८॥

अर्थ—हे भव्य जीव बड़े पुण्य कर्म के उदय से तुझे इस मनुष्य जन्म की प्राप्ति हुई है इसलिये शीघ्र ही कोई अपने हितका करनेवाला काम कर नहीं तो रे मूर्ख जिस समय तिर्यंच आदि खोटी गति को प्राप्त हो जावेगा तो वहांपर तुझे कोई समझा भी नहीं सकेगा।

भावार्थ—समझाने पर मनुष्य ही शीघ्र समझ सकता है पशु में यह शक्ति नहीं है जो समझाने पर समझ जावे। इसलिये भव्य जीवों को मनुष्य जन्म में ही ऐसा काम करना चाहिये जिससे वे तिर्यंच आदि खोटी गति को न प्राप्त होवे तथा वहांपर वे नानाप्रकार के दुःख न भोगें ॥१६८॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित।

जन्म प्राप्य नरेषु निर्मलकुले क्लेशान्मतेः पाटवं
भक्तिंजैनमते कथं कथमपि प्रागर्जिताच्छ्रेयसः।
संसारार्णवतारकं सुखकरं धर्मं न ये कुर्वते
हस्तप्राप्यमनर्घ्यरत्नमपि ते मुञ्चन्ति दुर्बुद्धयः ॥१६९॥

अर्थ—जो मनुष्य अत्यंत कठिन मनुष्य जन्म को पाकर तथा उत्तम कुल को पाकर तथा किसी प्रकार पूर्व काल में उपार्जन किये हुवे पुण्य के उदय से जैन धर्म के भक्त भी होकर संसार समुद्र से पार करने वाले तथा नाना प्रकार के सुख के देने वाले धर्म की सेवा नहीं करते हैं वे मूर्ख हाथ में आये हुवे अमूल्य रत्न को छोड़ देते हैं।

भावार्थ—प्रथम तो रत्न की प्राप्ति ही अत्यन्त कठिन है यदि प्राप्त भी हो जावे तो उस को व्यर्थ फैंक देना सर्वथा मूर्खता है उस ही प्रकार उत्तम कुलादि को प्राप्त कर धर्म का न करना भी मूर्खता है इसलिये भव्य जीवों को धर्म की अवश्य उपासना करनी चाहिये ॥१६९॥

जो मनुष्य अवसर पाकर भी धर्म नहीं करते हैं उनकी ग्रन्थकार निंदा करते हैं।

तिष्ठत्यायुरतीव दीर्घमखिलान्यङ्गानि दूरं दृढा-
न्येषा श्रीरपि मे वशं गतवती किं व्याकुलत्वं मुधा।
आयत्यां निरवग्रहो गतवया धर्मं करिष्ये भरा-
दित्येवं वत चिंतयन्नपि जड़ो यात्यंतकग्रासताम् ॥१७०॥

अर्थ—अभी मेरी आयु बहुत है हाथ पैर नाक कान आदिक भी मजबूत है तथा लक्ष्मी मेरे विद्यमान है इसलिये व्यर्थ धर्मादि के लिये क्यों व्याकुल होना चाहिये किंतु इस समय तो आनंद से भोगों को भोगना चाहिये भविष्यत्काल मे जिस समय वृद्ध हो जाऊंगा उस समय निश्चय कर अच्छी तरह धर्म का आराधन करूंगा इस प्रकार विचार करता ही करता मूर्ख मर जाता है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे मृत्यु सदा शिर पर छाई हुई है इस भय से निरंतर धर्म की आराधना करें ॥१७०॥

आर्या।

पलितैकदर्शनादपि सरति सतश्चित्तमाशु वैराग्यम्।
प्रतिदिनमितरस्य पुनः सह जरया वर्द्धते तृष्णा ॥१७१॥

अर्थ—जो पुरुष ज्ञानी हैं वे तो सफेद केश को देखते ही वैराग्य को प्राप्त होते है किंतु जो मनुष्य ज्ञान रहित है उनको तो जैसा २ सफेद केशों का दर्शन होता जाता है वैसी वैसी ही उनकी तृष्णा और भी बढती चली जाती है और उनको वैराग्य की वात भी बुरी लगती है ॥१७१॥

तथा वे अज्ञानी पुरुष तृष्णा को इस प्रकार कहते है।

मन्दाक्रान्ता।

आजातेर्नस्त्वमसि दयिता नित्यमासन्नगासि
प्रौढास्याशे किमथ वहुना स्त्रीत्वमालम्बितासि।
अस्मत्केशग्रहणमकरोदग्रतस्ते जरेयं
मर्षस्येतन्मम च हतके स्नेहलाद्यापि चित्रम् ॥१७२॥

अर्थ—हे तृष्णे ! आजन्म से तू हमारी प्रिया है और तू सदा हमारे पास रहने वाली है तथा तू प्रौढ़ा है और अधिक कहां तक कहा जाय तू साक्षात् हमारी स्त्री ही है परन्तु अरे दुष्ट तेरे सामने भी इस जराने हमारे केश पकड़ लिये है तो भी तू सहन करती है फिर भी तो हमारी प्यारी है यह बड़े आश्चर्य की बात है।

भावार्थ—स्त्री का यह स्वभाव होता है कि यदि वह अपने पति के साथ किसी दूसरी स्त्री को क्रीड़ा करती तथा रमण करती देख लेवे तो उससे बड़ी भारी ईर्षा करती है तथा तत्काल ही उसका पति के साथ संबंध छुडाने की चेष्टा करती है यदि संबंध न छूट सके तो प्रीति तो अवश्य ही छुड़ा देती है अतएव अज्ञानी पुरुष इस प्रकार तृष्णा को संबोधते है कि अयिप्रिये तृष्णे ! इस जराने हमारे केश पकड़ लिये हैं तो भी तू कुछ नहीं कहती है अर्थात् तुझे इसका हमारे साथ संबंध छुटा देना चाहिये ॥१७२॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं।

वसंततिलका।

रङ्कायते परिवृढोऽपि दृढोऽपि मृत्यु-
मभ्येति दैववशतः क्षणतोऽत्र लोके ।
तत्कः करोति मदमम्बुजपत्रवारि
विन्दूपमैर्धनकलेवरजीविताद्यैः ॥१७३॥

अर्थ—जो मनुष्य इस संसार में धनी हैं वह क्षण भर में रंक हो जाता है और जो रंक हैं वह पल भर में धनी हो जाता है तथा जो बलवान् दीखता है वह दैवयोग से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है इसलिये ऐसा कौन बुद्धिमान है जो "धन शरीर जीवन आदि को" कमल के पत्ते पर जल की बूंद के समान विनाशीक जानकर भी मदकरे अर्थात् कोई भी मद नहीं कर सकता ॥ १७३ ॥

आगे आचार्य इस बात को दिखाते है कि स्त्री पुत्र आदिक यद्यपि विनाशीक है तो भी मोह से विपरीत ही मालूम होते हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित।

प्रातर्दर्भदलाग्रकोटिघटितावश्यायविन्दूत्कर
प्रायाः प्राणधनांगजप्रणयिनीमित्रादयो देहिनाम्।
अक्षाणां सुखमेतदुग्रविषवद्धर्म विहाय स्फुटं
सर्वं भङ्गुरमत्रदुःखदमहो मोहः करोत्यन्यथा ॥१७४॥

अर्थ—संसार में प्राणियों के प्राण हाथी स्त्री मित्र पुत्र आदिक प्रातःकाल में दर्भ के पत्ते के अग्रभाग पर लगे हुवे ओस के बूंद के समान चंचल हैं और इन्द्रियों से उत्पन्न हुवे सुख भयंकर जहर के समान हैं तथा एक धर्म तो अविनाशीक तथा सुख का देने वाला किन्तु धर्म से भिन्न समस्त वस्तु क्षणभर में विनाशीक हैं तथा दुःख देने वाली है परन्तु यह मोह अन्यथा ही करता है अर्थात् जो वस्तुयें नित्य तथा सुख की देने वाली हैं वे मोह के उदय से अनित्य तथा दुःख के देने वाली मालूम पड़ती हैं और जो वस्तुयें अनित्य तथा दुःख के देने वाली हैं वे मोह के कारण नित्य तथा सुख की देने वालीं जान पड़ती हैं ॥१७४॥

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि जब तक काल सम्मुख नहीं आता तब तक समस्त पुरुषार्थ चलता है इसलिये काल रोकने का उपाय करना चाहिये।

तावद्वल्गति वैरिणां प्रति चमूस्तावत्परं पौरुषं
तीक्ष्णस्तावदसिर्भुजौ दृढतरौ तावच्च कोपोद्गमः।
भूपस्यापि यमो न यावददयः क्षुत्पीड़ितः सम्मुखं
धावत्यन्तरिद विचिन्त्य विदुषा तद्रोधको मृग्यते ॥१७५॥

अर्थ—जब तक क्षुधाकर पीड़ित यह निर्दयीकाल राजा के भी सामने नहीं पड़ता तब तक उस राजा की सेना भी जहा तहां उछलती फिरती है तथा उत्कृष्ट पौरुष भी मालूम पड़ता है तथा तब तक तलवार खूब शत्रुओं का नाश करने के लिये पैनी बनी रहती है तथा भुजा भी बलवान रहती है और कोपका भी उदय रहता है परन्तु जिस समय वह कालबली सामने पड़ जाता है तब ऊपर लिखी हुई बातोंमेंसे एक भी बात नहीं होती ऐसा भलीभांति विचार कर विद्वान् पुरुष उस काल के रोकने वाले को ढूंढते हैं।

भावार्थ—इस कालवलीको रोकनेवाला मात्र एक जिनेन्द्रका धर्मही है क्योंकि धर्मात्माओं का काल कुछ नहीं कर सकता इसलिये भव्य जीवोंको चाहिये कि वे धर्मकी आराधना करें ॥१७५॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं।

मालिनी।

रतिजलरममाणोमृत्युकैवर्तहस्त
प्रसृतघनजरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये ।
विकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं
भवसरसि वराको लोकमीनौघ एषः ॥१७६॥

अर्थ—जिस प्रकार मल्लाह से बिछाये हुए जाल में रहकर भी मछलियों का समूह जल में क्रीडा करता है किंतु मारे जायेंगे इस प्रकार आई हुई आपत्ति पर कुछ भी ध्यान नहीं देता उसही प्रकार यह लोक रूपी मीनोंका समूह मृत्यूरूपी मल्लाहकर बिछाये हुवे प्रबल जरारूपी जाल में रहकर इंद्रियों के विषय में प्रीति रूपी जो जल उसमें निरन्तर क्रीड़ाही करता रहता है किंतु आने वाली नरकादि आपत्तियों पर कुछ भी विचार नहीं करता ॥१७६॥

धर्म से ही मृत्यु जीती जाती है इस बात को दिखाते हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित।

क्षुद्भुक्तेस्तृडपीह शीतलजलाद् भूतादिका मन्त्रतः
सामादेरहितो गदाद्गदगणःशांतिं नृभिर्नीयते ।
नो मृत्युस्तु सुरैरपीति हिमृतेमित्रेऽपि पुत्रेऽपि वा
शोको न क्रियते बुधैः परमहो धर्मस्ततस्तज्जयः ॥१७७॥

अर्थ—मनुष्य क्षुधा को भोजन से, प्यास को शीतल जल के पीने से, तथा भूतादिकों को मंत्र से, तथा वैरी को साम दाम दण्डादिक से, और रोग को औषधि आदि से शान्त कर लेते हैं परन्तु मृत्यु को देवादिक भी शान्त नहीं कर सकते इसलिये विद्वान् पुरुष मित्र तथा पुत्र के

मरजाने पर भी शोक नहीं करते किन्तु वे उत्तम धर्म का ही आराधन करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि उत्तम धर्म से ही मृत्यु का जय होता है।

भावार्थ—इस संसार में समस्त रोगादि की शान्ति के उपाय मौजूद हैं परन्तु मृत्यु की शान्ति का सिवाय धर्म के दूसरा कोई उपाय नहीं है इस लिये विद्वानों को यदि मृत्यु से बचना है तो उन को अवश्य ही धर्म की आराधना करनी चाहिये ॥१७७॥

आचार्य धर्म की ही महिमा का वर्णन करते हैं।

मन्दाक्रान्ता।

त्यक्त्वा दूरं विधुरपयसो दुर्गतिक्लिष्टकुछ्रात्
लब्धानंदं सुचिरममरश्रीसरस्यां रमन्ते।
इत्येतस्यानृपपदसरस्यन्नयं धर्मपक्षा-
यान्त्येतस्मादपि शिवपदं मानसं भव्यहंसाः॥१७८॥

अर्थ—जिस प्रकार हंस नामक पक्षी खराब जल के भरे हुवे तालाब को छोड़ कर निर्मल जल के भरे हुवे सरोवर में अपने पंखों के बल से चला जाता है तथा वहां पर चिरकाल तक आनन्द से क्रीड़ा करता है तथा अपने पंखों के ही बल से उस सरोवर को छोड़ कर दूसरे सरोवर को चला जाता है इस ही प्रकार क्रमशः नाना उत्तम सरोवरों के आनन्द को भोगता २ वही हंस मानस सरोवर को प्राप्त हो जाता है तथा वह वहां पर चिरकाल तक नाना प्रकार के आनन्दों का भोग करता है उसी प्रकार ये भव्य रूपी हंस भी धर्मरूपी पंख के बल से दुःख रूपी जल से भरे हुए दुर्गति रूप तालाब को छोड़कर देव लोक सम्बन्धी जो लक्ष्मी रूपी सरोवरी उस में आनन्द के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करते है तथा उस को छोड़ कर धर्म के ही बल से वे नाना प्रकार के चक्रवर्ती आदि राजाओं के पद रूपी सरोवर में क्रीड़ा करते हैं "अर्थात् चक्रवर्ती आदि पद का भोग करते हैं" पीछे उस से विमुख होकर धर्म के बल से ही वे भव्य रूपी हंस मोक्ष पद रूपी मानस सरोवर को प्राप्त हो जाते है इस लिये भव्यों को चाहिये कि वे ऐसे महात्म्य सहित धर्म का सदा आराधान करें ॥१७८॥

और भी धर्म के महात्म्य को दिखाते हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित।

जायन्ते जिनचक्रवर्तिवलभृद्भोगीन्द्रकृष्णादयो
धर्मादेव दिगङ्गनाङ्गविलसच्छश्वद्यशश्चन्दनाः।
तद्धीना नरकादियोनिषु नरा दुःखं सहन्ते ध्रुवं
पापेनेति विजानता किमिति नो धर्मःसता सेव्यते ॥१७९॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्मात्मा हैं वे मनुष्य धर्म के बल से ही तीर्थंकर चक्रवर्ती बलभद्र धरणेन्द्र नारायण प्रतिनारायण आदि पद के धारी हो जाते हैं तथा उनकी कीर्ति समस्त दिशाओं में एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक फैल जाती है और जो धर्म से रहित हैं वे तो निश्चय कर नरकादि योनियों में नाना प्रकार के दुःखों को ही सहते हैं ऐसा जानते हुवे भी आचार्य कहते हैं कि विद्वान् मनुष्य धर्म की क्यों नहीं आराधना करते अर्थात् उन को अवश्य ही धर्म की आराधना करनी चाहिये ॥१७९॥

धर्म की ही महिमा और दिखाते हैं।

स स्वर्गः सुखरामणीयकपदं ते ते प्रदेशाः पराः
सारा सा च विमानराजिरतुलप्रेंखत्पताकापटाः।
ते देवाश्च पदातयः परिलसत्तन्नंदनं तास्त्रियः
शक्रत्वं तदनिंद्यमेतदखिलं धर्मस्य विस्फूर्जितम् ॥१८०॥

अर्थ—सुख तथा सुन्दरता का अद्वितीय स्थान तो वह स्वर्ग तथा वे महामनोहर स्वर्गों के प्रदेश तथा जिनके ऊपर अनुपम पताका उड़ रही है ऐसे वे विमानों की पंक्ति और प्यादे स्वरूप वे देवता तथा वह मनोहर नन्दनवन और वे मनोहर देवांगना तथा वह अत्यन्त निर्मल इन्द्रपना इत्यादि समस्त विभूति धर्म के ही महात्म्य से मिलती है इस लिये ऐसे पवित्र धर्म का आराधन भव्य जीवों को अवश्य करना चाहिये ॥१८०॥

और भी धर्म की महिमा ही का वर्णन करते हैं।

यत् षट्खण्डमही नवोरुनिधयो द्विःसप्त रत्नानि यत्
तुङ्गा यद्द्विरदा रथाश्च चतुराशीतिश्च लक्षाणि यत्।
यच्चाष्टादश कोटयश्च तुरगा योषित्सहस्राणि यत्
षट्युक्ता नवतिर्यदेकविभुता तद्धाम धर्मप्रभोः॥ १८१॥

अर्थ—वह तो छै खंड की पृथ्वी और वे बड़ी २ नौनिधि तथा वे समस्त सिद्धि के करने वाले चौदह रत्न और वे चौरासीलाख बड़े २ हाथी तथा विमान के समान चौरासीलाख बड़े २ रथ और वे अठारह करोड़ पवन के समान चंचल घोड़े तथा वे देवांगना के समान छ्यानबे हजार स्त्रियां तथा वह इन समस्त विभूतियों का चक्रवर्तिपना इत्यादि समस्त विभूति धर्म के प्रताप से ही मिलती है। इसलिये भव्य जीवों को ऐसे धर्म की आराधना अवश्य करनी चाहिये॥ १८१॥

धर्म की महिमा ही को और कहते हैं।

धर्मो रक्षति रक्षितो ननु हतो हन्ति ध्रुवं देहिनां
हन्तव्यो न ततः स एव शरणं संसारिणां सर्वथा।
धर्मः प्रापयतीह तत्पदमपिध्यायन्ति यद्योगिनः
धर्मात्मत्सुहृदस्ति नैव च सुखी नो पण्डितो धार्मिकात्।१८२।

अर्थ—धर्म की रक्षा होने पर तो धर्म प्राणियों की रक्षा करता है परन्तु नाश होने पर वह प्राणियों का भी नाश कर देता है इसलिये भव्यजीवों को कदापि धर्म का नाश नहीं करना चाहिये क्योंकि समस्त प्राणियों का सहायक धर्म ही है तथा जिस (मोक्ष) पद को योगीश्वर सदा ध्यान करते रहते है उस पद को भी देने वाला है इसलिये धर्म से बढ़कर कोई भी सचा मित्र नहीं है और धर्मात्मा पुरुष से अधिक कोई भी सुखी नहीं है।

भावार्थ—समस्त सुख तथा समस्त गुणों का कारण एक रक्षा किया हुवा धर्म ही है इसलिये जो पुरुष सुख के अभिलाषी हैं तथा गुणी बनना चाहते हैं उनको सब से पहिले धर्म रक्षा करनी चाहिये॥ १८२॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं।

नानायोनिजलौघलङ्घितदिशि क्लेशोर्मिजालाकुले
प्रोद्भूताद्भुतभूरिकर्ममकरग्रासीकृतप्राणिनि।
दुष्पर्यन्तगभीरभीषणतरे जन्माम्बुधौ मज्जतां
नो धर्मादपरोऽस्ति तारक इहाश्रान्तं यतध्वं वुधाः॥ १८३॥

अर्थ—अनेक प्रकार की जो नरकादि योनि वे ही हुई जल उससे जिसने समस्त दिशाओं को व्याप्त कर लिया है तथा नाना प्रकार के दुःखरूपी तरंगें मौजूद हैं और उत्पन्न हुये जो नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म वे ही हुए मगर उसके द्वारा जिसमें जीव खाये जा रहे है और न जिसका अंत है तथा जो गंभीर तथा भयंकर है ऐसे संसाररूपी समुद्र में डूवते हुवे जीवों को पार करने वाला एक धर्म ही है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे सदा धर्म के करने में ही प्रयत्न करें॥ १८३॥

भावार्थ—जिस प्रकार जिस समुद्र का जल चारों दिशाओं में फैला हुवा है और जिसमें बड़ी २ लहरैं उठ रही हैं तथा भयंकर नाकू जिसमें दीन प्राणियों को खा रहे है और जिसका अंत नहीं है तथा गंभीर और भयंकर है ऐसे समुद्र के वीच में पड़ा हुआ मनुष्य विना किसी जहाज आदि के नहीं तर सकता। उसी प्रकार इस संसाररूपी समुद्र में डूबे हुए प्राणी भी विना धर्म के सहारे किसी प्रकार नहीं तर सकते क्योंकि यह संसाररूपी समुद्र भी नानाप्रकार की योनि रूपी जल से समस्त दिशाओं को व्याप्त करने वाला है तथा इसमें भी नानाप्रकार के दुःख रूपी तरंगें मौजूद हैं और कर्मरूपी मगरों से सदा इसमें भी जीव खाये जाते है तथा इस संसाररूपी समुद्र का अंत नहीं है तथा गंभीर और भयंकर भी है इसलिये विद्वानों को सदा धर्म में ही यत्न करना चाहिये॥

और भी आचार्य धर्म की महिमा का वर्णन करते हैं।

जन्मोच्चैः कुल एव सम्पदधिके लावण्यवारां निधि-
र्नीरोगं वपुरायुरादि सकलं धर्माद्ध्रुवं जायते।

सा न श्रीरथवा जगत्सु न सुखं तत्तेन शुभ्रा गुणा
यैस्त्कण्ठितमानसैरिव नरो ना श्रीयते धार्मिकः ॥१८४॥

अर्थ—संपदाकर अधिक उत्तम कुल में जन्म तथा लावण्य और निरोग शरीर तथा आयु आदि समस्त बात निश्चय से धर्म के प्रताप से ही मिलती है। और संसार में वह कोई लक्ष्मी नहीं है जो एकदम आकर धर्मात्मा पुरुष का आश्रय न ले तथा वह उत्तम सुख तथा वे निर्मल गुण भी संसार के भीतर कोई नहीं है जो धर्मात्मा पुरुषको स्वयमेव आकर आश्रय न करे।

भावार्थ—धर्मात्मा पुरुष को उत्तम से उत्तम लक्ष्मी तथा श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सुख और समस्त निर्मल गुणों की प्राप्ति होती है इस लिये जो पुरुष इन बातों को चाहते है उन को भलीभांति धर्म का आराधन करना चाहिये ॥१८४॥

और भी धर्म की महिमा ही का वर्णन किया जाता है।

भृङ्गा पुष्पितकेतकीमिव मृगा वन्यामिव स्वस्थलीं
नद्यः सिन्धुमिवाम्बुजाकरमिव श्वेतच्छदाः पक्षिणः।
शौर्यत्यागविवेकविक्रमयशः सम्पत्सहायादयः
सर्वे धार्मिकमाश्रयन्ति न हितं धर्मं विना किञ्चन ॥१८५॥

अर्थ—जिस प्रकार भौंरा स्वयमेव आकर फूली हुई केतकी का आश्रय कर लेता है तथा जिस प्रकार मृग वन में अपने रहने के स्थान को स्वयमेव जाकर आश्रय कर लेते हैं तथा जिस प्रकार नदी स्वयमेव समुद्र को प्राप्त हो जाती है और जिस प्रकार हंस नामक पक्षी मानसरोवर को स्वयमेव प्राप्त कर लेते है उसीही प्रकार वीरत्व दान विवेक विक्रम कीर्ति सम्पत्ति सहाय आदिक वस्तु स्वयमेव धर्मात्मा को आकर आश्रय कर लेते है, किन्तु धर्म के बिना कोई भी वस्तु नहीं मिलती इस लिये जो मनुष्य वीरत्वादि वस्तुओं को चाहते हैं उन को चाहिये कि वे निरंतर धर्म करें जिसमें उनको बिना परिश्रम से वे वस्तु मिल जावें ॥१८५॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं।

सौभागीयसि कामिनीयसि सुतश्रेणीयसि श्रीयसि
प्रासादीयसि चेत्सुखीयसि सदा रूपीयसि प्रीयसि।

यद्वानन्तसुखामृताम्बुधिपरस्थानीयसीह ध्रुवं
निर्धूताखिलदुःखदापदि सुहृद्धर्मे मतिर्धार्यताम् ॥१८६॥

अर्थ—जो तुम सौभाग्य की इच्छा करते हो और कामिनी की अभिलाषा करते हो तथा बहुत से पुत्रों के प्राप्त करने की इच्छा करते हो और जो यदि तुम्हारे उत्तम लक्ष्मी के प्राप्त करने की इच्छा है वा उत्तम मकान पाने की इच्छा है अथवा यदि तुम सुख चाहते हो तथा उत्तम रूप के मिलने की इच्छा करते हो और समस्त जगत के प्रिय बनना चाहते हो अथवा जहां पर सदा अविनाशी सुख की राशि मौजूद है ऐसे उत्तम मोक्ष रूपी स्थान को चाहते हो तो तुम नाना प्रकार के दुःखों को देने वाले आपत्तियों के दूर करने वाले जिन भगवानकर बताये हुए धर्म में ही अपनी बुद्धि को स्थिर करो (धर्म का ही आराधन करो)।

भावार्थ—सर्व संपदा तथा सुख का देने वाला तथा समस्त आपदा तथा दुःखों को दूर करने वाला एक सच्चा धर्म ही है इस लिये भव्य जीवों को दृढ़ता से इसी को धारण करना चाहिये ॥१८६॥

और भी आचार्य धर्म की महिमा दिखाते हैं।

संछन्नं कमलैर्मरावपि सरः सौधं वनेष्वन्नतं
कामिन्यो गिरिमस्तकेऽपि सरसाः साराणि रत्नानि च
जायन्तेऽपिचलेपकाष्ठघटिताः सिद्धिप्रदा देवताः
धर्मश्चेदिह वाञ्छितं तनुभृतां किंकिं न सम्पद्यते ॥१८७॥

अर्थ—यद्यपि मरुदेश निर्जल कहा जाता है परन्तु धर्म के प्रभाव से मारवाड़ में भी मनोहर कमलोंकर सहित तालाब हो जाते है और वन में मकान आदि कुछ भी नहीं होते परन्तु धर्म के प्रताप से वहां पर भी विशाल घर बन जाते है उस ही प्रकार यद्यपि निर्जन पहाड़ में किसी भी मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति नहीं होती तो भी धर्मात्मा पुरुषों को धर्म की कृपा से वहां पर भी मन को हरण करने वाली स्त्रियों की तथा उत्तम २ रत्नों की प्राप्ति हो जाती है और यद्यपि चित्राम के तथा काठ के बने हुए देवता कुछ भी नहीं दे सकते तो भी धर्म के माहात्मा से वे भी वांछित पदार्थों को देने वाले हो जाते है विशेष कहांतक

कहा जाय यदि संसार में धर्म है तो जीवों को कठिन से कठिन वस्तु की प्राप्ति भी बात की बात में हो जाती है इसलिये भव्य जीवों को सदा धर्म का ही आराधन करना चाहिये।

और भी आचार्य पुण्य की महिमा को दिखाते हैं।

वसंततिलका।

दूरादभीष्टमभिगच्छतिपुण्ययोगात्
पुण्याद्विना करतलस्थमपि प्रयाति।
अन्यत् परं प्रभवतीह निमित्तमात्रं
पात्रं बुधा भवत निर्मलपुण्यराशे ॥१८८॥

अर्थ—पुण्य के उदय से दूर रही हुई भी वस्तु अपने आप आकर प्राप्त हो जाती है किंतु जब पुण्य का उदय नहीं रहता तब हाथ में रक्खी हुई भी वस्तु नष्ट हो जाती है यदि पुण्य पाप से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ सुख दुःख का देने वाला है तो एक निमित्त मात्र है अर्थात् पुण्य पाप ही सुख दुख का देने वाला है इसलिये ग्रन्थकार कहते हैं कि भव्य जीवों को चाहिये कि वे निर्मल पुण्य के पात्र बनें।

भावार्थ—संसार में यह बात बहुधा सुनने में आती है कि वह मनुष्य तथा वह देव मुझे सुख का देने वाला है तथा मेरा भला करने वाला है और वह मनुष्य मुझे दुःख का देनें वाला हैं तथा मेरा बुरा करने वाला है आचार्य कहते हैं कि यह सब कहना व्यर्थ ही है क्योंकि सुख तथा दुःख देने वाला अथवा भला बुरा करने वाला एक पुण्य तथा पाप ही है इसलिये यदि तुम सुख की इच्छा करते हो अथवा अपना भला चाहते हो तो तुमको विशेष रीति से पुण्य का आराधन करना चाहिये ॥१८८॥

और भी पुण्य की महिमा का वर्णन करते हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित।

कोप्यंधोऽपि सुलोचनोऽपि जरसा ग्रस्तोऽपि लावण्यवान्
निष्प्राणोऽपि हरिर्विरूपतनुरप्याघुष्यते मन्मथः।

उद्योगोज्झितचेष्टितोऽपि नितरामालिङ्गयते च श्रिया
पुण्यादन्यदपि प्रशस्तमखिलं जायेत यद् दुर्घटम् ॥१८९॥

अर्थ—पुण्य के उदय से अन्धा भी सुलोचन कहलाता है तथा पुण्य के ही उदय से रोगी भी रूपवान कहलाता है और निर्बल भी पुण्य के उदय से सिंह के समान पराक्रमी कहा जाता है तथा पुण्य के ही उदय से बदसूरत भी कामदेव के समान सुन्दर कहा जाता है तथा पुण्य के ही उदय से आलसी को भी लक्ष्मी अपने आप आकर वर लेती है विशेष कहां तक कहा जाय जो उत्तम से उत्तम वस्तु संसार में दुर्लभ कही जाती हैं वे भी पुण्य के ही उदय से सब सुलभ हो जातीं हैं अर्थात् ये विना परिश्रम के ही प्राप्त हो जातीं हैं इसलिये भव्य जीवों को सदा पुण्य का ही आराधन करना चाहिये ॥१८९॥

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि जो मनुष्य पुण्यरहित हैं
उनको पाप के उदय से क्या क्या दुःख भोगने पड़ते हैं।

वंधस्कन्धसमाश्रितं सृणिभिदामारोहकाणामर-
पृष्ठेभारसमर्प्पणं कृतवतां संचालनं ताड़नम्।
दुर्वाचं वदतामपि प्रतिदिनं सर्वं सहन्ते गजा
निर्धाम्नां वलिनोऽपि यत्तदखिलं दुष्टो विधिश्चेष्टते ॥१९०॥

अर्थ—यद्यपि महावत की अपेक्षा हाथी बलवान होते हैं तो भी महावत उनको बांधते हैं तथा उनके ऊपर चढ़ते है और उनमें अंकुश भी मारते हैं तथा उनकी पींठ पर वोझा भी लादते हैं और उनको अपनी इच्छानुसार चलाते हैं तथा और भी तारणा करते हैं और पर नीच पुरुष प्रतिदिन उनको गाली भी देते हैं और उन हाथियों को ये सब बातें सहनभी करनी पड़तीं हैं इस ही प्रकार उत्तम पुरुषों भी अपना प्रभाव डालते हैं इसलिये आचार्य कहते हैं यह समस्त चेष्टायें दुष्ट कर्म की हैं अर्थात् पापके द्वारा ही सब बातें होती हैं इसलिये भव्यों को चाहिये कि वे सदा पुण्यका ही उपार्जन करे तथा पाप का नाश करें ॥१९०॥

आचार्य और भी धर्म की महिमा का वर्णन करते हैं।

सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पदामायते
सम्पद्येत रसायनं विषमपि प्रीतिं विधत्ते रिपुः
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनसः किं वा वहु ब्रूमहे
धर्मो यस्य नभोऽपि तस्यसततं रत्नैः परैर्वर्षति ॥१६१॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्मात्मा हैं उनके धर्म के प्रभाव से भयंकर सर्प भी मनोहर हार बन जाते हैं तथा पैनी तलावर भी उत्तम फूलों की माला बन जाती है और धर्म के प्रभावसे ही प्राण घातक विषभी उत्तम रसायन बन जाता है तथा धर्म के ही माहात्म्य से वैरी भी प्रीति करने लग जाता है और प्रसन्न चित्त होकर देव धर्मात्मा पुरुष के आधीन हो जाते हैं ग्रन्थकार कहते हैं कि विशेष कहांतक कहा जाय जिस मनुष्यके हृदयमें धर्म है अर्थात् जो मनुष्य धर्मात्मा हैं उनके धर्म के प्रभावसे आकाश से भी उत्तम रत्नों की वर्षा होती है इसलिये भव्य जीवों को धर्मसे कदापि विमुख नहीं होना चाहिये ॥१६१॥

धर्म की महिमा का और भी वर्णन किया जाता है।

उग्रग्रीष्मरविप्रताप दहन ज्वालाभितप्तश्चलन्
यः पित्तप्रकृतिर्मरौ मृदुतरः पान्थो यथा पीड़ितः।
तद्राग्लब्धहिमाद्रिकुञ्जरचितप्रोद्दामयन्त्रोल्लसत्
धारावेश्मसमो हि संसृतिपथे धर्म्मो भवेद्देहिनाम् ॥१६२॥

अर्थ—जो बटोही ग्रीष्म कालमें भयंकर सूर्यकी संतापरूपी अग्निकी ज्वालाओं से अत्यन्त तप्तायमान है और पित्त प्रकृतिवाला है तथा कोमल शरीर का धारी है और मारवाड़की भूमिमें गमन करने वाला है अतएव जो अन्यंत दुःखित है यदि वह दैवयोग से हिमालय पर्वतकी गुफामें बनेहुये फुव्वारों सहित मनोहर धारागृह (फव्वारों सहित घर) को पावे तो वह परम सुखी होता है उसही प्रकार जो जीव अनादि काल से इस संसार में जन्ममरण आदि दुःखों को सहता है तथा निरन्तर नरकादि योनियों में भ्रमता है यदि वहभी धारागृह के समान इस धर्म को संसार में पा लेवे तो सुखी हो जाता है अर्थात् शान्ति का अनुभव करने लग जाता है इसलिये जो मनुष्य शान्ति को चाहने वाले हैं उनको अवश्य धर्म का ही आराधन करना चाहिये ॥१६२॥

आचार्य और भी धर्म की महिमा का वर्णन करते हैं।

संहारोग्रसमीरसंहतिहतप्रोद्भूतनीरोल्लसत्
तुङ्गोर्मिभ्रमितोरुनक्रमकरग्राहादिभिर्भीषणे।
अम्भोधौ विवुधोग्रवाड़वशिखिज्वालाकराले पतन्
जन्तोःखेऽपिविमानमाशु कुरुते धर्मः समालम्बनम् ॥॥१६३॥

अर्थ—जो समुद्र प्रलयकालमें उठा हुआ जो भयंकर पवनकासमूह उससे उछलता हुआ जो जल उसकी जो ऊंची २ तरङ्गे उनमें भ्रमण करते हुवे जो नाके मगर मच्छ आदि जलजीव उनसे भंयकर हो रहा है तथा जो तीक्ष्णवड़वानलकी ज्वालासे भी भंयकर है ऐसे समुद्र में गिरते हुवे प्राणी को धर्म नहीं गिरने देता है तथा आकाश में भी विमान रचकर शीघ्र ही अवलंबन देता है।

भावार्थ—मनुष्यपरकैसी भी विपत्ति क्यों न आई होवे यदि वह धर्मात्मा है तो उसको धर्म के प्रभावसे सब विपत्ति पलभरमें दूर हो जाती है इसलिये जो मनुष्य दुःखों से छूटना चाहते हैं उनको सदा धर्म का आराधन करना चाहिये॥ १६३ ॥

और भी धर्म की महिमा को कहते हैं।

स्रग्धरा

उह्यन्तेतेशिरोभिःसुरपतिभिरपिस्तूयमानाःसुरौघै-
र्गीयन्ते किन्नरीभिर्ललितपदलसद्गीतिभिर्भक्तिरागात्।
वंभ्रम्यन्ते च तेषांदिशिदिशिविशदाः कीर्तयः कानवास्यात्
लक्ष्मीस्तेषु प्रशस्ता विदधतिमनुजा ये सदा धर्मकेमम् ॥१६४॥

अर्थ—जो मनुष्य सदा एक धर्म को ही धारण करते हैं अर्थात् जो धर्मात्मा हैं उनको इन्द्र भी मस्तक पर धारण करते हैं तथा बड़े २ देव उनकी स्तुति करते है और .न धर्मात्मा पुरुषों के गुण बड़ी शांति से किन्नरी जातिकी देवी गाती है तथा उन धर्मात्मा पुरुषों की कीर्ति समस्त दिशाओं में फैल जाती है और उन धर्मात्मा पुरुषों को उत्तम से उत्तम लक्ष्मी की भी

प्राप्ति होती है इसलिये भव्य जीवों को ऐसा महिमा युक्त धर्म अवश्य धारण करने योग्य है ॥१६४॥

आचार्य और भी धर्म की महिमा दिखाते हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित।

धर्मः श्रीवशमन्त्र एष परमो धर्मश्चकल्पद्रुमो
धर्मः कामगवीप्सितप्रदमणिर्धर्मः परं दैवतम्।
धर्मः सौख्यपरं परामृतनदीसम्भूतिसत्पर्वतो
धर्मो भ्रातरुपास्यतां किमपरैःक्षुद्रैरसत्कल्पनैः ॥१६५॥

अर्थ—समस्त प्रकार की लक्ष्मी को देने वाला होने के कारण यह धर्म लक्ष्मी के वश करने को मंत्र के समान है तथा यह धर्म वांछित चीजों का देने वाला कल्पवृक्ष है और धर्म ही कामधेनु है तथा धर्म ही समस्त चिंताओं को पूर्ण करने वाला चिंतामणि रत्न है और धर्म ही उत्कृष्ट देवता है और धर्म ही उत्कृष्ट सुखों की राशिरूपी जो अमृत नदी उसके उत्पन्न कराने में पर्वत के समान है अर्थात् जिस प्रकार हिमालय आदि पहाड़ों से नदियां उत्पन्न होती हैं उस ही प्रकार धर्म से भी सुखों की परंपरा रूप नदी की उत्पत्ति होती है (सुख मिलता है) इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि अरे भाइयो व्यर्थ नीच कल्पनाओं को करके क्या? केवल धर्म ही का सेवन करो जिससे तुम्हारे सर्वकार्य सिद्ध हो जावें ॥१६५॥

और भी आचार्य धर्म की महिमा वर्णन करते है।

आस्तामस्यविधानतः पथि गतिर्धर्मस्य वार्तापि यैः
श्रुत्वा चेतसि धार्यते त्रिभुवनेतेषां न काः सम्पदः।
दूरे सज्जलपानमज्जनसुखं शीतैः सुधामारुतैः
प्राप्तं पद्मरजः सुगन्धिभिरपि श्रान्तं जनं मोदयेत् ॥१६६॥

अर्थ—धर्म के मार्ग में विधि पूर्वक गमन करना तो दूर रहो किंतु जो धर्म की बातों के प्रेमी मनुष्य केवल उसको सुनकर धारण कर लेते हैं उनके भी तीन लोक में समस्त संपदाओं की

प्राप्ति होती है जिस प्रकार शीतल जल के पीने का सुख तथा स्नान करने का सुख तो दूर ही रहो अर्थात् उससे तो शान्ति होती ही है किंतु जो तालाब की वायु कमलों की रजकर सुगन्धित हो रही है तथा शीतल है उससे उत्पन्न हुवा जो सुख वह भी थके हुवे मनुष्य को शान्त कर देता है इसलिये भव्य जीवों को सदा धर्म का ही आश्रय लेना चाहिये ॥१९६॥

अब आचार्य अंत मंगल में अपने गुरु का स्मरण करते है।

वसंततिलका।

यत्पादपङ्कजरजोभिरपि प्रणामात्
लग्नैः शिरस्यमलवोधकलावतारः।
भव्यात्मनां भवति तत्क्षणमेव मोक्षं
स श्रीगुरुर्दिशतु मे मुनि "वीरनन्दी" ॥१९७॥

अर्थ—जिन वीरनंदी गुरु के प्रणाम पूर्वक मस्तक में लगाये हुवे चरण कमलों के रज से ही भव्य जीवों को बात की बात में निर्मल ज्ञान की प्राप्ति होती है वे श्री वीरनन्दी मुनि मेरे गुरु मुझे मोक्ष देवें ॥१९७॥

भावार्थ—उत्तम गुरु ही मोक्ष दे सकते हैं इसलिये ग्रन्थकार ने वीरनन्दी मुनि से ही मोक्ष की याचना की है।

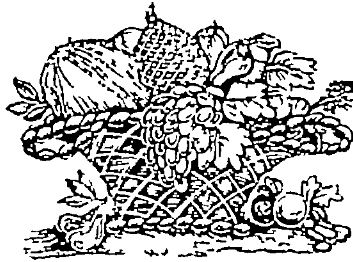
अधिकार को समाप्त करते हुवे आचार्य और भी उपदेश देते हैं।

दत्तानन्दमपारसंसृतिपथश्रान्तश्रमच्छेदकृत्
प्रायो दुर्लभमत्रकर्णपुटकैर्भव्यात्मभिः पीयताम्।
निर्यातं मुनिपद्मनन्दिवदनप्रालेयरश्मेः परं
स्तोकं यद्यपि सारताधिकमिदं धर्मोपदेशामृतम् ॥ १९८ ॥

अर्थ—जो धर्मोपदेश रूपी अमृत पीने पर उत्तम आनंद का देने वाला है और जो संसाररूपी जो अपारमार्ग उसमें थके हुवे जो प्राणी उनकी थकावट का दूर करने वाला है तथा जो पुण्यहीन पुरुषों को अत्यन्त दुर्लभ है और जो पद्मनन्दि मुनि के मुखचन्द्रमा से निकला

हुवा है " अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा से अमृत निकलता है उस ही प्रकार पद्मनन्दि मुनि के मुख चन्द्र से भी धर्मोपदेश रूपी अमृत निकला है " यद्यपि वह धर्मोपदेशामृत शब्दों से थोड़ा वर्णन किया गया है तो भी सार से अधिक है ऐसा वह धर्मोपदेशामृत भव्यों को अवश्य पीना चाहिये ॥ १९८ ॥

इस प्रकार पद्मनन्दि आचार्यकृत पद्मनन्दि नामक ग्रन्थ में धर्मोपदेशामृत नामा प्रथम अधिकार समाप्त हुवा ।



अब आचार्य दान के अधिकार को प्रारंभ करते हुवे मंगलाचरण करते हैं।

वसंत तिलका।

जीयाज्जिनो जगति नाभिनरेन्द्रसूनुः
श्रेयो नृपश्च कुरुगोत्रगृहप्रदीपः।
याभ्यां वभूवतुरिह व्रतदानतीर्थे
सारक्रमे परमधर्मरथस्य चक्रे ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीनाभि राजा के पुत्र श्री वृषभ भगवान् सदा इसलोक में जयवंत रहो तथा कुरुगोत्र रूपी घर के प्रकाश करने वाले श्री श्रेयान्स राजा भी इसलोक में सदा जयवंत रहो जिन दोनों महात्माओं की कृपा से उत्कृष्ट धर्मरूपी रथ के चक्रस्वरूप "अर्थात् परम धर्मरूपी रथ के चलाने वाले" तथा सार कर्म कर सहित व्रततीर्थ तथा दान तीर्थ की उत्पत्ति हुई है॥

भावार्थ—चतुर्थ कालकी आदि में सबसे पहिले व्रततीर्थ की प्रवृत्ति श्री ऋषभ देवने की थी इसलिये व्रततीर्थ के प्रकट करने में सबसे मुख्य श्री ऋषभ भगवान हैं तथा सबसे पहिले चतुर्थकाल में दान की प्रवृत्ति करने वाले श्री श्रेयान्स नामक राजा हैं क्योंकि सबसे पहिले उन्होंने ही श्री ऋषभ देव भगवान को इक्षु आहार (दान) दिया था इसलिये दान के अधिकार में इन दोनों महात्माओं के नाम का स्मरण किया गया है॥१॥

श्रेयोऽभिधस्य नृपतेः शरदभ्रशुभ्र
भ्राम्यद्यशोभृतजगत्त्रितयस्य तस्य॥
किंवर्णयामि ननु सद्मनि यस्य भुक्तं
त्रैलोक्यवंदितपदेन जिनेश्वरेण॥ २ ॥

अर्थ—शरदकाल के मेघ के समान जो उज्वल भ्रमण करता हुआ यश उससे जिसने तीनों जगत को पूर्ण कर दिया है अर्थात् जिसका उज्वलयश तीनों लोकों में फैला हुआ है ऐसे श्री श्रेयांस नामक राजा की (ग्रन्थकार कहते हैं कि) हम क्या प्रशंसा करें जिस श्रेयान्स राजा के घर में तीनलोक के पूजनीक श्रीऋषभदेव भगवान ने आहार लिया था॥ २॥

आचार्य और भी श्रेयांस राजा की प्रशंसा करते हैं।

श्रेयान् नृपो जयति यस्य गृहे तदा खा-
देकाद्यवन्द्यमुनिपुंगवपारणायाम् ॥
सा रत्नवृष्टिरभवज्जगदेकचित्र
हेतुर्यया वसुमतित्वमिता धरित्री ॥ ३ ॥

अर्थ—वह श्रेयांस नामक राजा सदा जयवंत रहो जिस श्रेयांस राजा के घर में तीन लाक के बंदनीक श्री ऋषभदेव की पारणा के समय वह तीन लोक के आश्चर्य करने वाली रत्नों की वर्षा होती हुई कि जिस वर्षा से यह पृथ्वी साक्षात् वसुमति नामक को धारण करती हुई।

भावार्थ—वसु का अर्थ द्रव्य होता है तथा जो वसुको धारण करने वाली होवे उसको वसुमती कहते हैं सो पहले तो इस पृथ्वी का नाम नाममात्र वसुमती था परन्तु श्रेयांस राजा के घर में श्री ऋषभदेव की पारणा के समय से साक्षात् इसका नाम वसुमती हुआ है ऐसा अनुपम पुण्य सहित श्री श्रेयांस राजा सदा जयवंत रहो ॥३॥

अब आचार्य दान के उपदेश की इच्छा करते हुए कहते हैं।

प्राप्तेऽपि दुर्लभतरेऽपि मनुष्यभावे
स्वप्नेन्द्रजालसदृशेऽपि हि जीवितादौ ॥
ये लोभकूपकुहरे पतिताः प्रवक्ष्ये
कारुण्यतः खलु तदुद्धरणाय किञ्चित् ॥४॥

अर्थ—अत्यंत दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर तथा स्वप्न के समान और इन्द्रजाल के समान जीवन यौवन आदि के होने पर भी जो मनुष्य लोभ रूपी कूवे में गिरे हुवे हैं उनके उद्धार के लिये आचार्य कहते हैं कि मैं दयाभाव से कुछ कहूंगा ॥४॥

अब आचार्य दान का उपदेश देते है।

वसंततिलका।

कान्तात्मजद्रविणमुख्यपदार्थसार्थ
प्रोत्थातिघोरघनमोहमहासमुद्रे ।

पोतायते गृहिणि सर्वगुणाधिकत्वात्
दानं परं परमसात्विकभावयुक्तम् ॥५॥

अर्थ—स्त्री पुत्र धन आदिक जो मुख्य पदार्थों का समूह उससे उठा हुवा जो अत्यंत घोर तथा प्रचुर मोह उसके विशाल समुद्र स्वरूप इस गृहस्थाश्रम से पार होने के लिये परम सात्विक भाव से दिया हुवा तथा सर्वगुणों में अधिक ऐसा उत्कृष्ट दान ही जहाज स्वरूप है ॥

भावार्थ—गृहस्थावस्था में धन कुटुम्बादिक से अधिक मोह रहता है इसलिये गृहस्थपना केवल संसार में डुबाने वाला है परन्तु उस गृहस्थपने में दान दिया जावे तो वह दिया हुआ दान मनुष्यों को संसार रूपी समुद्र में नहीं डूबने देता है इसलिये भव्य जीवों को सर्वगुणों में उत्कृष्ट दान देकर गृहस्थाश्रम को अवश्य सफल करना चाहिये ॥५॥

और भी आचार्य दान की महिमा को दिखाते हैं।

नानाजनाश्रितपरिग्रहसम्भृतायाः
सत्पात्रदानविधिरेव गृहस्थतायाः ।
हेतुः परः शुभगतेर्विषमे भवेऽस्मिन्
नावः समुद्र इव कर्मठकर्णधारः ॥६॥

अर्थ—जिसका खेवटिया चतुर है ऐसी अथाह समुद्र में पड़ी हुई भी नाव जिस प्रकार मनुष्य को तत्काल में पार कर देती है उस ही प्रकार इस भयंकर संसार में स्त्री पुत्र आदि नाना जनों के आधीन जो परिग्रह उसकरके सहित इस गृहस्थपने में रहे हुये मनुष्य के लिये श्रेष्ठ पात्र में दी हुई दानविधि ही शुभ गति को देने वाली होती है इसलिये भव्य जीवों को गृहस्थाश्रम में रहकर अवश्य दान देना चाहिये ॥५॥

पाया हुवा दान करने से ही सफल होता है ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं।

आयासकोटिभिरुपार्जितमङ्गजेभ्यो
यज्जीवितादपि निजाद्दयितं जनानाम् ।

आचार्य और भी श्रेयांस राजा की प्रशंसा करते हैं।

श्रेयान् नृपो जयति यस्य गृहे तदा त्वा-
देकाद्यवन्द्यमुनिपुंगवपारणायाम् ॥
सा रत्नवृष्टिरभवज्जगदेकचित्र
हेतुर्यया वसुमतित्वमिता धरित्री ॥ ३ ॥

अर्थ—वह श्रेयांस नामक राजा सदा जयवंत रहो जिस श्रेयांस राजा के घर में तीन लोक के वंदनीक श्री ऋषभदेव की पारणा के समय वह तीन लोक के आश्चर्य करने वाली रत्नों की वर्षा होती हुई कि जिस वर्षा से यह पृथ्वी साक्षात् वसुमति नामक को धारण करती हुई।

भावार्थ—वसु का अर्थ द्रव्य होता है तथा जो वसुको धारण करने वाली होवे उसको वसुमती कहते हैं सो पहले तो इस पृथ्वी का नाम नाममात्र वसुमती था परन्तु श्रेयांस राजा के घर में श्री ऋषभदेव की पारणा के समय से साक्षात् इसका नाम वसुमती हुआ है ऐसा अनुपम पुण्य सहित श्री श्रेयांस राजा सदा जयवंत रहो ॥३॥

अब आचार्य दान के उपदेश की इच्छा करते हुए कहते हैं।

प्राप्तेऽपि दुर्लभतरेऽपि मनुष्यभावे
स्वप्नेन्द्रजालसदृशेऽपि हि जीवितादौ ॥
ये लोभकूपकुहरे पतिताः प्रवक्ष्ये
कारुण्यतः खलु तदुद्धरणाय किञ्चित् ॥४॥

अर्थ—अत्यंत दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर तथा स्वप्न के समान और इन्द्रजाल के समान जीवन यौवन आदि के होने पर भी जो मनुष्य लोभ रूपी कूवे में गिरे हुवे हैं उनके उद्धार के लिये आचार्य कहते है कि मैं दयाभाव से कुछ कहूंगा ॥४॥

अब आचार्य दान का उपदेश देते हैं।

वसंततिलका।

कान्तात्मजद्रविणमुख्यपदार्थसार्थ
प्रोत्थातिघोरघनमोहमहासमुद्रे ।

पोतायते गृहिणि सर्वगुणाधिकत्वात्
दानं परं परमसात्विकभावयुक्तम् ।।५।।

अर्थ—स्त्री पुत्र धन आदिक जो मुख्य पदार्थों का समूह उससे उठा हुवा जो अत्यंत घोर तथा प्रचुर मोह उसके विशाल समुद्र स्वरूप इस गृहस्थाश्रम से पार होने के लिये परम सात्विक भाव से दिया हुवा तथा सर्वगुणों में अधिक ऐसा उत्कृष्ट दान ही जहाज स्वरूप है ॥

भावार्थ—गृहस्थावस्था में धन कुटुम्बादिक से अधिक मोह रहता है इसलिये गृहस्थपना केवल संसार में डुबाने वाला है परन्तु उस गृहस्थपने में दान दिया जावे तो वह दिया हुआ दान मनुष्यों को संसार रूपी समुद्र में नहीं डूबने देता है इसलिये भव्य जीवों को सर्वगुणों में उत्कृष्ट दान देकर गृहस्थाश्रम को अवश्य सफल करना चाहिये ।।५।।

और भी आचार्य दान की महिमा को दिखाते हैं।

नानाजनाश्रितपरिग्रहसम्भृतायाः
सत्पात्रदानविधिरेव गृहस्थतायाः ।
हेतुः परः शुभगतेर्विषमे भवेऽस्मिन्
नावः समुद्र इव कर्मठकर्णधारः ।।६।।

अर्थ—जिसका खेवटिया चतुर है ऐसी अथाह समुद्र में पड़ी हुई भी नाव जिस प्रकार मनुष्य को तत्काल में पार कर देती है उस ही प्रकार इस भयंकर संसार में स्त्री पुत्र आदि नाना जनों के आधीन जो परिग्रह उसकरके सहित इस गृहस्थपने में रहे हुये मनुष्य के लिये श्रेष्ठ पात्र में दी हुई दानविधि ही शुभ गति को देने वाली होती है इसलिये भव्य जीवों को गृहस्थाश्रम में रहकर अवश्य दान देना चाहिये ।।५।।

पाया हुवा दान करने से ही सफल होता है ऐसा आचार्य उपदेश देते हैं।

आयासकोटिभिरुपार्जितमङ्गजेभ्यो
यज्जीवितादपि निजाद्दयितं जनानाम् ।

वित्तस्य तस्य सुगतिः खलु दानमेक-
मन्या विपत्तय इति प्रवदन्ति सन्तः ॥ ७ ॥

अर्थ—नाना प्रकार के दुःखों से जो धन पैदा किया गया है तथा जो पुत्रों से तथा अपने जीवन से भी मनुष्यों को प्यारा है उस धन की यदि अच्छी गति है तो केवल दान ही है अर्थात् वह धन दान से ही सफल होता है किन्तु दान के अतिरिक्त दिया हुवा वह धन विपत्ति का ही कारण है ऐसा सज्जन पुरुष कहते हैं इसलिये भव्यजीवों को अपना कमाया हुवा धन दान में ही खर्च करना चाहिये ॥ ७ ॥

वसंत तिलका।

भुक्त्यादिभिः प्रतिदिनं गृहिणो न सम्यङ्
नष्टा रमामि पुनरेति कदाचिदत्र।
सत्पात्रदानविधिना तु गताप्युदेति
क्षेत्रस्य वीजमिव कोटिगुणं वटस्य॥८॥

अर्थ—ग्रहस्थ के जिस लक्ष्मीका भोगादिसे नाश होता है वह लक्ष्मी कदापि लौटकर नहीं आती परन्तु जो लक्ष्मी मुनि आदिक उत्तम पात्रों के दानदेने में खर्च होती है वह लक्ष्मी भूमि में स्थित वट वृक्ष के बीज के समान कोटि गुणी होती है अर्थात् जो मनुष्य लक्ष्मी पाकर निरभिमान होकर दान देते हैं वे इन्द्रादि संपदाओं का भोग करते है इसलिये यदि मनुष्य की वृद्धि की आकांक्षा है तो इसको अवश्य मुनि आदि पात्रोंको दान देना चाहिये ॥ ८ ॥

अब आचार्य गृहस्थ की महिमा का वर्णन करते हैं।

यो दत्तवानिह मुमुक्षजनाय भुक्ति
भक्त्याश्रितः शिवपथेन धृतः स एव।
आत्मापि तेन विदधत्सुरसद्म नून
मुच्चैः पदं व्रजति तत्सहितोऽपि शिल्पी ॥९॥

अर्थ—जिस प्रकार कारीगर जैसा २ ऊंचा मकान बनाता जाता है उतना २ आप भी ऊंचा होता चला जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य मोक्ष की इच्छा करने वाले मनुष्य को भक्ति पूर्वक आहार दान देता है वह उस मुनिको ही मुक्ति को नहीं पहुंचाता किंतु स्वयं भी जाता है इसलिये ऐसा स्वपरहितकारी दान मनुष्यों को अवश्य देना चाहिये ॥ ९ ॥

और भी आचार्य दान की महिमा का वर्णन करते हैं।

यः शाकपिण्डमपि भक्तिरसानुविद्ध-
बुद्धिः प्रयच्छति जनो मुनिपुंगवाय।
सः स्यादनन्तफलभागथ बीजमुप्तं
क्षेत्रे न किं भवति भूरिकृषीवलस्य ॥ १० ॥

अर्थ—उसी प्रकार जो श्रावक भक्तिपूर्वक मुनि को शाक पिण्डका आहार देता है वह अनन्त सुखों का भोक्ता होता है जिस प्रकार किसान थोड़ा बीज बोता है उसके बीज की अपेक्षा धान्य अधिक पैदा होता है इसलिये थोड़े से बहुत की इच्छा करनेवाले श्रावकों को खूब दान देना चाहिये। ॥ ८ ॥

और भी आचार्य दान की महिमा का वर्णन करते हैं।

साक्षान्मनोवचनकायविशुद्धिशुद्धः।
पात्राय यच्छति जनो ननु भुक्तिमात्रम्
यस्तस्य संसृतिसमुत्तरणैकबीजे
पुण्ये हरिर्भवति सोऽपि कृताभिलाषः ॥ ११ ॥

अर्थ—जो मनुष्य भलीभांति मनवचनकायको शुद्धकर उत्तम पात्र के लिये आहार दान देता है उस मनुष्य के संसार से पार करने में कारण भूत पुण्य की नाना प्रकारकी संपत्ति का भोग करनेवाला इन्द्र भी अभिलाषा करता है इसलिये गृहस्थाश्रम में सिवाय दान के दूसरा कोई कल्यान करनेवाला नहीं अतः श्रावकों को दानकी ओर लक्ष्य देना साहिये ॥ ११ ॥

आचार्य दाताकी महिमा का वर्णन करते हैं ॥

मोक्षस्य कारणमभीष्टुतमत्र लोके
तद्धार्यते मुनिभिरङ्गबलात्तदन्नात् ।
तद्दीयते च गृहिणा गुरुभक्तिभाजा
तस्माद्धृतो गृहिजनेन विमुक्तिमार्गः ॥१२॥

अर्थ—इस संसार में मोक्ष का कारण रत्नत्रय है-तथा उस रत्न को शरीर में शक्ति होने पर मुनिगण पालते हैं और मुनियोंके शरीर में शक्ति अन्न से होती है तथा मुनियों के लिये उस अन्न को श्रावक भक्ति पूर्वक देते हैं इसलिये वास्तविक रीति से गृहस्थ ने ही मोक्ष मार्ग को धारण किया है ऐसा समझना चाहिये ॥१२॥

गृहस्थाश्रम में व्रत की अपेक्षा दान ही अधिक फल का देने वाला है इस बात को आचार्य दिखाते हैं ।

नानागृहव्यतिकरार्जितपापपुञ्जैः
खञ्जीकृतानि गृहिणो न तथा व्रतानि ।
उच्चैः फल विदधतीह यथैकदापि
प्रीत्यातिशुद्धमनसाकृतपात्रदानम् ॥१३॥

अर्थ—गृहसंबंधी नाना प्रकार के आरंभों से उपार्जन किये हुवे जो पाप उनसे असमर्थ किये हुवे ऐसे व्रत गृहस्थों को कुछ भी ऊंचे फल को नहीं दे सकते जैसा कि प्रीतिपूर्वक तथा शुद्ध मन से उत्तमादि पात्रों के लिये एक समय भी दिया हुवा दान उत्तम फल को देता है इस लिये ऊंचे फल के अभिलाषियों को सदा उत्तमादि पात्रों को दान देना चाहिये ॥१३॥

आचार्य और भी दान की महिमा वर्णन करते है ।

मूले तनुस्तदनु धावति वर्धमाना
यावच्छिवं सरिदिवानिशमासमुद्रम् ।

लक्ष्मीः सद्दृष्टिपुरुषस्य यतीन्द्रदान-
पुण्यात्पुरःसह यशोभिरतीद्धफेनैः ॥१९४॥

अर्थ—जिस पहाड़ से नदी निकलती है वहांपर यद्यपि नदी का फांट थोड़ा होता है परन्तु समुद्र पर्यंत जिस प्रकार फेन सहित वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है उस ही प्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टि के पहिले लक्ष्मी थोड़ी होती है परन्तु मुनीश्वरों के लिये दिये हुवे दान के प्रभाव से कीर्ति के साथ मोक्ष पर्यन्त वह इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्ती तीर्थंकरादि रूप कर दिन २ बढ़ती ही चली जाती है इसलिये सम्यग्दृष्टि को अवश्य दान देना चाहिये ॥१४॥

और भी आचार्य दान की महिमा का वर्णन करते हैं।

प्रायः कुतो गृहगते परमात्मबोधः
शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः।
दानात्पुनर्ननु चतुर्विधतः करस्था
सा लीलयैव कृतपात्रजनानुषङ्गात् ॥१५॥

अर्थ—जिस परमात्मा के ज्ञान से धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप चार पुरुषार्थों की सिद्धि होती है "उस परमात्मा का ज्ञान सम्यग्दृष्टि को घर में रहकर कदापि नहीं हो सकता" परन्तु उन पुरुषार्थों की सिद्धि उत्तम आदि पात्रों को आहार, औषध, अभय, शास्त्र रूप चार प्रकार के दान के देने से पल भर में हो जाती है इसलिये धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थों के अभिलाषी सम्यग्दृष्टियों को उत्तम आदि पात्रों में अवश्य दान देना चाहिये ॥१५॥

नामापि यः स्मरति मोक्षपथस्थसाधो
राशु क्षयं व्रजति तद्दुरितं समस्तम् ॥
यो भुक्तभेषजमठादिकृतोपकारः
संसारमुत्तरति सोऽत्र नरो न चित्रम् ॥१६॥

अर्थ—जो मनुष्य मोक्षार्थी साधु का नाममात्र भी स्मरण करता है उसके समस्त पाप क्षण भर में नष्ट हो जाते हैं किन्तु जो भोजन, औषधि मठ आदि बनवा कर मुनियों का उपकार

करता है वह संसार से पार हो जाता है इसमें आश्चर्य ही क्या है अर्थात् ऐसे उपकारी की तो मोक्ष होनी ही चाहिये ॥१६॥

जिन घरों में तथा जिन गृहस्थों के दान नहीं वे दोनों ही असार हैं

इस बात को आचार्य दिखाते है ॥

किं ते गृहाः किमिह ते गृहिणो नु येषा-
मन्तर्मनस्सु मुनयो न हि संचरन्ति ॥
साक्षादथ स्मृतिवशाच्चरणोदकेन
नित्यं पवित्रितधराग्रशिरःप्रदेशाः ॥१७॥

अर्थ—जिन मुनियों के चरण कमल के जल के स्पर्श से जिन घरों की भूमि पवित्र हो जाती है तथा जिन गृहस्थों के मस्तक भी पवित्र हो जाते हैं उन उत्तम मुनियों का जिन घरों में संचार नहीं है तथा जिन गृहस्थों के मन के भीतर भी जिन मुनियों का प्रवेश नहीं है वे घर तथा गृहस्थ दोनों ही विना प्रयोजन के है इसलिये गृहस्थों को उत्तम आदि पात्रों को अवश्य दान देना चाहिये जिससे मुनियों के आगमन से उनके घर पवित्र वने रहैं तथा उनका गृहस्थपना भी कार्यकारी गिना जावे ॥१७॥

अब आचार्य इस वात को दिखाते हैं कि दान के विना संपदा किसी काम की नहीं ।

देवः स किं भवति यत्र विकारभावो
धर्मः स किं न करुणाङ्गिषु यत्र मुख्याः ।
तत्किं तपो गुरुरथास्ति न यस्य बोधः
सा किं विभूतिरिह यत्र न पात्रदानम् ॥१८॥

अर्थ—वह देव कैसा ? जिस के स्त्री आदि को देख कर विकार है तथा वह धर्म किस काम का ? जिस में दया मुख्य नहीं गिनी गई है । जिस से आत्मा आदि का ज्ञान नहीं होता वह तप तथा वह गुरु किस काम का ? तथा वह संपदा भी किस काम की ? जिस के होते सन्ते उत्तम आदि पात्रों को दान न दिया जावे ॥१८॥

आचार्य दानव्रतादि से पैदा हुए धर्म की महिमा को दिखाते हैं।

किं ते गुणाः किमिह तत्सुखमस्तिलोके
सा किं विभूतिरथ या न वशं प्रयाति।
दानव्रतादिजनितो यदि मानवस्य
धर्मो जगत्त्रयवशीकरणैकमन्त्रः ॥१६॥

अर्थ—जिस मनुष्य के पास तीनों जगत को वश करने में मन्त्र स्वरूप तथा दानव्रत आदि से उत्पन्न हुआ धर्म मौजूद है उस मनुष्य के उत्तमोत्तम गुण तथा उत्तमोत्तम सुख और उत्तमोत्तम ऐश्वर्य सब अपने आप आकर वश हो जाते है इस लिये उत्तमोत्तम गुण के अभिलाषियों को दानव्रत आदि को अवश्य करना चाहिये ॥१६॥

सत्पात्रदानजनितोन्नतपुण्यराशि-
रेकत्र वा परजने नरनाथलक्ष्मीः।
आद्यात्परस्तदपि दुर्गत एव यस्मा-
दागामिकालफलदायि न तस्य किञ्चित् ॥२०॥

अर्थ—एक मनुष्य तो उत्तम पात्र दान से पैदा हुए श्रेष्ट पुण्य का संचय करता है और दूसरा राज्य लक्ष्मी का अच्छी तरह भोग करता है परन्तु उन दोनों में दूसरा राज्य लक्ष्मी का भोग करने वाला ही पुरुष दरिद्री है क्योंकि आगामिकाल में उस को किसी प्रकार की संपत्ति आदि का फल नहीं मिल सकता किन्तु पात्र दान करने वाले को तो आगामिकाल में उत्तम संपदा रूपी फलों की प्राप्ति होती है इस लिये भव्य जीवों को खूब दान देकर खूब ही पुण्य का संचय करना चाहिये ॥२०॥

दानाय यस्य न धनं न वपुर्व्रताय
नैवं श्रुतं च परमोपशमाय नित्यम्।
तज्जन्म केवलमलं मरणाय भूरि
संसारदुःखमृतिजातिनिबन्धनाय ॥२१॥

अर्थ—जिस मनुष्य का धन तो दान के लिये नहीं है तथा शरीर व्रत के लिये नहीं है और उत्तम शांति के पैदा करने के लिये शास्त्र नहीं है उस मनुष्य का जन्म संसार के जन्म मरण आदि अनेक दुःखों के भोगने का कारण जो मरण उस के लिये है।

भावार्थ—धन पाकर उत्तम पात्र आदि के लिये दान देना चाहिये तथा उत्तम शरीर पाकर अच्छी तरह व्रत उपवास आदि करना चाहिये तथा शास्त्र का अभ्यास कर क्रोधादि कषायों का उपशम करना चाहिये किन्तु जो मनुष्य ऐसा नहीं करता है उसको केवल नाना प्रकार की खोटी गतियों में भ्रमण करना पड़ता है तथा जन्म मरण आदि नाना प्रकार के दुःखों का भोग करना पड़ता है इस लिये भव्य जीवों को धन आदि का कही हुई रीति के अनुसार ही उपयोग करना चाहिये ॥२१॥

धर्मात्मा पुरुष इस बात का विचार करता है।

प्राप्ते नृजन्मनि तपः परमस्तु जन्तोः
संसार सागर समुत्तरणैकसेतुः।
माभूद्विभूतिरिह वंधनहेतुरेव
देवे गुरौ शमिनि पूजनदानहीनः ॥२२॥

अर्थ—अत्यंत दुर्लभ इस मनुष्य भव के प्राप्त होने पर मनुष्य को संसार समुद्र से पार करने के लिये पुल के समान श्रेष्ठ तप का मिलना उत्तम है परन्तु इसलोक में अर्हन्त तथा गुरु के पूजन तथा दान के उपयोग में न आने वाली तथा केवल कर्म बन्ध की ही कारण ऐसी विभूति की कोई आवश्यकता नही।

भावार्थ—मिली हुई विभूति का उपयोग यदि अर्हन्तदेव के पूजन में तथा गुरुओं के दान में होवे तो वह विभूति वंधकी कारण नहीं कही जाती परन्तु देव तथा गुरुओं के पूजन में यदि उस विभूति का उपयोग न होवे तो वह केवल वंधकी कारण होती है इसलिये विभूति को पाकर भव्यजीवों को उसका उपयोग देव तथा गुरुओं की पूजा और दान ही करना चाहिये अन्यथा उसकी अपेक्षा उत्तम तप ही मिलना श्रेष्ठ है ॥२२॥

वसंत तिलका ।

भिक्षावरा परिहृताखिलपापकारि
कार्यानुबंधविधुराश्रितचित्तवृत्तिः ।
सत्पात्रदानरहिता विततोग्रदुःख
दुर्लंध्यदुर्गतिकरीनपुनर्विभूतिः ॥२३॥

अर्थ—जिस भिक्षा के होते संते चित्त की वृत्ति समस्त प्रकार के पाप के पैदा करने वाले कार्यों के संबंध से दुःखित नहीं होती (अर्थात् पाप के करने वाले कार्यों की ओर झांकती भी नहीं) ऐसी भिक्षा तो उत्तम है किन्तु विस्तीर्ण नाना प्रकार के दुःखों से नहीं पार करने योग्य ऐसी दुर्गति की देने वाली तथा उत्तम आदि पात्रों के दान के उपयोग कर रहित विभूति की कोई आवश्यकता नहीं ।

भावार्थ—यदि मिली हुई विभूति का उपयोग उत्तमादि पात्रों के दान के लिये होवे तो वह विभूति दुर्गति की देने वाली नहीं कही जाती किन्तु यदि विपरीत में उसका उपयोग खोटे कामों में किया जावे तो वह अवश्य दुर्गति की ही देने वाली होती है तथा सत्पात्र दान रहित तथा दुर्गति की देने वाली उस विभूति की अपेक्षा भिक्षा ही उत्तम है क्योंकि भिक्षा में मनुष्य को किसी प्रकार का आरंभ आदि नहीं करना पड़ता इसलिये चित्त को किसी प्रकार का संक्लेश भी नहीं होता ॥२३॥

पूजा न चेज्जिनपतेः पदपङ्कजेषु
दानं न संयतजनाय च भक्तिपूर्वम् ।
नो दीयते किमु ततः सदवस्थतायाः
शीघ्रं जलाञ्जलिरगाधजलेप्रविश्य ॥२४॥

अर्थ—जिस गृहस्थाश्रम में जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों की पूजा नहीं है तथा भक्तिभाव से संयमीजनों के लिये दान भी नहीं दिया जाता आचार्य कहते हैं कि अत्यंत गहरे जल में प्रवेश करके उस गृहस्थाश्रम के लिये जल की अंजली देदेनी चाहिये ।

भावार्थ—विना दान पूजन के गृहस्थाश्रम किसी काम का नहीं इसलिये गृहस्थाश्रम में रहकर भव्यजीवों को अवश्य दान देना चाहिये ॥२४॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं।

कार्यं तपः परमिह भ्रमता भवाब्धौ
मानुष्यजन्मनि चिरादतिदुःखलब्धे।
सम्पद्यते न तदणुव्रतिनापि भाव्यं
जायेत चेदहरहः किल पात्रदानम् ॥२५॥

अर्थ—चिरकाल से इस संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करते हुवे प्राणियों को कष्ट से इस मनुष्यभव की प्राप्ती हुई है इसलिये इस मनुष्य जन्म में अवश्य तप करना चाहिये यदि तप न हो सके तो अणुव्रत अवश्य ही धारण करना चाहिये जिससे प्रतिदिन निश्चय से उत्तम आदि पात्रों को दान हुवा करै ॥२५॥

जिस प्रकार वटोही को तोसा (कलेवा) सुख देता है उसही प्रकार परलोक को जाने वाले मनुष्य को दान सुख देता है।

ग्रामान्तरं व्रजति यः स्वगृहाद् गृहीत्वा
पाथेय मुन्नततरं स सुखी मनुष्यः
जन्मातरं प्रविशतोऽस्य तथा व्रतेन
दानेन चार्जितशुभं सुखहेतुरेकम् ॥२६॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने घर से अच्छी तरह पाथेय (तोसा) लेकर दूसरे गांव को जाता है वह मनुष्य जिस प्रकार सुखी रहता है उसही प्रकार जो मनुष्य परलोक को गमन करता है उस मनुष्य के व्रत तथा दान से पैदा किया हुआ एक पुण्य ही सुख का कारण है इसलिये जो मनुष्य परलोक में सुख के अभिलाषी है। उनको व्रतों को धारण कर तथा दान देकर खूब पुण्य का संचय करना चाहिये ॥२६॥

आचार्य और भी दान की महिमा का वर्णन करते हैं।

यत्नः कृतोऽपि मदनार्थयशोनिमित्तं
दैवादिह व्रजति निष्फलतां कदाचित्।
संकल्पमात्रमपि दानविधौ तु पुण्यं
कुर्यादसत्यपि हि पात्रजने प्रमोदात्॥ २७॥

अर्थ—संसारमें कामभोग के लिये तथा धन के लिये अथवा यश के लिये किया हुआ प्रयत्न यद्यपि दैवयोग से किसी समय निष्फल हो जाता है परन्तु उत्तम आदि पात्रों के नहीं होते भी हर्ष पूर्वक दान देवेंगे ऐसा दान का संकल्प ही पुण्य का करने वाला होता है इसलिये ऐसे उत्तम दान का मनुष्यों को अवश्य ध्यान रखना चाहिये ॥२७॥

सद्मागते किल विपक्षजनेऽपि सन्तः
कुर्वन्ति मानमतुलं वचनाशनाद्यैः।
यत्तत्र चारुगुणरत्ननिधानभूते
पात्रे मुदा महति किं क्रियते न शिष्टैः ॥ २८॥

अर्थ—वैरी भी यदि अपने घरे आवे तो सज्जन मनुष्य मधुर २ वचनों से तथा भोजन आदि से उसका बड़ा भारी सम्मान करते हैं तो जो उत्तम सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय के धारी हैं तथा पूज्य हैं ऐसे पात्र में सज्जन हर्ष पूर्वक क्या नहीं करेंगे अर्थात् उसको अवश्य ही नवधा भक्ति से आहार देवेंगे ॥२८॥

सूनोर्मृतेरपि दिनं न सतस्तथा स्याद्-
बाधाकरं बत यथा मुनिदानशून्यम्।
दुर्वारदुष्टविधिना न कृते ह्यकार्ये
पुंसां कृते तु मनुते मतिमाननिष्टम्॥२९॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि सज्जन पुरुष को पुत्र के मरने का दिन भी उतना दुःख का देने वाला नहीं होता जितना कि मुनि के दान रहित दिन दुःख का देने वाला होता है क्योंकि

विद्वान पुरुष दुर्दैव से किये हुए विद्वानों को अपने करने योग्य दानरूपी कार्य अवश्य करना चाहिये ॥ २९ ॥

और भी दान की दृढ़ता के लिये आचार्य कहते हैं ।

ये धर्मकारणसमुल्लसिता विकल्पाः
त्यागेन ते धनयुतस्य भवन्ति सत्याः ।
स्पष्टाः शशाङ्ककिरणैरमृतं क्षरन्तः
चन्द्रोपलाः किल लभन्त इह प्रतिष्ठाम् ॥ ३० ॥

अर्थः—जिस प्रकार किसी मकान में चन्द्रकान्तमणि लगी हुई है जब तक उनके साथ चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श नहीं होता तब तक उनसे पानी नहीं झर सकता इसलिये उनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं करता किंतु जिस समय चन्द्रमा के स्पर्श होने से उनसे पानी निकलता है उस समय उनकी बड़ी भारी प्रतिष्ठा होती है उसी प्रकार धनी पुरुष के चित्त में जो जिन मंदिर बनवाना तीर्थ यात्रा करना आदि धर्म के कारण उत्पन्न होते हैं वे विना पात्र दान के सत्यभूत नहीं समझे जाते किंतु पात्रदान से ही वे सच समझे जाते हैं इसलिये गृहस्थियों को पात्रदान अवश्य देना चाहिये ॥ २८ ॥

मन्दायते य इह दानविधौ धनेऽपि
सत्यात्मनो वदति धार्मिकताञ्च यत्तत् ।
माया हृदि स्फुरति सा मनुजस्य तस्य
या जायते तडिदमुत्र सुखाचलेषु ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो मनुष्य धनके होते भी दान देने में आलस करता है तथा अपने को धर्मात्मा कहता है वह मनुष्य मायाचारी है अर्थात् उस मनुष्य के हृदय में कपट भरा हुवा है तथा उसका वह कपट दूसरे भव में उसके समस्त सुखों का नाश करने वाला है ।

भावार्थ—जो मनुष्य धमर्तमापने के कारण दान आदि नहीं देते हैं तथा अपने को माया से धर्मात्मा कहते हैं उन मनुष्यों को तिर्यंच गति में जाना पड़ता है तथा वहां पर उनको

नाना प्रकार के भूख प्यास संबंधी दुःख भोगने पड़ते है इसलिये मनुष्य को कदापि मायाचारी नहीं करनी चाहिये ॥३१॥

ग्रासस्तदर्धमपि देयमथार्धमेव
तस्यापि सन्ततमणुव्रतिना यथर्द्धिः ।
इच्छानुरूपमिह कस्य कदात्र लोके
द्रव्यं भविष्यति सदुत्तमदानहेतुः ॥३२॥

अर्थ—गृहस्थियों को अपने धन के अनुसार एकग्रास अथवा आधाग्रास वा चौथाई ग्रास अवश्य ही दान देना चाहिये क्योंकि इस संसार में उत्तम पात्रदान का कारण इच्छानुसार द्रव्य कब किसके होगा ।

भावार्थ—इच्छानुसार द्रव्य ससार में किसी को नहीं मिल सकता क्योंकि शताधिपति हजारपति होना चाहता है तथा हजारपति लक्षाधिपति करोड़पति इत्यादि रीति से इच्छा की कहीं भी समाप्ति नहीं होती इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि मैं हजारपति हूंगा तभी दान दूंगा अथवा मैं लखपति हूंगा तभी दान दूंगा किन्तु जितना धन पास में होवे उसी के अनुसार ग्रास दो ग्रास अवश्य दान देना चाहिये ।

आचार्य दान का फल दिखाते हैं ।

मिथ्यादृशोऽपि रुचिरेव मुनीन्द्रदाने
दद्यात्पशोरपि हि जन्म सुभोगभूमौ ।
कल्पाङ्घ्रिपा ददति यत्र सदेप्सितानि
सर्वाणि तत्र विदधाति न किं सुदृष्टेः ॥३३॥

अर्थ—मुनि आदि उत्तम पात्रदान में मिथ्यादृष्टि पशु की केवल की हुई रुचि (अनुमोदना) ही जब उसको उत्तम भोगभूमि आदि के सुखों को देने वाली होती है तब साक्षात् दान को देने वाले सम्यग्दृष्टि के तो वह दान क्या २ इष्ट तथा उत्तम चीजों को न देगा । अर्थात अवश्य स्वर्ग मोक्ष आदि के सुख को देगा ।

भावार्थ—दान के प्रभाव से ऐसी कोई वस्तु नहीं जो न मिल सके क्योंकि सबसे दुर्लभ मोक्ष की भी प्राप्ति जब दान से हो जाती है तब इससे भी दुःसाध्य क्या वस्तु रही इसलिये ऐसे इष्ट पदार्थों का देने वाला दान भव्य जीवों को शक्त्यनुसार अवश्य करना चाहिये ॥३३॥

दानाय यस्य न समुत्सहते मनीषा
तद्योग्यसम्पदि गृहाभिमुखे च पात्रे।
प्राप्तं खनावपि महार्घ्यतरं विहाय
रत्नं करोति विमतिस्तलभूमिभेदम् ॥३४॥

अर्थ—योग्य संपदा के होने पर भी तथा मुनि के घर आने पर भी जिस मनुष्य की बुद्धि दान देने में उत्साह नहीं करती अर्थात् जो दान देना नहीं चाहता वह मूर्ख पुरुष खानि में मिले हुवे अमूल्य रत्न को छोड़ कर व्यर्थ पाताल की भूमि को खोदता है।

भावार्थ—कोई मनुष्य रत्न के लिये जमीन खोदे तथा उस मिले हुवे रत्न को छोड़ कर और भी यदि गहरी जमीन खोदता जावे तो जिस प्रकार उसका नीचे जमीन खोदना व्यर्थ जाता है उसी प्रकार जो मनुष्य योग्य संपदा को पाकर दान नहीं देता उस मनुष्य की भी मिली हुई संपदा किसी काम की नहीं इसलिये भव्य जीवों को द्रव्यानुसार दान देने में कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥३४॥

नष्टां मणीरिव चिराज्जलधौ भवेस्मिन्-
आसाद्य चारुनरतार्थजिनेश्वराज्ञाः।
दानं न यस्य स जड़ः प्रविशेत्समुद्रं
सच्छिद्रनावमधिरुह्य गृहीतरत्नः ॥३५॥

अर्थ—चिरकाल से समुद्र में पड़ी हुई मणी के समान इस संसार में उत्तम मनुष्यत्व तथा धन और जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा को प्राप्त कर जो मनुष्य उत्तम आदि पात्रों में दान नहीं देता वह मूर्ख मनुष्य टूटी फूटी नाव पर चढ़कर तथा बहुत से रत्नों को साथ में लेकर दूसरे द्वीप में जाने के लिये समुद्र में प्रवेश करता है ऐसा समझना चाहियें।

भावार्थ—जो मनुष्य टूटी फूटी नाव पर चढ़कर तथा रत्नों को साथ लेकर समुद्र की यात्रा करेगा वह अवश्य ही रत्नों के साथ समुद्र में डूबेगा उसी प्रकार जो मनुष्य उत्तम मनुष्यत्व तथा धन और जिनेन्द्र की आज्ञा को पाकर दान नहीं करेगा वह अवश्य ही संसार में चक्र खावेगा तथा उसका वह मनुष्यत्व तथा धन और जिनेन्द्र की आज्ञा आदिक समस्त बातें व्यर्थ चली जावेंगी इसलिये जिस प्रकार समुद्र में गिरी हुई मणि की प्राप्ति होना दुर्लभ है उसी प्रकार यह मनुष्यत्व आदिक भी दुर्लभ है ऐसा जानकर खूब अच्छी तरह दान देना चाहिये जिससे मनुष्यत्व आदिक व्यर्थ न जावे तथा संसार में अधिक न घूमना पड़े ॥३५॥

यस्यास्ति नो धनवतः किल पात्रदान-
मस्मिन्परत्र च भवे यशसे सुखाय ।
अन्येन केनचिदनूनसुपुण्यभाजा
क्षिप्तः स सेवकनरो धनरक्षणाय ॥३६॥

अर्थ—जो धनी मनुष्य इस भव में कीर्ति के लिये तथा परभव में सुख के लिये उत्तम आदि पात्रों में दान नहीं देता है तो समझना चाहिये वह उस धन का मालिक नहीं है किन्तु किसी अत्यन्त पुण्यवान् पुरुष ने उस मनुष्य को उस धन की रक्षा के लिये नियुक्त किया है ।

भावार्थ—जो धन का अधिकारी होता है वह निर्भय रीति से उत्तम आदि पात्रों में धन का व्यय कर सकता है किन्तु जो मालिक न होकर रक्षक होता है वह किसी रीति से धन का व्यय नहीं करता इसलिये आचार्य कहते है कि जो धनी होकर दान न देवे तो उसे मालिक नहीं समझना चाहिये किन्तु जो उसकी मृत्यु के पीछे उस धन का मालिक होगा उस पुण्यवान का उसको धन की रक्षा करने वाला दास समझना चाहिये इसलिये विद्वानों को धन के मिलने पर उस धन के अनुसार अवश्य ही दान देना चाहिये ॥३६॥

चैत्यालये च जिनसूरिबुधार्चने च
दाने च संयतजनस्य सुदुःखिते च ।
यच्चात्मनि स्वमुपयोगि तदेव नून-
मात्मीयमन्यदिह कस्यचिदन्यपुंसः ॥३७॥

अर्थ—जो धन जिन मन्दिर के काम में लगाया जाता है तथा जिसका उपयोग जिनेन्द्र भगवान की पूजा में तथा आचार्यों की पूजा में वा अन्य विद्वानों की पूजा में होता है तथा जो संयमी जनों के दान में खर्च किया जाता है तथा जो धन दुःखितों को दिया जाता है और जो धन अपने उपयोग में आता है वह धन तो अपना समझना चाहिये किन्तु जिस धन का ऊपर कहे हुवे कामों में उपयोग न होवे उस धन को किसी और मनुष्य का धन समझना चाहिये।

भावार्थ—जो धन दान आदि कार्यों में व्यय होने के कारण तथा अपने काम में व्यय होने के कारण इस भव में तथा परभव में कीर्ति तथा सुख का देने वाला हो वह धन तो अपना समझना चाहिये किन्तु जो इससे भिन्न होवे उसको दूसरे का ही समझना चाहिये ॥२७॥

आचार्य और भी उपदेश देते हैं।

पुण्यक्षयात्क्षयमुपैति न दीयमाना
लक्ष्मीरतः कुरुत संततपात्रदानम् ।
कूपेन पश्यत जलं गृहिणः समन्ता-
दाकृष्यमाणमपि वर्धत एव नित्यम् ॥२८॥

अर्थ—हे गृहस्थो कुवासे सदा चारों तरफ से निकला हुवा भी जल जिस प्रकार निरन्तर बढ़ाता ही रहता है घटता नहीं है उसी प्रकार संयमी पात्रों के दान में व्यय की हुई लक्ष्मी सदा बढ़ती ही जाती है घटती नहीं किन्तु पुण्य के क्षय होने पर ही वह घटती है इसलिये मनुष्य को सदा संयमी पात्रों में दान देना चाहिये ॥२८॥

जो मनुष्य लोभ से दान नहीं देते उनके दोष आचार्य दिखाते हैं।

सर्वान्गुणानिह परत्र च हन्ति लोभः
सर्वस्य पूज्यजनपूजनहानिहेतुः ।
अन्यत्र तत्र विहितोऽपि हि दोषमात्र
मेकत्र जन्मनि परं प्रथयन्ति लोकाः ॥२९॥

अर्थ—जो लोग पूज्यजन जो अर्हन्त आदिक उसकी पूजा आदि में हानि का पहुंचाने वाला है वह लोभ इसभव में तथा परभव में समस्त मनुष्यों के सम्यग्यदर्शन आदि गुणों को घातता है किन्तु जो लोभ लौकिक विवाह आदि कार्यों में किया जाता है उस लोभ को तो इस जन्म में मनुष्य केवल दोष ही कहते है इसलिये मनुष्य को दान पूजन आदि में कदापि लोभ नहीं करना चाहिये ॥३९॥

जातोऽप्यजात इव स श्रियमाश्रितोऽपि
रङ्कः कलंकरहितोऽप्यगृहीतनामा ।
कम्बोरिवाश्रितमतेरपि यस्य पुंसः
शब्दः समुच्चलति नो जगति प्रकामम् ॥४०॥

अर्थ—शंख की तरह जिस मनुष्य का मृत्यु के पीछे दान से उत्पन्न हुवे यश का शब्द भली भांति संसार में नहीं फैलता वह मनुष्य पैदा हुवा भी नहीं पैदा हुवासा है तथा लक्ष्मीवान भी दरिद्री ही है तथा कलँक रहित है तो भी उसका कोई भी नाम नहीं लेता इसलिये मनुष्य को अवश्य दान देना चाहिये ॥४०॥

और भी आचार्य दान का ही उपदेश देते हैं ।

श्वापि क्षितेरपि विभुर्जठरं स्वकीयं
कर्मोपनीतविधिना विदधाति पूर्णम् ।
किंतु प्रशस्यनृभवार्थविवेकिताना-
मेतत्फलं यदिह सन्ततपात्रदानम् ॥४१॥

अर्थ—संसार में कर्मानुसार कुत्ता भी अपने पेट को भरता है तथा अपने कर्मानुकूल राजा भी अपने पेट को भरता है इसलिये पेट भरने में तो कुत्ता तथा राजा समान ही है परन्तु उत्तम नरभव पाने का तथा श्रीमान् होने का तथा उत्तम विवेक होने का केवल एक यही फल है कि निरन्तर उत्तम आदि पात्रों में दान देना इसलिये जो मनुष्य उत्तम मनुष्यपने का तथा श्रीमान् होने का और विवेकी होने का अभिमान रखता है उसको अवश्य पात्रदान देना चाहिये ॥४१॥

आयासकोटिभिरुपार्जितमङ्गजेभ्यो
यज्जीवितादपि निजाद्दयितं जनानाम् ।
वित्तस्य तस्य नियतं प्रविहाय दान-
मन्या विपत्तय इति प्रवदन्ति सन्तः ॥४२॥

अर्थ—परदेश जाना सेवा करना इत्यादि नाना प्रकार से जो धन पैदा किया गया है तथा जो मनुष्यों को अपने पुत्रों से तथा जीवन से भी प्यारा है उस धन की सफलता की एक गति दान ही है किन्तु दान को छोड़कर और कोई दूसरी गति नहीं है और सब विपत्ति ही विपत्ति है ऐसा सज्जनपुरुष कहते हैं इसलिये समस्त प्रकार के सुख का देने वाला मनुष्य को दान अवश्य करना चाहिये ॥४२॥

नार्थः पदात्पदमपि व्रजति त्वदीयो
व्यावर्तते पितृवनान्ननु वन्धुवर्गः ।
दीर्घे पथः प्रवसतो भवतः सखैकं
पुण्यं भविष्यति ततः क्रियतां तदेव ॥४३॥

अर्थ—मरते समय यह तेरा धन एक पैंड से दूसरे पैंड तक भी नहीं जाता तथा बन्धुओं का समूह श्मसानभूमि से ही लोट आता है परन्तु इस दीर्घसंसार में भ्रमण करते हुवे तुझको तेरा पुण्य ही एक मित्र होगा अर्थात् वही तेरे साथ जायगा इसलिये तुझे पुण्य का ही उपार्जन करना चाहिये ॥४३॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं ।

सौभाग्यशौर्यसुखरूपविवेकिताद्या
विद्यावपुर्धनगृहाणि कुले च जन्म ।
सम्पद्यतेऽखिलमिदं किल पात्रदानात्-
तस्मात्किमत्र सततं क्रियते न यत्नः ॥४४॥

अर्थ—सौभाग्य शूरता सुख विवेक आदिक तथा विद्या शरीर धन घर और उत्तम कुल में जन्म ये सब बातें उत्तमादि पात्र दान से होती हैं इस लिये भव्य जीवोंको सदा पात्र दान में ही प्रयत्न करना चाहिये ॥४४॥

न्यासश्च सद्मच करग्रहणञ्च सूनो, रथैंन तावदिह कारयितव्यमास्ते ।
धर्माय दानमधिकाग्रतया करिष्ये, सञ्चिंतयन्नपि गृही मृतिमेति मूढः ॥४५॥

अर्थ—मुझे धन जमीन में गाड़ना है तथा धन से मुझे मकान बनवाना है और पुत्र का विवाह करना है इतने काम करने पर यदि अधिक धन होगा तो धर्म के लिये दान करूंगा ऐसा विचार करता ही करता मूर्ख प्राणी अचानक ही मर जाता है तथा कुछ भी नहीं करने पाता इस लिये मनुष्य को धन मिलने पर सब से पहिले दान करना चाहिये तथा दान से अतिरिक्त विचार कदापि नहीं करना चाहिये ॥४५॥

अब आचार्य कृपण की निन्दा करते हैं।

किं जीवितेन कृपणस्य नरस्य लोके
निर्भोगदानधनबंधनबद्धमूर्तेः ।
तस्माद्वरं वलिभुगुन्नतभूरिवाग्भि-
र्व्याहूत काककुल एव वलिं स भुङ्क्ते ॥४६॥

अर्थ—जिस लोभी पुरुष की मूर्ति भोग तथा दान रहित धन रूपी बन्धन से बन्धी हुई है उस कृपण पुरुष का इस लोक में जीना सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि उस पुरुष की अपेक्षा वह काकही अच्छा है जो कि ऊंचे शब्द से और दूसरे बहुत से काकों को बुलाकर मिलकर भोजन करता है।

भावार्थ—कहीं पर यदि थोड़ा सा भी भोजन किसी पुरुष द्वारा डाला हुआ देख लेवे तो कौवा ऊंचे शब्द से और दूसरे बहुत से कौवों को बुलाकर भोजन करता है किन्तु लोभी योग्यधन पाकर भी न तो स्वयं खाता है न दूसरे को खवाता है और न उस धन को दान में ही व्यय करता है इस लिये लोभी मनुष्य की अपेक्षा कौवा ही उत्तम है तथा उस लोभी पुरुष का होना न होना संसार में समान है इस लिये जो मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बनाना चाहता है उस को अवश्य उत्तम आदि पात्रों में दान देना चाहिये ॥४६॥

औदार्ययुक्तजनहस्तपरम्परात
व्यावर्तनप्रसृतखेदभरातिखिन्नाः ।
अर्था गताः कृपणगेहमनन्तसौख्य
पूर्णा इवानिशमवाधमतिस्वपन्ति ॥४७॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि उदारता सहित जो मनुष्य उन के हाथों से पैदा हुआ जो भ्रमण उससे उत्पन्न हुआ जो अत्यन्त खेद उस से खिन्न होकर समस्त धन, कृपण के घर चले गये हैं तथा वहीं पर वे बाधा रहित आनन्द के साथ सोते हैं ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थ—यहां पर उत्प्रेक्षालंकार है इसलिये ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि यह स्वाभाविक बात है कि जिसको जहां पर दुःख होता है वह उस स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान में चला जाता है उसी प्रकार धन ने भी यह सोचा कि उदार मनुष्य के धरमें रहने से हमको दान आदि कार्यों में जहां तहां घूमना पड़ता है तथा व्यर्थ के घूमने में पीड़ा भोगनी पड़ती है इस लिये वह कृपण के घर में चला गया तथा वहां पर न घूमने के कारण वह आनन्द से एक जगह पर ही रहने लगा सारार्थ उदार का धन तो दान आदि कार्यों मे खर्च होता है और कृपण का एक जगह पर रक्खा ही रहता है ॥४७॥

॥ अब अचार्य पात्रों के भेद का वर्णन करते हैं ॥

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं
मध्यं व्रतेनरहितं सुदृशं जघन्यम् ।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं
युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदञ्च विद्धि ॥४८॥

अर्थ—उत्तम पात्र तो महाव्रती (मुनि) हैं तथा अणुव्रती (श्रावक) मध्यम पात्र है और व्रतरहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है तथा व्रतसहित मिथ्यादृष्टि कुपात्र है तथा अव्रती मिथ्यादृष्टि अपात्र है ऐसा जानना चाहिये ।

तेभ्यः प्रदत्तमिह दानफलं जनाना-
मेतद्विशेषणविशिष्टमदुष्टभावात् ।
अन्यादृशेऽथ हृदये तदपि स्वभावा-
दुच्चावचं भवति किं वहुभिर्वचोभिः ॥४६॥

अर्थ—निर्मलभाव से उत्तम आदि पात्रों के लिये दिया हुआ दान मनुष्यों को उत्तम आदि फल का देने वाला होता है तथा जो दान मायाचार अथवा दुष्टपरिणामों से दिया जाता है वह भी नीचे ऊंचे फल का स्वभाव से देने वाला होता है इसलिये आचार्य कहते हैं इस विषय में हम विशेष क्या कहें दान अवश्य फलका देने वाला होता है ।

भावार्थ—उत्तम पात्र को निर्मल भाव से दिया हुवा दान सम्यग्दृष्टि को तो स्वर्ग मोक्ष आदि उत्तम फल का देने वाला है तथा वही दान मिथ्या दृष्टि को भोग भूमि के सुख को देने वाला है तथा मध्यमपात्र में दिया हुवा दान सम्यग्दृष्टि को तो स्वर्ग फल का देने वाला है और मिथ्यादृष्टि को मध्यम भोगभूमि के सुख का देने वाला है तथा जघन्य पात्र में दिया हुवा दान सम्यग्दृष्टि को तो स्वर्ग फल का देने वाला है और मिथ्यादृष्टि को जघन्यभोग भूमियों के सुख का देने वाला है इस प्रकार तो पात्रदान का फल है तथा कुपात्र में दिया हुवा दान कुभोग भूमि के फलका देने वाला है और अपात्र में दिया हुआ दान व्यर्थ जाता है अथवा दुर्गति के फल का देने वाला है तथा दुष्ट परिणामों से दिया हुआ दान ऊंचे नीचे फल का देने वाला है इस प्रकार दान कुछ न कुछ फल अवश्य देता है इसलिये भव्य जीवों को तो अपने आत्महित के लिये उत्तम आदि पत्रों में निर्मल भाव से दान देना ही चाहिये ॥४६॥

॥ अब आचार्य दान के भेदों को बतलाते है ॥

वसंततिलका ।

चत्वारि यान्यभयभेषजभुक्तिशास्त्र
दानानि तानि कथितानि महाफलानि ।
नान्यानि गोकनकभूमिरथाङ्गनादि
दानानि निश्चितमवद्यकराणि यस्मात् ॥५०॥

अर्थ—अभय औषध आहार शास्त्र इस प्रकार से दान चार प्रकार है तथा वह चार प्रकार का दान तो महा फल का देने वाला कहा है परन्तु इससे भिन्न गौ सुवर्ण जमीन रथ स्त्री आदि दान महाफल का देने वाला नहीं कहा है वह निन्दा का कराने वाला ही कहा है इस लिये महाफलके अभिलाषियों को ऊपर कहा हुआ चार प्रकार का ही दान देना चाहिये ॥५०॥

॥ आचार्य और भी दान का उपदेश देते हैं ॥

यद्दीयते जिनगृहाय धरादि किञ्चित्
तत्र संस्कृतनिमित्तमिह प्ररूढ़म् ।
आस्ते ततस्तदधिदीर्घतरं हि कालं
जैनश्चशासनमतः कृतमस्ति दातुः ॥५१॥

अर्थ—जो जिन मन्दिर के बनाने के लिये अथवा सुधारने के लिये जमीन धन आदिक दिये जाते हैं उससे जिन मन्दिर अच्छा बनता है तथा उस जिनमन्दिर के प्रभाव से बहुत काल तक जिनेन्द्र का मत इस पृथ्वीमण्डल पर विराजमान रहता है इसलिये दाता ने जिनमन्दिर के लिये जमीन धन आदि देकर जैनमत का उद्धार किया ऐसा समझना चाहिये ॥५१॥

पृथ्वीवृत्त ।

दानप्रकाशनमशोभनकर्म कार्य-
कार्पण्यपूर्णहृदयाय न रोचतेऽदः ॥
दोषोज्झितं सकल लोकसुखप्रदायि
तेजोरवेरिव सदा हतकौशिकाय ॥५२॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि खोटा जो मिथ्यात्वरूपी कर्म उसका कार्य जो कृपणता उससे जिसका हृदय भरा हुआ है ऐसे कृपण पुरुष को समस्त दोषकर रहित तथा सर्वलोक को सुख का देने वाला दान का प्रकाश रूपकार्य अच्छा नहीं लगता जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश घूक (उल्लू) को अच्छा नहीं लगता है ॥५२॥

दानोपदेशनमिदं कुरुते प्रमोद
मासन्नभव्यपुरुषस्य न चेतरस्य ॥

जातिः समुल्लसति दारु न भृङ्गसङ्गा-
दिन्दीवरं हसति चन्द्रकरैर्न चाश्म ॥५३॥

अर्थ—और भी आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार भ्रमरों के संग से चमेली ही विकसित होती है लकड़ी विकसित नहीं होती तथा चन्द्रमा की किरणों से कमल ही प्रफुल्लित होता है पाषाण प्रफुल्लित नहीं होता उस ही प्रकार जिसको थोड़े ही काल में मोक्ष होने वाली है ऐसे भव्य मनुष्य को ही यह दान का उपदेश हर्षका करने वाला नहीं होता ॥५३॥

रत्नत्रयाभरणवीरमुनीन्द्रपाद
पद्मद्वयस्मरणसंजनितप्रभावः ॥
श्रीपद्मनन्दिमुनराश्रितयुग्मदान
पञ्चाशतं ललितवर्णचयं चकार ॥५४॥

अर्थ—आचार्यवर दानोपदेश रूपप्रकरण को समाप्त करते हुए कहते हैं कि रत्नत्रयरूपी भूषण से भूषित ऐसे श्रीवीरनन्दी नामकमुनि के दोनों चरण कमलों के स्मरण से उत्पन्न हुआ है उत्तम प्रभाव जिसको ऐसा श्रीपद्मनन्दी नामक मुनि उत्तमोत्तमवर्णों की रचना से ५२ श्लोकों में दान का प्रकरण समाप्त करता हुआ ॥५४॥

इति श्री पद्मनन्दिमुनि द्वारा विरचित श्री पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका नामक
ग्रन्थ में दानोपदेशनामक द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ ॥



अब आचार्य अनित्य पञ्चाशतनानक अधिकार को वर्णन करते हुए प्रथम मंगलाचरण करते हैं।

आर्या

जयति जिनो धृतिधनुषामिषुमाला भवति योगियोधानाम्
यद्वाकरुणामय्यपि मोहरिपुप्रहतये तीक्ष्णा ॥१॥

अर्थ—दयामयी भी जिस जिनेन्द्र की वाणी धैर्यरूपी धनुष को धारण करने वाले योगीरूपी योधाओं के मोहरूपी वैरीके नाश करने के लिये पैनी बाणोंकी पंक्ति के सामान है वह जिनेन्द्र इस संसार में सदा जयवन्त हैं।

भावार्थ—जो दयामय होता है वह किसी का नाश नही सकता किन्तु भगवान की वाणी में यह विचित्रता है कि दयामयी होने पर भी वह योगियों के मोह को पल भर में नाश कर देती है इसलिये ऐसी आश्चर्यकारी वाणी के धारी जिनेन्द्र सदा इस संसार में जयवन्त हैं ॥१॥

अब आचार्य मनुष्य देह का अनित्यपना दिखाते हैं।

शार्दूल विक्रीड़ित।

यद्येकत्र दिने न भुक्तिरथवा निद्रा न रात्रौ भवेत्
विद्रात्यम्बुजपत्रवद्दहनतोऽभ्याशस्थिताद्यद्ध्रुवम्।
अस्त्रव्याधिजलादितोऽपिसहसा यच्च क्षयं गच्छति
भ्रातः कात्रशरीरके स्थितिमतिर्नाशेऽस्यकोविस्मयः ॥२॥

अर्थ—यदि एक दिन खाया न जाय अथवा रात्रि में सोया न जाय तो यह शरीर पास में रही हुई अग्नि से जिस प्रकार कमल का पत्र मुरझाय जाता है उस ही प्रकार मुरझा जाता है तथा हथियार, रोग, जल, अग्नि, आदि से भी यह पल भर में नष्ट हो जाता है इसलिये आचार्य कहते हैं कि हे भाई ऐसा शरीर कब तक रहेगा ऐसा कोई निश्चय नही है अथवा यह जल्दी नष्ट होगा

इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं अतः इस शरीर में किसी प्रकार की ममता न रखकर अपना आत्मकल्याण करो ॥२॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

दुर्गन्धाशुचिधातुभित्तिकलितं सञ्छादितंचर्मण
विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद् दुःखाखुभिश्छिद्रितम् ।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जरावन्हिना
चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढ़ो जनो मन्यते ॥३॥

अर्थ—जिस देह रूपी झोंपड़ों की भीतें दुर्गन्ध और अपवित्र ऐसी मल, मूत्र आदि धातुओं की बनी हुई है तथा जो ऊपर से चाम से ढका हुवा है और विष्टा मूत्र आदि से भरा हुवा है तथा भूंख प्यास आदिक जो दुःख वेही हुवे मूंसे उन्होंने जिसमें विले वना रक्खे हैं अर्थात् जो दुःखों का भण्डार है और वृद्धावस्था रूपी अग्नि जिस के चारों ओर मौजूद है ऐसे शरीर रूपी झोंपड़े को भी मूढ़प्राणी अविनाशी तथा पवित्र मानते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥३॥

अम्भोवुद् वुदसन्निभा तनुरियं श्रीरिन्द्रजालोपमा
दुर्वाताहतवारिवाहसदृशाः कान्तार्थपुत्रादयः ।
सौख्यं वैषयिकं सदैव तरलं मत्ताङ्गनापांगवत्
तस्मादेतदुपप्लवाप्तिविषये शोकेन किं किं मुदा ॥४॥

अर्थ—शरीर तो जल के बबूलों के समान है और लक्ष्मी इन्द्र जाल के समान है तथा स्त्री, धन, पुत्र, मित्र आदिक खोटे पवन से नष्ट हुवे मेघों के समान पल भर में विनाशीक हैं और युवती स्त्री के कटाक्ष के समान चंचल यह विषय संबंधी सुख है इसलिये आचार्य कहते हैं कि इनके नाश होने पर विद्वानों को न तो शोक करना चाहिये तथा मिलने पर हर्ष भी नहीं मानना चाहिये।

भावार्थ—यह बात आवाल गोपाल प्रसिद्ध है कि जो पैदा हुवा है वह अवश्य ही नष्ट होगा फिर मनुष्य, लक्ष्मी आदि की उत्पत्ति में हर्ष मानते है तथा उसके नाश होने पर शोक

मानते हैं ऐसा उनको नहीं मानना चाहिये तथा जिस प्रकार बने उस प्रकार अपनी आत्मा का ही कल्याण करना चाहिये ।४॥

दुःखे वा समुपस्थितेऽथ मरणे शोको न कार्यो बुधैः
संबंधो यदि विग्रहेण यदयं सम्भूतिधात्र्येतयोः ।
तत्तस्मात्परिचिंतनीयमनिशं संसारदुःखप्रदो
येनास्य प्रभवः पुरः पुनरपि प्रायो न सम्भाव्यते ॥५॥

अर्थ—देह के संबंध से यद्यपि संसार में दुःख तथा शोक आकर उपस्थित होते हैं तो भी विद्वानों को किसी पदार्थ के लिये दुःख तथा शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि यह देह दुःख तथा शोक की पैदा करने वाली भूमि है इसलिये विद्वानों को निरन्तर उस आत्मस्वरूप का चिंतवन करना चाहिये जिससे भविष्यत में नाना प्रकार के संसार के दुःखों को देने वाली इस शरीर की उत्पत्ति फिर से न होवे ॥५॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

दुर्वारार्जितकर्मकारणवशादिष्टे प्रनष्टे नरे
यः शोकं कुरुते यदत्र नितरामुन्मत्तलीलायितम् ।
यस्मात्तत्र कृते न सिध्यति किमप्येतत्परं जायते
नश्यन्त्येव नरस्य मूढ़मनसो धर्मार्थकामादयः ॥६॥

अर्थ—जिस प्रकार निवारण नहीं हो सकता, तथा पूर्व भव में संचित, ऐसे कर्मरूपी कारण के वश से जो मनुष्य अपने प्रिय स्त्री, पुत्र, मित्र, आदि के नष्ट होने पर उन्मादी मनुष्य की लीला के समान इस संसार में बिना प्रयोजन का अत्यंत शोक करता है उस मूर्ख मनुष्य को उस प्रकार के व्यर्थ शोक करने से कुछ भी नहीं मिलता तथा उस मूढ़ मनुष्य के धर्म अर्थ आदि भी नाश हो जाता है इसलिये विद्वानों को इस प्रकार का शोक कदापि नहीं करना चाहिये ॥६॥

उपेंद्रवज्रा

उदेति पाताय रविर्यथा तथा शरीरमेतन्ननु सर्वदेहिनाम् ।
स्वकालमासाद्य निजेऽपि संस्थिते करोति कः शोकमतः प्रवुद्धधीः॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य, अस्त होने के लिये उदय होता है उसही प्रकार यह शरीर भी, निश्चय से नाश होने के लिये ही उत्पन्न होता है इस लिये स्वकाल के अनुसार अपने प्रिय स्त्री पुत्र आदि के मरने पर भी हिताहित के जानने वाले मनुष्य कदापि शोक नहीं करते।

भावार्थ—जो पैदा होता है वह नियम से नष्ट होता है जब स्त्री पुत्र आदि का शरीर पैदा हुआ है तो अवश्य ही नष्ट होगा आत्मा का तो नाश हो ही नहीं सकता ऐसा जान कर बुद्धिमान् पुरुष स्त्री पुत्र आदि के किये किञ्चित् भी शोक नहीं करते ॥७॥

और भी आचार्य शोक दूर करने का उपाय बताते हैं।

भवन्ति वृक्षेषु पतन्ति नूनं पत्राणि पुष्पाणि फलानि यद्वत्।
कुलेषु तद्वत्पुरुषाःकिमत्र हर्षेण शाकेन च सन्मतीनाम् ॥८॥

अर्थ—जिस प्रकार वृक्षों पर अपने अपने काल के अनुसार नाना जाति के पत्ते फूल फल उत्पन्न होते हैं तथा अपने अपने काल के अनुसार वे नष्ट भी होते हैं उसही प्रकार अपने अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य उच्च नीच आदि कुलों में जन्म लेते हैं तथा नष्ट भी होते हैं इस लिये ऐसा भली भांति समझ कर बुद्धिमानों को उनकी उत्पत्ति में हर्ष तथा नाश में शोक, कदापि नहीं करना चाहिये ॥८॥

शार्दूल विक्रीडित।

दुर्लंघ्याद्भवितव्यताव्यतिकरान्नष्टे प्रिये मानुषे
यच्छोकः क्रियते तदत्र तमसि प्रारभ्यते नर्तनम्।
सर्वं नश्वरमेव वस्तु भुवने मत्वा महत्या धिया
निर्धूताखिलदुःखसन्ततिरहो धर्मः सदा सेव्यताम् ॥९॥

अर्थ—जिसका दुःख से भी उल्लंघन नहीं हो सकता ऐसी जो भवितव्यता (दैव) उसके व्यापार से अपने प्रिय स्त्री, पुत्र, आदि के नष्ट होने पर जो मनुष्य शोक करता है वह अंधकार में नृत्य को आरंभ करता है ऐसा जान पड़ता है (अर्थात अंधकार में किये हुवे नृत्य को कोई देख नहीं सकता इस लिये जिस प्रकार अंधकार में नृत्य का आरम्भ व्यर्थ होता है उस

ही प्रकार स्त्री पुत्र आदि के लिये मनुष्य का शोक करना भी व्यर्थ है) अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्य जीवो अपने ज्ञान से संसार में सब चीजों को विनाशीक समझकर समस्त दुःखों की संतान को जड़ से उड़ाने वाले धर्म का ही सदा तुम सेवन करो ॥९॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं।

पूर्वोपार्जितकर्मणा विलिखितं यस्यावसानं यदा
तज्जायेत तदैव तस्य भविनो ज्ञात्वा तदेतद्ध्रुवम्।
शोकं मुञ्च मृते प्रियेऽपि सुखदं धर्मं कुरुष्वादरात्
सर्पे दूरमुपागते किमिति भोस्तद्घृष्टिराहन्यते ॥१०॥

अर्थ—पूर्वभव में संचित कर्म के द्वारा जिस प्राणी का अन्त जिस काल में लिख दिया गया है उस प्राणी का अन्त उसी काल में होता है ऐसा भलीभांति निश्चय करके हे भव्यजीवो तुम अपने प्रिय भी स्त्री पुत्र आदि के मरने पर शोक छोड़ दो तथा बड़े आदर से धर्म का आराधन करो क्योंकि सर्प के दूर चले जाने पर उसकी रेखा का पीटना व्यर्थ है

भावार्थ—जिस प्रकार सर्प के चले जाने पर उसकी रेखा का पीटना व्यर्थ है उसही प्रकार स्त्री पुत्र आदि के मर जाने पर उनके लिये शोक करना भी प्रयोजन का है इस लिये विद्वानों को उनके लिये कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥१०॥

ये मूर्खा भुवि तेऽपि दुःखहतये व्यापारमातन्वते
सा माभूदथवा स्वकर्मवशतस्तस्मान्न ते तादृशाः।
मूर्खान्मूर्खशिरोमणीन्ननु वयं तानेवमन्यामहे
ये"कुर्वन्ति" शुचं मृते सति निजे पापाय दुःखाय च ॥११॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि अपने कर्म के वशसे, चाहै दुःखों की निवृत्ति हो अथवा न हो तो भी जो दुःख की निवृत्ति के लिये व्यापार करते हैं यद्यपि वे भी संसारमें मूर्ख हैं तो भी हम उनको अतिमूर्ख नहीं मानते किन्तु जो अपने प्रिय स्त्री पुत्र आदिके मरने पर अथवा दुःखों की उत्पत्ति के लिये शोक करते हैं उन्हींको निश्चय से हम मूर्खशिरोमणि अर्थात् वज्रमूर्ख मानते

मानते हैं इसलिये विद्वानों को स्त्री पुत्र आदि के मरने पर कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥११॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं।

शार्दूल विक्रीडित।

किं जानासि न किं शृणोषि न न किं प्रत्यक्षमेवेक्षसे
निश्शेषं जगदिन्द्रजालसदृशं रम्भेव सारोज्झितम्।
किं शोकं कुरुषेऽत्र मानुषपशो लोकान्तरस्थे निजे
तत्किञ्चित् कुरु येन नित्यपरमानन्दास्पदं गच्छसि ॥१२॥

अर्थ—हे मूढ़ मनुष्य यह समस्त जगत इन्द्रजाल के समान अनित्य है तथा केलाके स्तम्भ के समान निस्सार है इस बात को क्या तू नहीं जानता है अथवा सुनता नहीं है वा प्रत्यक्ष देखता नहीं जो कि स्त्री पुत्र आदि के दूसरे लोक में रहने पर भी तू उनके लिये इस संसार में व्यर्थ शोक करता है कोई ऐसा काम कर जिससे तुझे अविनाशी तथा उत्तम सुख के देने वाले स्थान की प्राप्ति होवे।

भावार्थ—संसार में यदि एक भी चीज नित्य अथवा सारभूत होती तब तो शोक करना व्यर्थ न होता किन्तु संसार में तो समस्त वस्तु इन्द्रजाल और केलाके स्तम्भ के समान विनाशीक तथा निस्सार है फिर तो शोक करना सर्वथा व्यर्थ है इसलिये हे भव्यो उस प्रसिद्ध रत्नत्रयका आराधन करो जिससे तुमको मोक्ष आदि सुख की प्राप्ति बिना कष्ट किये हुये ही होवे ॥१२॥

वसंततिलका।

जातो जनो म्रियत एव दिने च मृत्योः
प्राप्ते पुनस्त्रिभुवनेऽपि न रक्षकोऽस्ति।
तद्यो मृते सति निजेऽपि शुचं करोति
पूत्कृत्य रोदिति वने विजने स मूढः ॥१३॥

अर्थ—जो मनुष्य पैदा हुवा है वह मरण के दिन अवश्य ही मरता है तथा मरते समय तीनों लोक में उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है इसलिये आचार्य कहते हैं कि जो मनुष्य अपने प्रिय स्त्री पुत्र आदि के मरने पर शोक करता है वह मनुष्य जहां पर कोई जन नहीं ऐसे वन में जाकर फुका मार २ कर रोता है ऐसा जान पड़ता है।

भावार्थ—जहां पर कोई मनुष्य नहीं एसे स्थान में रोना जिस प्रकार व्यर्थ होता है उसी प्रकार (मरने पर किसी की कोई भी रक्षा नहीं कर सकता इस वात को भली भांति जानता हुआ भी) स्त्री पुत्र आदि के लिये जो शोक करता है उसका उस प्रकार का शोक करना भी वृथा है इस लिये विद्वानों को कदापि ऐसा शोक नहीं करना चाहिये ॥१३॥

इष्टक्षयो यदिह ते यदनिष्टयोगः
पापेन तद्भवति जीव पुराकृतेन।
शोकं करोषि किमु तस्य कुरु प्रणाशं
पापस्य तौ न भवतः पुरतोऽपि येन ॥१४॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि हे जीव यह जो तेरे इष्ट स्त्री पुत्र आदि का नाश तथा अनिष्ट सर्प आदि का संवंध होता है वह पूर्वकाल में सञ्चय किये हुवे तेरे पाप के उदय से ही होता है इसलिये तू शोक क्यों करता है! उस पाप का सर्वथा नाश कर, जिससे फिर तेरे भविष्य में इष्टवियोग तथा अनिष्टसंयोग का उदय न होवे ॥१४॥

शार्दूल विक्रीडित।

नष्टे वस्तुनि शोभनेऽपि हितदा शोकःसमारभ्यते
तल्लाभोऽथ यशोऽथ सौख्यमथवा धर्मोऽथवा स्याद्यदि !
यद्येकोऽपि न जायते कथमपि स्फारैः प्रयत्नैरपि
प्रायस्तत्र सुधीर्मुधा भवति कः शोकोग्ररक्षोवशः ॥१५॥

अर्थ—प्रिय भी वस्तु के नाश होने पर शोक तब करना चाहिये जब कि उसकी प्राप्ति हो जाये अथवा शोक करने से कीर्ति फैले अथवा सुख वा धर्म हो किन्तु अनेक बड़े से बड़े प्रयत्नों

के करने पर भी उपर्युक्त वस्तुओं में से किसी भी वस्तु की प्राप्ति नहीं दीख पड़ती इसीलिये विद्वान पुरुष इष्ट वस्तु के नाश होने पर भी प्रायः कुछ भी व्यर्थ शोक नहीं करते ॥

भावार्थ—शोक करने पर यदि गई हुई वस्तु फिर से आजावे अथवा कीर्ति हो अथवा सुख तथा धर्म हो तबतो उस वस्तु के लिये शोक करना उचित है परन्तु उन में से तो एक भी बात नहीं होती फिर विद्वानों को क्यों शोक करना चाहिये ॥१५॥

वसंततिलका ।

एकद्रुमे निशि वसन्ति यथा शकुन्ताः
प्रातः प्रयान्ति सहसा सकलासु दिक्षु ।
स्थित्वा कुले बत तथान्यकुलानि मृत्वा
लोकाः श्रयन्ति विदुषा खलु शोच्यते कः ॥१६॥

अर्थ—रात्री के समय जिस प्रकार एक ही वृक्ष पर नाना देशों से आकर पक्षी निवास करते हैं तथा सवेरा होते ही शीघ्र वे जुदा २ दिशाओं में जुदे २ होकर उड़ जाते हैं उसी प्रकार बहुत से मनुष्य एक कुल में जन्म लेकर पुनः अपने कर्म के अनुसार मरकर नाना कुलों में जन्म लेते हैं ऐसी संसार की स्थिति को जानकर विद्वान लोग कदापि शोक नहीं करते ॥१६॥

शार्दूल विक्रिड़ित ।

दुःखव्यालसमाकुलं भववनं जाड्यान्धकाराश्रितं
तस्मिन्दुर्गतिपल्लिपातिकुपथैः भ्राम्यन्ति सर्वाङ्गिनः ।
तन्मध्ये गुरुवाक्यदीपममलज्ञानप्रभाभासुरं
प्राप्यालोक्य च सत्पथं सुखपदं याति प्रबुद्धो ध्रुवम् ॥१७॥

अर्थ—नाना प्रकार के दुःखरूपी सर्प और हस्तियों कर व्याप्त तथा अज्ञानरूपी अन्धकार से युक्त और नरक आदि गतिरूपी भीलों के भयंकर मार्गोंकर सहित, इस संसाररूपी वन में समस्त प्राणी भटकते फिरते हैं किंतु उन प्राणियों में चतुर मनुष्य निर्मल ज्ञानरूपी प्रभा से

देदीप्यमान ऐसे गुरुओं के वचनरूपी दीपक को पायकर तथा उस वचनरूपी दीपक के द्वारा उत्तम मार्ग को देखकर मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है॥

भावार्थ—दुःख तथा अज्ञान और खोटी गतियों कर सहित इस संसार में भटकते हुवे प्राणियों को सन्मार्ग के प्रकाश करने वाले गुरुओं के वचन ही हैं इसलिये जो मनुष्य सच्चे मार्ग को जानकर उत्तम मोक्षपद को प्राप्त करना चाहते हैं उनको गुरुओं के वचनों पर अवश्य विश्वास करना चाहिये ॥१७॥

यैव स्वकर्मकृतकालकलात्र जन्तुः
तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात्।
मूढ़ास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय
शोकं परं प्रचुरदुःखभुजो भवन्ति ॥१८॥

अर्थ—पूर्वोपार्जित अपने कर्मोंके द्वारा जो मरण का निश्चित हो गया है उसी के अनुसार प्राणी मरता है आगे पीछे नहीं मरता ऐसा जानकर भी आत्मीय मनुष्य के मरने पर अंज्ञानीजन तो भी शोक करते है तथा नाना प्रकार के दुखों को भोगते हैं ॥१८॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजा मधुलिहः पुष्पाच्च पुष्पं यथा
जीवा यान्ति भवाद्भवान्तरमिहाश्रान्तं तथा संसृतौ।
तज्जातेऽथ मृतेऽथवा न हि मुदं शोकं न कस्मिन्नपि
प्रायः प्रारभतेऽधिगम्य मतिमानस्थैर्यमित्यङ्गिनाम् ॥१९॥

अर्थ—जिस प्रकार पक्षी एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर चले जाते हैं तथा जिस प्रकार भौंरा एक फूल से दूसरे फूल पर उड़कर चले जाते है उस ही प्रकार इस संसार में अपने २ कर्म के वश से जीव निरंतर एकगति से दूसरी गति में जाते है इस प्रकार प्राणियों की अनित्यता को समझकर विद्वान् न तो प्रायः प्राणियों की उत्पत्ति में हर्ष ही मानता है और न उनके मरने पर शोक ही करता है ॥१९॥

भ्राम्यत्कालमनन्तमत्रजनने प्राप्नोति जीवो न वा
मानुष्यं यदि दुष्कुले तदघतः प्राप्तं पुनर्नश्यति ।
सज्जातावथ तत्र याति विलयं गर्भेऽपि जन्मन्यपि
द्राग्बाल्येऽपित तोऽपि नो वृष इति प्राप्ते प्रयत्नो वरः ॥२०॥

अर्थ—अनन्त काल पर्यन्त इस संसार में भ्रमण करते हुए इस जीव को मनुष्यपने की प्राप्ति होवे ही होवे ऐसा कोई निश्चय नहीं (नहीं भी होती है) दैवयोग से यदि हो भी जावे तो खोटे कुल में जन्म लेने पर फिर भी वह पाया हुआ मनुष्यपना, उस खोटे कुल में किए हुए पापों से नष्ट हो जाता है यदि श्रेष्ठ जाति में भी जन्म हो जावे तो प्रथम तो गर्भ में ही मर जाता है यदि गर्भ से बच भी जावे सो जन्मते ही मर जाता है यदि जन्मते समय भी न मरे तो बाल्य अवस्था में अवश्य ही मर जाता है इसलिये आचार्य उपदेश देते है कि धर्म के लिये ही प्रयत्न करना उत्तम है क्योंकि धर्म में ही यह शक्ति है कि वह प्राणियों को जन्म जरा आदि से छुटाता है तथा जहां पर किसी प्रकार का दुःख नहीं ऐसे मोक्ष पद में ले जाकर जीवों को धरता है ॥२०॥

स्थिरं सदपि सर्वदा भृशमुदेत्यवस्थान्तरैः
प्रतिक्षणमिदं जगज्जलदकूटवन्नश्यति ।
तदत्र भवमाश्रिते मृतिमुपागते वा जने
प्रियेऽपि किमहो मुदा किमु शुचा प्रबुद्धात्मनः ॥२१॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा यह लोक सदा विद्यमान है तो भी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा मेघों के समूह के समान यह क्षण २ में विनाशीक है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि बुद्धिमानपुरुषो इस संसार में अपने प्रिय मनुष्य के उत्पन्न होने पर क्या तो हर्ष करने में रक्खा है ? तथा प्रिय मनुष्य के मर जाने पर क्या शोक करने में रक्खा है ? अर्थात तुम्हारा हर्ष तथा शोक करना विना प्रयोजन है ॥२१॥

लंघ्यन्ते जलराशयः शिखरिणो देशास्तटिन्यो जनैः
सा वेला तु मृतेर्न पद्मचलनस्तोकापि देवैरपि ।

तत्कस्मिन्नपि संस्थिते सुखकरं श्रेयो विहाय ध्रुवं
कः सर्वत्र दुरन्तदुःखजनकं शोकं विदध्यात्सुधीः ॥२२॥

अर्थ—मनुष्य बड़े २ समुद्रों को पार कर जाते हैं तथा बड़े २ पर्वतों का तथा देशों का उलंघन कर जाते हैं और विस्तृत नदियों को भी तिरजाते हैं परन्तु मरण के समय को मनुष्यों की क्या बात देव भी निमेषमात्र के लिये भी नहीं टाल सकते हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष होगा ? जो किसी अपने प्रिय मनुष्य के मर जाने पर समस्त प्रकार के कल्याण को देने वाले उत्तम धर्म को न करके नानाप्रकार के नरकादि दुःखों को देनेवाले शोक को करेगा।

भावार्थ— बुद्धिमान पुरुष अपने प्रिय किसी स्त्री पुत्र आदि के मरने पर धर्म का ही आराधन करते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि धर्म ही दुःखों से छुटाने वाला है किन्तु नाना प्रकार के दुःखों के देनेवाले शोक की ओर झांक करके भी नहीं देखते ॥२२॥

आक्रन्दं कुरुते यदत्र जनता नष्टे निजे मानुषे
जाते यच्च मुदं तदुन्नतधियो जल्पन्ति वातूलताम्।
यज्जाड्यात्कृतदुष्टचेष्टितभवत्कर्मप्रबन्धोदयात्
मृत्यूत्पत्तिपरम्परामयमिदं सर्वं जगत्सर्वदा ॥२३॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने प्रिय मनुष्य के मरने पर तो चींक मार २ कर रोते हैं तथा उत्पन्न होने पर हर्ष मानते हैं उनकी उस प्रकार की चेष्टा को बुद्धिमान पुरुष बावलापन कहते है क्योंकि यह समस्त जगत् तो अज्ञान से की हुई जो खोटी २ क्रिया उनसे उत्पन्न हुवा जो कर्मों का बंधन उसके उदय से सदा मरण तथा जन्मों की परंपरा स्वरूप ही है॥

भावार्थ—खोटी २ चेष्टाओं से उत्पन्न हुवे कर्म के वश से निरन्तर बहुत से प्राणी इस संसार में मरते हैं तथा जन्मते भी हैं इसलिये यह संसार तो जन्म मरण स्वरूप ही है किन्तु ऐसे संसार के स्वरूप को जानकर भी यदि मनुष्य अपने प्रिय के मरने पर शोक तथा उत्पन्न होने पर हर्ष माने तो सर्वथा उनका बावलापन है ऐसा समझना चाहिये ॥२३॥

गुर्वी भ्रान्तिरियं जड़त्वमथवा लोकस्य यस्माद्वसन्
संसारे बहुदुःखजालजटिले शोकीभवत्यापदि ।
भूतप्रेतपिशाचफेरवचितापूर्णे श्मशाने गृहं
कः कृत्वा भयदादमङ्गलकृताद्भावाद् भवेच्छङ्कितः ॥२४॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह लोक का एक बड़ा भारी भ्रम है अथवा उसकी मूर्खता कहनी चाहिये कि अनेक दुःखों से व्याप्त इस संसार में रहता हुवा भी आपत्ति के आने पर शोक करता है क्योंकि जो श्मसान, भूत प्रेत, पिशाच तथा फेंकार शब्द और चिता आदि से व्याप्त है ऐसे श्मशान में घर बनाकर तथा रहकर ऐसा कौन पुरुष होगा जो अमंगल स्वरूप तथा नानाप्रकार के भय को करने वाले पदार्थों से भय करेगा ॥

भावार्थ—जिस प्रकार श्मसान आदिक भय के स्थानों में रहकर भय करना मूर्खता है क्योंकि वहां पर नियम से भय होगा ही होगा उस ही प्रकार शोक आदि के स्थान स्वरूप इस संसार में शोक करना भी व्यर्थ है इसलिये मनुष्यों को शोक आदि के 'स्थानस्वरूप' इस संसार में कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥२४॥

मालवीवृत ।

भ्रमति नभसि चन्द्रः संसृतौ शश्वदङ्गी
लभत उदयमस्तं पूर्णता हीनताञ्च ।
कलुषितहृदयः सन् याति राशिं च राशेः
तनुमिह तनुतस्तत्कोत्र मोदश्च शोकः ॥२५॥

अर्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा सदा आकाश में भ्रमण करता रहता है उस ही प्रकार यह प्राणी भी निरंतर संसार में एक गति से दूसरी गति में भ्रमण करता रहता है तथा जिस प्रकार चन्द्रमा उदित होता है तथा अस्त होता है उसी प्रकार यह प्राणी भी जन्मता तथा मरता है तथा जिस प्रकार चन्द्रमा बढ़ता और घटता है उसी प्रकार यह प्राणी भी बालपने को तथा युवापने को और वृद्धपने को प्राप्त होता है तथा जिस प्रकार चंद्रमा कलंकित होकर मीन आदि राशि से कर्क आदि राशि को प्राप्त होता है उसी प्रकार यह प्राणी भी कलुषित चित्त होकर एक शरीर से दूसरे

शरीर को धारण करता है इसलिये भव्य जीवों को संसार की ऐसी वास्तविक 'स्थिति को' भली भांति जानकर जन्म मरण में कदापि हर्ष तथा शोक नहीं मानना चाहिये ॥२५॥

तड़िदिव चलमेतत्पुत्रदारादिसर्वं
किमिति तदभिघाते खिद्यते बुद्धिमद्भिः ।
स्थितिजननविनाशं नोष्णतेवाऽनलस्य
व्यभिचरति कदाचित्सर्वभावेषु नूनम् ॥२६॥

अर्थ—संसार में पुत्र स्त्री आदिक समस्त पदार्थ बिजली के समान चंचल तथा विनाशीक हैं इसलिये स्त्री पुत्र आदि के नाश होने पर बुद्धिमानों को कदापि शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार अग्नि में उष्णपना सर्वदा रहता है उसी प्रकार समस्त पदार्थों में उत्पाद विनाश तथा ध्रौव्य ये तीनों धर्म सदा रहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा सर्व वस्तु नित्य है किन्तु पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा तो सब पैदा भी होती है तथा नष्ट भी होती है इसलिये पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षा जब सर्व पदार्थों का उत्पन्न होना तथा नष्ट होना धर्म ही ठहरा तब विद्वानों को स्त्री पुत्र मित्र आदि के नाश होने पर जिससे किसी प्रकार के हित की आशा नहीं ऐसा खेद कदापि नहीं करना चाहिये ॥२६॥

प्रियजनमृतिशोकः सेव्यमानोऽतिमात्रं
जनयति तदसातं कर्म यच्चाग्रतोऽपि ।
प्रसरति शतशाखं देहिनि क्षेत्र उप्तं
वट इव तनुबीजं त्यज्यतां स प्रयत्नात् ॥२७॥

अर्थ—क्षेत्र में बोया हुवा छोटा भी वटवृक्ष का बीज जिस प्रकार शाखा प्रशाखा स्वरूप में परिणत होकर फैल जाता है उसी प्रकार अपने प्रिय स्त्री पुत्र आदि के मरने पर जो अत्यन्त शोक किया जाता है वह शोक उस असाताकर्म को पैदा करता है कि जो असाता कर्म उत्तरोत्तर शाखा प्रशाखा रूप में परिणत होकर फैलता चला जाता है अर्थात् उस असाताकर्म के उदय से

नरक तिर्यञ्च आदि अनेक योनियों में भ्रमण करने से नाना प्रकार के दुःख सहने पडते हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि विद्वानों को ऐसा शोक जैसे छूटे वैसे छोड़देना चाहिये ॥२७॥

आर्या।

आयुः क्षतिः प्रतिक्षणमेतन्मुखमन्तकस्य तत्र गता।
सर्वे जनाः किमेकः शोचत्यन्यं मृतं मूढः ॥२८॥

अर्थ—प्रति समय आयु का नाश होता है तथा यह आयु का नाश ही यमराज का मुख है और उसमें अनेक जीव प्रविष्ट हो चुके है फिर भी यह अकेला अज्ञानी जीव अपने प्रिय के मरने पर नहीं मालूम क्यों शोक करता है ?

भावार्थ—यदि आयुः कर्म का अंत न होता अथवा प्राणी न मरते तब तो इस जीवका शोक करना उचित होता किन्तु समय २ में आयुकर्म का नाश होता चला जारहा है तथा अनेक प्राणी मर चुके और स्वयं भी मरने के लिये तयार हैं इस बात को जानता हुवा भी यह अज्ञानी जीव शोक करता है यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥२८॥

अनुष्टुप।

यो नात्र गोचरं मृत्योर्गतो याति न यास्यति।
स हि शोकं मृते कुर्वन् शोभते नेतरः पुमान् ॥२९॥

अर्थ—जो प्राणी न तो मरा है तथा न मर रहा है और न मरेगा यदि वह अपने प्रिय के मरने पर शोक करे तो उसका शोक तो शोभा को प्राप्त हो सकता है किन्तु जो अनन्तों समय तो मर चुका तथा मर रहा है और अनन्तों ही समय मरेगा यदि वह शोक करे तो उसका शोक करना सर्वथा व्यर्थ है इसलिये विद्वानों को अपने प्रिय स्त्री पुत्र आदि के मरने पर कदापि शोक नही करना चाहिये ॥२९॥

मालिनी।

प्रथममुदयमुच्चैर्दूरमारोहलक्ष्मी
मनुभवति च पातं सोऽपि देवो दिनेशः।

यदि किल दिनमध्ये तत्र केषां नराणां
वसति हृदि विषादः सत्स्ववस्थान्तरेषु ॥३०॥

अर्थ—सूर्यदेव भी एक ही दिन में प्रथम तो प्रातःकाल में उदित होकर ऊंचा चढ़ता हुवा अत्यंत शोभा को धारण करता है तथा पश्चात् सायंकाल में अस्त हो जाता है उसी प्रकार समस्त पदार्थों की एक अवस्था से दूसरी अवस्था होती है उन अवस्थाओं को देखकर ऐसे कौन बुद्धिमान मनुष्य होंगे जो अपने मन में विषाद करेंगे ? अर्थात् ऐसी स्वाभाविक स्थिति पर बुद्धिमान कदापि खेद नहीं कर सकते॥३०॥

वसंततिलका।

आकाश एव शशिसूर्यमरुत्खगाद्याः
भूपृष्ठ एव शकटप्रमुखाश्चरन्ति।
मीनादयश्च जल एव यमस्तु याति
सर्वत्र कुत्र भविनां भवति प्रयत्नः ॥३१॥

शार्दूल विक्रीडित।

अर्थः—चन्द्र, सूर्य, पवन, पक्षी, आदिक तो आकाश में ही चलते है तथागाड़ी, सिंह, व्याघ्र आदिक जमीन पर ही चलते है और मछली मगर आदिक जल में ही चलते हैं परन्तु यह काल (यम) सब जगह पर चलता है अर्थात् यह काल प्राणियों को पृथ्वी जल आकाश अग्नि आदि किसी स्थान पर नहीं छोड़ता फिर इससे बचने का प्रयत्न किया जावे ? ॥३१॥

शार्दूल विक्रीडित।

किंदेवःकिमु देवता किमगदो विद्यास्ति किं किं मणिः
किं मन्त्रः किमुताश्रयः किमुसुहृत्किंवा सुगन्धोऽस्तिसः।
अन्ये वा किमु भूपतिप्रभृतयः सन्त्यत्र लोकत्रये
यैः सर्वैरपि देहिनः स्वसमये कर्मोदितं वार्यते ॥३२॥

अर्थ—तीनों लोक में भी देव, देवी, वैद्य, विद्या मणि, मंत्र, भृत्य, मित्र, सुगन्ध, तथा राजा, आदिक एक २ की तो क्या बात सब मिलकर भी अपने समय में उदय आये हुवे प्राणियों के कर्म को नहीं रोक सकते ॥

भावार्थ—जो कर्म पूर्वकाल में बांधा है वह अपने समय पर नियम से उदय में आता है तथा बलवान् से बलवान भी देव आदिक कोई भी उसका निवारण नहीं कर सकता ऐसा भली भांति समझकर विद्वान् कदापि शुभ अशुभ कर्म के उदय पर हर्ष विषाद नहीं करते ॥३२॥

गीर्वाणा अणिमादिसुस्थमनसः शक्ताःकिमत्रोच्यते
ध्वस्तास्तेऽपि परम्परेण स परस्तेभ्यः कियान्राक्षसः ।
रामाख्येन च मानुषेण निहितः प्रोल्लंघ्य सोप्यम्बुधिं
रामोप्यन्तकगोचरः समभवत्कोऽन्यो बलीयान्विधेः ॥३३॥

अर्थ—विशेष कहां तक कहा जाय क्योंकि जो देव अणिमा महिमा आदि ऋद्धि के धारी थे तथा सब प्रकार से समर्थ थे उनको भी उस रावण नामक राक्षस ने विध्वंस कर दिये जो कि रावण उन देवों के सामने कुछ भी चीज न था तथा उस रावण को भी समुद्र को पार कर राम नामक न कुछ मनुष्य ने मार दिया तथा वह राम भी काल बली का ग्रास बन गया इसलिये आचार्य कहते हैं कि सबसे बलवान् संसार में कोई भी नहीं ॥३३॥

सर्वत्रोद्गतशोकदावदहनव्याप्तं जगत्काननं-
मुग्धास्तत्र बधूमृगीगतधियस्तिष्ठन्ति लोकैणकाः ।
कालव्याध इमान्निहन्ति पुरतः प्राप्तान्सदा निर्दयः
तस्माज्जीवति नो शिशुर्न च युवा वृद्धोऽपि नो कश्चन ॥३४॥

अर्थ—आचार्य कहते है कि यह ससार रूपी वन तो सब जगह उठा हुआ जो शोक रूपी दावानल उससे व्याप्त हो रहा है तथा इस संसार रूपी वन में लोक रूपी जो मृग हैं वे स्त्री रूपी मृगी के वश होकर पड़े हुए हैं और यह कालरूपी व्याध आगे आये हुए उन लोकरूपी दीन मृगों को सदा काल मारता है जिससे न तो इस संसार में कोई बालक सदा जीता है तथा न कोई युवा सदा जीता है और न कोई वृद्ध ही सदा जीता है ॥३४॥

संपच्चारुलतः प्रियापरिलसद्वल्लीभिरालिङ्गितः
पुत्रादिप्रियपल्लवो रतिसुखप्रायैः फलैराश्रितः ।
जातः संसृतिकानने जनतरुः कालोग्रदावानल-
व्यासङ्गो न भवेत्तदा बत बुधैरन्यत्किमालोक्यते ॥३५॥

अर्थ—संपदा रूपी मनोहर लताओं से युक्त, तथा स्त्री रूपी मनोहर बेल उससे आलिंगन किया हुआ, और पुत्र आदिक उत्तम पल्लवों का धारी, तथा रति से उत्पन्न हुवे जो सुख वेही हुवे फल उनकर सहित, ऐसायह संसाररूपी वन में पैदा हुआ मनुष्य रूपी वृक्ष है यह मनुष्य रूपी वृक्ष काल रूपी जो भयंकर दावाग्नि उससे भस्म न हो जावे इसके लिये बुद्धिमानों को अवश्य उसके सार्थक होने के लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥

भावार्थ—बड़ी कठिनता से इस मनुष्य भव की प्राप्ति हुई है और इस मनुष्य जन्म के सिवाय निर्वाण का कारण और कोई उत्तम पदार्थ भी नहीं इसलिये जप तप आदिकर इसमनुष्य जन्मको विद्वानों को बनाना चाहिये अन्यथा यह व्यर्थ नष्ट हो जावेगा ॥३५॥

वाञ्छत्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते
नूनं मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राप्यतो बिभ्यति ।
इत्थं कामभयप्रसक्तहृदयाः मोहान्मुधैव ध्रुवं
दुःखोर्मिप्रचुरे पतन्ति कुधियः संसारघोरार्णवे ॥३६॥

अर्थ—आचार्य कहते है कि संसार में समस्त प्राणी इन्द्रियों से पैदा हुवे सुख की अभिलाषा सदा करते रहते है किन्तु वह सुख कर्मानुसार ही मिलता है इच्छानुसार नहीं मिलता तथा सर्व जीव निश्चय से मरते है तो भी उस मृत्यु से डरते रहते हैं इस प्रकार मोह से कामातुर तथा भयातुर होकर ये "मूढ़ बुद्धि प्राणी" व्यर्थ ही नाना प्रकार के दुःख रूपी तरङ्गों से व्याप्त इस संसार रूपी समुद्र में डूबते हैं ॥३६॥

मालिनी।

स्वसुखपयसि दीव्यन् मृत्युकैवर्तहस्त
प्रसृतघनजरोरुप्रोल्लसज्जालमध्ये ।

निकटमपि न पश्यत्यापदां चक्रमुग्रं
भवसरसि वराको लोकमीनौघ एषः ॥३७॥

अर्थ—और भी आचार्य उपदेश देते हैं कि जिस प्रकार मल्लाह करके बिछाये हुवे जाल में मछलियों का समूह खेलता रहता है किन्तु समीप में रही हुई मरण रूपी भयंकर आपत्ति के ऊपर कुछ भी ध्यान नहीं देता उसी प्रकार यह दीन लोक रूपी मछलियों का समूह, अपने सुख रूपी जल में काल रूपी मल्लाह के हाथ से फैलाये हुवे जरा रूपी विस्तीर्ण जाल में क्रीड़ा करता है किन्तु (व्यर्थ में हमारा जीवन चला जावेगा) इस प्रकार की पास में रही हुई भी आपत्ति के ऊपर कुछ भी ध्यान नहीं देता ॥३७॥

शार्दूल-विक्रीडित।

शृण्वन्नन्तकगोचरं गतवतः पश्यन् बहून् गच्छतो
मोहादेव जनस्तथापि मनुते स्थैर्यं परं ह्यात्मनः।
सम्प्राप्तेऽपि च बार्धके स्पृहयति प्रायो न धर्माय यत्
तद्बध्नात्यधिकाधिकं स्वमसकृत् पुत्रादिभिर्बन्धनैः ॥३८॥

अर्थ—यह लोक, बहुत से जीव मर गये इस बात को सुनता हुआ भी तथा बहुतों को मरते हुवे स्वयं देखता हुवा भी मोह से आत्मा को निश्चल ही मानता है तथा वृद्धावस्था के आने पर भी धर्म की ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं देता किन्तु उस अवस्था में भी पुत्र स्त्री आदि के 'बंधन से' निरन्तर अपने को और भी जादा बांधता है ॥३८॥

दुश्चेष्टाकृतकर्मशिल्पिरचितं दुःसन्धि दुर्बन्धनं
सापायस्थितिदोषधातुमलवत्सर्वत्र यन्नश्वरम्।
'आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतयो' यच्चात्र चित्रं न तत्
चित्रं स्थिरता बुधैरपि वपुष्यत्रापियन्मृग्यते ॥३९॥

अर्थ—जो देह, बुरी २ जो क्रियां उनकरके किया गया जो कर्म वही हुवा एक प्रकार का कारीगर उस करके बनाया हुवा है तथा खोटी सन्धि और खोटे बंधन कर सहित है और

जिसकी स्थिति नाश कर सहित है तथा जो नाना प्रकार के दोष तथा मलमूत्र वीर्य आदि सात कुधातुओं कर संयुक्त है ऐसे देह में यदि आधि, व्याधि, जरा, मरण, आदिक होते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि विद्वान मनुष्य भी ऐसे शरीर को सर्वथा स्थिर मानते हैं ॥३९॥

लब्धा श्रीरिह वाञ्छिता वसुमती भुक्ता समुद्रावधिः
प्राप्तास्ते विषया मनोहरतराः स्वर्गेऽपियेदुर्लभाः ।
पश्चाच्चेन्मृतिरागमिष्यति ततस्तत्सर्वमेतद्विषा-
ऽश्लिष्टं भोज्यमिवातिरम्यमपि धिङ्मुक्तिःपरंमृग्यताम् ॥४०॥

अर्थ—इस संसार में वांछित लक्ष्मी भी प्राप्त कर ली तथा सागरान्त पृथ्वी का राज्य भी भोग लिया और जो विषय स्वर्ग में भी नहीं प्राप्त हो सकते ऐसे अत्यन्त मनोहर विषयों को भी पा लिया किन्तु जिस समय मृत्यु पास में आ जावेगी उस समय अत्यन्त मनोहर भी ये सब बातें विष संयुक्त भोजन के समान दुःख की देने वाली हो जावेगी इस लिये इनके लिये धिक्कार हो ऐसा विचार कर हे भव्य जीवो जहांपर किसी प्रकार दुःख नहीं ऐसा मुक्ति का ही आश्रय करो ।

युद्धे तावदलं रथेभतुरगा वीराश्च दृप्ता भृशं
मन्त्रःशौर्यमसिश्च तावदतुलः कार्यस्य संसाधकः ।
राज्ञोऽपि क्षुधितोऽपि निर्दयमना यावज्जिघित्सुर्यमः
क्रुद्धो धावति नैव सन्मुखमितो यत्नोविधियोबुधैः ॥४१॥

अर्थ—जब तक भूखा तथा निर्दयी और समस्त जीवों का विध्वंस करने वाला तथा क्रोधी यमराज सामने नहीं आता तभी तक लड़ाई में राजा के रथ, हस्ती, घोड़ा, तथा अत्यन्त गर्व करने वाले सुभट, तथा मन्त्र, वीरता और अनुपमतलवार, आदि काम में आते हैं किन्तु जब यमराज सामने पड़ जाता है अर्थात् मर जाते है उस समय उपर्युक्त कोई भी चीज काम में नहीं आती इस लिये बुद्धिमान पुरुषों को जिस प्रकार बने उस प्रकार से इस काल के सर्वथा नाश के लिये ही यत्न करना चाहिये ॥४१॥

राजापि क्षणमात्रतो विधिवशाद्रङ्कायते निश्चितं
सर्वव्याधिविवर्जितोऽपि तरुणोऽप्याशु क्षयं गच्छति ।
अन्यैः किं किल सारतामुपगते श्रीजीविते द्वे तयोः
संसारे स्थितिरीदृशीति विदुषा कान्यत्र कार्यो मदः ॥४२॥

अर्थ—अपने पूर्वोपार्जित कर्म के वश से राजा भी क्षण भर में निश्चय से निर्धन हो जाता है तथा समस्त रोगों से रहित भी जवान मनुष्य देखते देखते नष्ट हो जाता है इस लिये समस्त पदार्थों में सारभूत जीवन तथा धन की जब संसार में ऐसी स्थिति है तब और पदार्थों की क्या बात ? अर्थात् वे तो अवश्य ही विनाशीक हैं अतः विद्वानों को किसी पदार्थ में अहंकार नहीं करना चाहिये ॥४२॥

हन्ति व्योम स मुष्टिनात्र सरितं शुष्कां तरत्याकुलः
तृष्णार्तोऽथ मरीचिकाः पिबति च प्रायः प्रमत्तो भवन् ।
प्रोत्तुङ्गाचलचूलिकागतमरुत्प्रेङ्खत्प्रदीपोपमैः
यत्सम्पत्सुतकामिनीप्रभृतिभिः कुर्यान्मदं मानवः ॥४३॥

अर्थ—जो मनुष्य अत्यन्त ऊंची जो पहाड़ की चोटी उस पर चलती हुई जो पवन उस से झकोरे खाते हुवे दीपक के समान चंचल ऐसी संपदा तथा पुत्र स्त्री आदिक में अभिमान करता है वह मनुष्य उन्मादि होकर आकाश को मुट्ठी से मारता है तथा अत्यन्त आकुल होकर सूखी नदी को तिरता है और प्यास से अत्यन्त आकुल होकर मरीचिका को पीता है ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश को मुट्ठी से मारना सूखी नदी को तिरना और मरीचिका का पीना बिना प्रयोजन का है उसी प्रकार अत्यन्त चंचल तथा विनाशीक संपदा, पुत्र, स्त्री, आदि में अहंकार करना भी व्यर्थ है इस लिये विद्वानों को इन में कदापि अभिमान नहीं करना चाहिये ॥४३॥

लक्ष्मी व्याधमृगीमतीवचपलामाश्रित्य भूपा मृगाः
पुत्रादीनपरान्मृगानतिरुषा निघ्नन्ति सेर्ष्यं किल

सज्जीभूतघनापदुन्नतधनुः संलग्नसंहृच्छरं
नो पश्यन्ति समीपमागतमपि क्रुद्धं यमं लुब्धकम् ॥४४॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि राजा रूपी जो मृग हैं वे अत्यन्त चंचल तथा शिकारी की हिरणी के समान इस संपदा को पाकर पुत्र भाई आदिक जो दूसरे मृग हैं उन को अत्यन्त क्रोध तथा ईर्षा से मारते हैं किन्तु बड़ी भारी आपत्ति रूप धनुष का धारी तथा संहार रूपी बाण को हाथ में लिये हुवे और पास में आये हुवे क्रोधी यमराज रूपी हिंसक की ओर कुछ भी लक्ष्य नहीं देते यह आश्चर्य की बात है।

भावार्थ—जिस समय कोई शिकारी हिरणों के मारने के लोभ से अपनी पाली हुई मृगी को बन में छोड़ देता है तथा स्वयं हाथ से धनुष लेकर पास में बैठ जाता है उस समय जिस प्रकार कामी मृग उस मृगी के लिये परस्पर में लड़ते हैं और एक दूसरे को मारते हैं तथा आई हुई आपत्ति पर कुछ भी ध्यान न देकर व्यर्थ में मारे जाते हैं उसी प्रकार ये राजा भी शिकारी मृगी के समान इस लक्ष्मी को पाकर परस्पर में लड़ते हैं तथा उस लक्ष्मी के लिये अपने प्रिय पुत्र आदिकों को भी मारते हैं किन्तु इस बात पर कुछ भी लक्ष्य नहीं देते कि हम को आगे क्या २ आपत्ति भोगनी होंगी तथा हमारा कितने काल तक जीवन रहेगा क्योंकि काल हमारे शिर पर छा रहा है इस लिये विद्वानों को चाहिये कि इस प्रकार दोनों लोक के बिगाड़ने वाली लक्ष्मी के फंदे में न पड़ें और उस को अपने हित की करने वाली भी न समझे ॥४४॥

मृत्योर्गोचरमागते निजजने मोहेन यः शोककृत्
नो गन्धोऽपि गुणस्य तस्य बहवो दोषा पुनर्निश्चितम् ।
दुःखं बर्धत एव नश्यति चतुर्वर्गो मतेर्विभ्रमः
पापं रुक्च मृतिश्च दुर्गतिरथस्याद्दीर्घसंसारिता ॥४५॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने प्रियजन के मरजाने पर मोह के वश होकर शोक करता है उसको किसी प्रकार गुण की प्राप्ति तो होती नहीं किन्तु निश्चय से उल्टे दोष ही उत्पन्न हो जाते हैं तथा दुःख बढ़ता चला जाता है और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ये चारों पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं तथा बावला हो जाता है और उसके पाप तथा रोगों की उत्पत्ति भी हो जाती है और अन्त

में मर भी जाता है पीछे दुर्गतिरूपी रथ में बैठकर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहता है इसलिये विद्वानों को कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥४५॥

आर्या।

आपन्मयसंसारे क्रियते विदुषा किमापदि विषादः
कस्त्रस्यति लङ्घनतः प्रविधाय चतुष्पथे सदनम् ॥४६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह संसार तो आपत्तिस्वरूप है फिर भी नहीं मालूम बुद्धिमान पुरुष आपत्ति के आने पर क्यों खेद करते हैं क्योंकि जो चौरास्ते पर मकान बनाता है वह क्या उसके उल्लंघन होने पर दुखित होता है ? कदापि नहीं।

भावार्थ—जो मनुष्य चौरास्ते पर मकान बनायेगा उसको तो दूसरे पथिक उल्लंघन करके अवश्य ही जायंगे। यदि मकान का मालिक उल्लंघन करने पर खेद करे तो उसका खेद करना व्यर्थ ही है उसी प्रकार जो मनुष्य इस आपत्तिरूप संसार में रहेगा तो उसको अवश्य ही दुःख भोगने होंगे यदि वह दुःख भोगते समय खेद माने तो उसका भी खेद माननासर्वथा व्यर्थ है इसलिये जो मनुष्य खेद करना नहीं चाहता उसको ऐसा काम करना चाहिये कि वह फिर संसार में न आवे ॥४६॥

वसन्त तिलका।

वातूल एष किमु किं ग्रहसंगृहीतो
भ्रान्तोऽथवा किमु जनः किमथ प्रमत्तः।
जानाति पश्यति शृणोति च जीवितादि
विद्युच्चलं तदपि नो कुरुते स्वकार्यम् ॥४७॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि क्या इस मनुष्य को वाय आगई है अथवा वह किसी भूत पिशाच ने पकड़ लिया है वा बावला हो गया है अथवा उन्मादी होगया है जो कि समस्त जीवन, धन, स्त्री, पुत्र आदि को बिजली के समान चंचल तथा विनाशीक जानता है देखता है सुनता है तो भी अपने हित के करने वाले कार्य को अंशमात्र भी नहीं करता ॥४७॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

दत्तं चौषधमस्य नैव कथितः कस्याप्ययं मन्त्रिणो
नोकुर्याच्छुचमेवमुन्नतमतिर्लोकान्तरस्थे निजे ।
यत्ना यान्ति यतोङ्गिनः शिथिलतां सर्वे मृतेः सन्निधौ
बन्धाश्चर्मविनिर्मितापरिलसद्वर्षाम्बुसिक्ता इव ॥४८॥

अर्थ—अपने प्रिय मनुष्य के मरजाने पर बुद्धिमानों को ऐसा शोक कदापि नहीं करना चाहिये कि मैं ने इसको दवा नहीं दी अथवा किसी वैद्य अथवा मंत्रवादी को बुलाकर नहीं दिखाया क्योंकि जिस प्रकार चाम के वंध वर्षाकाल में पानी पड़ने से ढीले हो जाते हैं उसी प्रकार मनुष्य की मृत्यु के समीप में रहने पर किये हुवे भी प्रयत्न नहीं किये हुवे से हो जाते हैं ॥४८॥

शिखरिणी ।

स्वकर्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा
समाघ्रातः साक्षाच्छरणरहिते संसृतिवने ।
प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदं
वदन्नेवं मे, मे पशुरिव जनो याति मरणम् ॥४६॥

अर्थ—जिसमें कोई शरण नहीं है ऐसे वन में वलवान व्याघ्र से पकड़ा हुआ दीन पशु जिस प्रकार मे, मे, करके मर जाता है उसी प्रकार शरण रहित इस संसार रूपी वनमें अपने काल आदि वलसंयुक्त कर्म रूपी व्याघ्र से पकड़ा हुआ यह जन स्त्री मेरी है पुत्र मेरे है धन मेरा है यह घर मेरा है इस प्रकार मे, मे करता २ व्यर्थ मर जाता है इसलिये विद्वानों को कदापि किसी पदार्थ में ममत्वबुद्धि नहीं रखनी चाहिये ॥४६॥

वसंत तिलका ।

दिवानि खण्डानि गुरूणि मृत्युना विहन्यमानस्य निजायुषोभृशम् ।
पतन्ति पश्यन्नपि नित्यमग्रतः स्थिरत्वमात्मन्यभिमन्यते जड़ः ॥५०॥

अर्थ—मृत्यु से नष्ट किये हुये अपने आयु के बड़े २ टुकड़े स्वरूप ये दिन सदा आगे आकर पड़ते हैं अर्थात् आयु के दिन प्रति दिन क्षीण होते चले जाते हैं इस बात को देखता हुआ भी यह अज्ञानी जीव अपने को निश्चल अविनाशी मानता है यह बड़ा आश्चर्य है ॥५०॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

कालेन प्रलयं व्रजन्ति नियतं तेऽपीन्द्रचन्द्रादयः
का वार्तान्यजनस्य कीटसदृशोऽशक्तेरदीर्घायुषः ।
तस्मान्मृत्युमुपागते प्रियतमे मोहं मुधा मा कृथाः
कालः क्रीड़ति नात्र येन सहसा तत्किञ्चिदन्विष्यताम् ॥५१॥

अर्थ—जब बड़ी २ ऋद्धी के धारी इन्द्र चन्द्र सूर्य आदिक भी अपने काल के आने पर मर जाते हैं तब कीट के समान निर्बल तथा थोड़ी आयु वाले अन्यजन की क्या बात ? अर्थात् वह तो अवश्य ही मरेगा इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि अपने प्रिय स्त्री, पुत्र, आदिक के मरने पर शोक न करके कोई ऐसा काम करो जिससे तुमको फिर न मरना पड़े ॥५१॥

संयोगो यदि विप्रयोगविधिना चेज्जन्म तन्मृत्युना
सम्पच्चेद्विपदा सुखं यदि तदा दुखेःन भाव्यं ध्रुवम् ।
संसारेऽत्र मुहुर्मुहुर्विविधावस्थान्तरप्रोल्लसत्
वेषान्यत्वनटीकृताङ्गिनि सतः शोको न हर्षः क्वचित् ॥५२॥

अर्थ—जिस संसार में यह जीव वारंवार नाना प्रकार की जो दूसरी २ अवस्था उनमें नारकी, पशु, देव, आदिक नाना वेषों को धारण कर नट के समान स्थित है उससंसार में यदि संयोग वियोग के साथ लगा हुआ है तथा जन्म मरण के साथ और संपत्ति विपत्ति के साथ लगी हुई है और सुख दुःख के साथ लगा हुवा है तब विद्वानों को न तो किसी पदार्थ में शोक करना चाहिये न हर्ष ही करना चाहिये ॥

भावार्थ—इस संसार में अपने कर्म के अनुसार जीव एकगति से दूसरी गति में जाकर नाना प्रकार के देव, मनुष्य, पशु, आदिक वेषों को भी धारण करते हैं और जिन २ पदार्थों का संयोग है उनका वियोग भी अवश्य होता है तथा जो उत्पन्न होता है वह अवश्य मरता भी है और जो धनी है वह निर्धन भी अवश्य होता है तथा जो सुखी है वह दुःखी भी अवश्य होता है, इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि जो मनुष्य इस प्रकार के संसार के चरित्र को जानते हैं उनको संयोग संपत्ति सुख आदि के होने पर न तो हर्ष मानना चाहिये तथा वियोग विपत्ति दुःख आदि के होने पर शोक भी नहीं करना चाहिये ॥५२॥

लोकाश्चेतसि चिन्तयन्त्यनुदिनं कल्याणमेवात्मनः
कुर्यात्सा भवितव्यता गतवती तत्तत्र यद्रोचते ।
मोहोल्लासवशादतिप्रसरतो हित्वा विकल्पान्बहून्
रागद्वेषविषोज्झितैरिति सदा सद्भिःसुखंस्थीयताम् ॥५३॥

अर्थ—मनुष्य सदा इस प्रकार का विचार करते हैं कि सदा हमको कल्याण की प्राप्ति होवे किन्तु दैवयोग से जैसा होना होता है होता वैसा ही है अपना किया हुवा कुछ भी नहीं होता इसलिये सज्जनों को चाहिये कि वे मोह के वश से फैले हुवे जो "सुख आदि की वाञ्छारूप" नाना प्रकार के खोटे विकल्प उनको नाश करके राग, द्वेष, रूपी विष से रहित होकर अपने साम्यभाव रूपी सुख में स्थित रहैं तभी उनको कल्याण की प्राप्ति हो सकती है दूसरे प्रकार से उनको कल्याण की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती ॥५३॥

वसंततिलका ।

लोका 'गृहप्रियतमासुखजीवितादि'
वाताहतध्वजपटाग्रचलं समस्तम् ।
व्यामोहमत्र परिहृत्य धनादिमित्रे
धर्मे मतिं कुरुत किं बहुभिर्वचोभिः ॥५४॥

अर्थ—और भी आचार्य उपदेश देते है कि हे भव्य जीवो ये घर, स्त्री, पुत्र, जीवन आदिक समस्त पदार्थ पवन से कपाये हुवे ध्वजा के कपड़े के अग्रभाग के समान चंचल हैं

इसलिये अधिक कहांतक कहा जावे धन, स्त्री, मित्र, आदिक में फैले हुवे मोह को सर्वथा नाश कर धर्म में ही अपनी बुद्धि को लगाओ ॥५४॥

'पुत्रादिशोकशिखिशान्तिकरी' यतीन्दु
श्रीपद्मनन्दिवदनाम्बुधरप्रसूतिः ।
'सद्बोधसस्यजननी, जयतादनित्य
'पञ्चाशदुन्नतधियाममृतैकवृष्टिः ॥५५॥

अर्थ—पुत्र आदि में फैली हुई शोक रूपी अग्नि को शान्त करने वाली, तथा यतिओं में उत्तम ऐसे जो पद्मनन्दीनामक यति उनका मुख रूपी जो मेघ उससे पैदा हुई, तथा श्रेष्ट बोध रूपी धान्य को पैदा करने वाली ऐसी यह अनित्य पञ्चाशत् रूपी जल की वृष्टि सज्जनों के हृदय में सदा जयवन्त रहो ।

भावार्थ—जिस प्रकार जल वृष्टि जलती हुई अग्नि को बुझा देती है तथा मेघ से पैदा होती है और धान्यों को पैदा करती है उसी प्रकार "अनित्यपञ्चाशत्" भी शोक को नाश करने वाली है अर्थात् इसके पढ़ने से उत्तम मनुष्य को किसी प्रिय से प्रिय पदार्थ के नाश होने पर भी शोक नहीं होता तथा मुनीन्द्र श्री पद्मनन्दी ने इसका प्रतिपादन किया है और यह श्रेष्ट ज्ञान को देने वाली है इसलिये भव्य जीवों को इसका मनन अवश्य करना चाहिये ॥५५॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी आचार्य द्वारा रचित श्री पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में
अनित्यपञ्चाशत् नामक अधिकार समाप्त हुवा ।



एकत्वसप्ततिः ।

अनुष्टुप ।

चिदानन्दैकसद्भावं परमात्मानमव्ययम् ।
प्रणमामि सदा शान्तं शान्तये सर्वकर्मणाम् ॥१॥

अर्थ—चैतन्य स्वरूप आनन्द स्वरूप अविनाशी और शान्त ऐसे परमात्मा को सर्व कार्मों की शान्ति के लिये मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—जो परमात्मा चैतन्य स्वरूप है तथा आनन्द स्वरूप है और नित्य शाश्वत तथा समस्त क्रोधादि कर्मों से रहित है ऐसा परमात्मा मुझे इस एकत्व नामक अधिकार के वर्णन करने में शान्ति प्रदान करे ॥१॥

खादिपञ्चकनिर्मुक्तं कर्माष्टकविवर्जितम् ।
चिदात्मकं परंज्योतिर्वन्दे देवेन्द्रपूजितम् ॥२॥

अर्थ—जो चैतन्यस्वरूप तेज पुद्गल, अधर्म, आकाश काल से सर्वथा भिन्न है तथा ज्ञानावरणादि कर्मों से रहित है और जिस की बड़े बड़े देव तथा इन्द्र आदिक सदा पूजन करते करते हैं ऐसा वह चैतन्यस्वरूप 'उत्कृष्ट तेज' मेरी रक्षा करो अर्थात् उस चैतन्यस्वरूप तेज को मस्तक नवाकर मैं नमस्कार करता हूं ॥२॥

यदव्यक्तमबोधानां व्यक्तं सद्बोधचक्षुषाम् ।
सारं यत्सर्ववस्तूनां नमस्तस्मै चिदात्मने ॥३॥

अर्थ—जिस चैयन्यस्वरूप आत्मा को ज्ञान रहित अज्ञानी पुरुष अनुभव नहीं कर सकते है तथा अखंड ज्ञान के धारक ज्ञानी जिस का सदा अनुभव करते हैं और समस्त पदार्थों में जो सारभूत है ऐसे उस चैतन्यस्वरूप आत्मा के लिये मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥३॥

चित्तत्वं तत्प्रतिप्राणिदेह एव व्यवस्थितम् ।
तमश्छन्ना न जानन्ति भ्रमन्ति च बहिर्बहिः ॥४॥

अर्थ—यद्यपि प्रत्येक प्राणी की देह में यह निर्मल चैतन्यरूपी तत्व विराजमान है तोभी जिन मनुष्यों की आत्मा अज्ञानान्धकार से ढकी हुई हैं वे इसको कुछ भी नहीं जानते हैं तथा चैतत्यसेभिन्न वाह्य पदार्थों में ही चैतन्य के भ्रम से भ्रान्त होते हैं ॥४॥

भ्रमतोऽपि सदा शास्त्रजाले महति केचन ।
न विदन्ति परं तत्वं दारुणीव हुताशनम् ॥५॥

अर्थ—कई एक मनुष्य अनेक शास्त्रों का स्वाध्याय भी करते हैं तो भी तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से भ्रान्त होकर लकड़ी में जिस प्रकार अग्नि नहीं मालूम होती उसी प्रकार चैतन्य स्वरूप आत्मा को अंशमात्र भी नहीं जानते ॥५॥

केचित् केऽन्येपि कारुण्यात्कथ्यमानमपि स्फुटम् ।
न मन्यन्ते न शृण्वन्ति महामोहमलीमसाः ॥६॥

अर्थ—प्रवल मोहनीय कर्म से अज्ञानी हुवे अनेक मनुष्य उत्तम पुरुषों कर बताये हुवे भी आत्मतत्व को न तो मानते ही हैं तथा न सुनते ही है ॥६॥

धुरि धर्मात्मकं तत्त्वं दुःश्रुतेर्मन्दबुद्धयः ।
जात्यन्धहस्तिरूपेण ज्ञात्वा नश्यन्ति केचन ॥७॥

अर्थ—यद्यपि वस्तु का स्वरूप अनेकान्त स्वरूप हैं तो भी अनेक जड़बुद्धी मनुष्य, जन्मांध जिस प्रकार हाथी के एक २ भाग को ही समझ लेते है तथा नष्ट हो जाते हैं उसीप्रकार एकान्त स्वरूप मानकर ही नष्ट होते हैं ॥

भावार्थ—किसी समय कई एक अन्धे मनुष्यों को इस बात की अभिलाषा हुई कि हम हाथी देखें इस लिये उन्होंने एक महावत से इस बात का निवेदन भी किया कि वह हम को हाथी दिखावे अतएव किसी दिन उस महावत ने उनके सामने लाकर हाथी खड़ा कर दिया तथा कहा कि जो तुमने हाथी के देखने के लिये निवेदन किया था उसी के अनुसार यह हाथी तुम्हारे सामने खड़ा है इसे तुम देखो फिर क्या था ? अंधे दौड़े तथा एक २ अंग को टटोलने लग गये जब देख चुके तब उन में से प्रत्येक को पूछा गया कि हाथी कैसा था तो उन में से जिसने हाथी की पूंछ

का स्पर्श किया था वह झट गोल निकला कि हाथी लम्बे बांस के समान होता है जब दूसरे से पूछा गया कि भाई हाथी कैसा होता है तब उसने कहा कि हाथी लम्बा २ नहीं है किंतु चाकी के पाटके समान गोल है क्योंकि उसने हाथी के पैर ही का स्पर्श किया था। इसी प्रकार औरों से भी पूछा गया तो उनमें से भी किसी ने कैसा भी कहा किसी ने किसी अंगको हाथी कहा तथा किसी ने किसी अंग को हाथी कहा किंतु हाथी के समग्रस्वरूप को कोई भी वर्णन नहीं कर सका इस लिये उन की वे सर्व बातें मिथ्या ही समझी गईं हां यदि वे इस प्रकार का एकांत नहीं पकड़ते कि हाथी लम्बा ही होता है अथवा गोल ही होता है तो उनकी सब बातें सत्य समझी जातीं क्योंकि हाथी उन पूंछ पैर आदि अंगों से भिन्न कोई दूसरा पदार्थ नहीं था सर्व मिले हुवे अंगों का ही नाम हाथी था उसी प्रकार यद्यपि वस्तु का स्वरूप अनेकांत है तो भी बहुत से दुर्बुद्धि एक धर्म अथवा दो ही धर्म को वस्तु मानकर समग्रवस्तु का स्वरूप समझकर अपने को सर्वज्ञ बनने का दावा रखते है किन्तु उनका उस प्रकार का अभिप्राय खोटा ही अभिप्राय समझा जाता है क्योंकि वस्तु अनेक धर्म स्वरूप है हां यदि वे वस्तु में एक ही धर्म हैं अथवा दो ही धर्म हैं ऐसा एकांत न पकड़े तो किसी रीति से उनका उस प्रकार का कहना निर्वाध समझा जा सकता है क्योंकि वे धर्म वस्तु से जुदे नहीं हे उन धर्म स्वरूप ही वस्तु है इस लिये उन धर्मों के कहने से वस्तु का स्वरूप कथंचित् सच भी माना जा सकता है इस लिये यह बात भलीभांति सिद्ध हो चुकी है कि वस्तु एकांतात्मक नहीं है किन्तु अनेकांत्मक ही है किन्तु जो एकांत्मक मानते है वे दुर्बुद्धि है ॥७॥

केचित्किञ्चित्परिज्ञाय कुतश्चिद् गर्विताशयाः।
जगन्मन्दं प्रपश्यन्तो नाश्रयान्ति मनीषिणः ॥८॥

अर्थ—कई एक मनुष्य कहीं से कुछ थोड़ी सी बात जान कर अपने को बड़ा विद्वान मान लेते हैं तथा अपने सामने जगत भरके विद्वानों को मूर्ख समझते है अतएव अहंकार से वे विद्वानों की संगति भी नहीं करना चाहते ॥८॥

धर्म की परिक्षा करके ग्रहण करना चाहिये इस बात को आचार्य दिखाते है।

जन्तुमुद्धरते धर्मः पतन्तं जन्मशङ्कटे।
अन्यथा स कृतो भ्रान्त्या लोकैर्ग्राह्याः परीक्षितः ॥९॥

अर्थ—संसार संकट में फसे हुवे प्राणियों का उद्धार करने वाला धर्म है किंतु स्वार्थी दुष्टों ने उसको विपरीत ही कर दिया है अर्थात् उनका माना हुआ धर्म का स्वरूप संसार में केवल डुवाने वाला ही है इस लिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे भलीभांति परीक्षा कर धर्म को ग्रहण करें ॥९॥

कौन धर्म प्रमाण करने योग्य है इस बात को आचार्य दिखाते हैं

सर्वविद्वीतरागोक्तो धर्मः सूनृततां व्रजेत् ।
प्रामाण्यतो यतः पुन्सो वाचः प्रामाण्यमिष्यते ॥१०॥

अर्थ—समस्त लोकालोक के पदार्थों के जानने वाले तथा वीतरागी मनुष्य का कहा हुआ ही धर्म प्रमाणीक होता है क्योंकि मनुष्य के प्रामाण्य से ही बचनों में प्रमाणता समझी जाती है इस लिये जब वीतराग तथा सर्वज्ञ प्रमाणीक पुरुष हैं तब उनका कहा हुआ धर्म भी प्रमाणीक ही है ऐसा समझना चाहिये ॥१०॥

बहिर्विषयसंबन्धः सर्वः सर्वस्य सर्वदा ।
अतस्तद्भिन्नचैतन्यबोधयोगौ तु दुर्लभौ ॥११॥

अर्थ—समस्त बाह्यविषयों का सम्बंध तो सब जीवों के सदाकाल ही रहता है किन्तु बाह्य पदार्थों के सम्बंध से जुदा जो ज्ञानानन्द स्वरूप चैतन्य का ज्ञान तथा सम्बन्ध है वह अत्यन्त दुर्लभ है।

भावार्थ—अनादि काल से बाह्यपदार्थों का सम्बन्ध तो जीवों के प्रतिक्षण लगा आया है इस लिये उसका तो सर्व जीवों को अनुभव है परंतु उस बाह्यसम्बंध से भिन्न अन्तरंग में चैतन्य का ज्ञान तथा उसका सम्बंध कभी नहीं हुआ है क्योंकि वह अत्यंत दुर्लभ है इस लिये भव्य जीवों को चैतन्य का ही ज्ञान करना चाहिये तथा उसी का अनुभव करना चाहिये ॥११॥

लब्धिपञ्चकसामिग्रीविशेषात्पात्रतां गतः ।
भव्यः सम्यग्दृगादीनां यः सः मुक्तिपथे स्थितः ॥१२॥

अर्थ—जिसको सिद्धि होने वाली है ऐसा जो भव्य, वह देशना १ प्रायोग्य २ विशुद्धि ३ क्षयोपशम ४ तथा करणलब्धि इस प्रकार इन पांच लब्धि स्वरूप सामग्री के विशेष से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र रूपी रत्नत्रयका पात्र बनता है अर्थात् रत्नत्रय को धारण करता है वही मोक्ष में स्थित है ऐसा समझना चाहिये।

भावर्थ—सत्य उपदेश का नाम तो देशना है तथा पंचेंद्रीपना सैनीपना गर्भजपना मनुष्यपना ऊंचा कुल यह प्रायोग्य नामक लब्धि है तथा सर्वघाती प्रकृतियों का तो उदयाभावीक्षय तथा देशघाती प्रकृतियों का उपशम यह क्षयोपशमलब्धि है तथा परिणामों की विशुद्धिता का नाम विशुद्धि लब्धि है और अधःकरण अपूर्व करण अनिवृतिकरण यह करणलब्धि है इन पांच प्रकार की लब्धियों के विशेष से जो रत्नत्रयकाधारी है वही भव्य पुरुष शीघ्र मुक्ति को जाता है

सम्यगग्दृग्बोधचारित्रं त्रितयं मुक्तिकारणम्।
मुक्तावेव सुखं तेन तत्र यत्नो विधीयताम् ॥१३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र इन तीनों का समुदाय ही मुक्ति का कारण है और वास्तविक सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही है इसलिये भव्य जीवों को उसी के लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥१३॥

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमितियोगः शिवाश्रयः ॥१४॥

अर्थ—आत्मा का निश्चय तो सम्यग्दर्शन है तथा आत्म का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में निश्चल रीति से रहना सम्यक् चारित्र है तथा इन तीनों की जो एकता वही मोक्ष का कारण है ॥ १४॥

एकमेव हि चैतन्यं शुद्धनिश्चयतोऽथवा।
कोऽवकाशो विकल्पानां तत्राखण्डैकवस्तुनि ॥१५॥

अर्थ—अथवा शुद्धनिश्चयनय से एक चैतन्य ही मोक्ष का मार्ग है क्योंकि आत्मा एक अखंड पदार्थ है इसलिये उसमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र आदि भेदों का

अवकाश नहीं है अर्थात् अखंड तथा एक आत्मा के सम्यग्दर्शन आदि टुकड़े नहीं हो सकते ॥ १५॥

प्रमाणनयनिक्षेपा अर्वाचीने पदे स्थिताः ।
केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकः प्रतिभासते ॥१६॥

अर्थ—जब तक आत्मा शुद्धात्मा नहीं हुआ है तभी तक इसमें प्रमाण तथा नय और निक्षेप भिन्न २ है ऐसे मालूम पड़ते है किन्तु जिस समय यह आत्मा शुद्धात्मा हो जाता है उस समय इसमें केवल चैतन्य स्वरूप आत्मा ही प्रतिभासता है ॥१६॥

निश्चयैकदृशा नित्यं तदेवेकं चिदात्मकम् ।
प्रपश्यामि गतभ्रान्तिर्व्यवहारदृशा परम् ॥१७॥

अर्थ—शुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा एक है नित्य है तथा चैतन्य स्वरूप है ऐसा मैं अनुभव करने वाला अनुभव करता हूं किन्तु व्यवहारनय से प्रमाणस्वरूप तथा नय और निक्षेपस्वरूप भी मैं इस आत्मा को भलीभांति देखता हूं ॥१७॥

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में यह आत्मा एक, नित्य तथा चैतन्य स्वरूप ही है किंतु व्यवहार नयकी अपेक्षा से इसमें प्रमाण तथा नये और निक्षेप आदि भेद दिखते हैं ॥१७॥

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यःस्थिरः ॥१८॥

स एवामृतमार्गस्य सएवामृतमश्नुते
सएवार्हन् जगन्नाथः सएवप्रभुरीश्वरः ॥१९॥

अर्थ—जो पुरुष जन्म रहित और एक तथा शान्ति स्वरूप और समस्त कर्मों कर रहित अपने को अपने ही से जानकर अपने में ही निश्चल रीति से ठहरता है वही पुरुष मोक्ष को जानेवाला है तथा वही मनुष्य मोक्ष सुख को प्राप्त होता है और वही अर्हन्त तथा

जगन्नाथ और प्रभु तथा ईश्वर कहलाता है इसलिये भव्य जीवों को अपनी आत्मा में अवश्य निश्चल रीति से ठहरना चाहिये ॥१८॥१९॥

केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः ।
तत्र ज्ञातेन किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥२०॥

अर्थ—जो उत्कृष्ट आत्म स्वरूप तेज है वह केवल दर्शन, तथा केवल ज्ञान, और अनंत सुख स्वरूप ही है इसलिये जिसने इस तेज को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया और जिसने इस तेज को देख लिया उसने सब कुछ देख लिया तथा जिसने इस तेज को सुन लिया उसने सब कुछ सुन लिया ऐसा समझना चाहिये ॥२०॥

इति ज्ञेयं तदेवैकं श्रवणीयं तदेव हि ।
दृष्टव्यञ्च तदेवैकं नान्यन्निश्चतो बुधैः ॥२१॥

अर्थ—इसलिये भव्य जीवों को निश्चय से एक चैतन्य स्वरूप ही जानने योग्य है तथा वही एक सुनने योग्य है और वही देखने योग्य है किन्तु उससे भिन्न कोई भी वस्तु न तो जानने योग्य है तथा न सुनने योग्य है और न देखने ही योग्य है ऐसा समझना चाहिये ॥२१॥

गुरूपदेशतोऽभ्यासाद्वैराग्यादुपलभ्य यत् ।
कृतकृत्यो भवेद्योगी तदेवैकं नचापरम् ॥२२॥

अर्थ—गुरु के उपदेश से तथा शास्त्र के अभ्यास से और वैराग्य से जिसको पाकर योगीश्वर कृतकृत्य हो जाते है वह यही चैतन्य स्वरूप तेज है और कोई नहीं है ॥२२॥

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ॥२३॥

अर्थ—जिस मनुष्य ने प्रसन्न चित्त से इस चैतन्य स्वरूप आत्मा की बात भी सुन ली है वह भव्य पुरुष होने वाली मुक्ति का निश्चय से पात्र होता है अर्थात् वह नियम से मोक्ष को

जाता है इसलिये मोक्षाभिलाषियों को अवश्य ही इस चैतन्य स्वरूप आत्मा का अनुभव करना चाहिये ॥२३॥

जानीते यः परं ब्रह्म कर्मणः पृथगेकताम् ।
गतं तद्गतवोधात्मा तत्स्वरूपं स गच्छति ॥२४॥

अर्थ—जो मनुष्य शुद्धात्मा में लीन होकर कर्मों से भिन्न तथा एक ऐसे उस परम ब्रह्म परमात्मा को जानता है वह पुरुष परब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है इसलिये भव्य जीवों को परमात्मा का अवश्य ध्यान करना चाहिये ॥२४॥

केनापि परेण स्यात्सवंन्धो वंन्धकारणम् ।
परैकत्वपदे शान्ते मुक्तये स्थितिरात्मनः ॥२५॥

अर्थ—अन्य पदार्थों के साथ जो आत्मा का संवंध होता है उससे केवल वंधही होता है तथा उसी आत्मा का जो उत्कृष्ट शान्त और एकतारूप स्थान में ठहरना है उससे मोक्ष ही होती है इसलिये मोक्षाभिलाषियों को पर पदार्थों से ममत्वछोड़कर स्वस्वरूप में ही लीन होना चाहिये ॥२५॥

विकल्पोर्मिभरत्यक्तः शान्तः कैवल्यमाश्रितः ।
कर्माभावे भवेदात्मा वाताभावे समुद्रवत् ॥२६॥

अर्थ—पवन के थंभजाने पर जिस प्रकार समुद्र लहरियों से रहित, तथा क्षोभ रहित, शांत, हो जाता है उसी प्रकार जव इस आत्मा से सर्वथा कर्मों का संवंध छूट जाता है उस समय यह आत्मा भी समस्त प्रकार के विकल्पों कर रहित, तथा केवल ज्ञानकर सहित, शान्त हो जाता है ॥

भावार्थ—यदि देखा जावे तो स्वभाव से समुद्र शान्त ही है किंतु जिस समय पवन चलता है उस समय उस की लहरी ऊंचे को उठतीं है तथा वह क्षुब्ध हो जाता है परन्तु जिस समय पवन रुक जाता है उस समय फिर वह समुद्र शांत हो जाता है उसी प्रकार निश्चयनय से यह आत्मा भी शांत ही है किंतु कर्म के संवंध से इस में नाना प्रकार के विकल्प आकर खड़े हो

जाते हैं किन्तु जिस समय उन कर्मों का संबंध छूट जाता है उस समय फिर वैसा का वैसा ही आत्मा शान्त हो जाता है ॥२६॥

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकलं परम् ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमिति मे मतिः ॥२७॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी इस प्रकार का चिंतवन करता रहता है कि जो वस्तु संयोग से उत्पन्न हुई है वे सब मुझ से जुदी हैं तथा मुझे इस बात का ज्ञान है कि उन संयोग से पैदा हुई समस्त वस्तुओं के त्याग से मैं मुक्त हूं मेरी आत्मा में किसी प्रकार के कर्म का संबंध नहीं है ॥२७॥

किं मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभनिशाचरौ ।
रागद्वेषपरित्यागमोहमन्त्रेण कीलितौ ॥२८॥

अर्थ—रागद्वेषरूपीप्रबलमंत्र से कीलित हुवे तथा क्रूर ऐसे अशुभ कर्मरूपी राक्षस मेरा क्या करेंगे ? कुछ भी नहीं कर सकते ॥

भावार्थ—रागद्वेष के होने से ही शुभ तथा अशुभ कर्मों का बंध होता है यदि रागद्वेष का ही संबंध मेरी आत्मा के साथ न रहेगा तो मेरा शुभ तथा अशुभ कर्म कुछ भी नहीं कर सकते ऐसा सम्यग्दृष्टि विचार करता रहता है ॥२८॥

संबन्धेऽपि सति त्याज्यौ रागद्वेषौ महात्मभिः ।
विना तेनापि ये कुर्युस्ते कुर्युः किं न वातुलाः ॥२९॥

अर्थ—सज्जनों को चाहिये कि रागद्वेष के संबंध होंने पर भी वे रागद्वेष का त्याग कर देवे किन्तु जो लोग संबंध के न होने पर भी रागद्वेष को करते हैं वे मनुष्य समस्त अनिष्टों को पैदा करते हैं ॥

भावार्थ—रागद्वेष के होते संते अनेक प्रकार के अनिष्ट होते हैं इसलिये सज्जनों को कदापि रागी तथा द्वेषी नहीं बनना चाहिये ॥२९॥

मनोवाक्कायचेष्टाभिस्तद्विधं कर्म जृम्भते ।
उपास्यते तदेवैकं तेभ्योभिन्नं मुमुक्षुभिः ॥३०॥

अर्थ—मन, वचन, काय की चेष्टा से चेष्टानुसार कर्म वृद्धि को प्राप्त होता है इसलिये मोक्षाभिलाषी भव्य पुरुष मन, वचन, काय के भिन्न एक चैतन्यमात्र आत्मा की ही उपासना करते हैं ॥३०॥

द्वैततोद्वैतमद्वैतादद्वैतं खलु जायते ।
लोहाल्लोहमयं पात्रं हेम्नोहेममयं यथा ॥३१॥

अर्थ—जिस प्रकार लोह से लोहमयी ही पात्र की उत्पत्ति होती है तथा सुवर्ण से सुवर्णमयी ही पात्र की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार द्वैत से निश्चय से द्वैत ही होता है तथा अद्वैत से अद्वैत ही होता है ॥

भावार्थ—कर्म तथा आत्मा के मिलाप का नाम द्वैत है अतः जब तक कर्म तथा आत्मा का मिलाप रहैगा तब तक तो संसारी ही रहैगा किन्तु जिस समय कर्म तथा आत्मा का मिलाप छूट जावेगा तब मुक्त होजावेगा ॥३१॥

निश्चयेन तदेकत्वमद्वैतममृतं परम् ।
द्वितीयेन कृतं द्वैतं संसृतिर्व्यवहारतः ॥३२॥

अर्थ—निश्चयनय से यो एकतारूप जो अद्वैत है वही मोक्ष है और व्यवहार नय से कर्मोंकर किया हुवा जो द्वैत है वह संसार है ॥

भावार्थ—जब तक कर्मों का संबंध रहता है तब तक तो संसार है किन्तु जिस समय कर्मों का संबंध छूट जाता है उस समय मोक्ष है ॥३२॥

बंधमोक्षौ रतिद्वेषौ कर्मात्मनौ शुभाशुभौ ।
इति द्वैताश्रिता बुद्धिरसिद्धिरभिधीयते ॥३३॥

अर्थ—बंध और मोक्ष राग और द्वेष कर्म और आत्मा शुभ और अशुभ इस प्रकार द्वैतकर सहित जो बुद्धि है वह असिद्धि है अर्थात् निजानन्द शुद्ध अद्वैत स्वरूप की रोकने वाली है ॥३३॥

उदयोदीरणासत्ता प्रबन्धः खलु कर्मणः ।
बोधात्मधाम सर्वेभ्यस्तदेवैकं परं परम् ॥३४॥

अर्थ—उदय उदीरणा तथा सत्ता इत्यादि समस्त कर्मों की ही रचना है किन्तु आत्मा इस समस्त रचना से भिन्न है उत्कृष्ट है तथा केवल ज्ञान का धारी है ॥३४॥

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः ।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारी नभोभवेत् ॥३५॥

अर्थ—काले पीले नीले घोड़ा के आकार हाथी के आकार इत्यादि अनेक विकार सहित बादलों से जिस प्रकार अमूर्तीक आकाश विकृत नहीं होता उसी प्रकार यद्यपि आत्मा के साथ क्रोध आदि कर्मों का संबंध है तो भी आत्मा विकार रहित ही है ॥३५॥

नामापिहि परं तस्मान्निश्चयात्तदनामकम् ।
जन्ममृत्यादिचाशेषं वपुर्धर्मं विदुर्बुधाः ॥३६॥

अर्थ—निश्चयनय से आत्मा का कोई नाम नहीं है वह नाम रहित ही है और जो ये जन्म मरण आदि धर्म हैं वे शरीर के ही धर्म हैं ऐसा बड़े २ विद्वान कहते है ॥३६॥

बोधेनापि युतिस्तस्य चैतन्यस्यतु कल्पना ।
सच तच्च तयोरैक्यं निश्चयेन विभाव्यते ॥३७॥

अर्थ—आत्मा ज्ञानकर सहित है यह तो चैतन्यस्वरूप आत्मा में कल्पना ही है क्योंकि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा और ज्ञान एक ही पदार्थ है ऐसा अनुभव गोचर है ॥३७॥

क्रियाकारकसंवन्धप्रवन्धोज्झित मूर्तियत् ।
एवं ज्योतिस्तदेवैकं शरण्यं मोक्षकांक्षिणाम् ॥३८॥

अर्थ—जो चैतन्यरूपी तेज क्रिया और कारक के संबंध की रचनाकर रहित है वही एक मोक्षाभिलाषी भव्यजीवों का परमशरण है ॥

भावार्थ—क्रियाकारक के संबंधकर रहित, तथा एक ऐसे चैतन्यस्वरूप तेज को जो भव्यजीव उपासना करते है उनको मोक्ष मिलती है इसलिये भव्यजीवों को ऐसे चैतन्य की ही सदा उपासना करनी चाहिये ॥३८॥

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम् ।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः ॥३९॥

अर्थ—वह चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा ही तो ज्ञान है तथा वही दर्शन है और वही चारित्र है तथा वही तप है किन्तु उस शुद्धात्मा से भिन्न न कोई ज्ञान है तथा न कोई दर्शन है और न कोई चारित्र है तथा न कोई तप ही है इसलिये भव्यजीवों को आत्मा का ही ज्ञान श्रद्धान आचरण आदि करना चाहिये ॥३९॥

नमस्यञ्च तदेवैकं तदेवैकञ्च मंगलम् ।
उत्तमञ्च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ॥४०॥

अर्थ—वही एक चैतन्य स्वरूपआत्मा नमस्कार करने योग्य है तथा वही मंगलस्वरूप है और वही सर्व पदार्थों में श्रेष्ट है तथा वही भव्यजीवों का शरण है ॥४०॥

आचारश्च तदेवैकं तदेवावश्यकक्रिया ।
स्वाध्यायस्तु तदेवैकमप्रमत्तस्य योगिनः ॥४१॥

अर्थ—प्रमाद रहित योगिश्वरोंको जो चिदानन्दस्वरूप आत्मा का ध्यान है वही तो आचार है तथा वही आवश्यक क्रिया है तथा वही स्वाध्याय है किन्तु उससे भिन्न आचार आदि कोई वस्तु नहीं है ॥४१॥

गुणशीलानि सर्वाणि धर्मश्चात्यन्तनिर्मलः ।
सम्भाव्यते परं ज्योतिस्तदेकमनुतिष्ठतः ॥४२॥

अर्थ—जो पुरुष उस चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान करने वाला है वही पुरुष चौरासीलाख उत्तर गुणों का धारी है तथा वही अठारह हजार शीलव्रतों का धारी है और उसी पुरुष के निर्मल धर्म है ऐसा निश्चय है ॥४२॥

तदेवैकं परं रत्नं सर्वशास्त्रमहोदधेः ।
रमणीयेषु सर्वेषु तदेकं पुरतः स्थितम् ॥४३॥

अर्थ—समस्त शास्त्ररूपी विस्तीर्ण समुद्र का उत्कृष्ट रत्न यह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है अर्थात् इसी रत्न की प्राप्ति के लिये शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है तथा संसार में जितने भर मनोहर पदार्थ हैं उन सब पदार्थों में मनोहर तथा उत्कृष्ट पदार्थ यह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है इसलिये भव्यजीवों को इस चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही अच्छी तरह से ध्यान करना चाहिये ॥४३॥

तदेवैक परं तत्वं त वैकं परं पदम् ।
भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः ॥४४॥

अर्थ—वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही एक उत्तमतत्व है तथा वही एक उत्कृष्टस्थान है और वही एक भव्यजीवों के आराधन करने योग्य है तथा वही एक अद्वितीय उत्तमतेज है ॥४४॥

शस्त्रं जन्मतरुच्छेदि तदेवैकं सतां मतम् ।
योगिनां योगिनिष्ठानां तदेवैकं प्रयोनजम् ॥४५॥

अर्थ—और वही चैतन्यस्वरूपी आत्मा जन्मरूपी वृक्ष के नाश करने के लिये शस्त्र के समान है अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा के भलीभाँति ध्यान के करने से सर्व जन्म मरण आदि नष्ट हो जाते हैं तथा वही आत्मारूपी तेज भव्य जीवों का मान्य है और वही ध्यानयुक्त

योगियों का प्रयोजन है अर्थात उसी की प्राप्ति के लिये योगिगण सदा प्रयत्न करते रहते हैं। ॥४५॥

मुमुक्षूणां तदेवैकं मुक्तेः पन्था न चापरः।
आनन्दोऽपि न चान्यत्र तद्विहाय विभाव्यते ॥४६॥

अर्थ—मोक्षाभिलाषियों के लिये चैतन्यस्वरूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है आत्मा से अन्य कोई भी मोक्ष मार्ग नहीं है तथा आनन्द भी आत्मा में ही है किंतु उसके सिवाय और कहीं पर भी आनन्द नहीं प्रतीत होता इसलिये भव्यजीवों को इसी का ध्यान करना चाहिये ॥४६॥

संसारघोरघर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः।
यन्त्रधारागृहं शान्तं तदेव हिमशीतलम् ॥४७॥

अर्थ—संसाररूपी प्रवलताप से निरंतर संतप्त प्राणियों को वह चैतन्यस्वरूप आत्मा ही शांत तथा बरफ के समान ठंढा, फवारा सहित मकान है, अर्थात् जिस प्रकार धूप से संतप्त मनुष्यों को फवारासहित शीतल मकान में आराम मिलता है उसी प्रकार संसार के संताप से खिन्नजीवों को इस शान्त आत्मा में लीन होने से ही आराम मिलता है इसलिये भव्य जीवों को सदा चैतन्यस्वपरूप आत्मा का ही अनुभव करना चाहिये ॥४७॥

तदेवैकं परं दुर्गमगम्यं कर्मविद्विषाम्।
तदेवैतत्तिरस्कार कारि सारं निजं वलम् ॥४८॥

अर्थ—तथा वहीचैतन्यस्वरूप आत्मा एक ऐसा किला है कि जिसमें कर्म रूप शत्रु वैरी कदापि प्रवेश नहीं कर सकते और उन कर्म रूपी शत्रुओं का अपमान करनेवाला वही चैतन्यस्वरूप आत्मा एक उत्कृष्ट वल है॥

भावार्थ—जो मनुष्य चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान करते हैं उनका कर्म रूपीवैरी कुछ नहीं कर सकते इसलिये भव्यजीवों को शुद्धात्मा का ही ध्यान करना चाहिये ॥४८॥

तदेव महती विद्या स्फुरन्मन्त्रस्तदेव हि ।
औषधं तदपि श्रेष्ठं जन्मव्याधिविनाशनम् ॥४६॥

अर्थ—और वही चैतन्य स्वरूपी तेज प्रबलविद्या है तथा वही स्फुरायमान मंत्र है और समस्त जन्म जरा आदि को नाश करनेवाली वही एक परम औषधि है ॥४६॥

अक्षयस्याक्षयानन्दमहाफलभरश्रियः ।
तदेवैकं परं वीजं निःश्रेयसलसत्तरोः ॥५०॥

अर्थ—और उसी शुद्धात्मारूपी तेज से अविनाशी तथा अक्षय सुखरूपी उत्तमफलदेनेवाले मोक्षरूपी मनोहर वृक्ष की उत्पत्ति होती है ॥

भावार्थ—जो पुरुष उस शुद्धात्मा का अनुभव मनन ध्यान करते हैं उनको अक्षय सुख को देनेवाली मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है इसलिये भव्य जीवों का सदा उस आत्मा का ही चिंतवन करते रहना चाहिये ॥५०॥

तदेवैकं परं विद्धि त्रैलोक्यगृहनायकम् ।
येनैकेन विना शङ्के वसदप्येतदुद्वसम् ॥५१॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो तीन लोक रूपी घर का स्वामी उसी चैतन्य स्वरूप तेज को तुम समझो क्योंकि मैं ऐसी शंका करता हूं कि इस एक चैतन्यस्वरूप तेज के बिना यह तीन लोकरूपी घर भी वन के समान है ।

भावार्थ—यद्यपि यह लोक जीवा जीवादि छै द्रव्यों से भरा हुवा है तो भी इसमें जानने वाला एक आत्मा ही है और इसके सिवाय समस्त लोक जड़ ही है इसलिये यह आत्मा ही तीन लोकों का राजा है अतः उत्तम फल के चाहने वाले भव्य जीवों को इसी में लीन रहना चाहिये ॥५१॥

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः ।
कल्पनयानयाप्येतद्धीनमानन्दमन्दिरम् ॥५२॥

अर्थ—जो निराकार, निरंजन, शुद्ध, चिद्रूप है सो मैं ही हूं इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है इस प्रकार की कल्पना से भी वह आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा रहित है।

भावार्थ—जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है वह मैं ही हूं इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं इस प्रकार की भी कल्पना उस शुद्धात्मा में नहीं है इसलिये शुद्धात्मा समस्त प्रकार की कल्पनाओं से रहित ही है ॥५२॥

मोक्ष के लिये की हुई इच्छा भी ठीक नहीं ऐसा आचार्य बताते हैं।

स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था तन्निषेधाय जायते।
अन्यस्मै तत्कथं शान्ता स्पृहयन्ति मुमुक्षवः ॥५३॥

अर्थ—मोह के होते सन्ते ही इच्छा होती है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि यदि मोक्ष के लिये भी मोह से पैदा हुई इच्छा हो जावे तो वही जब मोक्ष के रोकने वाली हो जाती है तब शान्त तथा मोक्षभिलाषी मनुष्य अन्य पदार्थों के लिये कैसे इच्छा कर सकते हैं! ॥५३॥

ज्ञानी मनुष्य इस बात का विचार करते हैं।

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित्।
सबन्धोऽपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृशः ॥५४॥

अर्थ—मैं एक चैतन्यस्वरूप ही हूं चैतन्य से भिन्न नहीं हूं और मेरा निश्चयनय से किसी दूसरे पदार्थ के साथ संबन्ध भी नहीं है यह मेरा प्रबल सिद्धान्त है ॥५४॥

शरीरादिवहिश्चिन्ताचक्रसम्पर्कवर्जितम्।
विशुद्धात्मस्थितं चित्तं कुर्वन्नास्तेनिरन्तम् ॥५५॥

अर्थ—बाह्य शरीर आदि पदार्थों की चिन्ता छोड़कर राग द्वेष आदि मलों से रहित तथा निर्मल अपनी आत्मा में ही चित्त को लगाते हैं ॥५५॥

एवं सति यदेवास्ति तदस्तु किमिहापरैः।
आसाद्यात्मन्निदं तत्वं शान्तो भव सुखी भव ॥५६॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से आत्मा के चिंतवन से जो होता है सो हो दूसरे २ विचारों से क्या प्रयोजन है इस प्रकार के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होकर अरे आत्मा तू शान्त हो तथा सुखी हो इस प्रकार ज्ञान अपनी आत्मा को शिक्षा देता रहता है ॥५६॥

आपारजन्मसन्तानपथभ्रान्तिकृतश्रमम् ।
तत्वामृतमिदं पीत्वा नाशयन्तु मनीषिणः ॥५७॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्य पुरुषो इस कहे हुवे चैतन्यामृत का पान करो तथा इस अपार संसार में अनन्त तिर्यंच नरक आदि पर्यायों में भ्रमण करने से जो खेद हुआ है उसको शांत करो ॥५७॥

अतिसूक्ष्ममतिस्थूलमेकं चानेकमेव तत् ।
स्वसंवेद्यमेवद्यञ्च यदक्षरमनक्षरम् ॥५८॥

अनौपम्यमनिर्देश्यमप्रमेयमनाकुलम् ।
शून्यं पूर्णं च यन्नित्यमनित्यं च प्रचक्ष्यते ॥५९॥

निश्शरीरं निरालम्बं निश्शब्दं निरुपाधि यत् ।
चिदात्मकं परंज्योतिरवाङ्मानसगोचरम् ॥६०॥

इत्यत्र गहनेऽत्यन्तदुर्लक्ष्ये परमात्मनि ।
उच्यते यत्तदाकाशं प्रत्यालेख्यं विलिख्यते ॥६१॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं वह चैतन्यरूपी तेज अत्यन्त सूक्ष्म भी है और अत्यन्त स्थूल भी है, और एक भी है अनेक भी है, स्वसंवेद्य भी है अवेद्य भी है, अक्षर भी है, अनक्षर भी है, तथा उपमारहित भी है, अवक्तव्य है, अप्रमेय है, आकुलता रहित है, और शून्य भी है, पूर्ण भी है, नित्य भी है, अनित्य भी है, और शरीर रहित है, आश्रय रहित है शब्दरहित है, उपाधिरहित है, तथा चैतन्यस्वरूप परम तेज का धारी है, और न उसको बचन से ही कह सकते हैं तथा न उसका मन से चिंतवन कर सकते है, इस प्रकार यह परमात्मा अगम्य तथा दृष्टि

के अगोचर है इस लिये जिस प्रकार अमूर्तीक आकाश पर चित्र लिखना कठिन है उसी प्रकार परमात्मा का वर्णन करना भी अत्यंत कठिन है।

भावार्थ—इस अमूर्तीक परमात्मा को इन्द्रियों से नहीं देख सकते इस लिये तो वह सूक्ष्म है और केवल दर्शन तथा केवल ज्ञान से देखा और जाना जा सकता है इस लिये वह स्थूल भी है तथा सदा अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है और परपदार्थों से भिन्न है इस लिये शुद्धनिश्चयनय से यह एक भी है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से इस की अनेक ज्ञान दर्शन आदि पर्याय मौजूद है इस लिये यह अनेक भी है, तथा अहम् २ इत्याकारक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के गोचर है अर्थात् अपने से जाना जाता है इस लिये तो स्वसंवेद्य है और इन्द्रियों से यह नहीं जाना जा सकता इस लिये यह अवेद्य भी है तथा व्यवहारनय से वचन से कुछ कहा जाता है इस लिये तो यह अक्षर है किन्तु शुद्धनिश्चयनय से इस को कुछ भी नहीं कह सकते इस लिये यह अनक्षर भी है "जिस का नाश न होवे वह अक्षर है" यदि ऐसा अक्षर शब्द का अर्थ करेंगे तो भी शुद्धनिश्चयनय से तो यह अक्षर ही है क्योंकि शुद्धनिश्चयनय से इस का कुछ भी नाश नहीं होता तथा व्यवहारनय से यह अनक्षर (विनाशीक) भी है क्योंकि प्रतिसमय इस की पर्याय पलटती रहती हैं और इस की समानता को धारण करने वाला कोई पदार्थ नहीं है इस लिये यह उपमा रहित भी है तथा इसके वास्तविक स्वरूप को कुछ भी नहीं कह सकते इस लिये यह अवक्तव्य भी है और इसके 'केवल ज्ञानरूपी' गुणों का किसी क्षेत्र आदि के द्वारा परिमाण नहीं किया जा सकता है अर्थात् वह समस्त लोक तथा अलोक का प्रकाश करने वाला है इस लिये यह अप्रमेय भी है और यह अचिंत्य सुख का भण्डार है इस लिये आकुलता रहित भी है तथा यह परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से रहित है इस लिये शून्य भी है और समस्त ज्ञान, दर्शन, सुख, आदि गुणों से भरा हुआ है इस लिये यह पूर्ण भी है और द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा इसका विनाश नहीं होता इस लिये यह नित्य भी है तथा पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा इसका प्रति समय विनाश होता रहता है इसलिये यह अनित्य भी है और इसका कोई शरीर नहीं इसलिये यह शरीर रहित है और इसका कोई आश्रय (आधार) नहीं इसलिये यह आश्रय रहित भी है और यह तो चेतन है तथा शब्द पुद्गल है इसलिये यह शब्दरहित भी है तथा इसके साथ निश्चयनय से किसी प्रकार की कर्मों की उपाधि नहीं लगी हुई है इसलिये यह उपाधि रहित है और

यह चैतन्यस्वरूप ज्योति है और इसको वचन से कह नहीं सकते तथा मन से विचार नहीं सकते इसलिये यह वाणी तथा मनके अगोचर भी है इसलिये इस प्रकार के शुद्धात्मा का वर्णन करना अल्पज्ञानियों के लिये कठिन है ॥५८।५९।६०।६१ ॥

आस्तां तत्र स्थितो यस्तु चिंतामात्रपरिग्रहः ।
तस्यात्र जीवितं श्लाध्यं देवैरपि स पूज्यते ॥६२॥

अर्थ—जो पुरुष उस शुद्धात्मा में तिष्ठने वाला है वह तो दूर रहो किंतु जो पुरुष इस शुद्धात्मा का चिंतवन करने वाला है उसका भी जीवन इस संसार में अत्यंत प्रशंसनीय है तथा उसकी बड़े २ देव आकर पूजा सेवा आदि करते है इसलिये भव्यजीवों को सदा शुद्धात्मा का ही ध्यान करना चाहिये ॥६२॥

सर्वविद्भिरसंसारै सम्यग्ज्ञानविलोचनैः ।
एतस्योपासनोपायः साम्यमेकमुदाहृतम् ॥६३॥

अर्थ—समस्त पदार्थों के जानने वाले तथा कर्मोंकर रहित तथा केवल ज्ञानरूपी नेत्र के धारी केवली भगवान इस शुद्धात्मा की उपासना करने का उपाय समता ही है ऐसा कहते हैं ॥

भावार्थ—समस्त पदार्थों में समता रखने से ही भलीभांति आराधना हो सकती है इस लिये आत्मा की उपासना करने वाले भव्यजीवों को समस्त पदार्थों में अवश्य समता रखनी चाहिये ॥६३॥

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् ।
शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥६४॥

अर्थ—साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त, निरोध, शुद्धोपयोग, ये सर्वशब्द एक ही अर्थ के कहने वाले हैं अर्थात् इन शब्दों के नाम जुदे २ हैं किन्तु अर्थ एक ही है ॥६४॥

और भी आचार्यवर साम्यही के स्वरूप का वर्णन करते में ।

नाकृतिर्नाक्षरं वर्णो नो विकल्पश्च कश्चन ।
शुद्धचैतन्यमेवैकं यत्र तत्साम्यमुच्यते ॥६५॥

अर्थ—जिसमें न कोई आकार है और न कोई नीलाआदि वर्ण है और न जिस में कोई विकल्प है किन्तु जिसमें केवल एक चैतन्य ही है वही साम्य है ॥६५॥

साम्यमेकं परं कार्यं साम्यं तत्वं परं स्मृतम् ।
साम्यं सर्वोपदेशानामुपदेशो विमुक्तये ॥६६॥

अर्थ—साम्यही एक उत्कृष्ट कार्य है और साम्यही एक उत्तम तत्व है तथा साम्य ही मुक्ति के लिये समस्त उपदेशों में से उपदेश है ॥६६॥

साम्यं सद्बोधनिर्माणं शश्वदानन्दमन्दिरम् ।
साम्यं शुद्धात्मनोरूपं द्वारं मोक्षैकसद्मनः ॥६७॥

अर्थ—इस साम्य से ही भव्य जीवों को सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है तथा इस साम्य से ही अविनाशी सुख मिलता है और यह साम्य ही शुद्धात्माका स्वरूप है तथा यह साम्य ही मोक्ष रूपी मकान का द्वार है ॥६७॥

साम्यं निश्शेषशास्त्राणां सारमाहुर्विपश्चितः ।
साम्यं कर्ममहादावदाहे दावानलायते ॥६८॥

अर्थ—समस्त शास्त्रों का सारभूत यह साम्य ही है और यही साम्य समस्त कर्म रूपी वन के जलाने में दावानल के समान है ऐसा गणधर आदि देव कहते हैं।

भावार्थ—शास्त्र के अध्ययन करने से समता की प्राप्ति होती है तथा समता के होने पर समस्त कर्मों का नाश हो जाता है इस लिये भव्य जीवों को साम्य की ओर ऋजु होना चाहिये ॥६८॥

साम्यं शरण्यमित्याहुर्योगिनां योगगोचरम् ।
उपाधिरचिताशेषं दोषक्षपणकारणम् ॥६९॥

अर्थ—और यह साम्य ही समस्त दुःखों के दूर करने में समर्थ है तथा ध्यानी पुरुष ही इसका ध्यान करते हैं और यह साम्य ही आत्मा और कर्मों के सम्बंध से उत्पन्न हुये जो रागादि

दोष उनको सर्वथा नष्ट करने वाला है इस लिये भव्य जीवों को सदा साम्य का ही मनन करना चाहिये ॥६९॥

निस्पृहायाणिमाद्यब्ज खण्डे साम्यसरोजुषे ।
हंसाय शुचये मुक्तिहंसीदत्तदृशे नमः ॥७०॥

अर्थ—अणिमा महिमा आदि रूप जो कमल खण्ड उसकी जिसके अंश मात्र भी इच्छा नहीं है तथा जो समता रूपी सरोवर में सदा प्रीतिपूर्वक रमण करने वाला है और जिस की दृष्टि मोक्ष रूपी हंसी में लगी हुई है और जो अत्यन्त पवित्र है ऐसे परमहंस उस शुद्धात्मा के लिये मेरा नमस्कार है ॥७०॥

ज्ञानिनोमृतसंगाय मृत्युस्तापकरोऽपि सन् ।
आमकुम्भस्य लोकेस्मिन्न भवेत् पाकविधिर्यथा ॥७१॥

अर्थ—जिस प्रकार मिट्टी के कच्चे घड़े के लिये पकाने की विधि एक प्रकार से ताप की ही उपजाने वाली है तो भी वह पाक विधि घड़े को अमृत (जल) के संगम कराने वाली होती है अर्थात् पक जाने पर ही घड़ा पानी के भरने के योग्य होता है उसी प्रकार यद्यपि वहिरात्माओं को मृत्यु, दुःख के देने वाली है तो भी ज्ञानियों के लिये वह अमृत (मोक्ष) के समागम के ही लिये होती हैं अर्थात् ज्ञानी पुरुष सदा मृत्यु के नाश के लिये ही प्रयत्न करते रहते हैं तथा चेतन्य स्वरूप से भिन्न ही मृत्यु को मानते है इस लिये मृत्यु के होने पर भी उनको दुःख नहीं होता ॥७१॥

मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मीर्बुद्धिः कृतज्ञता ।
विवेकेन विना सर्वं सदप्येतन्न किञ्चन ॥७२॥

अर्थ—जो मनुष्य विवेकी नहीं है उसका मनुष्यपना, उत्तम कुल में जन्म, धन, ज्ञान, और कृतज्ञपना, होकर भी, निष्फल ही है इस लिये मनुष्य को विवेकी अवश्य होना चाहिये ।७२।

विवेकी किस को कहते है इस वात को आचार्यवर वतलाते हैं ।

चिदचिद्द्वे परे तत्वे विवेकस्तद्विवेचनम् ।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेयञ्च कुर्वतः ॥७३॥

अर्थः—संसार में चेतन तथा अचेतन दो प्रकार के तत्व हैं उन में ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करने वाले तथा त्याग करने योग्य को त्याग करने वाले पुरुष का जो विचार है उसी को विवेक कहते हैं।

भावार्थ—चैतन्य स्वरूप आत्मा तो ग्रहण करने योग्य है तथा जड़ शरीर आदि त्यागने योग्य है ऐसा जो विचार है उसी का नाम विवेक है ॥७३॥

दुखं किञ्चित्सुखं कञ्चिच्चित्तो भाति जड़ात्मनः।
संसारेऽत्र पुनर्नित्यं सर्वं दुःखं विवेकिनः ॥७४॥

अर्थ—मूर्ख पुरुषों को तो इससंसार में कुछ सुख तथा कुछ दुःख मालूम पड़ता है किन्तु जो हिताहित के जानने वाले विवेकी हैं उनको तो इस संसार में सब ही दुःख ही दुःख निरंतर मालूम पड़ता है ॥७४॥

हेयञ्च कर्मरागादि तत्कार्यञ्च विवेकिनः।
उपादेयं परंज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥७५॥

अर्थ—विवेकी पुरुष को ज्ञानावरणादिकर्मों का तथा उनके कार्यभूत रागादिकों का अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये और ज्ञान दर्शन स्वरूप इस उत्कृष्ट आत्मतेज को ही ग्रहण करना चाहिये ॥७५॥

ज्ञानी मनुष्य इस बात का विचार करते हैं।

इन्द्रवज्रा

यदेव चैतन्यमहं तदेव
तदेव जानाति तदेव पश्यति।
तदेव चैकं परमस्ति निश्चयाद्
गतोऽस्मि भावेन तदेकतां परम् ७६॥

अर्थ—जो चैतन्य है सो मैं ही हूं और वही चैतन्य पदार्थों को जानता है तथा देखता है और वही एक उत्कृष्ट है और निश्चयनयसे स्वभाव से मैं तथा चैतन्य अत्यंत अभिन्न हूं ॥७६॥

वसंततिलका ।

एकत्वसप्ततिरियंसुरसिन्धुरुच्चैः
श्रीपद्मनन्दिहिमभूधरतः प्रसूता ।
यो गाहते शिवपदाम्बुनिधिं प्रविष्टा-
मेतां लभेत स नरः परमां विशुद्धिम् ॥७७॥

अर्थ—यह एकत्वसप्ततिरूपी गंगानदी अत्यंत उन्नत ऐसे श्रीपद्मनन्दी नामक हिमालय पर्वत से पैदा हुई है तथा मोक्षपदरूपी समुद्र में जाकर मिली है इसलिये जो भव्य जीव उस नदी में स्नान करते हैं उन के समस्तमलों नाश हो जाते हैं और वे अत्यंत विशुद्ध हो जाते हैं ।

भावार्थ—जो भव्यजीव इस एकत्वसप्तति नामक अधिकार का चिंतवन मनन करते हैं उनके समस्त रागादि दोष दूर हो जाते है अतः वे अत्यंत शुद्ध हो जाते हैं और मोक्ष के प्राप्त होते हैं उसलिये उत्तम पुरुषों को सदा इसका ध्यान चिंतवन करना चाहिये ॥७७॥

संसारसागरसमुत्तरणैकसेतु
मिदं सतां सदुपदेशमुपाश्रिनाम् ।
कुर्यात्पदं मललवोऽपि किमन्तरङ्गे
सम्यक् समाधिविधिसन्निधिनिस्तरङ्गे ॥७८॥

अर्थ—जिन सज्जन पुरुषों ने संसार समुद्र से पार करने में पुल के समान इस उत्तम उपदेश का आश्रय किया है उन सज्जन पुरुषों के उत्तम आत्मध्यान के करने से क्षोभरहित अन्तरंग में किसी प्रकार का रागादिमल नहीं रह सकता ।

भावार्थ—इस एकत्व अधिकार के उपदेश से जिन भव्य जीवों का मन अत्यन्त निर्मल हो गया है उन भव्य जीवों के मन में किसी प्रकार का मल-प्रवेश नहीं कर सकता ॥७८॥

निर्मल चित्त होकर ज्ञानी ऐसा विचार करता है।

शार्दूल विक्रीड़ित।

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या
प्रयासत्तेर्भवति विकृतिः सापि भिन्ना तथैव ।
कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालङ्कृतं सर्वमेतत् ॥७९॥

अर्थ—यह ज्ञान स्वरूप मेरा आत्मा भिन्न है और उसके पीछे चलने वाला कर्म भी भिन्न है तथा कर्म और आत्मा के संबन्ध से जो कुछ विकार हुवा है वह भी मुझसे भिन्न है और काल क्षेत्र आदिक जो पदार्थ है वे भी मुझसे भिन्न हैं इस प्रकार अपने २ गुण तथा अपनी २ पर्यायों से सहित जितने भर पदार्थ हैं सर्व मुझसे भिन्न ही भिन्न हैं इस प्रकार ज्ञानी सदा विचार करता है ॥७९॥

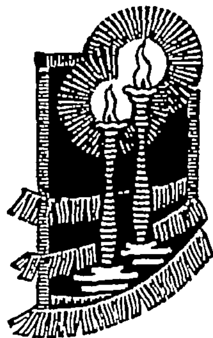
बसंत तिलका।

येऽभ्यासयन्ति कथयन्ति विचारयन्ति
सम्भावयन्ति च मुहुर्मुहुरात्मतत्वम् ।
ते मोक्षमक्षयमनूनमनन्तसौख्यं
क्षिप्रं प्रयान्ति नवकेवललब्धिरूपम् ॥८०॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि जो भव्य जीव उस आत्म तत्व का बारंबार अभ्यास करते हैं और कथन करते हैं तथा विचार और अनुभव करते हैं वे भव्य जीव अविनाशी, और महान् तथा अनन्त दर्शन, क्षायक ज्ञान, और क्षायक चारित्र, आदि नौ केवल लब्धि स्वरूप सुख

के भण्डार ऐसे मोक्ष पद को बात की बात में पा लेते हैं इसलिये भव्य जीवों के सदा इस आत्मतत्व का चिंतवन करना चाहिये ॥८०॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दि आचार्य विरचित पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में एकत्व सप्तति नामक अधिकार समाप्त हुवा ।



यतिभावनाष्टक ।

आदाय व्रतमात्मतत्वममलं ज्ञात्वाथ गत्वा वनं
निश्शेषामपि मोहकर्मजनितां हित्वा विकल्पावलिम् ।
ये तिष्ठन्ति मनोमरुच्चिदचलैकत्वप्रमोदं गताः
निष्कम्पा गिरिवज्जयन्ति मुनयस्तेसर्वसङ्गोज्झिताः ॥१॥

अर्थ—व्रत को ग्रहण कर, तथा निर्मल आत्मा के स्वरूप को जानकर, और बन में जाकर, तथा मोह कर्म से पैदा हुये समस्त विकल्पों को नष्ट कर, समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित जो मुनिगण मन रूपी पवन से नहीं चलायमान ऐसे चैतन्य की एकता में हर्ष सहित हैं अर्थात् अपने आत्म ध्यान में लीन हैं और पर्वत के समान निश्चल स्थित हे वे मुनिगण सदा इस लोक में जयवन्त हैं ॥१॥

मुनिगण इस प्रकार की भावनाओं का चिंतवन करते हैं ।

शार्दूल विक्रीडित ।

चेतोवृत्तिनिरोधनेन करणग्रामं विधायोद्वसं
तत्संहृत्य गतागतौ च मरुतौ धैर्यं समाश्रित्य च ।
पर्यङ्केन मया शिवाय विधिवच्छून्यैकभूभृद्दरी
मध्यस्थेन कदाचिदर्पितदृशा स्थातव्यमन्तर्मुखम् ॥२॥

अर्थ—चित्त की वृत्ति को रोक कर तथा इन्द्रियों को उजाड़ कर (वशकर) और श्वासोच्छ्वास को रोक कर तथा धीरता को धारण कर और पर्यंक आसन माड़कर (पालती मारकर) और आनन्द स्वरूप चैतन्य की तरफ दृष्टि लगाकर निर्जन पर्वत की गुफा में बैठकर मैं कब आत्म ध्यान करूंगा ? ॥२॥

धूलीधूसरितं विमुक्तवसनं पर्यङ्कमुद्रागतं
शान्तं निर्वचनं निमीलितदृशं तत्वोपलम्भे सति ।

उत्कीर्णं दृषदीवमांवनभुविभ्रान्तोमृगाणांगणः
पश्यत्युद्गतविस्मयो यदितदा मादृग्जनः पुण्यवान् ॥३॥

अर्थ—निज स्वरूप की प्राप्ति होने पर धूलि से मलिन तथा वस्त्र रहित और पर्यंक मुद्रा सहित तथा शांत और वचन रहित तथा आंखों को बन्द किये हुये मुझे जिस समय वन में भ्रम सहित मृग आश्चर्य से देखेंगे उसी समय मेरे समान मनुष्य पुण्यवान समझा जायगा।

भावार्थ—जिस समय मै निर्जन वन में निज स्वरूप में लीन होकर मौन सहित दिगाम्बर मुद्रा को धारण कर तथा पालती मारकर और आंखों को बन्द कर धूलि से मलिन होकर तथा क्रोध आदि कषायों से रहित शांत होकर रहूंगा तथा मृगों का समूह मुझे काष्टपाषाण की मूर्ति जान कर आश्चर्य से देखेगा उसी समय मैं पुण्यवान हूं ऐसी ज्ञानी सदा भावना करता रहता है ॥३॥

वासः शून्यमठे क्वचिन्निवसनं नित्यं ककुभमण्डलं
सन्तोपो धनमुन्नतं प्रियतमा क्षान्तिस्तपोभोजनम्
मैत्री सर्वशरीभिः सह सदा तत्वैकचिन्तासुखं
चेदास्ते न किमस्ति मे शमवतः कार्यं न किञ्चित्परः ॥४॥

अर्थ—यदि किसी शून्य मठ में मेरा निवास स्थान है तथा अविनाशी दिशाओं का समूह वस्त्र है और सन्तोष धन है तथा क्षमारूपी स्त्री है और तपरूपी भोजन है तथा समस्त प्राणियों के साथ मित्रता है और आत्मस्वरूप का चिंतवन है तो मेरे सर्व ही वस्तु मौजूद हैं फिर मुझे दूसरी वस्तुओं से क्या प्रयोजन है ऐसा योगीश्वर सदा विचार करते रहते है ॥४॥

लब्ध्वा जन्म कुले शुचौ वरवपुर्बुद्ध्वा श्रुतं पुण्यतो
वैराग्यञ्च करोति यः शुचितया लोके स एकः कृती।
तेनैवोज्झितगौरवेण यदि वा ध्यानामृतं पीयते।
प्रासादे कलशस्तदा मणिमयो हैमे समारोपितः ॥५॥

अर्थ—जो मनुष्य इस संसार में उत्तम कुल में जन्म पाकर तथा नीरोग और सुन्दर शरीर को प्राप्त कर और शास्त्र को जानकर वैराग्य को प्राप्त होकर पवित्र तप को करता है वह मनुष्य संसार भर में एक ही पुण्यवान समझा जाता है। और वही तप करने वाला पुरुष यदि मदरहित होकर ध्यानामृत का आस्वादन करै तो समझना चाहिये कि उस मनुष्य ने सुवर्णमय घर के ऊपर मणिमय कलश की स्थापना की।

भावार्थ—जिस प्रकार संसार में कोई मनुष्य सुवर्णमई मकान बनवावे तो वह अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता है और यदि वही पुरुष उसके ऊपर मणिमई कलश चढ़ावे तो वह और भी अत्यंत प्रतिष्ठित समझा जाता है उसी प्रकार उत्तमकुल में जन्म पाकर, तथा नीरोग, और सुन्दर शरीर को प्राप्त होकर और शास्त्र को जानकर तथा वैराग्य को पाकर, जो पुरुष तप करता है वह अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता है। किन्तु जो ऐसा होकर ध्यान भी करता है वह और भी अत्यन्त प्रतिष्ठित समझा जाता है इसलिये भव्यजीवों को उपर्युक्त सामिग्री के मिलने पर ध्यान अवश्य करना चाहिये ॥५॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

ग्रीष्मे भूधरमस्तकाश्रितशिलां मूलं तरोः प्रावृषि
प्रोद्भूते शिशिरे चतुष्पथपदं प्राप्ताः स्थितिं कुर्वते।
ये तेषां यमिनां यथोक्ततपसां ध्यानप्रशान्तात्मनां
मार्गे सञ्चरतो मम प्रशमिनः कालः कदा यास्यति ॥६॥

अर्थ—जो योगीश्वर ग्रीष्मऋतु में पहाड़ों के अग्र भाग में स्थित शिला के ऊपर ध्यानरस में लीन होकर रहते है तथा वर्षाकाल में वृक्षों के मूल में बैठकर ध्यान करते हैं और शरदऋतु में चौड़े मैदान में बैठकर ध्यान लगाते हैं उन शास्त्र के अनुसार तप के धारी तथा ध्यान से जिनकी आत्मा शान्त हो गई हैं ऐसे योगिश्वरों के तार्ग में गमन करने के लिये मुझे भी कब वह समय मिलेगा ॥६॥

भेदज्ञानविशेषसंहृतमनोवृत्तिः समाधिः परो
जायेताद्भुतधाम धन्यशमिनां केषांचिदत्राचलः ॥

वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वह्निप्रदीप्तेऽपि वा
येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत्प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥७॥

अर्थ—और स्वपर के भेद ज्ञान से जिस समाधि मे मन की वृत्ति संकुचित है और जो आश्चर्यकारी है तथा उत्कृष्ट और अचल है ऐसी वह समाधि उन धन्य तथा शाम्यभाव के धारक मुनियों के होती है जिस समाधि के होने पर मस्तक पर वज्र गिरने पर भी तथा तीनों लोक के जलने पर भी और निज प्राणों के नष्ट होने पर भी जिन मुनियों के मन को किसी प्रकार का विकार नहीं होता ॥७॥

अन्तस्तत्वमुपाधिवर्जितमहं व्यापारवाच्यं परं
ज्योतिर्यैः कलितं श्रुतं च यति भरते सन्तु नः शान्तये ।
येषां तत्सदनं तदेव शयनं ‸‸ सम्पदस्तत्सुखं
तद्वृत्तिस्तदपि प्रियं तदखिलश्रेष्ठार्थसंसाधकम् ॥८॥

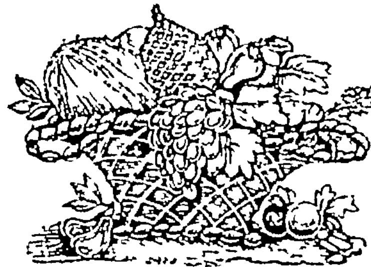
अर्थ—जिस के साथ किसी प्रकार के कर्म का संबंध नहीं है तथा जो "अहम्" इस शब्द से कहा जाता है ऐसे उत्कृष्ट ज्योतिःस्वरूप आत्मतत्व को जिन मुनीश्वरों ने जान लिया है तथा सुन लिया है और जिन योगीश्वरों के वह निज तत्व ही एक रहने का स्थान है और वही सोने का स्थान है तथा वही श्रेष्ठ संपदा है और वही सुख है तथा वही वृत्ति है और वही प्रिय है तथा वही निजतत्व जिन मुनियों को मनोवांछित पदार्थों का सिद्ध करने वाला है वे यतीश्वर मुझे शान्ति प्रदान करें ॥८॥

पापारिक्षयकारि दातृ नृपतिस्वर्गापवर्गश्रियां
श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं चिच्चेतनानन्दिभिः ।
भक्त्या यो यतिभावनाष्टकमिदं भव्यस्त्रिसन्ध्यं पठेत्
किं किं सिध्यति वाञ्छितं न भुवने तस्यात्र पुण्यात्मनः ॥९॥

अर्थ—जो यतिभाव नाष्टक समस्त पापरूपी वैरियों का नाश करने वाला है और राजलक्ष्मी तथा स्वर्ग मोक्ष की लक्ष्मी का देने वाला है तथा जिस की रचना चैतन्य स्वरूप तत्व

में आनन्द मानने वाले श्रीपद्मनन्दि मुनी ने की है ऐसे यतिभाव नाष्टक को जो भव्य जीव भक्ति पूर्वक तीनों काल पढ़ते हैं उन भाग्यशाली भव्य जीवों को संसार में किस किस इष्टपदार्थों की प्राप्ति नहीं होती ? अर्थात् सर्व इष्टपदार्थ उन को सुलभ रीति से मिल जाते हैं ॥९॥

इस प्रकार इस पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में यतिभावनाष्टक
नामक पञ्चम अधिकार समाप्त हुआ ।



श्रावकाचारः ।

अनुष्टुप् ।

आद्यो जिनो नृपःश्रेयान् व्रतदानादिपूरुषौ ।
एतदन्योऽन्यसंवन्धे धर्मस्थितिरभूदिह ॥१॥

अर्थ—आदि जिनेन्द्र श्रीऋषभनाथ और श्रेयांस नामक राजा ये दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा धर्म तीर्थ के प्रवर्ताने में आदि पुरुष है और इस भरतक्षेत्र में इन दोनों के संबंध से ही धर्म की स्थिति हुई है।

भावार्थ—चतुर्थ काल की आदि में जिस समय कर्मभूमि की प्रवृत्ति थी उस समय सब से पहिले व्रततीर्थ की प्रवृत्ति श्री आदीश्वर भगवान ने की है अर्थात् प्रथम ही प्रथम इन्होंने ही तप आदि को धारण किया है तथा उसी काल में दानतीर्थ की प्रवृत्ति श्री श्रेयांस राजा ने की है अर्थात् सब से पहिले श्री आदीश्वर भगवान को श्रेयांस राजा ने ही दान दिया है इस लिये ये दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा दानतीर्थ के प्रवर्ताने में आदि पुरुष हैं और इन दोनों के संबंध से ही इस भरतक्षेत्र में धर्म की स्थिति हुई है ॥१॥

अब आचार्य धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

सम्यग्दृग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते ।
मुक्तेः पन्था स एव स्यात्प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥२॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को धर्म कहते हैं तथा प्रमाण से निश्चित यह धर्म ही मोक्ष का मार्ग है ॥२॥

रत्नत्रयात्मके मार्गे संचरन्ति न ये जनाः ।
तेषां मोक्षपदं दूरं भवेद्दीर्घतरोभवः ॥३॥

अर्थ—जो मनुष्य इस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र स्वरूप मोक्ष मार्ग में गमन नहीं करते है उनको कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और उनके लिये संसार दीर्घतर हो जाता है अर्थात् उनका संसार कभी भी नही छूटता ॥३॥

सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां सच धर्मोद्विधाभवेत्।
आद्यो भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीयेगृहिणः स्थिताः ॥४॥

अर्थ—और वह रत्नत्रयात्मक धर्म सर्वदेश तथा एक देश के भेद से दो प्रकार का है उस में सर्व देश धर्म का तो निर्ग्रन्थ मुनि पालन करते हैं और एक देश धर्म का गृहस्थ (श्रावक) पालन करते हैं ॥४॥

सम्प्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना।
तेनैतेऽपि च गरायन्ते गृहस्था धर्महेतवः ॥५॥

अर्थ—इस कलिकाल में भी उस धर्म की उसी मार्ग से अर्थात् सर्व देश तथा एक देश मार्ग से ही प्रवृत्ति है इसलिये उस धर्म के कारण, गृहस्थ भी गिने जाते हैं ॥५॥

सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः।
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम् ॥६॥

अर्थ—और इस काल में श्रावक गण बड़े २ जिन मन्दिर बनवाते हैं तथा आहार देकर मुनियों के शरीर की स्थिति करते है तथा सर्व देश और एक देश रूप धर्म की प्रवृत्ति करते हैं और दान देते हैं इसलिये इन सबों के मूल कारण श्रावक ही है अतः श्रावक धर्म भी अत्यन्त उत्कृष्ट है ॥६॥

पट् आवश्य कर्म ।

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानश्चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥७॥

अर्थ—जिनेन्द्र देव की पूजा और निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा तथा स्वाध्याय और संयम तथा योग्यतानुसार तप और दान ये छै कर्म श्रावकों को प्रतिदिन करने योग्य हैं ॥७॥

सामायिक का लक्षण।

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायकंव्रतम् ॥८॥

अर्थ—समस्त प्राणियों में साम्य भाव रखना तथा संयम धारण करने में अच्छी भावना रखना और आर्त ध्यान तथा रौद्र ध्यान का त्याग करना इसी का नाम सामायिक व्रत है ॥८॥

सामायिकं न जायेत व्यसनम्लानचेतसः।
श्रावकेन ततः साक्षात्त्याज्यं व्यसनसप्तकम् ॥९॥

अर्थ—जिन मनुष्यों का चित्त व्यसनों से मलिन हो रहा है उनके कदापि यह सामायिक व्रत नहीं हो सकता इसलिये सामायिक के आकांक्षी श्रावकों को सातों व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥९॥

सात व्यसनों के नाम।

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गना
महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद्बुधः ॥१०॥

अर्थ—जूवा मांस मद्य वेश्या शिकार चोरी परस्त्री ये सात व्यसन संसार में प्रबल है इसलिये विद्वानों को चाहिये कि वे इनका सर्वथा त्याग करदेवें ॥१०॥

अनुष्टुप।

धर्मार्थिनोऽपि लोकस्य चेदस्ति व्यसनाश्रयः।
जायते न ततः सापि धर्मान्वेषणयोग्यता ॥११॥

अर्थ—जो पुरुष धर्म की अभिलाषा करने वाला है यदि उसके भी ये व्यसन होवे तो उस पुरुष में धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती अर्थात् वह धर्म की परीक्षा करने का पात्र ही नहीं हो सकता इसलिये धर्मार्थी पुरुषों को अवश्य ही व्यसनों का त्याग कर देना चाहिये ॥११॥

सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम् ।
आकर्षयन्नृणामेतद् व्यसनं स्वसमृद्धये ॥१२॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार व्यसन सात हैं उसी प्रकार नरक भी सात ही हैं इसलिये ऐसा मालूम होता है कि उन नरकों ने अपनी २ वृद्धि के लिये मनुष्यों को खींचकर नरक में लेजाने के लिये एक २ व्यसन को नियत किया है ॥१२॥

धर्मशत्रुविनाशार्थं पापायकुपतेरिह ।
सप्ताङ्गबलवद्राज्यं सप्तभि र्व्यसनैः कृतम् ॥१३॥

अर्थ—और भी आचार्य कहते हैं कि धर्मरूपी वैरी के नाश करने के लिये पाप नामक दुष्ट राजा का सात व्यसनों से रचा हुवा यह सात हैं अंग जिसके ऐसा बलवान् राज्य है ।

भावार्थ—जिस प्रकार राजा सप्तांग सेना से शत्रु का विजय करता है उसी प्रकार यह पापरूप राजा भी सप्तव्यसनरूपी सप्तांग सेना से धर्मरूपी शत्रु को जीतता है इसलिये जो पुरुष धर्म की रक्षा करना चाहते हैं उन को सप्तव्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥१३॥

आचार्य छै आवश्यकों की महिमा वर्णन करते हैं ।

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये ।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ॥१४॥

अर्थ—जो भव्यजीव जिनेन्द्र भगवान को भक्ति पूर्वक देखते हैं तथा उनकी पूजा स्तुति करते हैं वे भव्यजीव तीनों लोकों में दर्शनीय तथा पूजा के योग्य तथा स्तुति के योग्य होते हैं अर्थात् सर्वलोक उनको भक्ति से देखता है तथा उनकी पूजा स्तुति करता है ॥१४॥

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम् ॥१५॥

अर्थ—किन्तु जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखते हैं और न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति ही करते हैं उन मनुष्यों का जीवन संसार में निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रम के लिये भी धिक्कार है ॥१५॥

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥१६॥

पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥१७॥

अर्थ—भव्य जीवों को प्रातःकाल उठकर जिनेंद्र देव तथा गुरु का दर्शन करना चाहिये और भक्ति पूर्वक उनकी वंदना स्तुति भी करनी चाहिये और धर्म का श्रवण भी करना चाहिये इन के पीछे अन्य गृह आदि संबंधी कार्य करने योग्य हैं क्योंकि गणधर आदि महा पुरुषों ने धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में धर्म का ही सब से प्रथम निरूपण किया है तथा उसी को मुख्य माना है ॥१६॥१७॥

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम् ।
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम् ॥१८॥

अर्थ—जिस केवल ज्ञान रूपी लोचन से समस्त पदार्थ हाथ की रेखा के समान प्रकट रीति से देखने में आते हैं ऐसा ज्ञान रूपी नेत्र निर्ग्रंथ गुरुओं की कृपा से ही प्राप्त होता है इसलिये ज्ञान के आकांक्षी मनुष्यों को भक्ति पूर्वक गुरुओं की सेवा वंदना आदि करनी चाहिये ॥१८॥

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते
अंधकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ॥१९॥

अर्थ—जो मनुष्य गुरुओं को नहीं मानते हैं और उनकी सेवा वंदना नहीं करते हैं उन मनुष्यों के लिये सूर्य के उदय होने पर भी अंधकार ही है।

भावार्थ—जो मनुष्य परिग्रह रहित तथा ज्ञान ध्यान तप में लीन गुरुओं को नहीं मानते हैं तथा उनकी उपासना भक्ति आदि नहीं करते हैं उन पुरुषों के अंतरंग में अज्ञान रूपी अंधकार

सदा विद्यमान रहता है इसलिये सूर्य के उदय होने पर भी वे अन्धे ही बने रहते हैं अतः भव्य जीवों को चाहिये कि वे अज्ञान रूप अंधकार के नाश करने के लिये गुरुओं की सेवा करें ॥१६॥

ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्गुरुप्रकटीकृतम् ।
तेऽन्धाः सचक्षुषोपीह सम्भाव्यन्ते मनीषिभिः ॥२०॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्तम और निष्कलंक गुरुओं से प्रकट किये हुये शास्त्रों को नहीं पढ़ते हैं उन मनुष्यों को विद्वान पुरुष नेत्र धारी होने पर भी अन्धे ही मानते हैं।

भावार्थ—वस्तु का स्वरूप यथार्थ रीति से शास्त्र से जाना जाता है किन्तु जो मनुष्य शास्त्र को न तो देखते हैं और न बांचते ही हैं वे मनुष्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को भी नहीं जानते हैं इसलिये नेत्र सहित होने पर भी वे अन्धे ही हैं अतः भव्य जीवों को शास्त्र का स्वाध्याय तथा मनन अवश्य करना चाहिये ॥२०॥

मन्ये न प्रायशस्तेषां कर्णाश्च हृदयानि च
यैरभ्यासे गुरोः शास्त्रं नश्रुतं नावधारितम् ॥२१॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं जिन मनुष्यों ने गुरू के पास में रहकर न तो शास्त्र को सुना है तथा हृदय में धारण भी नहीं किया है उनके काम तथा मन नहीं हैं ऐसा प्रायकर हम मानते हैं ॥२१॥

भावार्थ—कान तथा मन की प्राप्ति का सफलपना शास्त्र के सुनने से और उसके अभिप्राय को मन में धारण करने से होता है किन्तु जिन मनुष्यों ने कान पाकर शास्त्र का श्रवण नहीं किया है तथा मन पाकर उसका अभिप्राय भी नहीं समझा है उन मनुष्यों के कान तथा हृदय का पाना न पाना सरीखा ही है इसलिये विद्वानों को शास्त्र का श्रवण तथा उसका मनन अवश्य करना चाहिये जिससे उनके कान तथा हृदय सफल समझे जावें ॥२१॥

अब आचार्य संयम नामक आवश्यक का कथन करते हैं।

देशव्रतानुसारेण संयमोऽपि निषेव्यते ।
गृहस्थैर्येन तेनैव जायते फलवद्व्रतम् ॥२२॥

ज्ञानादि आठ गुणों कर सहित सिद्धपरमेष्ठीमें, तथा दर्शनाचार ज्ञानाचार आदि पंचआचारों को स्वयं आचरण करनेवाले और अन्योंको आचरण करानेवाले ऐसे आचार्य परमेष्ठी में, तथा ग्यारह अंग चौदह पूर्व के पढ़ने पढ़ानेके अधिकारी ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी में, और रत्नत्रयको धारणकर मोक्ष के अभिलाषी ऐसे साधुपरमेष्ठीमें, अवश्य विनय करनी चाहिये उसीप्रकार सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रमें तथा उस रत्नत्रयके धारणकरने वालों में भी अवश्य विनय करनी चाहिये ॥२९॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृति सिध्यति
विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते ॥३०॥

अर्थ—विनय से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र तथा तप आदि की प्राप्ति होती है इसलिये उस विनय को गणधर आदि महापुरुष मोक्ष का द्वार कहते हैं अतः मोक्ष के अभिलाषी भव्यों को यह विनय अवश्य करनी चाहिये ॥३०॥

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः।
दानहीना भवेत्तेषां निस्फलैव गृहस्थता ॥३१॥

अर्थ—धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तम पात्रों में शक्ति के अनुकूल दान भी अवश्य देना चाहिये क्योंकि बिना दानके गृहस्थों का गृहस्थपना निष्फल ही है ॥ ३१॥

दानं ये न प्रयच्छन्ति निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम्।
पाशाएव गृहास्तेषां बन्धनायैव निर्मिता ॥३२॥

अर्थ—जो पुरुष निर्ग्रन्थयतीश्वर को आहार औषधिअभय तथा शास्त्र इस प्रकार चार प्रकार के दान को नहीं देते हैं उनके लिये घर जाल के समान केवल बांधने के लिये बसाये गये हैं ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—जिस घर में यतीश्वरों का आवागमन घना रहता है वे घर तथा उन घरों में रहनेवाले श्रावक धन्य गिने जाते है किन्तु जो मनुष्य यतीश्वरों का दान नहीं देते इसलिये

जिनके घर में यतीश्वर नहीं आते वे घर नहीं हैं किन्तु मनुष्यों के फासने के लिये जाल हैं इसलिये भव्य जीवों को चाहिये वे प्रतिदिन यथा योग्य यतीश्वरों का दान अवश्य दिया करें ॥३२॥

अभयाहारभैषज्यशास्त्रदाने हि यत्कृते ।
ऋषीणां जायते सौख्यं गृही श्लाघ्यः कथं न सः ॥३३॥

अर्थ—जिस गृहस्थ के अभयदान आहारदान औषधिदान तथा शास्त्रदान के करने पर यतीश्वरों को सुख होता है वह गृहस्थ क्यों नहीं प्रशंसा के योग्य है ? अर्थात् उस गृहस्थ की सर्वलोक प्रशंसा करता है इसलिये ऐसा उत्तमदान गृहस्थों को अवश्य देना चाहिये ॥३३॥

समर्थोऽपि न यो दद्याद्यतीनां दानमादरात्
छिनत्ति स स्वयं मूढः परत्र सुखमात्मनः ॥३४॥

अर्थ—समर्थ होकर भी जो पुरुष आदरपूर्वक यतीश्वरों को दान नहीं देता वह मूढ़ पुरुष आगामी जन्म में होने वाले अपने सुख को स्वयं नाश करता है ।

भावार्थ—जो मनुष्य एक समय भी यतीश्वरों को नवधाभक्ति से दान देता है उसको हरभव में नाना प्रकार के स्वर्ग आदि सुखों की प्राप्ति होती है किन्तु जो पुरुष समर्थ होकर भी आदर पूर्वक यतीश्वरों को दान नहीं देता वह स्वर्ग आदि सुख के बदले नाना प्रकार के नरकों के दुःखों को भोगता है इसलिये समर्थ गृहस्थों को तो अवश्य ही दान देना चाहिये ॥३४॥

दृषन्नावा समो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः
तदारूढो भवाम्भोधौ मज्जत्येव न संशयः ॥३५॥

अर्थ—जो गृहस्थाश्रम दान कर रहित है वह पत्थर की नाव के समान है तथा उस गृहस्थाश्रमरूपी पत्थर की नाव में बैठने वाला मनुष्य नियम से संसाररूपी समुद्र में डूबता है ।

भावार्थ—जो मनुष्य पाषाण से बनी हुई नाव पर चढकर समुद्र को तरना चाहता है वह जिस प्रकार नियम से समुद्र में डूबता है उसी प्रकार जिस गृहष्थाश्रम में यतीश्वरों के लिये

अर्थ—धर्मात्मा श्रावकों को एक देशव्रत के अनुसार संयम भी अवश्य पालना चाहिये जिस से उनका किया हुआ व्रत फलीभूत होवे ॥

भावार्थ—जीवों की रक्षा करना और मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना इसका नाम संयम है जब तक यह संयम न किया जावेगा तब तक व्रत कदापि फलीभूत नहीं हो सकते इस लिये आचार्य उपदेश देते है कि एक देशव्रत के अनुसार श्रावकों को संयम अवश्य पालना चाहिये जिस से उन का व्रत फल का देने वाला होवे ॥२२॥

त्याज्यं मांसंच मद्यञ्च मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणाःप्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ॥२३॥

अर्थ—श्रावकों को मद्य मास मधु का तथा पांच उदुम्बरों का अवश्य त्याग कर देना चाहिये और सम्यग्दर्शन पूर्वक इन आठों का त्याग ही गृहस्थों के आठ मूल गुण हैं ॥२३॥

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते ॥२४॥

अर्थ—पांच प्रकार के अणुव्रत तथा तीन प्रकार के गुणव्रत और चार प्रकार के शिक्षा व्रत ये बारह व्रत ग्रहस्थों के हैं ।

भावार्थ—अहिंसा अणुव्रत सत्य अणुव्रत अचौर्य अणुव्रत ब्रह्मचर्य अणुव्रत तथा परिग्रह परियाण नामक अणुव्रत ये पांच अणुव्रत, और दिग्व्रत देशव्रत तथा अनर्थदंडव्रत ये तीन गुण व्रत, तथा देशावकाशिक सामायिक प्रोपधोपवास वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत, इन बारह व्रतों को गृहस्थ पालते हैं ॥२४॥

पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः ।
वस्त्रपूतं पिवेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम् ॥२५॥

अर्थ—अष्टमी चतुर्दशी को शक्ति के अनुसार उपवास आदितप, तथा छने हुए जल का पान, और रात को भोजन का त्याग भी गृहस्थों को अवश्य करना चाहिये ॥२५॥

तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माण्यपि नाश्रयेत् ।
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम् ॥२६॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसे देश को तथा ऐसे पुरुष को और ऐसे धन को तथा ऐसी क्रिया को कदापि आश्रयण नहीं करते जहां पर उनका सम्यग्दर्शन मलिन होवे तथा व्रतों का खण्डन होवे ॥२६॥

भोगोपभोगसंख्यानं विधेयं विधिवत्सदा ।
व्रतशून्या न कर्तव्या काचित्कालकला बुधैः ॥२७॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि श्रावकों को भोगोपभोग परिमाण व्रत सदा करना चाहिये और विद्वानों को एकक्षण भी विना व्रत के नहीं रहना चाहिये ॥२७॥

रत्नत्रयाश्रयः कार्यस्तथा भव्यैरतन्द्रितैः ।
जन्मान्तरेऽपि यच्छ्रद्धा यथा संवर्धमेततरा ॥२८॥

अर्थ—आलस्य रहित होकर भव्य जीवों को उसी रीति से रत्नत्रयका आश्रय करना चाहिये जिस से दूसरे २ जन्मों में भी उस की श्रद्धा बढ़ती ही चली जावे ॥२८॥

विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु ।
दृष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः ॥२९॥

अर्थ—जो जिनेन्द्र के सिद्धान्त के अनुयायी हैं उन भव्य जीवों को योग्यतानुसार, जो उत्कृष्ट स्थान में रहनेवाले हैं ऐसे परमेष्ठियों में विनय अवश्य करनी चाहिये तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चरित्र में और इनके धारण करनेवाले महात्माओं में भी अवश्य विनय करना चाहिये ॥

भावार्थ—जो मनुष्य जिनेन्द्र सिद्धान्त के भक्त हैं तथा धर्मात्मा हैं उनको समवशरण लक्ष्मीकर युक्त, और चारघातियाकर्मों को नाशकर केवल ज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय के धारी, श्रीअर्हन्त परमेष्ठी में, तथा समस्त कर्मों को नाशकर लोक के शिखर पर विराजमान और अनन्त

ज्ञानादि आठ गुणों कर सहित सिद्धपरमेष्ठीमें, तथा दर्शनाचार ज्ञानाचार आदि पांचआचारों को स्वयं आचरण करनेवाले और अन्योंको आचरण करानेवाले ऐसे आचार्य परमेष्ठी में, तथा ग्यारह अंग चौदह पूर्व के पढ़ने पढ़ानेके अधिकारी ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी में, और रत्नत्रयको धारणकर मोक्ष के अभिलाषी ऐसे साधुपरमेष्ठीमें, अवश्य विनय करनी चाहिये उसीप्रकार सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रयमें तथा उस रत्नत्रयके धारणकरने वालों में भी अवश्य विनय करनी चाहिये ॥२९॥

दर्शनज्ञानचारित्रतपः प्रभृति सिध्यति
विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते ॥३०॥

अर्थ—विनय से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र तथा तप आदि की प्राप्ति होती है इसलिये उस विनय को गणधर आदि महापुरुष मोक्ष का द्वार कहते हैं अतः मोक्ष के अभिलाषी भव्यों को यह विनय अवश्य करनी चाहिये ॥३०॥

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः ।
दानहीना भवेत्तेषां निस्फलैव गृहस्थता ॥३१॥

अर्थ—धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तम पात्रों में शक्ति के अनुकूल दान भी अवश्य देना चाहिये क्योंकि विना दानके गृहस्थों का गृहस्थपना निष्फल ही है ॥ ३१॥

दानं ये न प्रयच्छन्ति निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम् ।
पाशाएव गृहास्तेषां बन्धनायैव निर्मिता ॥३२॥

अर्थ—जो पुरुष निर्ग्रन्थयतीश्वर को आहार औषधिअभय तथा शास्त्र इस प्रकार चार प्रकार के दान को नहीं देते हैं उनके लिये घर जाल के समान केवल बांधने के लिये बनाये गये हैं ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—जिस घर में यतीश्वरों का आवागमन बना रहता है वे घर तथा उन घरों में रहनेवाले श्रावक धन्य गिने जाते है किन्तु जो मनुष्य यतीश्वरों का दान नहीं देते इसलिये

जिनके घर में यतीश्वर नहीं आते वे घर नहीं हैं किन्तु मनुष्यों के फासने के लिये जाल हैं इसलिये भव्य जीवों को चाहिये वे प्रतिदिन यथा योग्य यतीश्वरों का दान अवश्य दिया करें ॥२२॥

अभयाहारभैषज्यशास्त्रदाने हि यत्कृते ।
ऋषीणां जायते सौख्यं गृही श्लाघ्यः कथं न सः ॥२३॥

अर्थ—जिस गृहस्थ के अभयदान आहारदान औषधिदान तथा शास्त्रदान के करने पर यतीश्वरों को सुख होता है वह गृहस्थ क्यों नहीं प्रशंशा के योग्य है ? अर्थात् उस गृहस्थ की सर्वलोक प्रशंशा करता है इसलिये ऐसा उत्तमदान गृहस्थों को अवश्य देना चाहिये ॥२३॥

समर्थोऽपि न यो दद्याद्यतीनां दानमादरात्
छिनत्ति स स्वयं मूढः परत्र सुखमात्मनः ॥२४॥

अर्थ—समर्थ होकर भी जो पुरुष आदरपूर्वक यतीश्वरों को दान नहीं देता वह मूढ़ पुरुष आगामी जन्म में होने वाले अपने सुख को स्वयं नाश करता है।

भावार्थ—जो मनुष्य एक समय भी यतीश्वरों को नवधाभक्ति से दान देता है उसको हरभव में नाना प्रकार के स्वर्ग आदि सुखों की प्राप्ति होती है किन्तु जो पुरुष समर्थ होकर भी आदर पूर्वक यतीश्वरों को दान नहीं देता वह स्वर्ग आदि सुख के बदले नाना प्रकार के नरकों के दुःखों को भोगता है इसलिये समर्थ गृहस्थों को तो अवश्य ही दान देना चाहिये ॥२४॥

दृषन्नावा समो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः
तदारूढो भवाम्भोधौ मज्जत्येव न संशयः ॥२५॥

अर्थ—जो गृहस्थाश्रम दान कर रहित है वह पत्थर की नाव के समान है तथा उस गृहस्थाश्रमरूपी पत्थर की नाव में बैठने वाला मनुष्य नियम से संसाररूपी समुद्र में डूबता है।

भावार्थ—जो मनुष्य पाषाण से बनी हुई नाव पर चढ़कर समुद्र को तरना चाहता है वह जिस प्रकार नियम से समुद्र में डूबता है उसी प्रकार जिस गृहस्थाश्रम में यतीश्वरों के लिये

दान नहीं दिया जाता उस गृहस्थाश्रम में रहने वाले गृहस्थ कदापि संसार को नाशकर मोक्ष नहीं पा सकते इसलिये संसार से तरने की अभिलाषा करने वाले भव्यजीवों को अवश्य ही यतीश्वरों को दान देना चाहिये ॥३५॥

स्वमतस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते
वहुपापावृतात्मानस्ते धर्मस्य पराङ्मुखाः ॥३६॥

अर्थ—जो मनुष्य साधर्मी सज्जनों में शक्ति के अनुसार प्रीति नहीं करते उन मनुष्यों की आत्मा प्रबल पाप से ढकी हुई है और वे धर्म से पराङ्मुख हैं अर्थात् धर्म के अभिलाषी नहीं हैं इसलिये भव्यजीवों को साधर्मी मनुष्यों के साथ अवश्य प्रीति करनी चाहिये ॥३६॥

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतोभवेत् ॥३७॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से करुणा से पूरित भी जिन मनुष्यों के चित्तों में दया नहीं है उन मनुष्यों के धर्म कदापि नहीं हो सकता।

भावार्थ—समस्तजीवों पर दया भाव रखना इसी का नाम धर्म है किन्तु जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से जिन मनुष्यों के चित्त करुणारस से भरे हुवे हैं ऐसे मनुष्यों के भी अंतरंग में यदि दया नहीं है तो वे मनुष्य, धर्म के पात्र कदापि नहीं हो सकते इसलिये उत्तम पुरुषों को जीवों पर अवश्य दया करनी चाहिये ॥३७॥

मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम सम्पदाम्
गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या बिवेकिभिः ॥३८॥

अर्थ—धर्मरूपी वृक्ष की जड़ तथा समस्त व्रतों में मुख्य और सर्वसंपदाओं का स्थान तथा गुणों का खजाना यह दया है इसलिये विवेकी मनुष्यों को यह दया अवश्य करनी चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार विना जड़ के वृक्ष नहीं ठहर सकता उसी प्रकार विना दया के धर्म नहीं हो सकता इसलिये यह दया धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है तथा समस्त अणुव्रत तथा महाव्रतों में यह मुख्य है क्योंकि बिना दया के पालन किये हुए अणुव्रत तथा महाव्रत सर्व

निष्फल है और इसी दया से बड़ी २ इन्द्र चक्रवर्ती आदि की संपदाओं की प्राप्ति होती है इसलिये यह दया संपदाओं का स्थान है और इसी दया से समस्त गुणों की प्राप्ति होती है इसलिये यह दया गुणों का खजाना है अतः जो मनुष्य हित तथा अहित के जानने वाले हैं उनको ऐसी उत्तमदया प्राणियों में अवश्य करनी चाहिये किंतु दया से पराङ्मुख कदापि नहीं रहना चाहिये ॥३८॥

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे ।
सूत्राधाराः प्रसूनानां हाराणां च सराइव ॥३९॥

अर्थ—जिस प्रकार फूलों के हारों की लडी सूत्र के आश्रय से रहती है उसी प्रकार मनुष्य में समस्त गुण जीव दया के आधार से रहते हैं इसलिये समस्त गुणों की स्थिति के अभिलाषी भव्यजीवों को यह दया अवश्य करनी चाहिये ॥३९॥

यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि सकलान्यपि ।
एकाऽहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं कथितानि जिनेश्वरैः ॥४०॥

अर्थ—जितनेभर मुनियों के व्रत तथा श्रावकों के व्रत सर्वज्ञ देव ने कहे हैं वे सर्व अहिंसा की प्रसिद्धि के लिये ही कहे हैं किन्तु हिंसा का पोषण करने वाला उन में कोई भी व्रत नहीं कहा गया है इस लिये व्रती मनुष्यों को समस्त प्राणियों पर दया ही रखनी चाहिये ॥४०॥

जीवहिंसादिसंकल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते ।
पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात् ॥४१॥

अर्थ—केवल अन्य प्राणियों को पीड़ा देने से ही पाप की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु "उस जीव को मारूंगा अथवा वह जीव मर जावे तो अच्छा हो" इत्यादि जीव हिंसा के संकल्पों से जिस समय आत्मा मलिन होता है उस समय भी पाप की उत्पत्ति होती है इसलिये उत्तम मनुष्यों को जीव हिंसा का संकल्प नहीं करना चाहिये ॥४१॥

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः ।
तद्भावना भवत्येव कर्मणःक्षयकारणम् ॥४२॥

अर्थ—उत्तम पुरुषों को वारह भावनाओं का सदा चिंतवन करना चाहिये क्योंकि उन भावनाओं का चिंतवन, समस्त कर्मों का करने वाला होता है ॥४२॥

अध्रुवाशरणेचैव भव एकत्वमेव च ।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवाश्रवसंवरौ ॥४३॥

निर्जरा च तथा लोको बोधिदुर्लभधर्मता ।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुङ्गवैः ॥४४॥

अर्थ—अध्रुव १ अशरण २ संसार ३ एकत्व ४ अन्यत्व ५ अशुचित्व ६ आश्रव ७ संवर ८ निर्जरा ९ लोक १० बोधिदुर्लभ ११ धर्म १२ ये वारह अनुप्रेक्षा जिनेन्द्र देव ने कही है ॥४३॥४४॥

अनित्य भावना के स्वरूप का वर्णन ।

अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम् ।
तन्नाशेऽपि न कर्तव्यः शोकोदुष्कर्मकारणम् ॥४५॥

अर्थ—प्राणियों के समस्त शरीर धन धान्य आदि पदार्थ विनाशीक है इसलिये उनके नष्ट होने पर जीवों को कुछ भी शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि उस शोक से केवल खोटे कर्मों का वंध ही होता है ॥४५॥

अशरण भावना के स्वरूप का वर्णन ।

व्याघ्रेणाघ्रातकायस्य मृगशावस्य निर्जने ।
यथा न शरणं जन्तोः संसारे न तथापदि ॥४६॥

अर्थ—जिस मृग के वच्चे का शरीर व्याघ्र ने प्रवल रीति से पकड़ लिया है ऐसे मृग के वच्चे को जिस प्रकार निर्जन वन में कोई वचाने के लिये समर्थ नहीं है उसी प्रकार इस संसार में आपत्ति के आने पर जीव को भी कोई इन्द्र अहमिन्द्र आदि नहीं वचा सकते इसलिये भव्यजीवों को सिवाय धर्म के किसी को भी रक्षक नहीं समझना चाहिये ॥४६॥

संसार भावना का स्वरूप ।

यत्सुखं तत्सुखाभासो यद् दुःखं तत्सदञ्जसा ।
भवे लोक सुखं सत्यं मोक्षएव स साध्यताम् ॥४७॥

अर्थ—हे जीव संसार में जो सुख मालूम होता है वह सुख नहीं है सुखाभास है अर्थात् सुख के समान मालूम पड़ता है और जो दुःख है सो सत्य है किन्तु वास्तविक सुख मोक्ष में ही है इसलिये तुझे मोक्ष की प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥४७॥

एकत्व भावना का स्वरूप

स्वजनोवा परोवापि नो कश्चित्परमार्थतः ।
केवलं स्वार्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते ॥४८॥

अर्थ—यदि निश्चय रीति से देखा जावे तो संसार में जीव का न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन ही है तथा यह जीव अपने किये हुवे कर्म के फल को अकेला ही भोगता है ॥४८॥

अन्यत्व भावना का स्वरूप

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः ।
भेदोयदि ततोन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥४९॥

अर्थ—शरीर और आत्मा की स्थिति दूध तथा जल के समान मिली हुई है यदि ये दोनों भी परस्पर में भिन्न है तो सर्वथा भिन्न स्त्री पुत्र आदि तो अवश्य ही भिन्न है इसलिये विद्वानों को शरीर स्त्री पुत्र आदि को अपना कदापि नहीं मानना चाहिये ॥४९॥

अशुचित्व भावना का वर्णन ।

तथाऽशुचिरयं कायः कृमिधातुमलान्वितः ।
यथा तस्यैव सम्पर्कादन्यत्राप्यपवित्रता ॥५०॥

अर्थ—कीड़ा धातु मल मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुवा यह शरीर इतना अपवित्र है कि उसके संबन्ध से दूसरी वस्तु भी अपवित्र हो जाती है।

भावार्थ—अतर चन्दन वस्त्र आभूषण आदि यद्यपि अत्यन्त सुगंधित तथा पवित्र पदार्थ हैं तो भी यदि उनका संबन्ध एक समय भी इस शरीर से हो जावे तो वे सर्व अपवित्र हो जाते हैं तथा ऐसे अपवित्र हो जाते है कि फिर से सज्जन पुरुष उनके स्पर्श करने में भी घृणा करते हैं और विष्टा मूत्र कफ आदि अपवित्र वस्तुओं की भी उत्पत्ति इसी शरीर से होती है इसलिये इस शरीर के समान संसार में कोई भी अपवित्र पदार्थ नहीं है अतः सज्जनों को कदापि इसमें ममत्व नहीं रखना चाहिये किन्तु इससे होने वाले जो तप आदि उत्तम कार्य है उनसे इसको सफल ही करना चाहिये ॥५०॥

आस्रवभावना का स्वरूप।

जीवपोतो भवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान्।
आस्रवति विनाशार्थं कर्माम्भः प्रचुरं भ्रमात् ॥५१॥

अर्थ इस संसार रूपीसमुद्र में जिस समय यह जीवरूपी जहाज मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय योगरूप छिद्रों से सहित होता है उस समय यह अपने विनाश के लिये अज्ञानता से प्रचुर कर्मरूपी जलको आस्रवरूप करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र में जिस समय जहाज में छिद्र हो जाते हैं उस समय वह उन छिद्रों से अपने डुबाने के लिये स्वयं जल को ग्रहण करता है उसी प्रकार यह जीव जिस समय मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध के कारणों कर संयुक्त होता है उस समय यह अपने विनाश के लिये स्वयं कर्म को ग्रहण करता है इसलिये भव्यजीवों को इस प्रकार आस्रव के स्वरूप को जान कर कर्मों के रोकने के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५१ ॥

संवरका स्वरूप।

कर्मास्रवनिरोधोऽत्र संवरो भवति ध्रुवम्।
साक्षादेतदनुष्ठानं मनोवाक्कायसंवृतिः ॥ ५२॥

अर्थ—आये हुए कर्मों का जो रुक जाना है वही निश्चय से संवर है तथा मन वचन काय का जो संवरण (स्वाधीन) करना है यही संवरका आचारण है।

भावार्थ—जिस समय मन वचन कायस्वरूपयोग, मिथ्यात्व कषाय आदि से रहित होकर गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा के चिंतवन में तथा परीषहों के जीतने में लीन होता है इसलिये संवर होता है इसलिये संवर की प्राप्ति के अभिलाषियों को मन वचन काय को अशुभ प्रवृत्ति से रोकना चाहिये ॥ ५२ ॥

निर्जरा के स्वरूप का वर्णन।

निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम्
तपोभिर्बहुभि सा स्याद्वैराग्याश्रितचेष्टितैः ॥५३॥

अर्थ—पहिले संचित हुए कर्मों का जो एकदेश रूप से नाश होना है वही निर्जरा संसार देह आदि से वैराग्य कराने वाले अनशन अवमोदर्यादि तपसे होती है।

भावार्थ—संसार शरीर आदि से विरक्त होकर अनशनादि तप से जो पूर्व संचित कर्मों का क्षयकरना है उसी का नाम निर्जरा है और उस निर्जरा के उपाय का चिंतवन करना निर्जराभावना है ॥५३॥

लोकानुप्रेक्षा का स्वरूप।

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिरध्रुवः।
दुःखकारीति कर्तव्या मोक्षएव मतिः सताम् ॥५४॥

अर्थ—यह समस्त लोक विनाशीक और अनित्य है तथा नाना प्रकार के दुःखों का करने वाला है ऐसा विचार कर उत्तम पुरुषों को सदा मोक्ष की ओर ही बुद्धि लगानी चाहिये ॥५४॥

बोधिदुर्लभ भावना का स्वरूप।

रत्नत्रयपरिप्राप्तिर्बोधिः सातीवदुर्लभा।
लब्धा कथं कथञ्चिच्चेत्कार्यो यत्नो महानिह ॥५५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र स्वरूप रत्नत्रय की जो प्राप्ति है उसी का

१ पत्रिाप्तिरित्यपि पाठान्तरम्।

नाम बोधि है और इस बोधि की प्राप्ति संसार में अत्यन्त कठिन है यदि किसी रीति से उसकी प्राप्ति भी हो जावे तो उसकी रक्षा के लिये विद्वानों को प्रबल यत्न करना चाहिये।

भावार्थ—अनन्त जीव ऐसे है जोकि अभी निगोद में ही पड़े हुए है उन्होंने सिवाय निगोद के दूसरी पर्याय ही नहीं धारण की है इस लिये प्रथम तो नियोग से निकलना ही अत्यन्त दुःसाध्य है दैवयोग से यदि नियोग से निकल भी आवे तो आकर पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीव होते हैं इस लिये त्रस पर्याय पाना अत्यन्त दुर्लभ है यदि त्रस पर्याय भी मिल जावे तो पंचेन्द्री होना अत्यन्त कठिन है यदि पंचेन्द्री भी हो गये तो सैनी (समनस्क) होना दुःसाध्य है सैनी भी हुए तो मनुष्यभव तथा उच्च कुल पाना कठिन है यदि वे भी मिल गये तो चिरायु होना तथा धनवान होकर सुखी होना दुःसाध्य है यदि यह सब सामग्री भी मिल गई तो रत्नत्रय की प्राप्ति अत्यन्य दुर्लभ है तथा भाग्य से कईएक पुरुषों को इस की प्राप्ति भी हो जावे तो प्रमाद के वशीभूत होकर इस की रक्षा नहीं कर सकते इस लिये इस प्रकार अत्यन्त कठिन इस रत्नत्रय को पाकर भव्य जीवों को कदापि प्रमाद नही करना चाहिये तथा भलीभांति इस रत्नत्रय की रक्षा ही करनी चाहिये इस प्रकार का चिंतवन करना दुर्लभानुप्रेक्षा है॥५५॥

धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन।

निजधर्मोयमत्यन्तं दुर्लभो भविनां मतः।
तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति॥५६॥

अर्थ—संसार में प्राणियों को ज्ञानानन्द स्वरूप निज धर्म का पाना अत्यन्त कठिन है इस लिये यह धर्म ऐसी रीति से ग्रहण करना चाहिये कि मोक्ष पर्यंत यह साथ ही बना रहे।

भावार्थ—जिनेन्द्र से कहा हुआ यह आत्मस्वभाव रत्नत्रय स्वरूप तथा उत्तम क्षमादि स्वरूप धर्म ऐसी दृढ़ता से धारण करना चाहिये कि मोक्ष पर्यंत यह साथ बना रहे॥५६॥

दुःखग्राहगणाकीर्णे संसारक्षारसागरे।
धर्मपोतं परं प्राहुस्तारणार्थं मनीषिणः॥५७॥

अर्थ—नानाप्रकार के दुःखरूपी नक्र मकर से व्याप्त इस संसार रूपी खारी समुद्र से पार करने वाला धर्म रूपी जहाज है ऐसा गणधर आदि महापुरुष कहते हैं इस लिये संसार से तरने की इच्छा करने वाले भव्य जीवों को इस धर्म रूपी जहाज का आश्रय अवश्य लेना चाहिये ॥५७॥

अनुप्रेक्षा इमाःसद्भिः सर्वदा हृदये धृताः ।
कुर्वते तत्परं पुण्यं हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयोः ॥५८॥

अर्थ—जो सज्जन पुरुष बारम्बार इन बारह भावनाओं का चिंतवन करते हैं वे उस पुण्य का उपार्जन करते हैं जो पुण्य स्वर्ग तथा मोक्ष का कारण है इस लिये स्वर्ग मोक्ष के कारण स्वरूप पुण्य को चाहने वाले भव्य जीवों को सदा इन बारह भावनाओं का चिंतवन करना चाहिये ॥५८॥

आद्योत्तमक्षमा यत्र योधर्मो दशभेदभाक् ।
श्रावकैरपि सेव्योऽसौ यथाशक्ति यथागमम् ॥५९॥

अर्थ—उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचन्य, तथा ब्रह्मचर्य, इस प्रकार इन दश धर्मों का भी श्रवकों को शक्ति के अनुसार पालन अवश्य करना चाहिये ॥५९॥

अन्तस्तत्वं विशुद्धात्मा वहिस्तत्वं दयाङ्गिषु ।
द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद्द्वितयमाश्रयेत् ॥६०

अर्थ--चिदानन्द चैतन्य स्वरूप आत्मा तो अंतस्तत्व (भीतरीतत्व) है तथा समस्तप्राणियों में जो दया है वह वाह्यतत्व है और इन दोनों तत्वों के मिलनेपर मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये मोक्षाभिलाषी भव्यजीवों को इन दोनों तत्वों का भली भांति आश्रय करना चाहिये॥थ०॥

ज्ञानी अपनी आत्माकी इस प्रकार भावना करता है ।

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः प्रथग्भूतं चिदात्मकम् !
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् ॥६१॥

अर्थ—कर्मों से तथा कर्मों के कार्यों से सर्वदा भिन्न, और चिदानन्द चैतन्यस्वरूप, तथा अविनाशी, और आनन्द स्वरूपस्थान को देनेवाले आत्मा का ज्ञानीको सदा चिंतवन करना चाहिये।

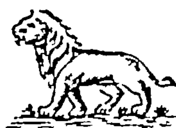
भावार्थ—यह आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मोंसे जुदा है तथा कर्मों के कार्यभूत रागद्वेष आदि से भी जुदा है और चैतन्य स्वरूप है तथा अविनाशी और आनन्दस्वरूप मोक्षस्थान का देनेवाला है ऐसा ज्ञानी पुरुषों को अपनी आत्मा का चिंतवन निरंतर करना चाहिये ॥६१॥

इत्युपासकसंस्कारः कृतः श्रीपद्मनन्दिना ।
येषामेतदनुष्ठानं तेषां धर्मोऽतिनिर्मलः ॥६२॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीपद्मनन्दी आचार्य ने इस उपासकसंस्कारकी (श्रावकाचारकी) रचना की है जिन पुरुषों की प्रवृत्ति इस श्रावकाचार के अनुसार है उन्हींको निर्मल धर्मकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—इस उपासकाचार में जिस आचरणका वर्णन किया गया है उस आचरण का वर्णन किया गया है उस आचरण के अनुकूल जिन मनुष्यों कीं प्रवृत्ति है उन्ही मनुष्यों को निर्मल धर्म की प्राप्ति होती है इसलिये इसनिर्मलधर्म की प्राप्ति के लिये अभिलाषी भव्य जीवों को इसके अनुकूल ही प्रवृत्ति करनी चाहिये ॥६२॥

इसप्रकार श्रीपद्मनन्दिपञ्चविंशयिका में उपासकसंस्कार (श्रावकाचार) नामक अधिकार समाप्त हुआ।



देशव्रतोद्योतनम् ।

शार्दूल विक्रीडित ।

वाह्याभ्यन्तरसङ्गवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन यः
कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात्सर्वज्ञतां निश्चिताम् ।
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तद्
भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा ॥१॥

अर्थ—समस्त वाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर और शुक्ल ध्यान से चारघातिया कर्मों को नाशकर जिसने सर्वज्ञपना प्राप्त कर लिया है उसी सर्वज्ञदेव के वचन, धर्म के निरूपण करने में सत्य हैं, किन्तु सर्वज्ञ से अन्य के वचन सत्य नहीं हैं ऐसा भलीभांति जानकर भी जिस मनुष्य को सर्वज्ञ देव के वचनों में सन्देह है तो समझना चाहिये वह मनुष्य महापापी तथा अभव्य है ॥१॥

एकोप्यत्र करोति यः स्थितिमतिं प्रीतः शुचौ दर्शने
स श्लाघ्यः खलु दुःखितोप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभृत् ।
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत-
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथप्रस्थितैः ॥२॥

अर्थ—खोटे कर्म के उदय से दुखित भी जो मनुष्य संतुष्ट होकर इस अत्यंत पवित्रसम्यग्दर्शन में निश्चल स्थिति को करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन को धारण करता है वह अकेला ही अत्यन्त प्रशंसा के योग्य समझा जाता है किन्तु जो अत्यंत आनन्द के देने वाले सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग से वाह्य है तथा वर्तमान कालमें शुभकर्म के उदय से प्रसन्न हैं ऐसे मिथ्यामार्ग में गमन करने वाले मिथ्या दृष्टि मनुष्य यदि बहुत से भी होंवें तो भी वे प्रशंशा के योग्य नहीं है

भावार्थ—पाप के उदय से दुःखित भी मनुष्य यदि वह सम्यग्दर्शन का धारक है तो वह अकेला ही प्रशंसा के योग्य है किन्तु जो सम्यग्दर्शन से पराङ्मुख है तथा मिथ्या मार्ग में

स्थित हैं और सुखी हैं ऐसे मिथ्या दृष्टि चाहे अनेक भी होवें तो भी प्रशंसा के योग्य नहीं हैं इसलिये भव्य जीवों को सम्यक्दर्शन के धारण करने में निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ॥२॥

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः ।
संसारे वहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हि तां तामिह ॥३॥

अर्थ—मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज तो सम्यग्दर्शन है तथा संसार रूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है इसलिये मोक्षाभिलाषी उत्तम पुरुषों को सम्यग्दर्शन के पाने पर उसकी रक्षा करने में अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि नरक तिर्यंच आदि नानाप्रकार की योनियों से व्याप्त इस संसार में अनादि काल से भ्रमण करता हुवा और खोटे कर्मों से युक्त, यह प्राणी बहुत काल के व्यतीत होने पर भी इस सम्यग्दर्शन को कहां पा सकता है ? अर्थात् सम्यग्दर्शन का पाना अत्यंत दुर्लभ है ॥३॥

और भी आचार्य उपदेश देते हैं ।

सम्प्राप्तेऽत्र भवे कथं कथमपि द्राघीयसाऽनेहसा
मानुष्ये शुचिदर्शने च महता कार्यं तपो मोक्षदम् ।
नो चेल्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तेरथ
सम्पद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्यं व्रतम् ॥४॥

अर्थ—अनंत काल के बीत जाने पर इस संसार में बड़ी कठिनता से मनुष्य जन्म के मिलने पर तथा सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर उत्तम पुरुषों को मोक्ष को देने वाला तप अवश्य करना चाहिये यदि लोक निन्दा से अथवा प्रवलचारित्रमोहनीय कर्म के उदय से या असमर्थ पने से तप न हो सके तो गृहस्थों के देव पूजा गुरु सेवा स्वाध्याय आदि षट्कर्मों के योग्य व्रत तो अवश्य ही करना चाहिये ।

भावार्थ—इस संसार में प्रथम तो निगोदादि से निकलना ही अत्यंत कठिन है दैवयोग से यदि वहां से निकल भी आवे तो यहां आकर पृथ्वीकायिक तथा जलकायिक आदि एकेन्द्री

स्थावर जीव होते हैं त्रसपर्याय नहीं मिलती यदि वह भी मिल जावे तो उस त्रसपर्याय में मनुष्य पर्याय की प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है यदि वह भी मिल जावे तो जीवादि पदार्थों का श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन नहीं मिलता यदि वह भी मिल जावे तो मनुष्य उसकी रक्षा करने में बड़ा भारी प्रमाद करता है इसलिये वह पाया हुवा भी न पाये हुवे के समान हो जाता है अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि बड़े भाग्य से यदि मनुष्य जन्म तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जावे तो उत्तम पुरुषों को प्रमाद छोड़कर तप करना चाहिये यदि लोकनिन्दा, अथवा प्रबलचारित्रमोहनीय कर्म के उदय से वा असमर्थपने से तप न हो सके तो षट्कर्म के योग्य श्रावकों के व्रत तो अवश्य ही धारण करना चाहिये किन्तु पाये हुवे मनुष्य जन्म को तथा सम्यग्दर्शन को व्यर्थ नहीं खोना चाहिये ॥४॥

अब आचार्य श्रावक के व्रतों को बतलाते है तथा ये व्रत गृहस्थों को पुण्य के करने वाले होते हैं इस बात को भी आचार्य बतलाते है।

दृङ्मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पञ्चधाणुव्रतं
शीलाख्यं च गुणव्रतं त्रयमतः शिक्षाश्चतस्त्रः पराः ।
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात्पेयं पयः शक्तितः
मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम् ॥५॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन पूर्वक आठ मूल गुणों का पालना, तथा अहिंसादि पांच अणुव्रतों का धारण करना और दिग्व्रत आदि तीन गुण व्रत तथा देशावकाशिक आदि चार प्रकार के शिक्षाव्रत इस प्रकार इन सात शीलव्रतों को पालना, और रात में खाद्य स्वाद्य आदि आहारों का त्याग करना और स्वच्छ कपड़े से छाने हुवे जल का पीना तथा शक्ति के अनुकूल मौन आदि व्रतों का धारण, इस प्रकार ये श्रावकों के व्रत है तथा भलीभांति आचरण किये हुवे ये श्रावकों के व्रत भव्यजीवों को पुण्य के करने वाले होते है इसलिये धर्मात्मा श्रावकों को व्रतों का अवश्य ही ध्यानपूर्वक पालन करना चाहिये ॥ ५ ॥

देशव्रतकाधारी श्रावक इस रीति से व्रतों को धारण करता है।

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वांस्त्रसान् रक्षति
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमबलां शुद्धां निजां सेवते ।

दिग्देशव्रतदण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रोषधं
दानंभोगयुगं प्रमाणमुररीकुर्याद् गृहीति व्रती ॥६॥

अर्थ—व्रती श्रावक अपने प्रयोजन के लिये स्थावरकाय के जीवों को मारता है तथा दो इन्द्रिय को आदि लेकर सैनीपचेंद्री पर्यंत समस्त त्रसजीवों की रक्षा करता है और सत्य बोलता है तथा आचौर्यव्रत का पालन करता है और स्वस्त्री का सेवन करता है तथा दिग्व्रत देशव्रत अनर्थदण्डव्रत का पालन करता है और सामायिक प्रोषधोपवास तथा दान को करता है और भोगोपभोग परिमाण नामक व्रत को स्वीकार करता है ॥ ६ ॥

यद्यपि गृहस्थ के देवपूजा आदिगुण हैं तो भी उन में दान सब में उत्तम गुण हैं इस बात को आचार्य बताते हैं।

देवाराधनपूजनादिवहुषु व्यापारकार्येषु च
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि।
संसारार्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्
देश व्रतधारिणोघनतो दानं प्रकृष्टो गुणः ॥७॥

अर्थ यद्यपि धनवान और धर्मात्मा श्रावकों के श्रेष्ठपुण्य के संचय करने वाले जिनेन्द्रदेवकी सेवा तथा पूजन प्रतिष्ठा आदि प्रतिदिन अनेक उत्तम कार्य होते रहते हैं तथापि उनसब उत्तमकार्यों में संसार समुद्र से पार करने में जहाज के समान श्रेष्ठमुनि आदि पात्रों को जो दान देना है वह उन धर्मात्मा श्रावकों का सब से प्रधान गुण (कर्तव्य) है इसलिये भव्य श्रावकों को सदा उत्तम आदि पात्रों में दान देना चाहिये ॥ ७ ॥

सर्वो वांछति सौख्यमेव तनुभृत्तन्मोक्षएव स्फुटं
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततोवर्तते ॥ ८ ॥

अर्थ—समस्त जीवों की अभिलाषा सदा यही रहा करती है कि हम को सुख मिले परन्तु यदि अनुभव किया जावे तो वास्तविक सुख मोक्ष में ही है और उस मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप रत्नत्रय के धारण करने से ही होती है और उस रत्नत्रय की प्राप्ति निर्ग्रन्थ अवस्था में ही होती है और निर्ग्रन्थ अवस्था शरीर के होते संतेही होती है तथा शरीर की स्थिति अन्न से रहती है और वह अन्न धर्मात्मा श्रावकों के द्वारा दिया जाता है इसलिये इस दुःखम काल में मोक्ष पदवी की प्रवृत्ति गृहस्थों के दिये हुवे दान से ही होती है ऐसा जानकर धर्मात्मा श्रावकों को सदा सत्पात्रों के लिये दान देना चाहिये ॥ ८ ॥

अब आचार्य औषधिदान की महिमा का वर्णन करते हैं।

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण सम्भाव्यते।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मोगृहस्थोत्तमात् ॥ ९ ॥

अर्थ—इच्छानुसार भोजन भ्रमण तथा भाषण से शरीर रोग रहित रहता है परन्तु मुनियों के लिये न तो इच्छानुसार भोजन करने की ही आज्ञा है और न इच्छानुसार भ्रमण तथा भाषण की ही आज्ञा है इसलिये उनका शरीर सदा अशक्त ही बना रहता है किन्तु धर्मात्मा श्रावकगण उत्तम दवा तथा पथ्य और निर्मल जल देकर मुनियों के शरीर को चारित्र के पालन करने के लिये समर्थ बनाते हैं इसलिये मुनिधर्म की प्रवृत्ति भी उत्तम श्रावकों से ही होती है अतः आत्मा के हित की अभिलाषा करने वाले भव्यजीवों को अवश्य ही मुनिधर्म की प्रवृत्ति के प्रधान कारण इस गृहस्थ धर्म को धारण करना चाहिये ॥९॥

ज्ञान दान की महिमा का वर्णन।

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः।
सिद्धेऽस्मिञ्जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सव-
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत्कैवल्यभाजोजनाः ॥१०॥

अर्थ—सर्वज्ञदेव से कहे हुये शास्त्र का भक्तिपूर्वक जो व्याख्यान किया जाता है तथा विशालबुद्धि वाले भव्यजीवों पढ़ने के लिये जो पुस्तक दी जाती है उसको ज्ञानी पुरुष शास्त्र

(ज्ञान) दान कहते हैं तथा भव्यों को इस ज्ञानदान की प्राप्ति के होने पर थोड़े से भव्यों में, तीनों लोक के जीवों को उत्सव तथा लक्ष्मी के करने वाले और समस्तलोक के पदार्थों को हाथ की रेखा के समान देखने वाले, केवल ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—जो धर्मात्मा श्रावक शास्त्रका व्याख्यान करते हैं तथा पुस्तक लिखकर तथा लिखवाकर देते हैं और पढ़ना पढ़ाना इत्यादि ज्ञानदान में प्रवृत्त होते हैं उन श्रावकों को थोड़े ही काल में समस्त लोकालोक को प्रकाश करने वाले केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है इसलिये अपने हित के चाहने वाले भव्यजीवों को यह उत्तम ज्ञान दान अवश्य ही करना चाहिये ॥१०॥

सर्वेषामभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां
दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम् ।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततोदानं तदेकं परम् ॥११॥

अर्थ—विस्तीर्ण करुणा के धारी भव्यजीवों द्वारा जो समस्त प्राणियों के भय को छुटाकर उनकी रक्षा की जाती है उसको ज्ञानीजन अभयदान कहते है तथा उस अभयदान के विना बाकी के तीनों दान सर्वथा निष्फल है अथवा आहार औषध और शास्त्र इन तीनों दानों के देने से क्षुधा के भय का तथा रोग के भय का और मूर्खता के भय का ही नाश होता हैं इसलिये एक अभयदान ही समस्त दानों में उत्कृष्टदान है।

भावार्थ—अभय का अर्थ भय का न होना होता है यदि आहार औषध तथा शास्त्र दान के देने पर भी क्षुधा, रोग, तथा मूर्खता से उत्पन्न होने वाले भयों का नाश होता है तो वे तीनों ही अभय दान के ही आधीन है इसलिये अभयदान ही समस्त दानों में उत्कृष्ट दान है ॥११॥

आहारात्सुखितौषधादतितरां नीरोगताजायते
शास्त्रात्पात्रनिवेदितात्परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम् ।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुन्सोऽभयाद्दानतः
पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः ॥१२॥

अर्थ—उत्तम आदि पात्रों में आहार दान के देने से तो इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती आदि के सुखों की प्राप्ति होती है तथा औषधि दान के देने से परभव में अत्यन्त रूपवान तथा निरोग शरीर मिलता है और शास्त्रदान के देने से अत्यन्त आश्चर्य की करने वाली विद्वत्ता की प्राप्ति होती है और अभयदान के देने से सुख तथा निरोगपना आदि समस्त गुणों की प्राप्ति होती है अन्त में उत्तमोत्तम चक्रवर्ती आदि पदों की प्राप्ति होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये उत्तमोत्तम सुख नीरोगता आदि गुणों के अभिलाषी मनुष्यों को अवश्य ही चारों प्रकार का दान देना चाहिये ॥१२॥

कृत्वा कार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं
भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेन यच्चार्जितम् ।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रेयोऽस्य पन्था शुभो
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्सद्गतिः ॥१३॥

अर्थ—सैकड़ों पापरहित कार्यों को करके तथा नाना प्रकार के दुःखों को उठा करके और समुद्र पर्वत पृथ्वी पर भ्रमण करके बड़े कष्ट से धन का संचय किया जाता है तथा वह धन पुत्र और अपने जीवन से भी प्यारा होता है उस धन के खर्च करने का यदि मार्ग है तो यही है कि वह दान के काम में लाया जावे किन्तु इससे भिन्न उस धन के खर्च करने का कोई भी उत्तम मार्ग नहीं इसलिये सज्जन पुरुषों को चाहिये कि वे दान मार्ग से ही धन का व्यय करें किंतु दान से अतिरिक्त मार्ग में उस धन का उपयोग न करे ॥१३॥

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका
नैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वन्सकृत् ।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते
तन्नाशाय शशाङ्कशुभ्रयशसे दानं नचान्यत्परम् ॥१४॥

अर्थ—धनी मनुष्यों का गृहस्थपना दान से ही गुणों का करने वाला होता है और दान से ही दोनों लोकों का प्रकाश करने वाला होता है किन्तु विना दान के वह गृहस्थपना दोनों लोकों का नाश करने वाला ही है क्योंकि गृहस्थों के सैंकड़ों खोटे खोटे व्यापारों के करने से

सदा पाप की उत्पत्ति होती रहती है उस पाप के नाश के लिये तथा चन्द्रमा के समान यश की प्राप्ति के लिये यह एक पात्र दान ही है दूसरी कोई वस्तु नहीं है इस लिये अपनी आत्मा के हित को चाहने वाले भव्यों को चाहिये कि वे पात्र दान से ही गृहस्थपने को तथा धन को सफल करें ॥१४॥

पात्राणामुपयोगि यत्किलधनं तद्धीमतां मन्यते
येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्तते तत्पुनः।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनवतस्तन्नष्ट मेव ध्रुवं
सर्वासामिति सम्पदां गृहवतां दानं प्रधानं फलम् ॥१५॥

अर्थ—जो धन उत्तमादि पात्रों के उपयोग में आता है विद्वान लोग उसी धन को अच्छा धन समझते हैं तथा वह पात्र में दिया हुआ धन परलोक में सुख का देने वाला होता है और अनन्त गुणा फलता है किन्तु जो धन नानाप्रकार के भोग विलासों में खर्च होता है वह धनवानों का धन सर्वथा नष्ट ही हो गया ऐसा समझना चाहिये क्योंकि गृहस्थों के सर्व सम्पदाओं का प्रदान फल एक दान ही है।

भावार्थ—यों तो धनी गृहस्थों के प्रति दिन नानाकार्यों में धन का व्यय होता रहता है परन्तु जो धन उत्तमादि पात्रों के दानों में व्यय होता है वास्तव में वही धन उत्तम धन है और उत्तम आदि पात्रों के दान में खर्च किया हुआ वह धन परलोक में नाना प्रकार के सुखों का करने वाला होता है तथा अनन्त गुणा होकर फलता है किन्तु जो धन भोग विलास आदि निकृष्ट कार्यों में खर्च किया जाता है वह धन सर्वथा नष्ट ही हो जाता है तथा परलोक में उस से किसी प्रकार का सुख नहीं मिलता और न वह अनन्त गुणा होकर फलता ही है क्योंकि समस्त सम्पदाओं के होने का प्रधान फल दान ही है इस लिये धर्मात्मा श्रावकों को निरन्तर उत्तम आदि पात्रों में दान करना चाहिये तथा पाये हुवे धन को सफल करना चाहिये ॥१५॥

और भी आचार्य दान की महिमा का वर्णन करते हैं।

पुत्रो राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्वाभयं प्राणिषु
प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः।

मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतोदानं निदानं बुधैः
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते ॥१६॥

अर्थ—भूतकाल में भी वड़े बड़े राजा पुत्रों को राज्य देकर तथा याचकजनों को धन देकर और समस्त प्राणियों को अभयदान देकर अनशन आदि उत्तम तपों को आचरण कर अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को प्राप्त हुवे हैं इसलिये मोक्ष का सब से प्रथम कारण यह एक दान ही है अर्थात् दान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है अतः विद्वानों को चाहिये कि धन तथा जीवन को जल के बबूले के समान अत्यन्त विनाशीक समझ कर सर्वदा शक्ति के अनुसार उत्तम आदि पात्रों में दान दिया करें ॥१६॥

ये मोक्षं प्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेऽपि दुर्बुद्धयः
तेतिष्ठन्ति गृहे न दानमिह चेत्तन्मोहपाशो दृढः ।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां
तत्संसारसरित्पतिप्रतरणे पोतायते निश्चितम् ॥१७॥

अर्थ—अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्यभव को पाकर भी जो मनुष्य मोक्ष के लिये उद्यम नहीं करते हैं तथा घर में ही पड़े रहते है वे मनुष्य मूढ़ बुद्धि हैं और जिस घर में दान नहीं दिया जाता वह घर अत्यन्त कठिन मोह का जाल है ऐसा भली भांति समझकर अपने धन के अनुसार भव्य जीवों को नाना प्रकार का दान अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह उत्तम आदि पात्रों में दिया हुवा दान ही संसार रूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान है।

भावार्थ—अत्यंत दुर्लभ इस मनुष्यभव को पाकर तथा ऊंचा कुल आदि पाकर भव्य-जीवों को मोक्ष के लिये प्रयत्न अवश्य करना चाहिये यदि मोक्ष के लिये प्रयत्न न हो सके तो शक्ति तथा धन के अनुसार दान तो अवश्य ही करना चाहिये क्योंकि यह दान ही संसार समुद्र से पार करने वाला है किन्तु दान के विना जीवन को तथा धन को कदापि व्यर्थ नहीं खोना चाहिये ॥१७॥

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम् ।

सामर्थ्ये सति तद्गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं
तत्रस्था भवसागरेऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥१८॥

अर्थ—जो मनुष्य समर्थ होने पर भी निरन्तर न तो भगवान का दर्शन ही करते हैं तथा न उनका स्मरण ही करते हैं और उनकी पूजा भी नहीं करते हैं तथा न उनका स्तवन करते हैं और न निर्ग्रन्थ मुनियों को भक्ति पूर्वक दान ही देते हैं उन मनुष्यों का वह गृहस्थाश्रम रूप स्थान पत्थर की नांव के समान है तथा उस गृहस्थाश्रम में रहने वाले गृहस्थ इस भयंकर संसार रूपी समुद्र में नियम से डूबते है और डूब कर नष्ट हो जाते हैं इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि जो भव्य जीव गृहस्थाश्रम को तथा अपने जीवन और धन को पवित्र करना चाहते हैं उनको जिनेन्द्र देव को पूजा स्तुति आदि कार्य तथा उत्तमादि पात्रों के लिये दान अवश्य ही देना चाहिये ॥१८॥

आचार्य दाता की महिमा का वर्णन करते हैं।

चिन्तारत्नसुरद्रुकामसुरभिस्पर्शोपलाद्या भुवि
ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित्।
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न सम्भाव्यते
तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधद्दाता परं दृश्यते ॥१९॥

अर्थ—चिन्तामणि रत्न कल्प वृक्ष कामधेनु पारस पत्थर आदिक पदार्थ संसार में परोपकारी है यह बात आजतक सुनी है किन्तु किसी ने अभी तक ये साक्षात् उपकार करते हुवे देखे नहीं हैं तथा उन्होंने किसी में उपकार किया है इस बात की भी संभावना नहीं की जाती परन्तु चिन्तामणि रत्न आदि के कार्य को करने वाला दाता (मनोवांछित दान देने वाला) अवश्य देखने में आता है इसलिये चितामणि रत्न कल्पवृक्ष आदि उत्कृष्ट पदार्थ दाता ही हैं किन्तु इनसे भिन्न चितामणि आदिक कोई पदार्थ नहीं है ॥१९॥

यत्र श्रावकलोक एव वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो
यस्मिन्सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैर्वर्तते ।

धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं
सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतांस्युःश्रावकाः सम्मताः ॥२०॥

अर्थ—जिस नगर तथा देश में श्रावक लोग रहते है वहांपर जिन मंदिर होता है और जहांपर जिन मंदिर होता है वहांपर यतीश्वर निवास करते है और जहांपर यतीश्वरों का निवास होता है वहांपर धर्म की प्रवृत्ति रहती है वहां पर अनादि काल से संचय किये हुए प्राणियों के पापों का नाश होता है तथा भावि काल में स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है इसलिये गुणवान मनुष्यों को धर्मात्मा श्रावकों का अवश्य आदर करना चाहिये।

भावार्थ—धर्मात्मा श्रावक ही अपने धन से जिन मन्दिर को बनवाते है तथा जिन मन्दिरों में यतीश्वर निवास करते है और यतीश्वरों से धर्म की प्रवृत्ति होती है तथा धर्म से पापों का नाश तथा उत्तम स्वर्ग मोक्ष आदि के सुखों की प्राप्ति होती है इत्यादि ये समस्त बातें श्रावकों के द्वारा ही होती हैं यदि श्रावक न होवें तो ये बातें कदापि नहीं हो सकतीं इसलिये ऐसे उत्तम श्रावकों का भव्य जीवों को अवश्य आदर सत्कार करना चाहिये ॥२०॥

काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणतां
तुच्छे सामियके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वन्द्यः सताम् ॥२१॥

अर्थ—इस दुःखम नामकाल में जिनेन्द्र भगवान के धर्म के क्षीण होने से तथा आत्मा के ध्यान करने वाले मुनिजनों की विरलायत से और मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के फैल जाने से जो जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा में तथा जिन मन्दिरों में भक्ति सहित से तथा उनको भक्तिपूर्वक बनवाते थे वे मनुष्य इस समय देखने में नहीं आते है किन्तु जो भव्य जीव इस समय भी विधि के अनुसार उन जिन मंदिर आदि कार्यों को करता है वह सज्जनों का वंद्य ही है अर्थात् समस्त उत्तम पुरुष उस की निर्मल हृदय से स्तुति करते है ॥२१॥

बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं वा।

पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥२२॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जो भव्य जीव इस संसार में भक्ति पूर्वक यदि छोटे से छोटे विम्बा (कुन्दुक) पत्ते के समान जिनमन्दिर तथा यव (जौ) के समान जिन प्रतिमा को भी बनावे तो उस मनुष्य को इतने पुण्य की प्राप्ति होती है कि जिस को और की तो क्या बात ? साक्षात् सरस्वती भी वर्णन नहीं कर सकती किन्तु जो मनुष्य ऊचे ऊंचे जिन मन्दिर तथा जिन प्रतिमाओं का बनाने वाला है उस को तो फिर अगम्य पुण्य की ही प्राप्ति होती है।

भावार्थ—विम्बा के पत्र की उचाई बहुत थोड़ी होती है और यव की भी ऊंचाई बहुत थोड़ी होती है किन्तु आचार्स इस बात का उपदेश देते है कि इस कलिकाल पंचमकाल में यदि कोई मनुष्य बिम्बा के पत्ते की ऊंचाई के समान जिन मंदिर को तथा यव की ऊंचाई के समान ऊंची जिन प्रतिमा को भी बनावे तो उस के पुण्य की स्तुति करने के लिये साक्षात् सरस्वती भी हार मानती है किन्तु जो मनुष्य ऊंचे ऊंचे जिन मंदिरों का वनाने वाला है तथा ऊंची ऊंची जिन प्रतिमाओं का निर्माण करने वाला है उस का तो पुण्य फिर अगम्य ही समझना चाहिये इस लिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे ऊंची ऊंची जिन प्रतिमाओं का तथा जिन मंदिरों का उत्सापूर्वक इस पंचम काल में अवश्य निर्माण करावें ॥२२॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

यात्राभिःस्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकैः
नैवेद्यैर्वलिभिर्ध्वजैश्च कलशैस्तौर्यत्रिकैर्जागरैः।
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां
भव्याःपुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये ॥२३॥

अर्थ—इस संसार में चैत्यालय के होने पर भव्य जीव यात्रा से कलशाभिषेकों से तथा और सैंकड़ों बड़े उत्सवों से और पूजा तथा चांदनियों से और नैवेद्य से वलि से तथा ध्वजाओं के आरोपण से कलशारोपण से और अत्यन्त शब्दों के करने वाले वाजों से तथा घंटा चमर दर्पण आदिक से उन चैत्यालयों की उत्कृष्ट शोभा को वढ़ा कर पुण्य का संचय कर लेते हैं इस लिये भव्य जीवों को चैत्यालय का निर्माण अवश्य ही कराना चाहिये ॥२३॥

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं
तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम् ।
अत्रागत्य पुनः कुलेऽति महति प्राप्य प्रकृष्टं शुभान्
मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्ततः ॥२४॥

अर्थ—जो पट आवश्यक पूर्वक अणुव्रत के धारण करने वाले श्रावक हैं वे नियम से स्वर्ग को जाते है तथा वहां पर महानऋद्धि के धारी देव होकर चिरकाल तक निवास करते हैं और पीछे वे इस मर्त्यलोक में आकर शुभ कर्म के योग से अत्यन्त उत्तम कुल में मनुष्य जन्म को पाकर तथा वैराग्य को धारण कर और समस्त बाह्य तथा आभ्यंतर परिग्रह का नाश कर सीधे सिद्धालय को पधारते हैं तथा वहां पर अनन्त सुख के भोगने वाले होते हैं इस प्रकार जब अणुव्रत आदि भी मुक्ति के कारण है तो भव्यों को चाहिये कि वे षट आवश्यक पूर्वक अणुव्रतों को प्रयत्न से धारण करें।

पुन्सोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः
शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः ।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो सम्मतो
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते ॥ २५ ॥

अर्थ—चारों पुरुषार्थों में मनुष्य के लिये अविनाशी तथा उत्तम सुख का भंडार केवल मोक्ष ही पुरुषार्थ है किन्तु मोक्ष से अतिरिक्त अर्थ काम आदि पुरुषार्थ विपरीत धर्म के भजने वाले हैं इसलिये वे मोक्षाभिलाषी को सर्वथा त्याग ने योग्य है तथा धर्म नामक पुरुषार्थ यदि मोक्ष का कारण होवे तो वह अवश्य ग्रहण करने योग्य है किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नानाप्रकार के भोगविलासों का कारण होवे तो वह भी सर्वथा नहीं मानने योग्य है तथा ऐसे भोगविलास के कारण धर्म पुरुषार्थ को ज्ञानी जन पाप ही कहते हैं।

भावार्थ—धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष इस प्रकार चार प्रकार के पुरुषार्थ हैं उन सब में अविनाशी तथा अनंत सुख भंडार मोक्ष ही उत्तम पुरुषार्थ है इसलिये विद्वानों को वही ग्रहण करने योग्य है परन्तु इस में विपरीत अर्थ आदि पुरुषार्थ हैं वे विनाशीक तथा दुःख के कारण हैं

इसलिये सर्वथा त्यागने योग्य हैं और यदि धर्म नामक पुरुषार्थ मोक्ष का कारण होवे वह तो विद्वानों को सदा ग्रहण करने योग्य है किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नाना प्रकार के भोगों का कारण होवे तो वह पाप ही है इसलिये सर्वथा वह त्याग करने योग्य ही है इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे मोक्ष पुरुषार्थ के लिये तो सर्वथा ही प्रयत्न करें तथा यदि धर्म नामक पुरुषार्थ मोक्ष का साधन होवे तो उस के लिये भी भलीभांति प्रयत्न करें किन्तु इन से अतिरिक्त पुरुषार्थों को पाप के कारण समझ कर उन के लिये कदापि प्रयत्न न करें ॥ २५ ॥

भव्यानामणुभिव्रतैरनणुभिः साध्योऽत्र मोक्षः परं
नान्यत्किञ्चिदिहैव निश्चयनयाज्जीवः सुखी जायते ।
सर्वं तु व्रतजातमीदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा
संसाराश्रयकारणं भवति यत्तद्दुःखमेव स्फुटम् ॥ २६ ॥

अर्थ—भव्यजीव अणुव्रत तथा महाव्रत को मोक्ष की प्राप्ति के लिये ही धारण करते हैं किन्तु उन के धारण करने से उनको अन्य कोई भी वस्तु साध्य नहीं है क्योंकि निश्चयनय से जीव को सुखकी प्राप्ति मोक्ष में ही होती है तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिये जो अणुव्रत महाव्रत आदि व्रत आचरण किये जाते है वे सफल समझे जाते हैं किन्तु जो व्रत मोक्ष की प्राप्ति के लिये नहीं हैं संसार के ही कारण है वे दुःख स्वरूप ही हैं यह भलीभांति स्पष्ट है इसलिये भव्य जीवों को मोक्ष के लिये ही व्रतों को धारण करना चाहिये ॥ २६ ॥

देशव्रतोद्यन नामक अधिकार को समाप्त करते हुवे आचार्य इस व्रतोद्योतन नामक अधिकार का फल दिखाते हैं—

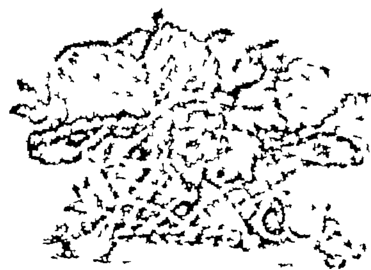
यत्कल्याणपरम्परार्पणपरं भव्यात्मनां संसृतौ
पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम् ।
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्यैर्गुणैः प्रापितं
श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम् ॥ २७ ॥

अर्थ—जो देशव्रतोद्योतन संसार में भव्यजीवों को इन्द्र चक्रवर्ती आदि समस्त कल्याणों का देने वाला है और सब से अन्त में अनंत सुखों का भंडार जो मोक्ष उसका देने वाला है

तथा जिसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ जो मनुष्यपना आदि अनेक गुण उनसे होती है और जिसकी रचना श्रीपद्मनन्दि नामक आचार्य ने की है ऐसा यह व्रतोद्योतन चिरकाल तक इस संसार में जयवंत रहो ।

भावार्थ—यह देशव्रतोद्योतन क्रम से इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्ती आदि बड़े २ कल्याणों की प्राप्ति करा कर अन्त में मोक्ष को देता है तथा मनुष्यपना उत्तम कुल आदि अनेक गुणों से ही इस की प्राप्ति होती है और जिसकी रचना आचार्य श्रीपद्मनन्दिने की है ऐसा यह व्रतोद्योतन चिरकालतक इस संसार में जयवंत रहो ॥ २७ ॥

इस प्रकार इस पद्मनन्दिपंचविंशतिका में देशव्रतोद्योतन नामक अधिकार समाप्त हुआ ।



सिद्धस्तुतिः ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

सूक्ष्मत्वादणुदर्शिनोऽवधिदृशः पश्यन्ति नो यान्परे
यत्संविन्महिमस्थितं त्रिभुवनं स्वच्छं भमेकं[1] यथा ।
सिद्धानामहमप्रमेयमहसां तेषां लघुर्मानषो
मूढात्मा किमु वच्मि तत्र यदि वा भक्त्या महात्या वशः ॥१॥

अर्थ—परमाणुपर्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को देखने वाले भी अवधिज्ञानी पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म जिन सिद्धों को नहीं देख सकते हैं तथा जिन की महिमा में ये तीनों लोक निर्मल नक्षत्र के समान स्थित मालूम पड़ते हैं और जो अपरिमिय तेज के धारी हैं उन सिद्धों की स्तुति को मैं अत्यन्त छोटा मनुष्य तथा अज्ञानी किस प्रकार कर सकता हूं ? अर्थात् मैं उनकी स्तुति करने में समर्थ नहीं हूं । तो भी प्रवल भक्ति से प्रेरित हुवा मैं उनकी स्तुति करता हूं ।

भावार्थ—जो पदार्थ स्थूल तथा छोटा और परिमित होवे तथा उसका वर्णन करनेवाला योग्य होवे तो उसका वर्णन किया जा सकता है किन्तु सिद्ध तो अत्यंत सूक्ष्म हैं जिनको परमाणु पर्यंत पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाला अवधि ज्ञानी भी नहीं देख सकता है तथा अत्यंत महान हैं क्योंकि यह असंख्यात प्रदेशी भी लोक उनके ज्ञान में एक नक्षत्र के समान झलकता है अर्थात् उनके ज्ञान के कोने में यह तीन लोक समा रहा है और वे अपरिमित तेज के धारी हैं इसलिये अपरिमित भी है और मैं अत्यंत छोटा तथा अज्ञानी मनुष्य हूं फिर मैं किस प्रकार उनकी स्तुति करने के लिये समर्थ हो सकता हूं ? तो भी मुझे उनकी भक्ति प्रेरणा करती है इसलिये कुछ उन की स्तुति को करता हूं ॥१॥

निश्शेषामरशेखराश्रितमणिश्रेण्यर्चिताङ्घ्रिद्वया
देवास्तेऽपि जिना यदुन्नतपदप्राप्त्यै यतन्ते तराम ।
सर्वेषामुपरि प्रवृद्धपरमज्ञानादिभिः क्षायिकैः
युक्ता न व्यभिचारिभिः प्रतिदिनं सिद्धान्नमामो वयम् ॥२॥

1 क पुस्तक में "खस्तम्भमेकम्" यह भी पाठ है तथा उसका आशय यह है कि भगवान के ज्ञान में यह तीनों लोक आकाश में खड़े हुये स्तम्भ के समान मालूम पड़ता है ।

अर्थ—समस्त प्रकार के देवों के मुकुटों में लगी हुई जो मणि उनसे जिनके चरणों के युग्म पूजित हैं ऐसे उत्कृष्ट देव तीर्थंकर भी जिस उच्च पद सिद्ध पद की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं ऐसे समस्त लोक के शिखर पर विराजमान तथा कलंक रहित अत्यंत विस्तीर्ण ज्ञान आदि क्षायिक गुणों के धारी सिद्धों को प्रतिदिन हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—समस्त देव आकर तीर्थंकर भगवान की सेवा पूजा आदि करते हैं इसलिये यद्यपि संसार में तीर्थंकर भी एक प्रधान पद है तो भी वे तीर्थंकर सदा उस सिद्ध पद की प्राप्ति के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं तथा जो सिद्ध तीन लोक के शिखर पर विराजमान हैं निर्दोष विस्तीर्ण क्षायिक ज्ञान आदि गुणों के धारी हैं ऐसे सिद्धों को सदा हम नमस्कार करते हैं ॥२॥

ये लोकाग्रविलम्बिनस्तदधिकं धर्मास्तिकायं विना
नो याताःसहजस्थिरामललसद्दृग्बोधसन्मूर्तयः।
संप्राप्ताः कृतकृत्यतामसदृशाः सिद्धा जगन्मङ्गलं
नित्यानन्दसुधारसस्य च सदा पात्राणि ते पान्तुवः ॥३॥

अर्थ—जो सिद्ध भगवान लोक के अग्र भाग में विराजमान हैं तथा जो धर्मास्तिकाय की सहायता से लोक के अग्रभाग में गये हैं और जिनका स्वरूप स्वाभाविक तथा निश्चल जो निर्मल ज्ञान और दर्शन उससे शोभायमान है और जो कृतकृत्य हैं और जिनकी उपमा को कोई भी धारण नहीं कर सकता और जो समस्त जगत को मंगल के करने वाले है तथा जो अविनाशी आनन्द रूपी अमृत के पात्र हैं ऐसे सिद्ध भगवान आपकी रक्षा करो अर्थात् ऐसे सिद्ध भगवान के लिये मैं सदा नमस्कार करता हूं ॥३॥

ये जित्वा निजकर्मकर्कशरिपून् प्राप्ताः पदं शाश्वतं
येषां जन्मजरामृतिप्रभृतिभिः सीमापि नोल्लंघ्यते।
येष्वैश्वर्यमचिन्त्यमेकमसमज्ञानादिसंयोजितं
ते सन्तु त्रिजगच्छिखाग्रमणयः सिद्धा मम श्रेयसे ॥४॥

अर्थ—जो सिद्ध महाराज अपने समस्त कठोर कर्मरूपी वैरियों को जीत कर अविनाशी सिद्ध पद को प्राप्त हुये है और जन्म जरा मरण आदिक अठारह दोष जिनके पास भी नहीं

फटकने पाते तथा जो अनन्तज्ञानादिकर किये हुवे अचिंत्य ऐश्वर्य के धारी हैं वे तीन जगत के शिखामणि सिद्धभगवान मेरे कल्यान के लिये हों अर्थात् ऐसे सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूं ॥४॥

सिद्धो बोधमिति स बोध उदितो ज्ञेयप्रमाणो भवेद्
ज्ञेयं लोकमलोकमेव च वदत्यात्मेति सर्वस्थितः ।
मूषायां मदनोज्झिते हि जठरे यादृङ् नभस्तादृशः
प्राकायात्किमपि प्रहीण इति वा सिद्धः सदानन्दति ॥५॥

अर्थ—निष्कलंक वह शुद्धात्मा तो ज्ञान प्रमाण कहा गया है और वह ज्ञान ज्ञेय (पदार्थ) प्रमाण है तथा वे ज्ञेय लोकालोक प्रमाण हैं इसलिये इस युक्ति से आत्मा समस्त जगह पर मौजूद है अर्थात् व्यापक है किन्तु मनुष्याकार एक मोम की पुतली बनाकर तथा उस के ऊपर मिट्टी का लेप चढाकर, और उस पुतली को तपाकर मोम निकलजाने के पीछे जो उस मूषा में पुरुषाकार रहजाता है उसी प्रकार सिद्धावस्था के प्रथम शरीर से कुछ कमती आत्मप्रदेशों के आकारस्वरूप भी वह शुद्धात्मा है अर्थात् अव्यापक भी है इसलिये व्यापकत्व ऐसे दोनों धर्मोंकरसंयुक्त सिद्धपरमेष्ठी सदा जयवंत है ।

भावार्थ—सिद्धों का ज्ञान लोकालोक के पदार्थों का प्रकाश करने वाला है तथा वह ज्ञान आत्मास्वरूप ही है इसलिये इस ज्ञानगुण की अपेक्षा से सिद्धों की आत्मा व्यापक है किन्तु सिद्धों की आत्मा के प्रदेश चरमशरीर से कुछ कमती भी है अतः व्यापक नहीं भी है ॥५॥

दृग्बोधौपरमौ तदावृतिहतेः सौख्यं च मोहक्षयात्
वीर्यं विघ्नविघाततो प्रतिहतं मूर्तिर्न नामक्षतेः ॥
आयुर्नाशवशान्न जन्ममरणे गोत्रे न गोत्रं विना
सिद्धानां न च वेदनीयविरहाद्दुःखं सुखं चाक्षजम् ॥६॥

अर्थ—ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय के नाश हो जाने से सिद्धों के अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन हैं और मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने के कारण उनको अनन्त सुख की प्राप्ति हुई है और वीर्यान्तराय कर्म के नाश हो जाने के कारण उनको अनन्त वीर्य की प्राप्ति

हुई है तथा नाम कर्म के अभाव से उनकी कोई मूर्ति नहीं है और आयु कर्म के नाश हो जाने के कारण न उनके जन्म है न मरण है तथा गोत्र कर्म का नाश हो गया है इसलिये उनका कोई गोत्र भी नहीं है और वेदनीय कर्म के नाश हो जाने के कारण सिद्धों के इन्द्रियजन्य सुख दुःख भी नहीं है।

भावार्थ—जब तक आत्मा के साथ ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण का संबंध रहता है तब तक अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन की प्राप्ति नहीं होती किन्तु सिद्धों के सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन के स्वरूप को सर्वथा ढकने वाले ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण दोनों नष्ट हो गये हैं इसलिये वे अनन्त ज्ञान तथा अनन्त दर्शन के धारी हैं उसी प्रकार जब तक मोहनीय तथा अंतराय कर्म का संबंध आत्मा के साथ रहता है तब तक तो अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु सिद्धों के इन दोनों मोहनीय तथा अंतराय कर्म का भी अभाव है इसलिये वे अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य कर सहित हैं तथा नाम कर्म के उदय से आकार बनता है किन्तु सिद्धों के नाम कर्म का अभाव है इसलिये उनकी कोई मूर्ति आकार भी नहीं है तथा आयु कर्म के नाश से जन्म तथा मरण होता है किन्तु सिद्धों के आयु कर्म का अभाव है इसलिये वे जन्म मरण रहित हैं और गोत्र कर्म की कृपा से उच्च गोत्री तथा नीच गोत्री समझे जाते हैं उनके गोत्र कर्म का सर्वथा नाश हो गया है इसलिये उनका कोई गोत्र भी नहीं है और साता तथा असाता वेदनीय कर्म के उदय से इन्द्रियजन्य सुख तथा दुःख होता है किन्तु सिद्धों के समस्त प्रकार के वेदनीय कर्म का नाश हो गया है इसलिये वे इन्द्रियजन्य सुख और दुःख से रहित है ॥६॥

येदुःखानि समाप्नुवंन्ति विधिवज्जानन्ति पश्यन्ति नो
वीर्यं नैव निजं भजन्त्यसुभृतो नित्यं स्थिताः संसृतौ ।
कर्माणि प्रहतानि तानि महता योगेन यैस्ते सदा
सिद्धा नित्यचतुष्टयामृतसरिन्नाथा भवेयुर्न किम् ॥७॥

अर्थ—संसार में जिन कर्मों की कृपा से संसारी जीव नाना प्रकार के दुःखों को सहन करते हैं तथा वास्तविक रीति से पदार्थों के स्वरूप को न तो जानते हैं और न देखते ही हैं तथा

जिन कर्मों की कृपा से जीव सामर्थ्य को भी नहीं प्राप्त करते है उन कर्मों को जिन्होंने दुर्धर्ष ध्यान से जड़ से नष्ट कर दिया है वे सिद्ध भगवान क्या अनन्त विज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय रूपी अमृत नदी के स्वामी (समुद्र) अर्थात् अनन्त चतुष्टय के धारी नहीं हैं? अवश्य ही हैं।

भावार्थ—जिन सिद्ध भगवान ने अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन आदि समस्त गुणों के रोकने वाले कर्मों का नाश किया है वे सिद्ध अनन्त चतुष्टय के धारी है ॥७॥

एकाक्षाद्बहुकर्मसंवृतमतेर्द्व्यक्षादिजीवाः सुख-
ज्ञानाधिक्ययुता भवन्ति किमपि क्लेशोपशान्तेरिह ।
यैः सिद्धास्तु समस्तकर्मविषमध्वान्तप्रबन्धच्युताः
सद्बोधाः सुखिनश्च ते कथमहो न स्युस्त्रिलोकाधिपाः ॥८॥

अर्थ—बहुत कर्मों से छिपा हुआ है ज्ञान जिन का ऐसे एकेन्द्री जीवों की अपेक्षा जब कुछ एक दुःखों की शांति से दो इन्द्री आदिक जीव अधिक सुखी तथा अधिक ज्ञानवान है तो जो समस्त कर्म रूपी भयंकर अंधकार के संबंध से रहित है और जो तीनों लोकों के स्वामी हैं ऐसे सिद्ध भगवान क्यों नहीं सबकी अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ ज्ञान के धारी तथा अधिक सुखी होंगे।

भावार्थ—जैसा जैसा ज्ञान अधिक अधिक बढ़ता जाता है वैसा वैसा सुख भी अधिक अधिक बढ़ता चला जाता है एकेन्द्री से दो इन्द्री का ज्ञान कुछ अधिक है इस लिये वह एकेन्द्री की अपेक्षा अधिक सुखी है इसी रीति से दो इन्द्री से तीन इन्द्री तथा तीन इन्द्री से चौ इन्द्री चौ इन्द्री से पंचेन्द्री अधिक ज्ञानी तथा सुखी है तो सिद्धों के समस्त ज्ञानवरणादि कर्मों का नाश हो गया है इस लिये वे तो सर्व जीवों से अधिक ज्ञानी तथा सुखी ही हैं ॥८॥

यः केनाप्यतिगाढगाढमभितो दुःखप्रदैः प्रग्रहैः
बद्धोऽन्यश्च नरो रुषा घनतरैरापादमामस्तकम् ।
एकस्मिन् शिथिलेऽपि तत्र मनुते सौख्यं स सिद्धाः पुनः
किं न स्युःसुखिनःसदा विरहिता बाह्यान्तरैर्बन्धनैः ॥९॥

अर्थ—कोई मनुष्य किसी मनुष्य को, क्रोध से अत्यन्त दुःख के देने वाले, तथा कठिन बन्धनों से पैर से लगाकर मस्तक पर्यंत चारों ओर से बांधे उस बन्धन की यदि एक भी रस्सी ढीली हो जावे तो वह बंधा हुआ भी जीव सुख मानता है फिर जो समस्त वाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह के बंधन से रहित है ऐसे सिद्ध भगवान क्यों नहीं सुखी होंगे ? अर्थात् अवश्य ही होंगे।

भावार्थ—आचार्यवर, सिद्धों में सुख की अधिकता का वर्णन करते हैं कि जो पुरुष पैर से लेकर शिर पर्यंत कठिन बंधनों से बंधा हुआ है यदि उस बंधन की एक भी लड़ी ढीली हो जावे तो पैर से शिर तक बंधा हुआ भी वह जीव अपने को सुखी मानता है तब जो सिद्ध भगवान् समस्त प्रकार के वाह्य तथा आभ्यंतर कर्मों के बंधनों से रहित है वे क्यों नहीं सुखी होंगे ? अर्थात् समस्त बंधनों से रहित होने के कारण वे अत्यन्त सुख के भण्डार अवश्य ही हैं इस में किसी प्रकार का संशय नहीं ॥९॥

सर्वज्ञः कुरुते परं तनुभृतः प्राचुर्यतः कर्मणां
रेणूनां गणनं किलाधिवसतामेकं प्रदेशं घनम् ।
इत्याशास्वखिलासु वद्धमहसो दुःखं न कस्माद्भवेत्
मुक्त्या यस्य तु सर्वतः किमिति नो जायेत सौख्यं परम् ॥१०॥

अर्थ—आत्मा के एक भी प्रदेश से सघन रीति से व्याप्त इतने अधिक परमाणु हैं कि उनकी गिनती सर्वज्ञको छोड़कर दूसरा कोई नहीं कर सकता इस रीति से प्रत्येक आत्मा के प्रदेश पर अनंते २ परमाणु के चिपट ने के कारण जिस आत्मा का तेज चारों ओर से रुक गया है अर्थात् न जो आत्मा भलीभांति पदार्थों को जान ही सकता है और न देखही सकता है ऐसे उस आत्मा को क्यों नहीं दुःख होगा ? अवश्य ही होगा किन्तु जिसने समस्त कर्मों को जड़ से उड़ा दिया है अर्थात् जिसकी आत्मा के प्रदेशों के साथ किसी भी कर्म का बन्ध नहीं है ऐसे सिद्ध भगवान को तो अनंतसुख क्यों नहीं होगा अवश्य ही होगा ? ॥ १० ॥

सिद्ध ही अत्यंततृप्त है इस बात को आचार्य बतलाते हैं।

येषां कर्मनिदानजन्यविविधक्षुत्तृण्मुखा व्याधयः
तेषामन्नजलादिकौषधगणस्तच्छान्तये युज्यते ।

सिद्धानान्तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभिः
नित्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगतास्तृप्तास्त एवध्रुवम् ॥ ११ ॥

अर्थ—जिन जीवों के कर्म के उदय से उत्पन्न हुवे क्षुधा तृषा आदिक रोग हैं उन जीवों को उन रोगों की शांति के लिये अन्न जल आदि का आश्रय करना पड़ता है किंतु सिद्ध भगवान के तो कर्म ही नहीं है तथा कर्मों के अभाव से उन को अन्न जल आदि का आश्रय भी नहीं करना पड़ता इसलिये निश्चय से अविनाशी और आत्मा से ही उत्पन्न हुवे ऐसे सुख रूपी अमृत समुद्र में मग्न सिद्ध ही अत्यन्त तृप्त हैं ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ—संसारी जीवों को कर्म के उदय से नाना प्रकार के क्षुधा तृषा आदि रोगों का सामना करना पड़ता है तथा क्षुधा तृषा आदि के होने से उनको उनकी शान्ति के लिये अन्न जल आदि का आश्रय करना पड़ता है तथा उस अन्न जल से ही वे अपने को तृप्त मानते हैं किंतु वास्तव में उससे तृप्ति नही हो सकती क्योंकि फिर वेदना के होने पर फिर उनको पीड़ा होगी तथा फिर भी उनको जल आदि का आश्रय करना पड़ेगा। किंतु जिन्होंने समस्त कर्मों को नाश कर दिया है इसीलिये जिनको अन्न आदि की भी आवश्यकता नहीं है वे ही तृप्त हैं और वे सिद्ध ही हैं इसलिये समस्त जीवों की अपेक्षा सिद्ध ही अत्यंत तृप्त हैं ॥ ११ ॥

सिद्धज्योतिरतीवनिर्मलतरं ज्ञानैकमूर्तिस्फुरत्
वर्तिर्दीपमिवोपसेव्य लभते योगी स्थिरं तत्पदम्।
सद्बुध्याथ विकल्पजालरहितस्तद्रूपतामाप तं
तादृग्जायत एव देवविनुतस्त्रैलोक्यचूडामणिः ॥ १२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार बत्ती स्फुरायमानदीपक के संग से दीप पने को प्राप्त हो जाती है उसी प्रकार अत्यंत निर्मल जो ज्ञान उस ज्ञानस्वरूप स्फुरायमान है मूर्ति जिसकी ऐसी सिद्ध ज्योति की आराधना करने से मुनिगण भी उस स्थिर सिद्ध पद को प्राप्त हो जाते हैं अथवा समस्त प्रकार के विकल्पों से रहित होकर जो योगीश्वर श्रेष्ठ बुद्धि से उन सिद्धों के स्वरूप को प्राप्त होकर उन के स्वरूप का ध्यान करता है वह भी समस्त देवों में वन्दनीक तथा तीन लोक का चूड़ामणि उन सिद्धों के समान ही हो जाता है ॥ १२ ॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

यत्सूक्ष्मंच महच्च शून्यमपि यन्नो शून्यमुत्पद्यते
नश्यत्येव च नित्यमेव च तथा नास्त्येव चास्त्येव यत्।
एकं यद्यदनेकमेव तदपि प्राप्तं प्रतीतिं दृढां
सिद्धज्योतिरमूर्ति चित्सुखमयं केनापि तल्लभ्यते ॥१३॥

अर्थ—जो सिद्ध ज्योति सूक्ष्म भी है और महान भी है शून्य भी है तथा शून्य नहीं भी है विनाशीक भी है और नित्य भी है और है भी, नहीं भी है, तथा एक भी है अनेक भी है इस प्रकार अनेक धर्म को लिये हुए है तो भी स्याद्वाद से जिसकी प्रतीति दृढ़ है ऐसी अमूर्तीक तथा ज्ञान सुख स्वरूप सिद्धों की ज्योति (तेज) को संसार कोई एक मनुष्य ही प्राप्त कर सकता है सब नहीं।

भावार्थ—सिद्धों की ज्योति सूक्ष्म तो इसलिये है कि वह अमूर्त है इसलिये कोई भी इन्द्रिय उसका प्रत्यक्ष नहीं कर सकती, तथा महान इसलिये है कि समस्त लोकालोक के जानने वाले केवली भगवान उसको प्रत्यक्ष देखते हैं तथा पुद्गलादि पर द्रव्य और उनके स्पर्श रस आदि गुणों से रहित होने के कारण तो शून्य है किन्तु सदा अपने केवल ज्ञान केवल दर्शन आदि गुणों से विराजमान है इसलिये शून्य भी नहीं है तथा यद्यपि पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अगुरुलघु गुण के द्वारा प्रतिक्षण वह विनाशीक भी है तो भी द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा उसमें नाश तथा उत्पाद धर्म नहीं है इसलिये वह नित्य भी है तथा परद्रव्य परक्षेत्र परकाल परभाव की अपेक्षा से उसका अभाव है तो भी स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभाव की अपेक्षा वह मौजूद ही है, और अपने स्वरूप को छोड़ कर पररूप को प्राप्त नहीं होती इसलिये यद्यपि वह एक रूप है तो भी ज्ञान से अनेक पदार्थों को प्रत्यक्ष करती है इसलिये अनेक रूप भी है इस प्रकार वह सिद्ध ज्योति अनेक धर्म स्वरूप होने पर भी स्याद्वाद से उसकी प्रतीति दृढ है अर्थात् स्याद्वाद सिद्धान्त के आश्रय से उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं आता अमूर्तीक है और ज्ञानमय तथा सुखमय है और कोई एक ही मनुष्य उसको प्राप्त कर सकता है हर एक मनुष्य नहीं ॥१३॥

स्याच्छब्दामृतगर्भितागममहारत्नाकरस्नानतो
धौता यस्य मतिः सएव मनुतेतत्वं विमुक्तात्मनः।

तत्तस्यैव तदेवयाति सुमतेः साक्षादुपादेयतां
भेदेन स्वकृतेन तेन च विना स्वंरूपमेकंपरम् ॥१४॥

अर्थ—जिस पुरुष की बुद्धि स्याद्वाद रूपी जल से भरे हुवे विस्तीर्ण सागर में स्नान करने से निर्मल हो गई (धुल गई) है अर्थात् जो स्याद्वाद का जानकार है वही मनुष्य सिद्धों के स्वरूप को जानता है तथा वही बुद्धिमान उन सिद्धों के स्वरूप को साक्षात रीति से प्राप्त होता है, अथवा अपने से किया हुवा जो भेद उसके दूर हो जाने पर अपना जो स्वरूप है वही सिद्धों का स्वरूप है अर्थात् जब तक आत्मा में मेरा तेरा भेद रहता है तब तक तो आत्मा मलिन ही है किन्तु जिस समय यह भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है उस समय मलिनतारहित होने के कारण अपनी आत्मा का स्वरूप ही सिद्ध स्वरूप है इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे स्याद्वाद के स्वरूप को भली भांति पहिचान कर सिद्धों के स्वरूप को पहिचाने ॥१४॥

दृष्टिस्तत्वविदः करोत्यविरतं शुद्धात्मरूपे स्थिता
शुद्धं तत्पदमेकमुल्वणमतेरन्यत्र चान्यादृशम् ।
स्वर्णात्तन्मयमेव वस्तु घटितंलोहाच्च मुक्त्यर्थिना
मुक्त्वा मोहविजृम्भितंननुपथाशुद्धेनसंचर्यताम् ॥१५॥

अर्थ—जिस प्रकार सोने से बना हुवा पात्र सुवर्ण स्वरूप ही होता है तथा लोह से बना हुवा पात्र लोह स्वरूप ही होता है उसी प्रकार शुद्ध आत्म स्वरूप में, निश्चल रीति से ठहरी हुई तत्व ज्ञानी पुरुष की दृष्टि तो निर्मल देदीप्यमान जो एक अविनाशी मोक्षपद उसको प्राप्त कराती है और तत्व ज्ञान रहित पुरुष की दृष्टि शुद्धात्म स्वरूप से अतिरिक्त स्थान में ठहरने के कारण मोक्ष से भिन्न जो नरक तिर्यंच निगोद आदि स्थान उन स्थानों को प्राप्त करती है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि मोक्ष के अभिलाषी मनुष्यों को मोह के उत्पन्न करने वाले मार्ग को छोड़ कर निश्चय से शुद्ध मार्ग से ही गमन करना चाहिये ॥१५॥

निर्दोषश्रुतचक्षुषा षडपि हि द्रव्याणि दृष्ट्वा सुधी-
रादत्ते विशदं स्वमन्यमिलितं स्वर्णं यथा धावकः ॥१६॥

यः कश्चित्किल निश्चिनोति रहितः शास्त्रेण तत्वं परं
सोऽन्धोरूपनिरूपणं हि कुरुते प्राप्तो मनः शून्यताम् ॥१६॥

अर्थ—जिस प्रकार सुनार अन्यधातुओं से मिले हुवे भी सुवर्णको नेत्रों से जुदा कर लेता है उसी प्रकार विद्वान् पुरुष निष्कलंक शास्त्ररूपी नेत्र से छहों द्रव्यों को भलीभांति देखकर अन्य द्रव्यों से मिले हुवे भी अपने निर्मल आत्मस्वरूप को जुदा कर ग्रहण करते हैं किन्तु जो मनुष्य शास्त्र के बिना देखे ही उत्कृष्टतत्व का निश्चय करते हैं वे मन रहित तथा अंधे होकर रूप को देखना चाहते है ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—जब तक छद्मस्थ अवस्था रहती है तब तक विनाशास्त्र के सुने तथा देखे कदापि निर्मल स्वरूप को ग्रहण नहीं कर सकते इसलिये आत्मा के निर्मल स्वरूप को देखने के अभिलाषी मनुष्यों को अवश्य शास्त्रको देखना तथा सुनना चाहिये किन्तु जो अज्ञानी पुरुष बिना शास्त्र के सुने देखे ही उत्कृष्टस्वरूप को देखना चाहता है वह मनुष्य जिस प्रकार मनरहित तथा अंधा मनुष्य रूप को नहीं देख सकता उसी प्रकार कदापि उत्कृष्ट स्वरूप को नहीं देख सकता है ॥१६॥

यो हेयेतरबोधसंभृतमतिमुञ्चन् स हेयं परं
तत्वं स्वीकुरुते तदेव कथितं सिद्धत्वबीजं जिनैः।
नान्यो भ्रान्तिगतः स्वतोऽथ परतो हेये परेर्थेऽस्यतत्
दुष्पापं शुचि वर्त्म येन परमं तद्धाम संप्राप्यते ॥१७॥

अर्थ—जिस मनुष्य को यह वस्तु त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है इस प्रकार का ज्ञान है वह मनुष्य त्यागने योग्य जो वस्तु है उसको छोड़कर ग्राह्यस्वरूप को ग्रहण करता है और वह ग्राह्यस्वरूप का स्वीकार ही सिद्धपने का कारण है ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है यथा जो मनुष्य त्यागने योग्य अपने से भिन्न पदार्थों में अपने आप तथा परके उपदेश से भ्रांत (भ्रमसहित) है उस अज्ञानी को अत्यंत निर्मल मार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती और जब निर्मल मार्ग की ही प्राप्ति नहीं हुई तो वह उत्कृष्ट मोक्ष स्थान भी, उसको प्राप्त नहीं हो सकता।

भावार्थ—जिस मनुष्य को हेयोपादेय का ज्ञान है वही पुरुष अपने से भिन्न त्यागने योग्य वस्तुओं को त्याग कर तथा निज ज्ञानानन्द स्वरूप को ग्रहण कर क्रम से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है किंतु जिस पुरुष को हेयोपादेय का ज्ञान नहीं है, इस लिये जो अपने से भिन्न सर्वथा त्यागने योग्य वस्तुओं को भी अपनी वस्तु मानता है वह कदापि मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता और न उस को मुक्ति का मार्ग ही सूझ सकता है इस लिये मोक्षाभिलाषी पुरुषों को चाहिये कि वे सर्वथा छोड़ने योग्य वस्तुओं को छोड़ कर अपने ज्ञानानन्द स्वरूप को ही ग्र ण करें ॥१७॥

साङ्गोपाङ्गमपि श्रुतं बहुतरं सिद्धत्वनिष्पत्तये
येऽन्यार्थं परिकल्पयन्ति खलु ते निर्वाणमार्गच्युताः ।
मार्गं चिन्तयतोऽन्वयेन तमतिक्रम्यापरेण स्फुटं
निश्शेषश्रुतमेति तत्र विपुले साक्षाद्विचारे सति ॥१८॥

अर्थ—अंग तथा उपांग सहित जितना भर शास्त्र है वह समस्त सिद्धपने की प्राप्ति के लिये ही है किन्तु जो अज्ञानी मनुष्य उस को अन्य प्रयोजन के लिये कल्पना करते हैं वे निश्चय से मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट हैं अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र मोक्षमार्ग का उन को ज्ञान नहीं है क्योंकि विचारशील होने पर परंपरा से आये हुवे द्रव्यश्रुत को छोड़ कर यदि वह भावश्रुत से भी मार्ग का चिंतवन करे तो भी उनके स्फुट रीति से समस्त शास्त्र की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—चाहे द्रव्यश्रुत हो चाहे भावश्रुत हो समस्त ही शास्त्रों से सिद्धपने की प्राप्ति होती है किन्तु जो पुरुष शास्त्र को अन्य प्रयोजन की सिद्धि के लिये मानते है वे अज्ञानी ही है ऐसा समझना चाहिये ॥१८॥

निश्शेषश्रुतसम्पदः शमनिधेराराधनायाः फलं
प्राप्तानां विषये सदैव सुखिनामल्पैव मुक्तात्मनाम् ।
उक्ता भक्तिवशान्मयाप्यविदुषा या सापि गीः साम्प्रतं
निःश्रेणी भवितादनन्तसुखतद्धामारुरुक्षोर्मम ॥१९॥

अर्थ—जिन्होंने आराधना के फल को प्राप्त कर लिया है तथा जो सदाकाल सुखी है ऐसे सिद्धों के विषय में जो मुझ अपंडित ने भक्ति के वश से थोड़ी सी वाणी कही है अर्थात्

जो कुछ भक्तिपूर्वक उनकी थोड़ी सी स्तुति की है वह थोड़ी सी ही वाणी (स्तुति) समस्त शास्त्र रूपी संपदा के धारी तथा शमी मुभ्ज अनन्त सुखमय मोक्ष रूपी महल पर चढने की इच्छा करने वाले के लिये निःश्रेणी (सीढ़ी) के समान है ॥१६॥

विश्वं पश्यति वेत्ति शर्म लभते स्वोत्पन्नमात्यन्तिकं
नाशोत्पत्तियुतं तथाप्यविचलं मुक्त्यर्थिनां मानसे ।
एकीभूतमिदं वसत्यविरतं संसार भारोज्झितं
शान्तं जीवधनं द्वितीयरहितं मुक्तात्मरूपं महः ॥२०॥

अर्थ—यद्यपि जो सिद्धस्वरूपतेज समस्त लोक को देखता है तथा समस्त लोक को जानता है और सब से अन्त में होने वाले आत्मीक सुख को प्राप्त है और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यकर सहित है तो भी मोक्षाभिलाषी मनुष्यों के मन में वह संसार में भातस्वरूप जो जन्म मरणादि उनकर रहित शांत, तथा ज्ञानस्वरूप और अपने से भिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध से सदा एक ही रूप ही विराजमान है ॥२०॥

त्यक्त्वा न्यासनयप्रमाणविवृतीः सर्वं पुनः कारकं
संबन्धं च तथा त्वमित्यहमितिप्रायान् विकल्पानपि ।
सर्वोपाधिविवर्जितात्मनि परं शुद्धैकबोधात्मनि
स्थित्वा सिद्धिमुपाश्रितो विजयते सिद्धः समृद्धो गुणैः ॥२१॥

भावार्थ—नाम स्थापना आदि निक्षेपों को छोड़कर तथा नैगम आदिनय को त्यागकर और प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण के व्यापार को छोड़कर और कर्ता कर्म करण आदि कारकों को छोड़कर तथा समस्त सबंध को, और तू मैं, इत्यादि समस्त विकल्पों को भी छोड़कर जो सिद्ध भगवान समस्त प्रकार की कर्म आदि उपाधियों से रहित होकर तथा शुद्ध और ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा में लीन होकर मोक्ष को प्राप्त हुवे हैं वे समस्त अनन्त विज्ञान आदि गुणों से सदा वृद्धि को प्राप्त, सिद्ध भगवान सदा इस लोक में विशेपरीति से जयवंत हैं अर्थात् ऐसे सिद्ध भगवान को मैं हाथ जोड़कर विशिष्ट रीति से नमस्कार करता हूं ॥२१॥

तैरेव प्रतिपद्यतेऽत्र रमणीस्वर्णादिवस्तु प्रियं
तत्सिद्धैकमहः सदन्तरदृशा मन्दैर्न यैर्दृश्यते ।
ये तत्तत्वरसप्रभिन्नहृदया स्तेषामशेषं पुनः
साम्राज्यं तृणवद्वपुश्च परवद्भोगाश्च रोगाइव ॥२२॥

अर्थ—जिन मनुष्यों ने अंतरंग दृष्टि से उस अलौकिक सिद्ध स्वरूप तेज को नहीं देखा है उन्हीं मूर्ख मनुष्यों को स्त्री सुवर्ण आदिक पदार्थ प्रिय मालूम पड़ते है किन्तु जिन भव्यजीवों का हृदय उन सिद्धों के स्वरूप रूपी रस से भिंद गया है वे भव्यजीव समस्त साम्राज्य को तृण के समान जानते है तथा शरीर को पर (वैरी) समझते है और उनको भोग रोग के समान मालूम होते हैं।

भावार्थ—जब तक मनुष्यों को वास्तविक पदार्थ दृष्टि गोचर नहीं होता तब तक वे अवास्तविक पदार्थों को भी वास्तविक मानते है किन्तु जिस समय उनकी दृष्टि वास्तविक पदार्थों पर पड़ जाती है उस समय वे उस वास्तविक पदार्थों के सामने अवास्तविक पदार्थों को अंशमात्र भी वास्तविक नहीं समझते। मनुष्यों को ग्रहण करने योग्य वास्तविक पदार्थ सिद्ध स्वरूप हैं और उससे भिन्न त्याग करने योग्य सब अवास्तविक है इसलिये जबतक मनुष्यों की दृष्टि उस सिद्ध स्वरूप तेज पर नहीं पड़ती है तबतक वे मनुष्य वास्तविक स्त्री पुत्र सुवर्ण धन धान्य आदि को ही वास्तविक तथा प्रिय मानते में किन्तु जिस सतम उनको सिद्ध स्वरूप तेज का अनुभव होजाता है उस समय वे सिद्ध स्वरूप के सामने किसी भी साम्राज्य शरीर भोग आदि पदार्थों को उत्तम नहीं मानते और वास्तव में ये उत्तम पदार्थ भी नहीं इसलिये भव्यजीवों को सिद्ध स्वरूप तेज की और ही अपनी दृष्टि देनी चाहिये तथा उसी का अनुभव करना चाहिये ॥२२॥

वन्द्यास्ते गुणिन स्तएव भुवने धन्यास्तएव ध्रुवं
सिद्धानां स्मृतिगोचरं रुचिवशान्नामापि यैर्नीयते ।
ये ध्यायन्ति पुनः प्रशस्तमनसस्तान् दुर्गभूभृद्दरी
मध्यस्थाः स्थिरनासिकाग्रिमदृशस्तेषां किमु ब्रूमहे ॥२३॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रीतिपूर्वक सिद्धों के नाम का भी स्मरण करते हैं वे मनुष्य भी जब संसार में बंदने योग्य तथा गुणी और धन्य समझे जाते है तब जो मनुष्य पवित्र चित्त से किले पर्वतों की गुफा के मध्य में बैठकर तथा नाक के अग्र भाग में दृष्टि लगाकर उन सिद्धों का ध्यान तथा उनके स्वरूप का मनन चिंतवन करते है आचार्य कहते हैं उनको हम क्या कहैं ? अर्थात् वे उनसे भी अधिक धन्य है उसलिये भव्यजीवों को चाहिये कि वे उन सिद्धों स्वरूप का भली भांति ध्यान करें यदि ध्यान न हो सके तो उनके नाम को अवश्य ही स्मरण करे ॥२३॥

यः सिद्धे परमात्मनि, प्रविततज्ञानैकमूर्तौ किल
ज्ञानी निश्चयतः सएव सकलप्रज्ञावतामग्रणी।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः किं तत्र शून्यैर्यतो
यद्योगं विदधाति वेध्यविषये तद्बाणमावर्ण्यते ॥२४॥

अर्थ—विस्तीर्ण ज्ञान ही है एक स्वरूप जिनका ऐसे सिद्धों में जो पुरुष ज्ञानी हैं अर्थात् सिद्धों के स्वरूप का जो भली भांति जानने वाला है वास्तविक रीति से वही समस्त विद्वानों में मुख्य है ऐसा समझना चाहिये और यदि न्याय शास्त्र तथा व्याकरण आदि शास्त्रों के जानकार भी हुवे तथा हृदय से शून्य ही रहे तो उनसे कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि जो वेधनेयोग्य पदार्थ में निशान को करता है वही बाण कहलाता।

भावार्थ—जो बाण वेधनेयोग्य पदार्थ में निशान करता है वही जिस प्रकार बाण कहलाता है अन्य नहीं उसी प्रकार न्याय व्याकरण आदि शास्त्रों को भली भांति अध्ययन करके जो मनुष्य सिद्धों के स्वरूप का जानकार है वही वास्तविक रीति से विद्वानों में अग्रणी विद्वान है किन्तु न्याय व्याकरण आदि शास्त्रों को भली भांति पढ़कर जिसने सिद्धों के स्वरूप को नहीं पहिचाना वह अंश मात्र भी विद्वान नहीं इसलिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे न्याय व्याकरण आदि शास्त्रों को भली भांति जानकर सिद्धों के स्वरूप के ज्ञाता बने ॥२४॥

सिद्धात्मा परमः परंप्रविलसद्बोधः प्रबुद्धात्मना
येनाज्ञायिस किं करोति बहुभिः शास्त्रैर्बहिर्वाचकैः।
यस्य प्रोद्गतरोचिरुज्वलतनुर्भानुः करस्थो भवेत्
ध्वान्तध्वंसविधौ स किं मृगयते रत्नप्रदीपादिकान् ॥२५॥

अर्थ—प्रबुद्ध है आत्मा जिसकी ऐसे जिस भव्य जीव ने देदीप्यमान ज्ञान का धारी तथा सर्वोत्कृष्ट ऐसे सिद्ध भगवान के स्वरूप को जान लिया है उस भव्य जीव को बाह्य शास्त्रों से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं क्योंकि जिस मनुष्य के हाथ में जिस की किरण उदित हो रही है ऐसा प्रकाशमान सूर्य मौजूद है वह मनुष्य अंधकार के नाश करने के लिये क्या रत्न तथा प्रदीप आदि पदार्थों का अन्वेषण करता है ? कदापि नहीं।

भावार्थ—रत्न तथा प्रदीप आदि पदार्थों की अपेक्षा अंधकार के नाश के लिये ही की जाती है यदि हाथ में स्थित प्रकाशमान सूर्य से ही अंधकार का नाश हो गया तो फिर जिस प्रकार प्रदीप आदि की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती उसी प्रकार न्याय व्याकरण आदि शास्त्रों का अध्ययन सिद्ध स्वरूप के जानने के लिये किया जाता है यदि उस सिद्ध स्वरूप का ज्ञान पहिले से ही मौजूद है तो पुनः न्याय व्याकरण आदि शास्त्रों का अध्ययन, विना प्रयोजन का ही है ऐसा समझना चाहिये ॥२५॥

शार्दूल विक्रीड़ित।

सर्वत्र च्युतकर्मवन्धनतया सर्वत्र सद्दर्शनाः
सर्वत्राखिलवस्तुजातविषयव्यासक्तबोधत्विषः।
सर्वत्रस्फुरदुन्नतोन्नतसदानंदात्मका निश्चलाः
सर्वत्रैव निराकुलाः शिवसुखंसिद्धाः प्रयच्छन्तुनः ॥२६॥

अर्थ—जिन सिद्धों के समस्त आत्म प्रदेशों से कर्म बंध छूट गया है तथा जिनके समस्त आत्म प्रदेशों में समीचीन दर्शन मौजूद है अर्थात् जो सम्यग्दर्शन के धारी हैं और समस्त पदार्थों के समूह को जानने वाली सम्यग्ज्ञान रूपी किरण जिनके समस्त आत्म प्रदेशों में व्याप्त है तथा जिनके सर्वत्र सर्वोत्कृष्ट चिदानंद स्वरूप तेज फुरायमान है और जो निश्चल तथा निराकुल है ऐसे सिद्ध भगवान हमारे लिये मोक्ष सुख को प्रदान करो।

भावार्थ—जो समस्त कर्मों कर रहित है तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र के धारी हैं और निश्चल तथा समस्त प्रकार की आकुलताकर रहित हैं ऐसे सिद्ध भगवान हमारे मोक्ष रूपी सुख को प्रदान करो अर्थात् ऐसे सिद्धों के हम सेवक है ॥२६॥

आत्मोत्तुङ्गगृहं प्रसिद्धवहिराद्यात्मप्रभेदक्षणं
बह्वात्माध्यवसानसंगतलसत्सोपानशोभान्वितम् ।
तत्रात्माविभुरात्मनात्मसुहृदो हस्मावलम्बी समा
रुह्यानन्दकलत्रसंगतभुवं सिद्धःसदा मोदते ॥२७॥

अर्थ—जहां पर बहिरात्मा तथा अंतरात्मा के भेद को वास्तविक रीति से देख सकते हैं और जो आत्मा का अध्यवसान (चिंतवन) रूप जो मनोहर सीढ़ी उसकर शोभायमान है ऐसा वह आत्मा रूपी ऊंचा मकान है उसपर चढ़कर आत्म रूपी मित्र का अवलम्बी अर्थात् अपने को स्वयं आप ही आधार तथा चिदानंद स्वरूप स्त्री कर सहित प्रभू आत्मा जो सिद्ध है सदा हर्ष संयुक्त निवास करता है ॥२७॥

सैवैका सुगतिस्तदेव च सुखं ते एव दृग्बोधने
सिद्धानामपरं यदस्ति सकलं तन्मे प्रियं नेतरत् ॥
इत्यालोच्य दृढं त एव च मया चित्ते धृताः सर्वदा
तद्रूपं परमं प्रयातु मनसा हित्वाभयं भीषणम् ॥ २८ ॥

अर्थ—जो सिद्धों की गति है वही तो एक सुगति है तथा जो उनका सुख है वही वास्तविक सुख है और वे सिद्ध ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हैं इसलिये ये तथा इन से भिन्न और भी जो सिद्धों का स्वरूप है वह समस्त मुझे प्रिय है किन्तु इन से अतिरिक्त और मुझे कुछ भी प्रिय नहीं है ऐसा मन में दृढ़ श्रद्धान कर के मैंने सर्वकाल उन्हीं सिद्धों का ध्यान किया है इसलिये मन से समस्त भयंकर संसार का भय छुटाकर मुझे उत्कृष्ट उन्हीं सिद्धों के स्वरूप की प्राप्ति हो ऐसी आशा सहित हूं ॥ २८ ॥

ते सिद्धाः परमेष्ठिनो न विषया वाचामतस्तान्प्रति
प्रायो वच्मि यदेव तत्खलु नभस्यालेख्यमालिख्यते ॥
तन्नामापि मुदे स्मृतं तत इतो भक्त्याथ वाचालिताः
तेषां स्तोत्रमिदं तथापि कृतवानम्भोजनन्दी मुनिः ॥ २९ ॥

क्रम आप के ही हुआ था किंतु आप से भिन्न किसी देव के यह क्रम नहीं था इस लिये आप ही शुद्ध हैं तथा आप के चरणों की सेवा ही सज्जन पुरुषों को करने योग्य है।

भावार्थ—आपने ही संसार से मुक्त होने के लिये हे भगवन् समस्त परिग्रह का त्याग किया है तथा रागभाव को छोड़ा है और समता को धारण किया है तथा अनन्त विज्ञान अनंतवीर्य अनंत सुख और अनंत दर्शन आप के ही प्रकट हुवे हैं इस लिये आप ही शुद्ध तथा सज्जनों की सेवा के पात्र हैं।

यद्य तस्य दृढा स्थितिरभूत्त्वत्सेवया निश्चितं
त्रैलोक्येश वलीयसोऽपि हि कुतः संसारशत्रोर्जयम्।
प्राप्तस्यामृतवर्षहर्षजनकं सद्यन्त्रधारागृहं
पुन्सः किं कुरुते शुचौ खरतरो मध्याह्नकालातपः ॥३॥

अर्थ—हे तीन लोक के ईश यदि मेरे निश्चय से आप की सेवा में दृढ़पना है तो मुझे अत्यंत वलवान भी संसार रूपी वैरी का जीतना कोई कठिन वात नहीं क्योंकि जिस मनुष्य ने जल के वर्षण से हर्ष के करने वाले उत्तम फव्वारा सहित घर को प्राप्त कर लिया है उस पुरुष का जेठ मास की अत्यंत तीक्ष्ण भी दुपहर की धूप कुछ भी नहीं कर सकती।

भावार्थ—जिस प्रकार फव्वारा सहित उत्तम घर में वैठे हुवे पुरुष का जेष्ट मास की अत्यंत कठोर भी दुपहर की धूप कुछ नहीं कर सकती उसी प्रकार यदि मैं निश्चय से आप की सेवा में दृढ़ रीति से स्थित हूं तो मुझे वलवान भी संसार रूपी वैरी कुछ भी त्रास नहीं दे सकता ॥३॥

यः कश्चिन्निपुणो जगत्त्रयगतानर्थानशेषांश्चिरं
सारासारविवेचनैकमनसा मीमांसते निस्तुपम्।
तस्य त्वं परमेक एव भगवान् सारो ह्यसारं परं
सर्वं मे भवदाश्रितस्य महती तेनाभवन्निर्वृतिः ॥४॥

अर्थ—यह पदार्थ सार है इस प्रकार सारासार की परीक्षा में एक चित्त होकर जो कोई बुद्धिमान मनुष्य तीनों लोकों के समस्त पदार्थों का बाधा रहित गहरी दृष्टि से विचार करता है उस पुरुष की दृष्टि में हे भगवन् आप ही एक सारभूत पदार्थ है और आप से भिन्न समस्त पदार्थ असारभूत ही है अतः आप के आश्रय से ही मुझे परम संतोष हुआ है ॥४॥

ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं सौख्यं तथात्यन्तिकं
वीर्यं च प्रभुता च निर्मलतरा रूपं स्वकीयं तव ।
सम्यग्योगदृशा जिनेश्वर चिरात्तेनोपलब्धे त्वयि
ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः ॥५॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र समस्त लोकालोक को एक साथ जानने वाला तो आप का ज्ञान है और समस्त लोकालोक को एक साथ देखने वाला आप का दर्शन है और आप के अनंत सुख और अनन्त बल हैं तथा प्रभुपना भी आप का अतिशयकर निर्मल है और शरीर भी आप का देदीप्यमान है इस लिये यदि योगीश्वरों ने समीचीन योगरूपी नेत्र से आप को प्राप्त कर लिया तो क्या तो उन्होंने जान न लिया ? और क्या उन्होंने देख न लिया ? तथा क्या उन्होंने पा न लिया ?

भावार्थ—यदि योगीश्वरों ने अपनी उत्कृष्ट योगदृष्टि से अनंत गुणों के धारी आप को देख लिया तो उन्होंने सब कुछ देख लिया और सब कुछ जान लिया तथा प्राप्त कर लिया ॥५॥

त्वामेकं त्रिजगत्पतिं परमहं मन्ये जिनं स्वामिनं
त्वामेकं प्रणमामि चेतसि दधे सेवे स्तुवे सर्वदा ।
त्वामेकं शरणं गतोऽस्मि बहुना प्रोक्तेन किञ्चिद्भवे
सिद्धं तद्भवतु प्रयोजनमतो नान्येन मे केनचित् ॥६॥

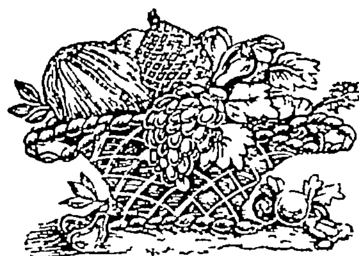
अर्थ—हे जिनेन्द्र आपको ही मैं तीन लोक का स्वामी मानता हूं और आपको ही अष्टकर्मों का जीतने वाला तथा अपना स्वामी मानता हूं और केवल आपको ही भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं और सदा आपका ही ध्यान करता हूं तथा आपकी ही सेवा और स्तुति करता

अर्थ—इस अधिकार को समाप्त करते हुए आचार्य कहते हैं कि वे अलौकिक गुण के धारी भगवान सिद्ध परमेष्ठी वचन के तो विषय ही नहीं हैं इसलिये मैं जो उनके गुणों का स्तवन अथवा उनके विषय में कुछ वर्णन करना चाहता हूं वह आकाश में चित्रकारी करता है ऐसा मालूम होता है (अर्थात् जिस प्रकार आकाश में चित्रकारी करना कठिन बात है उसी प्रकार सिद्धपरमेष्ठी के विषय में भक्ति पूर्वक वर्णन करना अत्यंत कठिन है) तो भी उन सिद्धों का स्मरण किया हुआ नाम भी हर्ष का करने वाला होता है इस कारण भक्ति से वाचालित होकर मुझ पद्मनन्दि नामक मुनि ने यह उन सिद्धों की स्तुति की है ।।

भावार्थ—सिद्धपहमेष्ठी दृष्टि अगोचर अमूर्तीक पदार्थ हैं इसलिये जब वे दृष्टि के अगोचर हैं देखने में ही नहीं आते हैं तो वे वचन के अगोचर भी हैं इसलिये उनकी स्तुति तथा उनके विषय में वर्णन करना भी अत्यंत कठिन है तो भी मेरी जो उन सिद्धों में भक्ति है उसने मुझे वाचालित किया है इसीलिये मैंने यह कुछ उन सिद्धों की स्तुति की है ।।२९।।

इस प्रकार पद्मनन्दिआचार्य विरचित इस पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में

सिद्धस्तुतिरूप अधिर समाप्त हुआ ।।



आलोचनाधिकारः ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

यद्यानन्दविधिं भवन्तममलं तत्वं मनोगाहते
त्वन्नामस्मृतिलक्षणो यदि महामन्त्रोऽस्त्यनन्तप्रभः ॥
यानं च त्रितयात्मके यदि भवेन्मार्गे भवद्दर्शिते
को लोकेऽत्र सतामभीष्टविषये विघ्नो जिनेश प्रभो ॥ १ ॥

अर्थ—हे जिनेश हे प्रभो यदि सज्जनों का मन अंतरंग तथा वहिरंगमल से रहित होकर तत्व स्वरूप तथा वास्तविक आनन्द के निधान आप को अवगाहन (आश्रयण) करता है और यदि उनके मन में आप के नाम का स्मरणरूप अनंत प्रभाकाधारी महामंत्र मौजूद है तथा आप से प्रकट किये हुए सम्यग्दर्शन सम्यग्दज्ञान सम्यक्चारित्र रूपी मोक्ष मार्ग में यदि उनका गमन है तो उन सज्जनों को अभीष्ट की प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आसकता ॥

भावार्थ—यदि सज्जनों के मन में आप का ध्यान होवे तथा आप का नाम स्मरणरूप महामंत्र मौजूद होवे और यदि वे मोक्ष मार्ग में गमन करने वाले होवें तो उनके अभिलषित की प्राप्ति में किसी प्रकार विघ्न नहीं आ सकता ॥ १ ॥

निस्सङ्गत्वमरागिताथ समता[1] कर्मक्षयो बोधनं
विश्वव्यापि समं दृशा तदुतलानन्देन वीर्येण च ।
ईदृग्देव तवैव संसृतिपरित्यागाय जातः क्रमः
शुद्धस्तेन सदा भवच्चरणयोः सेवा सतां सम्मता ॥२॥

अर्थ—और भी आचार्य स्तुति करते हैं कि हे जिनेन्द्रदेव संसार के त्याग के लिये परिग्रह रहितपना तथा रागरहितपना और समता तथा सर्वथा कर्मों का नाश और अनन्तदर्शन अनन्त सुख और अनन्तवीर्य के साथ समस्त लोकालोक को प्रकाश करने वाला केवल ज्ञान ऐसा

1 शमता यह भी क. पुस्तक में पाठ है ।

क्रम आप के ही हुआ था किंतु आप से भिन्न किसी देव के यह क्रम नहीं था इस लिये आप ही शुद्ध हैं तथा आप के चरणों की सेवा ही सज्जन पुरुषों को करने योग्य है।

भावार्थ—आपने ही संसार से मुक्त होने के लिये हे भगवन् समस्त परिग्रह का त्याग किया है तथा रागभाव को छोड़ा है और समता को धारण किया है तथा अनन्त विज्ञान अनंतवीर्य अनंत सुख और अनंत दर्शन आप के ही प्रकट हुवे हैं इस लिये आप ही शुद्ध तथा सज्जनों की सेवा के पात्र हैं।

यद्य तस्य दृढ़ा स्थितिरभूत्त्वत्सेवया निश्चितं
त्रैलोक्येश बलीयसोऽपि हि कुतः संसारशत्रोर्जयम्।
प्राप्तस्यामृतवर्षहर्षजनकं सद्यन्त्रधारागृहं
पुन्सः किं कुरुते शुचौ खरतरो मध्याह्नकालातपः ॥३॥

अर्थ—हे तीन लोक के ईश यदि मेरे निश्चय से आप की सेवा में दृढ़पना है तो मुझे अत्यंत बलवान भी संसार रूपी बैरी का जीतना कोई कठिन बात नहीं क्योंकि जिस मनुष्य ने जल के वर्षण से हर्ष के करने वाले उत्तम फव्वारा सहित घर को प्राप्त कर लिया है उस पुरुष का जेठ मास की अत्यंत तीक्ष्ण भी दुपहर की धूप कुछ भी नहीं कर सकती।

भावार्थ—जिस प्रकार फव्वारा सहित उत्तम घर में बैठे हुवे पुरुष का जेष्ठ मास की अत्यंत कठोर भी दुपहर की धूप कुछ नहीं कर सकती उसी प्रकार यदि मैं निश्चय से आप की सेवा में दृढ रीति से स्थित हूं तो मुझे बलवान भी संसार रूपी बैरी कुछ भी त्रास नहीं दे सकता ॥३॥

यः कश्चिन्निपुणो जगत्त्रयगतानर्थानशेषांश्चिरं
सारासारविवेचनैकमनसा मीमांसते निस्तुषम्।
तस्य त्वं परमेक एव भगवान् सारो ह्यसारं परं
सर्वं मे भवदाश्रितस्य महती तेनाभवन्निर्वृतिः ॥४॥

अर्थ—यह पदार्थ सार है इस प्रकार सारासार की परीक्षा में एक चित्त होकर जो कोई बुद्धिमान मनुष्य तीनों लोकों के समस्त पदार्थों का बाधा रहित गहरी दृष्टि से विचार करता है उस पुरुष की दृष्टि में हे भगवन् आप ही एक सारभूत पदार्थ है और आप से भिन्न समस्त पदार्थ असारभूत ही है अतः आप के आश्रय से ही मुझे परम संतोष हुआ है ॥४॥

ज्ञानं दर्शनमप्यशेषविषयं सौख्यं तथात्यन्तिकं
वीर्यं च प्रभुता च निर्मलतरा रूपं स्वकीयं तव ।
सम्यग्योगदृशा जिनेश्वर चिरात्तेनोपलब्धे त्वयि
ज्ञातं किं न विलोकितं न किमथ प्राप्तं न किं योगिभिः ॥५॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र समस्त लोकालोक को एक साथ जानने वाला तो आप का ज्ञान है और समस्त लोकालोक को एक साथ देखने वाला आप का दर्शन है और आप के अनंत सुख और अनन्त बल है तथा प्रभुपना भी आप का अतिशयकर निर्मल है और शरीर भी आप का देदीप्यमान है इस लिये यदि योगीश्वरो ने समीचीन योगरूपी नेत्र से आप को प्राप्त कर लिया तो क्या तो उन्होंने जान न लिया ? और क्या उन्होंने देख न लिया ? तथा क्या उन्होंने पा न लिया ?

भावार्थ—यदि योगीश्वरों ने अपनी उत्कृष्ट योगदृष्टि से अनंत गुणों के धारी आप को देख लिया तो उन्होंने सब कुछ देख लिया और सब कुछ जान लिया तथा प्राप्त कर लिया ॥५॥

त्वामेकं त्रिजगत्पतिं परमहं मन्ये जिनं स्वामिनं
त्वामेकं प्रणमामि चेतसि दधे सेवे स्तुवे सर्वदा ।
त्वामेकं शरणं गतोऽस्मि बहुना प्रोक्तेन किञ्चिद्भवे
सिद्धं तद्भवतु प्रयोजनमतो नान्येन मे केनचित् ॥६॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र आपको ही मैं तीन लोक का स्वामी मानता हूं और आपको ही अष्टकर्मों का जीतने वाला तथा अपना स्वामी मानता हूं और केवल आपको ही भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं और सदा आपका ही ध्यान करता हूं तथा आपकी ही सेवा और स्तुति करता

हूं और केवल आपको ही मैं अपना शरण मानता हूं अधिक कहने से क्या ? यदि कुछ संसार में प्राप्त होवे तो यही होवे कि आपके सिवाय अन्य किसी से भी मेरा प्रयोजन न रहे ॥

भावार्थ—हे भगवन् आपसे ही मेरा प्रयोजन रहे आप से भिन्न अन्य से मेरा किसी प्रकार का प्रयोजन न रहे यह विनयपूर्वक प्रार्थना है ॥६॥

पापं कारितवान्यदत्र कृतवानन्यैः कृतं साध्विति
भ्रान्त्याहं प्रतिपन्नवांश्च मनसा वाचा च कायेन च ।
काले सम्प्रति यच्च भाविनि नवस्थानोद्गतं यत्पुनः
तन्मिथ्याखिलमस्तु मे जिनपते स्वं निन्दतस्ते पुरः ॥७॥

अर्थ—हे जिनेश्वर भूतकाल में जो पाप मैं ने भ्रम से मनवचकाय के द्वारा दूसरों से कराये हैं तथा स्वयं किये हैं और दूसरों को पाप करते हुवे अच्छा कहा है तथा उसमें अपनी सम्मति दी है और वर्तमान में जो पाप मैं मनवचकाय के द्वारा दूसरों से कराता हूं तथा स्वयं करता हूं और अन्य को करते हुवे भला कहता हूं और भविष्यत्काल में जो मैं मनवचाकाय से पाप कराऊंगा तथा स्वयं करूंगा और दूसरों को करते हुवे अच्छा मानूंगा वे समस्त पाप आपके सामने अपनी निन्दा करने वाले मेरे सर्वथा मिथ्या हो ॥

भावार्थ—भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालों में जिन पापों का मैंने मनवचकाय तथा कृतकारित अनुमोदना से उपार्जन किया है तथा करूंगा और करता हूं उन समस्त पापों का अनुभव कर हे जिनेश्वर मैं आपके सा ने अपनी निन्दा करता हूं इसलिये वे समस्त पाप मेरे मिथ्या हों ॥७॥

लोकालोकमनन्तपर्ययुतं कालत्रयीगोचरं
त्वं जानासि जिनेन्द्र पश्यसि तरां शश्वत्समं सर्वतः ।
स्वामिन् वेत्सि ममैकजन्मजनितं दोषं न किञ्चित्कुतो
हेतोस्ते पुरतः सवाच्य इति मे शुद्ध्यर्थमालोचितम् ॥८॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र यदि तुम भूत भविष्य वर्तमान तीनों कालों के गोचर नान पर्यायों सहित लोक तथा अलोक को चारों ओर से एक साथ जानते हो तथा देखते हो तो हे स्वामिन्

मेरे एक जन्म में होने वाले पापों को क्या तुम नहीं जानते हो ? अर्थात् अवश्य ही जानते हो इसलिये अपने को स्वयं निंदता हुवा जो मैं आपके सामने अपने दोषों का कथन (आलोचन) करता हूं सो केवल शुद्धि के लिये ही करता हूं।

भावार्थ—हे भगवन् जब तुम अनंत भेद सहित लोक तथा अलोक को एक साथ जानते हो तथा देखते हो तो आप मेरे समस्त दोषो को भी भलीभांति जानते हो फिर भी जो मैं आपके सामने अपने दोषों का कथन (आलोचन) करता हूं सो केवल आपके सुनाने के लिये नहीं किन्तु शुद्धि के लिये ही करता हूं ॥८॥

आश्रित्य व्यवहारमार्गमथवा मूलोत्तराख्यान् गुणान्
साधोर्धारयतो मम स्मृतिपथप्रस्थापि यद्दूषणम् ।
शुद्ध्यर्थं तदपि प्रभो तव पुरः सज्जोऽहमालोचितुं
निःशल्यं हृदयं विधेयमजडैर्भव्यैर्यतः सर्वथा ॥६॥

अर्थ—व्यवहारनय को आश्रयण करके और मूलगुण तथा उत्तरगुणों को धारण करने वाले मुझ मुनि को जिस दूषण का भलीभांति स्मरण है उस दूषण की शुद्धि के अर्थ आलोचना करने के लिये हे प्रभो जिनेन्द्र मैं आपके सामने सावधानी से बैठा हुवा हूं क्योंकि ज्ञानवान भव्यजीवों को सदा अपना मन माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्यों कर रहित ही रखना चाहिये ॥१०॥

सर्वोऽप्यत्र मुहुर्मुहुर्जिनपते लोकैरसङ्ख्यैर्मित-
व्यक्ताव्यक्तविकल्पजालकलितः प्राणी भवेत्संसृतौ ।
तत्तावद्भिरयं सदैव निचितो दोषैर्विकल्पानुगैः
प्रायश्चित्तमियत्कुतः श्रुतगतं शुद्धिर्भवत्सन्निधे ॥१०॥

अर्थ—हे भगवन् इस संसार में समस्त जीव वारम्वार असंख्यातलोक प्रमाण प्रकट तथा अप्रकट नाना प्रकार के विकल्पोंकर सहित है और जितने विकल्पोंकर सहित ये जीव हैं उतने ही नाना प्रकार के दुःखोंकर सहित भी हैं किन्तु जितने विकल्प हैं उतने प्रायश्चित्त शास्त्र में नहीं हैं इस लिये उन समस्त असंख्यात लोक प्रमाण विकल्पों की शुद्धि आप के पास में ही होती है।

भावार्थ—यद्यपि दूषणों की शुद्धि प्रायश्चित्त के करने से भी होती है किन्तु हे भगवन् जितने दूषण हैं उतने प्रायश्चित्त, शास्त्र में नहीं कहे गये हैं इस लिये समस्त दूषणों की शुद्धि आप के समीप में ही होती हैं ॥१०॥

भावान्तः करणेन्द्रियाणि विधिवत्संहृत्य वाह्याश्रयात्
एकीकृत्य पुनस्त्वया सह शुचिज्ञानैकसन्मूर्तिना ।
निःसङ्गः श्रुतसारसंगततितिः शान्तो रहः प्राप्तवान्
यस्त्वां देव समीक्षते स लभते धन्यो भवत्सन्निधिम् ॥११॥

अर्थ—हे भगवान् समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित और समस्त शास्त्रों का जानने वाला तथा क्रोधादि कषायों से रहित और एकान्त वासी जो भव्य जीव समस्त वाह्य पदार्थों से मन तथा इन्द्रियों को हटा कर तथा अखंड और निर्मल सम्यग्ज्ञान रूपी मूर्ति के धारी आप में स्थिर कर आपको देखता है वह मनुष्य आपकी समीपता को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जब तक मन तथा इन्द्रिय का व्यापार वाह्य पदार्थों में लगा रहता है तब तक कोई भी मनुष्य आपके स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु जो मनुष्य मन तथा इन्द्रियों को वाह्य पदार्थ से हटा लेता है वही वास्तविक रीति से आप के स्वरूप को देख तथा जान सकता है इसलिये जिस मनुष्य ने समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित होकर तथा शास्त्रों का भली भांति ज्ञानी होकर और शान्त तथा एकांतवासी होकर मन तथा इन्द्रियों को वाह्य पदार्थों से हटा कर तथा आपके स्वरूप में लगाकर आपको देख लिया है उसी मनुष्य ने आपके समीप पने को प्राप्त किया है ऐसा भली भांति निश्चित है ॥११

त्वामासाद्य पुराकृतेन महता पुण्येन पूज्यं प्रभुं
ब्रह्माद्यैरपि यत्पदं न सुलभं तल्लभ्यते निश्चितम् ।
अर्हन्नाथ परं करोमि किमहं चेतो भवत्सन्निधा-
वद्यापि ध्रियमाणमप्यतितरामेतद्बहिर्धावति ॥१२॥

अर्थ—पूर्व भव में कष्ट से संचय किये हुवे बड़े भारी पुण्य से जिस मनुष्य ने हे भगवन् तीन लोक के पूजनीक आपको पा लिया है उस मनुष्य को उस उत्तम पद की प्राप्ति

होती है जिसको निश्चय से ब्रह्मा विष्णु आदि भी नहीं पा सकते परन्तु हे अर्हज्जिनेन्द्र तथा हे नाथ मैं क्या करूं ? आपके समीप में लगाया हुवा भी मेरा चित्र प्रबल रीति से बाह्य पदार्थों की ओर ही दौड़ता है ।

भावार्थ—सहसा यदि कोई मनुष्य चाहे कि मैं आप को प्राप्त कर लूं वह स्वप्न में भी नहीं कर सकता किन्तु पूर्व में संचय किये हुवे बड़े भारी पुण्य से ही आपकी प्राप्ति होती है इसलिये हे भगवन् जिस मनुष्य ने आपको प्राप्त कर लिया उस मनुष्य को उस उत्तम पद की प्राप्ति होती है जिस पद को ब्रह्मा विष्णु आदि के भक्तों की तो क्या बात ? स्वयं ब्रह्मा विष्णु भी प्राप्त नहीं कर सकते किन्तु हे जिनेन्द्र इन समस्त बातों को जानता हुवा भी मेरा चित्त आप के समीप में लगाया हुवा भी बाह्य पदार्थों में दौड़ २ कर जाता है यह बड़ा खेद है ॥१२॥

संसारो बहुदुःखतः सुखपदं निर्वाणमेतत्कृते
त्यक्त्वार्थादि तपोवनं वयमितास्तत्रोज्झितः संशयः ।
एतस्मादपि दुष्करव्रतविधेर्नाद्यापि सिद्धिर्यतो
वाताली तरलीकृतं दलमिव भ्राम्यत्यदो मानसम् ॥१३॥

अर्थ—हे जिनेश यह संसार तो नाना प्रकार के दुःखों का देने वाला है और वास्तविक सुख का स्थान है अथवा वास्तविक सुख का देने वाला मोक्ष है इसयिये उसी मोक्ष की प्राप्ति के लिये हमने समस्त धनधान्य आदि परिग्रहों का त्याग किया और हम तपोवन को भी प्राप्त हुवे तथा हमने समस्त प्रकार का संशय भी छोड़ दिया तथा अत्यंत व्रत भी धारण किये किन्तु अभी तक उन कठिन व्रतों के धारण करने से भी सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई क्योंकि पवन के समूह से कपाये हुवे पत्ते के समान यह हमारा मन रात दिन बाह्य पदार्थों में भ्रमण करता रहता है ॥१३॥

झम्पाः कुर्वदितस्ततः परिलसद्बाह्यार्थलाभाददन्
नित्यं व्याकुलतां परां गतवतः कार्यं विनाप्यात्मनः ।
ग्रामं वासयदैन्द्रियं भवकृतो दूरं सुहृत्कर्मणः
क्षेमं तावदिहास्ति कुत्र शमिनो यावन्मनो जीवति ॥१४॥

अर्थ—हे भगवन् जो मन बाह्यपदार्थों को मनोहर मान कर उनकी प्राप्ति के लिये जहां तहां भटकता है और जो ज्ञान स्वरूप भी आत्मा को विना प्रयौजन सदा अत्यंत व्याकुल करता रहता है तथा जो इन्द्रियरूपी गांव को बसाने वाला है अर्थात् इस मन की कृपा से ही इन्द्रियों की विषयों में स्थिति होती है और जो संसार के पैदा करने वाले कर्मों का परममित्र है अर्थात् आत्मारूपी घर में सदा कर्मों को लाता रहता है ऐसा मन जब तक जीवित रहता है तब तक मुनियों को कदापि कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती।

भावार्थ—जब तक आत्मा में कर्मों का आवागमन लगा रहता है तब तक आत्मा सदा व्याकुल ही बना रहता है वे कर्म आत्मा में मन के द्वारा लाये जाते हैं क्योंकि मन के सहारे से ही इन्द्रियां रूप आदि के देखने में प्रवृत्त होती हैं तथा रूप आदि के देखने से रागद्वेष उत्पन्न होते हैं फिर उनसे ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों की उत्पत्ति होती है इसलिये उन कर्मों के संबन्ध से आत्मा सदा व्याकुल ही रहता है और जब आत्मा ही व्याकुल रहा तब मुनियों को कल्याण की प्राप्ति भी कैसे हो सकती है इसलिये कल्याण का रोक ने वाला मन ही है॥ १४॥

नूनं मृत्युमुपैति यातममलं त्वां शुद्धबोधात्मकं
त्वत्तस्तेन बहिर्भ्रमत्यविरतं चेतो विकल्पाकुलम्।
स्वामिन्न किं क्रियतेऽत्रमोहवशतो मृत्योर्न भीः कस्य तत्
सर्वानर्थपरम्पराकृतदहितो मोहः स मे वार्यताम्॥ १५॥

अर्थ—निर्मल तथा अखंड ज्ञान स्वरूप आप को पाकर मेरा मन मृत्यु को प्राप्त हो जाता है इसलिये हे जिनेन्द्र नाना प्रकार के विकल्पों कर युक्त मेरा चित्त आप से बाह्य समस्त पदार्थों में ही निरन्तर घूमता फिरता है क्या किया जाय? क्योंकि मृत्यु से सर्व ही डरते है अतः यह सविनय प्रार्थना है कि समस्त प्रकार के अनर्थों को करने वाला तथा अहितकारी इस मेरे मोह को नष्ट करो।

भावार्थ—जब तक मोह का संबन्ध आत्मा के साथ रहेगा तब तक चित्त मेरा तेरा करने से बाह्यपदार्थों में घूमता ही रहेगा और जब तक चित्त घूमता रहेगा तब तक सदा आत्मा में कर्मों का आवागमन भी लगा ही रहेगा तथा इस रीति से आत्मा सदा व्याकुल ही रहेगा

इसलिये हे भगवन् इस सर्वथा नाना प्रकार के अनर्थों के करने वाले मेरे मोह को नष्ट करो जिससे मेरी आत्मा को शान्ति मिले ॥१५॥

मोह ही समस्त कर्मों में बलवान है इस बात को आचार्य दिखाते हैं ॥

सर्वेषामपि कर्मणामतितरां मोहो बलीयानसौ
धत्ते चञ्चलतां बिभेति च मृतेस्तस्य प्रभावान्मनः !
नो चेज्जीवति को म्रियेत क इह द्रव्यत्वतः सर्वदा
नानात्वं जगतो जिनेन्द्र भवता दृष्टं परं पर्य्ययैः ॥ १६ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों के मध्य में मोह ही अत्यंत बलवान कर्म है और इसी मोह के प्रभाव से यह मन जहां तहां चंचल होकर भ्रमण करता है और मरण से डरता है यदि यह मोह न होवे तो निश्चयनय से न तो कोई जीवे और न कोई मरे क्योंकि आपने जो इस जगत को अनेक प्रकार देखा है वह पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से ही देखा है द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नहीं इसलिये हे भगवन् इस मेरे मोह को ही सर्वथा नष्ट कीजिये ॥१६॥

शार्दूल विक्रिड़ित ।

वातव्याप्तसमुद्रवारिलहरीसंघातवत्सर्वदा
सर्वत्रक्षणभङ्गुरं जगदिदं संचिन्त्य चेतो मम ।
सम्प्रत्येतदशेषजन्मजनकव्यापारपारस्थितं
स्थातुं वांछति निर्विकारपरमानन्दे त्वयि ब्रह्मणि ॥ १७ ॥

अर्थ—पवनकर व्याप्त ऐसा जो समुद्र उसकी जो जललहरीं उनके समूह के समान सर्व काल तथा सर्व क्षेत्रों में यह जगत क्षणभर में विनाशीक है ऐसा भलीभांति विचार कर यह मेरा मन इस समय हे जिनेन्द्र समस्त संसार के उत्पन्न करने वाले जो व्यापार उनसे रहित होकर निर्विकार परमानन्दस्वरूप परब्रह्म जो आप हैं सो आप में ही ठहरने की इच्छा करता है ॥१७॥

एनः स्यादशुभोपयोगत इतः प्राप्नोति दुःखं जनो
धर्मः स्याच्च शुभोपयोगत इतः सौख्यं किमप्याश्रयेत ।

द्वन्द्वं द्वन्द्वमिदं भवाश्रयतया शुद्धोपयोगात्पुनः
नित्यानन्दपदं तदत्र च भवानर्हन्नहं तत्र च ॥१८॥

अर्थ—जिस समय अशुभ उपयोग रहता है उस समय तो पाप की उत्पत्ति होती है तथा उस पाप से जीव नानाप्रकार के दुःखों को प्राप्त होते हैं जिस समय शुभ उपयोग रहता है उस समय धर्म (पुण्य) की उत्पत्ति होती है तथा धर्म से जीवों को सुख मिलया है और ये दोनों पाप पुण्य रूपी द्वन्द्व संसार के ही कारण है अर्थात् इन दोनों से सदा संसार ही उत्पन्न होता रहता है किन्तु शुद्धोपयोग से अविनाशी तथा आनन्द स्वरूपपद की प्राप्ति होती है और हे जिनेन्द्र आप तो उस पद में निवास करते है तथा मैं शुद्धोपयोग रूपी पद में निवास करता हूं।

भावार्थ—उपयोग के तीन भेद हैं पहला अशुभोपयोग दूसरा शुभोपयोग तीसरा शुद्धोपयोग उन में आदि के जो दो उपयोग हैं उन से तो संसार में ही भटकना पड़ता है क्योंकि जिस समय जीवों का उपयोग अशुभ होगा उस समय उन को पाप का बन्ध होगा तथा पाप के बन्ध होने से उन को नाना प्रकार की खोटी खोटी गतियों में भ्रमण करना पड़ेगा और जिस समय उपयोग शुभ होगा उस ममय उस शुभ योग की कृपा से उन को राजा महाराजा की आदि पदों की प्राप्ति होगी इस लिये वह भी संसार का ही बढ़ाने वाया है किन्तु जिस समय उस शुद्धोपयोग की प्राप्ति होगी उस समय संसार की प्राप्ति नहीं हो सकती किन्तु निर्वाण की प्राप्ति ही होगी इस लिये हे भगवन् मैं शुद्धोपयोग में ही स्थित रहना चाहता हूं ॥१८॥

यान्तर्न बहिस्थितं न च दिशि स्थूलं न सूक्ष्मं पुमान्
नैव स्त्री न नपुंसकं न गुरुतां प्राप्तं न यल्लाघवम्।
कर्मस्पर्शशरीरगन्धगणनाव्यहारवर्णोज्झितं
स्वच्छं ज्ञानदृगेकमूर्तितदहंज्योतिःपरं नापरम् ॥१९॥

अर्थ—जो आत्मस्वरूप तेज न तो भीतर स्थित है और न बाहिर स्थित है तथा न दिशा में ही स्थित है और न मोटा है न महीन है तथा आत्मा रूपी तेज न तो पुल्लिंग है और न स्त्रीलिंग है तथा नपुंसकलिंग भी नहीं है और न भारी है और न हलका है तथा जो तेज कर्म, स्पर्श, शरीर, गन्ध, संख्या, वचन वर्ण से रहित है और जो निर्मल है तथा सम्यग्ज्ञान

सम्यक्दर्शन स्वरूप है मूर्ति जिस की ऐसी है उसी उत्कृष्ट तेजस्वरूप मैं हूं किन्तु आत्मस्वरूप उत्कृष्ट तेज ते भिन्न नहीं हूं ॥१९॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

एतेनैव चिदुन्नतिक्षयकृता कार्यं विना वैरिणा
शश्वत्कर्मखलेन तिष्ठति कृतं नाथावयोरन्तरम् ।
एषोऽहं स च ते पुरः परिगतो दुष्टोऽत्र निस्सार्यतां
सन्दक्षेतरनिग्रहो न यवतो धर्मः प्रभोरीदृशः २०॥

अर्थ—हे भगवन् चैतन्य की उन्नति को नाश करने वाले और विना कारण ही सदा वैरी इस दुष्ट कर्म ने आप में तथा मुझ में भेद डाल दिया है किन्तु कर्म शून्य अवस्था में जैसी आप की आत्मा है वैसी ही मेरी आत्मा है तथा इस समय यह कर्म आपके सामने मौजूद है इस लिये इस दुष्ट को हटा कर दूर करो क्योंकि नीतिवान् प्रभुओं का यही धर्म है कि वे सज्जनों की रक्षा करें तथा दुष्टों का नाश करें ।

भावार्थ—हे भगवन् जिस प्रकार अनन्त विज्ञान अनंत वीर्य अनंत सुख तथा अनंत दर्शन आदि गुण स्वरूप आप की आत्मा है उसी प्रकार उन्हीं गुणों कर सहित मेरी भी आत्मा है किंतु भेद इतना ही है कि आप के तो वे गुण प्रकट हो गये है और मेरे उन गुणों की प्रकटता नहीं हुई है उस भेद को करने वाला यह कर्म ही है क्योंकि कर्मों की कृपा से ही उस मेरे स्वभावों पर आवरण पड़ा हुआ है तथा इस समय हम दोनों आपके सामने मौजूद हैं इस लिये इस दुष्ट को दूर करो क्योंकि आप तीनों लोक के स्वामी हैं और नीतिवान् स्वामी का यह धर्म है कि वह सज्जनों की रक्षा करे तथा दुष्टों का नाश करे ॥२०॥

आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतयः संबन्धिनोवर्गणः
तद्भिन्नस्य ममात्मनो भगवतःकिंकर्तुमीशा जडाः ।
नानाकारविकारकारिणइमे साक्षान्नभोमण्डले
तिष्ठन्तोऽपि न कुर्वते जलमुचस्तत्र स्वरूपान्तरम् ॥२१॥

अर्थ—हे भगवन् नाना प्रकार के आकार तथा विकारों को करने वाले मेघ आकाश में रहते हुए भी जिस प्रकार आकाश के स्वरूप का कुछ भी हेरफेर नहीं करते उसी प्रकार आधि, व्याधि, जरा, मरण आदि भी मेरा कुछ नहीं कर सकते क्योंकि ये समस्त शरीर के विकार जड़ है तथा मेरी आत्मा ज्ञानवान् और शरीर से भिन्न है।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश अमूर्तीक है इसलिये रंगविरंगे भी मेघ उसके ऊपर कुछ भी अपना प्रभाव नहीं डाल सकते तथा उसके स्वरूप का परिवर्तन भी नहीं कर सकते उसी प्रकार आत्मा ज्ञानदर्शनमय अमूर्तीक पदार्थ है इसलिये इसपर भी आधि, व्याधि, जरा, मरण, आदि कुछ भी अपना प्रभाव नहीं डाल सकते क्योंकि ये मूर्तीक शरीर के धर्म है और आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है ॥२१॥

संसारातपदह्यमानवपुषा दुःखं मया स्थीयते
६ नित्यं नाथ यथास्थलस्थितिमतामत्स्येन ताम्यन्मनः ।
कारुण्यामृतसंगशीतलतरे त्वत्पादपङ्केरुहे
यावद्देव समर्पयामि हृदयं तावत्परं सौख्यवान् ॥२२॥

अर्थ—हे भगवन् जिस प्रकार जल से बाहिर स्थल में बिना पानी के मछली तड़फती है उसी प्रकार संसार रूपी संताप से जिसका शरीर जल रहा है ऐसा मैं सदा दुःखित ही रहता हूं किन्तु जब तक करुणा रूपी जल के संसार से जो अत्यंत शीतल है ऐसे आपके चरण कमलों में मैं अपने मन को लगाता हूं तब तक मै अत्यन्त सुखी रहता हूं।

भावार्थ—जिस प्रकार स्थल में पड़ी हुई मछली दुःखित रहती है उसी प्रकार इस नाना प्रकार के दुःखों से भरे हुवे संसार में मैं भी सदा संतप्त रहता हूं तथा जिस प्रकार वही मछली जब तक जल में भीतर रहती है तब तक सुखी रहती है उसी प्रकार जब तक मेरा मन करुणा रूपी रस से अत्यंत शीतल आपके चरण कमलों में प्रविष्ट रहता है तबतक मैं भी सुखी रहता हूं इसलिये हे भगवन् आपके चरण कमलों को छोड़ कर मेरा मन दूसरी जगह न प्रवेश करे जिससे मैं दुःखी रहूं यही प्रार्थना है ॥२२॥

साक्षग्राममिदं मनो भवति यद्बाह्यार्थसंबन्धभाक्
तत्कर्म प्रविजृम्भते पृथगहं तस्मात्सदा सर्वथा ।

चैतन्यात्तव तत्तथेति यदिवातत्रापि तत्कारणं
शुद्धात्मन्मम निश्चयात्पुनरिव त्वय्येव देवस्थितिः ॥२३॥

अर्थ—हे भगवन् इन्द्रियों के समूह कर सहित जो मेरा मन वाह्य पदार्थों से संबन्ध करता है उसी से नाना प्रकार के कर्म मेरी आत्मा के साथ आकर बंधते हैं-किंतु वास्तविक रीति से मैं उन कर्मों से सर्वकाल में तथा सर्व क्षेत्र में जुदा ही हूं तथा आपके भी चैतन्य से भी सर्वथा वे कर्म जुदे हो हैं अथवा उस चैतन्य से कर्मों के भेद करने में आप ही कारण हैं इसलिये हे शुद्धात्मन् हे जिनेन्द्र निश्चय से मेरी स्थिति आप ही में है ॥२३॥

भावार्थ—यदि निश्चयनय से देखा जावे तो हे जिनेन्द्र आप तथा मैं समान ही हूं क्योंकि निश्चयनय से आपकी आत्मा भी कर्म बंधकर रहित है तथा मेरी आत्मा के साथ भी किसी प्रकार कर्मों का वंधन नहीं रहता है इसलिये हे भगवन् मेरी स्थिति निश्चय से आपके स्वरूप में ही है ॥२३॥

किंलोकेन किमाश्रयेणकिमुतद्रव्येण कायेन किं
किं वाग्भिः किमुतेन्द्रियैःकिमसुभिःकिंतैर्विकल्पैरपि ।
सर्वे पुद्गलपर्यया बत परे त्वत्तः प्रमतो भवन्
नात्मन्नेभिरभिश्रयस्यतितरामालेन किं बन्धनम् ॥२४॥

अर्थ—हे आत्मन् न तो तुझे लोक से काम है और न दूसरे के आश्रय से काम है तथा न तुझे द्रव्य से प्रयोजन है और न शरीर से प्रयोजन है तथा तुझे वचन और इन्द्रियों से भी कुछ काम नहीं और प्राणों से भी प्रयोजन नहीं तथा नाना प्रकार के विकल्पों से भी कुछ काम नहीं क्योंकि ये समस्त पुद्गल द्रव्य की ही पर्यायें है और तेरे से भिन्न है तो भी बड़े खेद की बात है कि तू इनको अपना मानकर आश्रय करता है सो क्या तू दृढ़ वंधन को प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य ही होगा ।

भावार्थ—हे आत्मन् तू तो निर्विकार चैतन्य स्वरूपी है और समस्त लोक तथा शरीर, इन्द्रिय, द्रव्य, वचन आदि समस्त पदार्थ पुद्गल द्रव्य की पर्याय है और तुझसे सर्वथा भिन्न है ऐसा होने पर भी यदि तू इनको अपने समझकर आश्रय करेगा तो तू अवश्य ही बंधन को प्राप्त होगा

इस लिये इन समस्त पदार्थों से ममता को छोड़कर शुद्धानंद चैतन्यस्वरूप आत्मा का ध्यान कर जिससे तू कर्मों से न बंधे ॥२४॥

धर्माधर्मनभांसि काल इति मे नैवाहितं कुर्वते
चत्वारोऽपि सहायतामुपगतास्तिष्ठन्ति गत्यादिषु ।
एकः पुद्गल एव सन्निधिगतो नोकर्मकर्माकृतिः
वैरी बन्धकृदेष सम्प्रति मया भेदासिना खण्डितः ॥२५॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये चारों द्रव्य मेरे किसी प्रकार के अहित को नहीं करते है किंतु ये चारों द्रव्य गति, स्थिति आदि कामों में सहकारी है इसलिये ये मेरे सहायी होकर ही रहते है परन्तु नोकर्म (तीन शरीर छः पर्याप्ति) तथा कर्म है स्वरूप जिसका ऐसा तथा समीप में रहने वाला और बंध का करने वाला एक पुद्गल ही मेरा वैरी है इसलिये उसी के इस समय मैंने भेदरूपी तलवार से खंड २ उड़ा दिये है ।

भावार्थ—मुझसे धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल के पांच द्रव्य भिन्न है उनमें से धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य तो मेरा किसी प्रकार अहित नहीं करते किंतु मेरी सहायता ही करते है अर्थात् धर्मद्रव्य तो मेरे गमन में सहकारी है तथा अधर्मद्रव्य ठहरने में सहकारी है और आकाश मुझे अवकाशदान देता है इसलिये अवकाश दान देने में वह भी मुझे सहकारी है और कालद्रव्य से परिवर्तन होता है इसलिये परिवर्तन करने में वह भी सहकारी है परन्तु एक पुद्गलद्रव्य ही मेरे बड़े भारी अहित का करने वाला है क्योंकि नोकर्म तथा कर्म स्वरूप में परिणत होकर पुद्गलद्रव्य मेरे आत्मा के साथ बंध को प्राप्त होता है तथा उसकी कृपा से मुझे नाना प्रकार की गतियों में भ्रमण करना पड़ता है और सत्यमार्ग भी नहीं सूझता है इसलिये इस समय भेदविज्ञान से मैंने उसका खंडन किया है ॥२५॥

शार्दूल विक्रीड़ित ।

रागद्वेषकृतैर्यथा परिणमेद्रूपान्तरैः पुद्गलो
नाकाशादिचतुष्टयं विरहितं मूर्त्या तथा प्राणिनाम् ।

ताभ्यां कर्मघनं भवेदविरतं तस्मादियं संसृतिः
तस्यां दुःख परंपरेऽपि विदुषा त्याज्यौ प्रयत्नेन तौ ॥२६॥

अर्थ—जीवों के नाना प्रकार के रागद्वेषों के करने वाले परिणामों से जिस प्रकार पुद्गलद्रव्य परिणमित होता है उसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये चार अमूर्तिकद्रव्य रागद्वेष के करनेवाले परिणामों से परिणमित नहीं होते तथा उस रागद्वेष के द्वारा प्रबल कर्मों की उत्पत्ति होती है और उस कर्म से संसार होता है तथा संसार में नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये कल्याण की अभिलाषा करने वाले सज्जनों को चाहिये कि वे राग तथा द्वेष को सर्वथा छोड़ दें ॥

अर्थ—पुद्गल के अनेक परिणाम होते हैं उन में राग द्वेष रूप जो पुद्गल के परिणाम हैं उन से सदा कर्म आत्मा में आकर बंधते रहते हैं और उन कर्मों से आत्मा को संसार में घूमना पड़ता है तथा वहां पर नानाप्रकार के दुःख सहन करने पड़ते हैं इस लिये भव्य जीवों को ऐसे परमअहित के करने वाले राग द्वेषों का त्याग अवश्य ही करना चाहिते ॥२६॥

किं वह्येषु परेषु वस्तुषु मनः कृत्वा विकल्पान्बहून्
रागद्वेषमयान् मुधैव कुरुपे दुःखाय कर्माशुभम्
आनन्दामृतसागरे यदि वसस्यासाद्य शुद्धात्मनि
स्फीतं तत्सुखमेकतामुपगतं त्वं यासि रे निश्चितम् ॥२७॥

अर्थ—हे मन बाह्य तथा तुझ से भिन्न जो स्त्री पुत्र आदि पदार्थ हैं उन में राग द्वेष स्वरूप अनेक प्रकार के विकल्पों को करके क्यों दुःख के लिये तू व्यर्थ अशुभ कर्म को बांधता है यदि तू आनन्द रूपी जल के समुद्र में शुद्धात्मा को पाकर उस में विनास करेगा तो तू विस्तीर्ण निर्वाण रूपी सुख को अवश्य प्राप्त करेगा इस लिये तुझे आनंद स्वरूप शुद्ध आत्मा में ही निवास करना चाहिये और उसी का ही ध्यान तथा मनन करना चाहिये ॥२७॥

इत्याध्याय हृदि स्थिरं जिन भवत्पादप्रसादात्सती
मध्यात्मैकतुलामयं जन इतः शुद्धयर्थमारोहति ।

एवं कर्तुममी च दोषिणमितः कर्मारयो दुर्धराः
तिष्ठन्ति प्रसभं तदत्र भगवन् मध्यस्थसाक्षी भवान् ॥२८॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र आप के चरण कमलों की कृपा से पूर्वोक्त बातों को भलीभांति मन में चिंतवनकर जिस समय यह प्राणी शुद्धि के लिये अध्यात्म रूपी तुला (तखड़ी) चढ़ता है उसे समय उस को दोषी बनाने के लिये कर्म रूपी भयंकर वैरी मौजूद है इस लिये हे भगवन् ऐसी दशा में आप ही मध्य में बैठ कर साक्षी है।

भावार्थ—तखडी के दो पलड़े होते हैं उन में से अध्यात्म रूपी एक पलड़े पर तो शुद्धि के लिये यह प्राणी चढ़ता है और दूसरे में कर्मरूपी वैरी उस प्राणी को दोषी बनाने के लिये मौजूद हे और ह भगवन् आप उन दोनों के बीच में साक्षी हैं इस लिये आप को पूरी तौर से न्याय करना चाहिये ॥२८॥

विकल्पस्वरूप ध्यान तो संसार स्वरूप है और निर्विकल्प ध्यान मोक्ष स्वरूप है इस बात को आचार्य दिखाते है।

द्वैतं संसृतिरेव निश्चयवशादद्वैतमेवामृतं
संक्षेपादुभयत्र जल्पितमिदं पर्यन्तकाष्ठागतम्।
निर्गत्याद्यपदाच्छनैः सबलितादन्यत्समालम्बते
यः सोऽसंज्ञ इति स्फुटं व्यवहृतेर्ब्रह्मादिनामेति च ॥२९॥

अर्थ—द्वैत सविकल्पक ध्यान तो वास्तविक रीति से संसार स्वरूप है तथा अद्वैत (निर्विकल्पक) ध्यान मोक्ष स्वरूप है यह संसार तथा मोक्ष में अंत दशा को प्राप्त संक्षेप से कथन है तथा जो मनुष्य इन दोनों में से आदि का जो द्वैत पद को आलम्बन करता है वह पुरुष वास्तविक रीति से नामरहित हो जाता है अथवा उसी पुरुष को व्यवहार नय से ब्रह्मा धाता आदि नाम से पुकारते हैं ॥२९॥

भावार्थ—जो पुरुष सविकल्प ध्यान को करने वाला है वह तो संसार में ही घूमा करता है किंतु जो पुरुष निर्विकल्पक ध्यान को आचरण करता है वह मोक्ष में जाकर सिद्ध पद को

प्राप्त करता है तथा सिद्धों का निश्चयनय से कोई नाम न होने से वह नाम रहित हो जाते हैं अथवा व्यवहारनय से उन्हीं को ब्रह्मा आदि नाम से भी पुकारते हैं ॥२६॥

चारित्रं यदभाणि केवलदृशो देव त्वया मुक्तये
पुंसो तत्खलु मादृशेन विषमे काले कलौ दुर्धरम् ।
भक्तिर्या समभूदिह त्वयि दृढा पुण्यैः पुरोपार्जितैः
संसारार्णवतारणे जिन ततः सैवास्तु पोतो मम ॥३०

अर्थ—हे जिनेन्द्र देव जो आप ने केवल ज्ञानरूपी दृष्टि से मुक्ति के लिये चारित्र का वर्णन किया है उस चारित्र को इस भयंकर कलिकाल में मेरे समान मनुष्य बड़ी कठिनता से धारण कर सकता है किन्तु पूर्वकाल में संचित जो पुण्य उस से जो मेरी आप में दृढ़ भक्ति है वही हे जिन मुझे संसार रूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान हो अर्थात् मुझे संसार समुद्र से वही भक्ति पार कर सकेगी ।

भावार्थ—विना कर्मों का नाश कर मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती और कर्मों का नाश आपके द्वारा वर्णन किये हुवे चारित्र (तप) से होता है उस तप को शक्ति के अभाव से इस पंचमकाल में हे भगवन् मुझ सरीखा मनुष्य धारण नहीं कर सकता इसलिये हे भगवन् यही प्रार्थना है कि भाग्य के उदय से जो आप में मेरी दृढ भक्ति है उसीसे मेरे कर्म नष्ट हो जावें और मुझे मोक्ष की प्राप्ति होवे ॥३०॥

इन्द्रत्वंचनिगोदतां च बहुधा मध्ये तथा योनयः
संसारे भ्रमता चिरं, यदखिलाः प्राप्ता मयाऽनन्तशः ।
तन्नापूर्वमिहास्ति किञ्चिदपि मे हित्वा विमुक्तिप्रदां
सम्यग्दर्शनबोधवृत्त[1]पदवीं तां देव पूर्णां कुरु ॥३१॥

अर्थ—इस संसार में भ्रमण कर मैंने इन्द्रपना निगोदपना और बीच में अन्य भी समस्त प्रकार की योनियें अनंत बार प्राप्त की है इसलिये इन पदवियों में से कोई भी पदवी मेरे लिये

१ वृत्ति यह भी ख. पुस्तक में पाठ है ।

अपूर्व नहीं है किंतु मोक्ष पद को देने वाली सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की पदवी को ही पूर्ण करो।

भावार्थ—यद्यपि संसार में बहुत सी इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदवी हैं और वे समस्त पदवी मैंने प्राप्त भी कर ली हैं किन्तु हे भगवान् जो पदवी सर्वोत्कृष्ट मोक्ष रूपी सुख के देने वाली है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की पदवी अभी तक मैंने नहीं प्राप्त की है इसलिये यह विनय पूर्वक प्रार्थना है कि कृपा कर मुझे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र की पदवी को पूर्णतया प्रदान करें। ३१॥

श्रीवीरेण ममप्रसन्नमनसा तत्किञ्चिदुच्चैःपद
प्राप्त्यर्थं परमोपदेशवचनं चित्ते समारोपितम्।
येनास्तामिदमेकभूतलगतं राज्यं क्षणध्वंसि यत्
त्रैलोक्यस्य च तन्न मे प्रियमिह श्रीमज्जिनेश प्रभो ॥३२॥

अर्थ—बाह्य तथा अभ्यंतर लक्ष्मी से शोभित ऐसे श्री वीरनाथ भगवान ने अपने प्रसन्नचित्त से सबसे ऊंचे पद की प्राप्ति के लिये जो मेरे चित्त में उपदेश जमाया है अर्थात् उपदेश दिया है उस उपदेश के सामने क्षण भर में विनाशीक ऐसा पृथ्वी का राज्य मुझे प्रिय नहीं है यह बात तो दूर रही किन्तु हे प्रभु हे जिनेन्द्र उस उपदेश के सामने तीन लोक का राज्य भी मुझे प्रिय नही है।

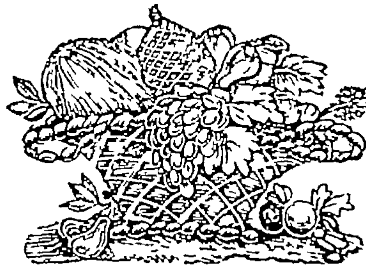
भावार्थ—यद्यपि संसार में पृथ्वी का राज्य तथा तीन लोक का राज्य मिलना भी एक उत्तम बात है किन्तु हे भगवन् प्रसन्नचित्त से श्री वीरनाथ भगवान ने जो मुझे उपदेश दिया है उसके सामने वे दोनों बातें मुझे इष्ट नहीं है इसलिये मैं ऐसे उपदेश का ही प्रेमी हूं ॥३२॥

सूरेः पङ्कजनन्दिनः कृतिमिमामालोचनामर्हता-
मग्रे यः पठति त्रिसन्ध्यममलश्रद्धानताङ्गो नरः।
योगीन्द्रैश्चिरकालरूढतपसा यत्नेन यन्मृग्यते
तत्प्राप्नोति परंपदंस मतिमानानन्दसद्म ध्रुवम् ॥३३॥

अर्थ—श्रद्धा से जिसका शरीर नम्रीभूत है ऐसा जो मनुष्य श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा की गई आलोचना नाम की कृति को तीनों काल श्री अर्हन्त देव के सामने पढ़ता है वह बुद्धिमान मनुष्य उस पद को प्राप्त होता है जिस पद को चिरकाल पर्य्यंत तपकर बड़े २ मुनि घोर प्रयत्न करने पर प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य प्रातःकाल मध्यान्हकाल तथा सायंकाल तीनों कालों में श्रीअर्हन्त देव के सामने आलोचना का पाठ पढ़ता है वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है इसलिये मोक्षाभिलाषियों को अवश्य ही श्री अर्हन्त देव के सामने श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा बनाई हुई आलोचना नामक कृतिका तीनों काल पाठ करना चाहिये ॥२३॥

इस प्रकार इस ग्रंथ में आलोचना नामक अधिकार समाप्त हुवा।



सद्बोधचन्द्रोदयाधिकारः ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

यज्जानन्नपि बुद्धिमानपि गुरुः शक्तो न वक्तुं गिरा
प्रोक्तं चेन्न तथापि चेतसि नृणां सम्माति चाकाशवत् ।
यत्र स्वानुभवस्थितेऽपि विरला लक्ष्यं लभन्ते चिरात्
तन्मोक्षैकनिबन्धनं विजयते चित्तत्वमत्यद्भुतम् ॥१॥

अर्थ—मोक्षरूपी सुख के देने वाले जिस आत्मतत्व को भलीभांति जानता हुआ तथा बुद्धिमान भी बृहस्पति वाणी से कुछ भी वर्णन नहीं कर सकता है यदि किसी रीति से वर्णन भी करे तो भी अत्यन्त विस्तीर्ण होने के कारण आकाश के समान मनुष्यों के हृदय में उसको समाविष्ट नहीं कर सकता है और स्वानुभव में स्थित होकर विरले ही प्राणी जिस आत्मतत्त्व को लक्ष्य में लाते हैं ऐसा वह अत्यन्त आश्चर्य का करने वाला आत्ममत्त्व सदा इस लोक में जयवंत है ।

भावार्थ—यह आत्मतत्त्व कठिन तो इतना है कि जिसको साधारण पंडितों की तो क्या बात साक्षात बृहस्पति भी वर्णन नहीं कर सकते और विस्तृत इतना है कि वह किसी के हृदय में आकाश की तरह प्रविष्ट नहीं हो सकता अर्थात् जिस प्रकार आकाश अधिक लम्बा चौड़ा है इसलिये वह किसी जगह पर नहीं आ सकता उसी प्रकार यह आत्मतत्त्व भी इतना विस्तृत है कि साधारण रीति से मनुष्य समझ नहीं सकते और अनेक प्रकार के प्रयत्न करने पर विरले ही मनुष्य इस आत्मतत्त्व को यक्ष्य में ला सकते हैं ऐसा समस्त मोक्ष आदि उत्तम सुखों का देने वाला आत्मतत्त्व सदा इस लोक में जयवंत है ॥१॥

नित्यानित्यतया महत्तनुतयानेकैकरूपत्वतः
चित्तत्वं सदसत्तया च गहनं पूर्णं च शून्यं च यत् ।
तज्जीयादखिलश्रुताश्रयशुचिज्ञानप्रभाभासुरो
यस्मिन् वस्तुविचारमार्गचतुरो यः सोऽपि संमुह्यति ॥२॥

अर्थ—जो चैतन्यरूपी तत्त्व नित्य तथा अनित्यपने से और गुरू तथा लघुपने से तथा एक रूप और अनेक रूपपने से तथा सत्‌रूप और असत्‌रूपपने से अत्यंत गहन है और जो पूर्ण तथा शून्य भी है ऐसा आत्मतत्त्व सदा इसलोक में जयवंत है जिस आत्मतत्त्व में समस्त शास्त्रों के अभ्यास से पाई हुई जो ज्ञान की प्रभा उससे देदीप्यमान तथा वास्तविक पदार्थों के विचार करने में चतुर भी मनुष्य मुग्ध होजाता है अर्थात् उस को भी इस चैतन्य (आत्म) तत्त्व का पता नहीं लगने पाता।

भावार्थ—जो चैतन्यरूपीतत्त्व द्रव्य की अपेक्षा तो नित्य है तथा पर्याय की अपेक्षा अनित्य है और जो संसारावस्था में कर्मों के जरिये से भारी होने पर भी कर्म रहित अवस्था में हलका है तथा जो स्वद्रव्य की अपेक्षा एकरूप है तथा पर्याय की अपेक्षा अनेकरूप है जो स्वचतुष्टयकी अपेक्षा सत् स्वरूप है तथा पर चतुष्टयकी अपेक्षा असत् स्वरूप है तथा जो चैतन्य-रूपी तत्त्व स्वद्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षा पूर्ण है तथा परद्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा शून्य है ऐसा यह अत्यंत गहन आत्मतत्त्व इस लोक में सदा जयवंत है और समस्तशास्त्रों के अभ्यास से जिन महापुरुषों ने ज्ञानरूपी प्रभा को पाकर अपनी आत्मा को देदीप्यमान बनाया है और वास्तविक रीति से उनको भी आत्मतत्त्वका पता नहीं लगता ॥२॥

सर्वस्मिन्नणिमादिपङ्कजवने रम्येऽपि हित्वा रतिं
यो दृष्टिं शुचिमुक्तिहंसवनितां प्रत्यादराद्दत्तवान् ।
चेतोवृत्तिनिरोधलब्धपरमब्रह्मप्रमोदाम्बुभृत्
सम्यक्साम्यसरोवरस्थितिजुषे हंसाय तस्मै नमः ॥३॥

अर्थ—जो हंस अत्यंत मनोहर भी अणिमा महिमा आदि स्वरूप कमल वनसे अपनी प्रीति को हटा कर अत्यंत पवित्र मोक्ष रूपी हंसिनी में अपनी दृष्टि को देता हुवा ऐसे उसचित्त की वृत्ति के रोकने से प्राप्त हुवा जो परमब्रह्मका उत्तम आनन्द वही हुवा जल उससे भरा हुवा जो मनोहरसमतारूपी सरोवर उसमें स्थिति करनेवाले प्रिय हंस के लिये नमस्कार है ॥

भावार्थ—हंस का अर्थ आत्मा भी है तथा हंस भी है जिस प्रकार हंस अत्यंत मनोहर भी कमलवन को छोड़कर और अत्यंत शुभ्र हंसनी में दृष्टि को लगाकर जल के भरे हुवे उत्तम सरोवर में प्रीति पूर्वक निवास करता है उसी प्रकार जो आत्मा अणिमा महिमा आदिक ऋद्धियों

भावार्थ—जब तक मन का सम्बन्ध इस आत्मा के साथ में रहता है तब तक वह मन बाह्य पदार्थों में घूमता रहता है इस लिये आत्मा की परिणति भी बाह्य पदार्थों में लगी रहती है किन्तु जिस समय यह आत्मा परमात्मा हो जाता है उस समय इस मन का सर्वथा नाश हो जाता उस समय इस की बाह्य पदार्थों में परिणति नहीं लगती इसी लिये मन परमात्मा में स्थित न होकर बाह्य पदार्थों में ही घूमता रहता है क्योंकि पृथ्वी तल में जब सब मरण से डरते हैं तो अपने मरण का मन को भी पूरा पूरा भय है ॥८॥

तत्त्वमात्मगतमेव निश्चितं योऽन्यदेशनिहितं समीक्षते ।
वस्तु मुष्टिविधृतं प्रयत्नतः कानने मृगयते स मूढधीः ॥९॥

अर्थ—यदि निश्चय से देखा जावे तो चैतन्य रूपी तत्त्व आत्मा में है आत्मा से भिन्न किसी भी स्थान में नहीं है किन्तु जो मनुष्य आत्मा से भिन्न किसी दूसरे स्थान में चैतन्य रूपी तत्त्व रहता है ऐसा समझते हैं तथा जानते हैं वे मूढ़ बुद्धि मनुष्य वैसा ही काम करते हैं जैसा कि मुट्ठी में रक्खी हुई वस्तु को वन में जाकर ढूंढ़ना ।

भावार्थ—मुट्ठी में रक्खी हुई भी वस्तु का वनमें जाकर ढूंढ़ना (खोजना) जिस प्रकार व्यर्थ है उसी प्रकार अपने से भिन्न स्थान में चैतन्य का मानना तथा देखना वृथा है इस लिए चैतन्य तत्त्व के खोज करने वाले उत्तम पुरुषों को चैतन्य तत्त्व अपने में ही समझना चाहिये अपने से भिन्न स्थान में नहीं ॥९॥

अब आचार्य इस बात को दिखाते है कि जो मनुष्य आत्मीक वस्तु में तत्पर हैं वे ही उत्कृष्ट ध्यान के पात्र हैं ।

तत्परः परमयोगसम्पदां पात्रमत्र न पुनर्बहिर्गतः ।
नापरेण चलितः पथेप्सिता स्थानलाभविभवो विभाव्यते ॥१०॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य मार्ग तो दूसरा है परंतु उस को छोड़ कर दूसरे मार्ग से चले तो कदापि उस को अभीष्ट स्थान का लाभ नहीं हो सकता किन्तु ठीक मार्ग पर चले तभी वह अपने अभीष्ट स्थान पर पहुंच सकता है उसी प्रकार जो पुरुष आत्मा में आशक्त है वे ही मनुष्य उत्कृष्ट ध्यान के पात्र हैं किन्तु जो मनुष्य आत्मा में आशक्त नहीं हैं बाह्य पदार्थों

में ही आसक्त नहीं हैं वे कदापि उत्कृष्ट ध्यान के पात्र नहीं और न हो ही सकते हैं इस लिये उत्कृष्ट ध्यान के प्रेमी उत्तम पुरुषों को आत्मा में अवश्य आसक्त रहना चाहिए ॥१०॥

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि जो तपस्वी आत्म स्वरूप में लक्ष्य नहीं देते वे मूर्ख है।

साधु लक्ष्यमनवाप्य चिन्मये यत्र सुष्ठु गहने तपस्विनः
अप्रतीतिभुवमाश्रिता जडा भान्ति नाट्यगतपात्रसन्निभाः ॥११॥

अर्थ—अत्यन्त गहन ऐसे जिस चैतन्यरूपी तत्त्व में भलीभांति लक्ष्य न देकर जो तपस्वी अज्ञानमयी भूमि को आश्रित है अर्थात् अज्ञानी वन रहे है वे तपस्वी जड़ हैं और वे नाटक के पात्र के समान शोभित है।

भावार्थ—जिस प्रकार नाटक का पात्र कभी राजा कभी मंत्री स्त्री आदि नानाप्रकार के वेषों को धारण करता है किन्तु वह वास्तविक राजा, मंत्री व स्त्री नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार तपस्वी का वेष धारण कर जो तपस्वी चैतन्यरूपी तत्व की ओर अपना लक्ष्य नहीं देते वे तपस्वी कहलाने के योग्य नहीं और वे जड़ हैं इसलिये तपस्वियों को चैतन्यरूपी तत्वपर अवश्य ही लक्ष्य देना चाहिये ॥११॥

भूरिधर्मयुतमप्यबुद्धिमानन्धहस्तिविधिनावबुध्य यत्।
भ्राम्यति प्रचुरजन्मसङ्कटे पातु वस्तदतिशायि चिन्महः ॥१२॥

अर्थ—अज्ञानीपुरुष अंधहस्तिन्याय के समान अनेक धर्मों कर सहित ऐसे चैतन्यतत्व को जान कर भी अनेक जन्म संकटों में भ्रमण करता है ऐसा वह अत्यंत अतिशय का भंडार चैतन्यरूपी तेज आपकी रक्षाकरो।

भावार्थ—अंधे के आंखों के होने के कारण वह हाथी के समस्तरूप को नहीं देख सकता इसलिये हाथी के समस्त स्वरूप के अज्ञानी उस अंधे द्वारा वतलाया हुवा हाथी का स्वरूप जिस प्रकार प्रमाण भूत नहीं माना जाता उसी प्रकार अज्ञानी द्वारा जाना हुवा अनेकान्तात्मक चेतन्यतेज प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता अतएव अज्ञानी चैतन्यस्वरूप को जानता हुवा भी

की कुछ भी इच्छा न कर तथा अति आदर से मोक्ष में दृष्टि लगाकर समता में लीन होता है उस आत्मा के लिये नमस्कार है ॥३॥

रथोद्धता ।

सर्वभावविलये विभाति यत्सत्समाधिभरनिर्भरात्मनः ।
चित्स्वरूपमभितः प्रकाशकं शर्मधाम नमताद्भुतं महः ॥४॥

अर्थ—चारों तरफ से प्रकाशरूप तथा नाना प्रकार के कल्याणों का देने वाला आश्चर्यकारी जो चैतन्यरूपी तेज समीचीन समाधि से जिनकी आत्मा व्याप्त है ऐसे महामुनियों के समस्त रागद्वेष आदि विभावों के नाश होने पर प्रकट होता है उस चैतन्यरूपी तेज के लिये नमस्कार करो ।

भावार्थ—यदि सामान्यतया देखा जावे तो जीव मात्र में चैतन्यरूपी तेज मौजूद है किन्तु जो चैतन्यरूपी तेज समस्त रागादि भावों के नाश होने पर प्रकट होता है और जो चौतर्फा (चारों ओर) प्रकाश रूप तथा समस्त प्रकार के कल्याणों का देने वाला है उस चैतन्यरूपी तेज के लिये नमस्कार है ॥४॥

विश्ववस्तुविधृतिक्षमं लसज्ज्ञालमन्तपरिवर्जितं गिराम् ।
अस्तमेत्यखिलमेवहेलया यत्र तज्जयति चिन्मयं महः ॥५॥

अर्थ—जो चैतन्यरूपी तेज समस्त पदार्थों का प्रकाश करने वाला है और स्वयं प्रकाश स्वरूप है तथा अंतकर रहित है और यदि समस्त वाणी युगपत् मिलजावे तो भी उसका वर्णन नहीं कर सकती है अर्थात् जो वाणी के आगोचर है ऐसा वह चैतन्यरूपी तेज सदा इस लोक में जयवंत है ॥५॥

रथोद्धता ।

नो विकल्परहितं चिदात्मकं वस्तु जातु मनसोऽपि गोचरम् ।
कर्मजाश्रितविकल्परूपिणः का कथा तु वपुषो जडात्मनः ॥६॥

अर्थ—समस्त प्रकार के विकल्पों कर रहित चैतन्यरूपी तेज किसी भी रीति से मन के भी गोचर नहीं हो सकता, वह चैतन्यरूपी तेज कर्मों से पैदा हुवे नाना प्रकार के विकल्प वही है रूप जिसका तथा जड़स्वरूप ऐसे शरीर के गोचर कब हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता ॥६॥

अब आचार्य इस बात को बताते हैं कि वह चैतन्यरूपी तत्त्व मन आदि के प्रत्यक्ष न होकर भी स्वानुभव गम्य है।

चेतसो न वचसोऽपि गोचरस्तर्हि नास्ति भविता खपुष्पवत् ।
शङ्कनीयमिदमत्र नो यतः स्वानुभूतिविषयस्ततोऽस्ति तत् ॥७॥

अर्थ—यदि कोई मनुष्य इस बात की शंका करै कि चैतन्यरूपी तेज न तो मन के गोचर है और न बचन के गोचर है इहलिये आकाश के फूल के समान उसका नास्तित्व हो जायगा तो आचार्य समाधन देते हैं कि ऐसी शंका कदापि नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह चैतन्य रूपी तत्त्व स्वानुभव से जाना जाता है इसलिये नास्तित्व न होकर उसका अस्तित्व ही है ॥

भावार्थ—आकाश का फूल न तो विचारने में ही आ सकता है और न उसको देख तथा सुन ही सकते हैं तथा उसको बचन से भी नहीं कह सकते है इसलिये जिस प्रकार उसकी अस्तिता नहीं कही जा सकती उसी प्रकार आत्मतत्त्व की भी अस्तिता नहीं बन सकती, क्योंकि यह भी न तो मन के गोचर है और न बचन के गोचर है यदि कोई इस प्रकार की शंका करे तो ग्रंथकार कहते हैं कि उसकी इस प्रकार की शंका सर्वथा अयुक्त है क्योंकि वह चैतन्य मन तथा बचन के गोचर न होने पर भी स्वानुभव गोचर है इसलिये आकाश के फूल के समान उसकी नास्तिता न कहकर अस्तिता ही कहनी चाहिये ॥७॥

नूनमत्र परमात्मनि स्थितं स्वान्तमन्तमुपयाति तद्बहिः।
तं विहाय सततं भ्रमत्यदः को बिभेति मरणान्न भूतले ॥८॥

अर्थ—जिस समय मन परमात्मा में स्थित होता है उस समय उस मन का नाश हो जाता है इस लिये वह मन उस परमात्मा को छोड़ कर जहां तहां बाहर भ्रमण करता है क्योंकि पृथ्वी तल में मरण से कौन नहीं डरता है ? अर्थात् सर्व ही डरते हैं।

संसार में ही भ्रमण करता रहता है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा अतिशयशाली चैतन्यरूपी तेज सदा आपकी रक्षा करो ॥१२॥

कर्मबंधकलितोप्यबंधनो द्वेषरागमलिनोऽपि निर्मलः ।
देहवानपि च देहवर्जितश्चित्रमेतदखिलं चिदात्मनः ॥१३॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मोंके बंधनकरे सहित होकर भी कर्मबंधनकर रहित है तथा द्वेष और राग से मलिन होने पर भी जो निर्मल है और देहधारी होनेपर भी जो देहकर रहित है इसलिये आचार्य कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप आश्चर्यकारी है।

भावार्थ—इस श्लोक में विरोधाभास नामक अलंकार है इसलिये आचार्य विरोधको दिखाते है कि जो कर्मबंधन कर सहित है वह कर्मबंधनकर रहित कैसे हो सकता है ? और जो समल है वह निर्मल कैसे हो सकता है ? और जो देहसहित है वह देहरहित कैसे हो सकता है ? अब आचार्य विरोध का परिहार करते हैं यद्यपि अशुद्धनिश्चय से आत्मा कर्मबंधनकर सहित है तथापि शुद्ध निश्चयनय से आत्मा कर्म बन्धनकर रहित ही है यद्यपि आत्मा अशुद्धनिश्चय से रागद्वेष से मलिन है तो भी शुद्धनिश्चय से वह निर्मल है और आत्मा व्यवहारनय से शरीर कर सहित है तो भी शुद्धनिश्चयन से उसका कोई शरीर नहीं है।

सारार्थ—किसी अपेक्षा से आत्मा कर्मबंधनकर सहित है तथा किसी अपेक्षा से कर्मबंधनकर रहित है और किसी अपेक्षा से रागद्वेष से मलिन है तथा किसी अपेक्षा से निर्मल है और किसी अपेक्षा से आत्मा शरीर सहित है तथा किसी अपेक्षा से शरीर कर रहित है इस प्रकार आत्मा अनेकधर्मात्मक है एक धर्मात्मक नहीं ऐसा विश्वास रखना चाहिये ॥

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि अनेकांतात्मक वस्तु में किसी प्रकार का विरोध नहीं आ सकता।

रथोद्धता।

निर्विनाशमपि नाशमाश्रितं शून्यमप्यतिशयेन सम्भृतम् ।
एकमेव गतमप्यनेकतां तत्वमीदृगपि नो विरुध्यते ॥१४॥

अर्थ—जो अनेकांतात्मक तत्व नाशरहित होने पर भी नाश कर सहित है और शून्य होने पर भी संपूर्ण है (भरा हुवा है) तथा एक होने पर भी अनेक है ऐसा होने पर भी उस में किसी प्रकार का विरोध नहीं है ॥

भावार्थ—समस्त पदार्थों की सिद्धि किसी न किसी अपेक्षा के द्वारा ही होती है यदि पदार्थों की सिद्धि में अपेक्षा न मानी जाय अर्थात् यदि उनकी सिद्धि एकान्त रीति से ही की जाय तो कदापि उनकी निर्दोष सिद्धि नही हो सकती इसीलिये अनेकान्तात्मक तत्व में किसी प्रकार का दोष आकार उपस्थित नहीं होता क्योंकि अपेक्षा से ही अनेकान्तात्मक तत्व की स्थिति है जैसे—यदि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा की जावे तो तत्व नाश कर रहित है और यदि पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा की जावे तो तत्वों का नाश भी है और यदि परद्रव्यचतुष्टय की अपेक्षा की जावे तो तत्व शून्य भी है तथा स्वद्रव्यचतुष्टय की अपेक्षा की जावे तो तत्व शून्यताकर रहित भी है और शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से एक भी है तथा व्यवहारनय की अपेक्षा से अनेक भी है इस रीति से अस्तित्व नास्तित्वादि अनेक धर्म तत्व में मौजूद हैं तथा ये सब अपेक्षा से माने गये हैं इसलिये उसमें किसी प्रकार का विरोध भी नहीं है ऐसा निश्चय से समझना चाहिये ॥१४॥

आत्मीक तत्व के पाने वाले ही स्वस्वरूप के पाने वाले समझे जाते हैं इस बात को आचार्य दिखाते हैं।

विस्मृतार्थपरिमार्गणं यथा यस्तथा सहजचेतनाश्रितः ।
स क्रमेण परमेकतां गतःस्वस्वरूपपदमाश्रयेद्ध्रुवम् ॥१५॥

अर्थ—मूर्छित हुवा मनुष्य जिस प्रकार सावधान होकर अपनी भूली हुई चीज को ढूंडता है पीछे शान्त होकर अपने स्वरूप में स्थित होता है उसी प्रकार जो मनुष्य अनादि काल से भूले हुवे अपने स्वाभाविक चैतन्य को आश्रय कर क्रम से साम्यभाव को धारण करता है वह मनुष्य निश्चय से आत्मस्वरूप को आश्रय करता है अर्थात् उसको आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है ॥१५॥

यद्यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत्तत्तदेव सहसा परित्यजेत् ।
इत्युपाधिपरिहारपूर्णता सा यदा भवति तत्पदं तदा ॥१६॥

अर्थ—जो २ बात मन में होवे (अर्थात् जिस २ बात की मन में इच्छा होवे) उसी २ बात को सबसे पहिले छोड़ देवे इस प्रकार जिस समय में समस्त उपाधि का नाश हो जाता है उसी समय आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ—ज्ञान दर्शन की परिपूर्णता ही आत्मा का स्वरूप है और जिस समय में इस अखण्डज्ञान तथा दर्शन की प्राप्ति हो जाती है उसी को स्वस्वरूप की प्राप्ति कहते हैं किन्तु जबतक कर्म जनित राग द्वेष अथवा इच्छा आदि उपाधियों का संबंध इस आत्मा के साथ रहता है तब तक आत्म स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती इसलिये स्वस्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक भव्य जीवों को चाहिये कि वे जिस समय चित्त में इच्छा आदिक उपाधि उत्पन्न होवे उसी समय उनका त्याग कर आत्मस्वरूप की प्राप्ति करें ॥१६॥

संहृतेषु स्वमनोऽनिलेषु यद्भाति तत्वममलात्मनः परम् ।
तद्गतं परमनिस्तरङ्गतामग्निरुग्र इह जन्मकानने ॥१७॥

अर्थ—पांचों इन्द्रियों के तथा मन के और श्वासोच्छ्वास के संकुचित होने पर जो आत्मा का निर्मल तथा उत्कृष्ट स्वरूप उदित होकर शोभित होता है ऐसा वह अत्यन्त निश्चल आत्म तत्व संसार रूपी वन के लिये भयंकर अग्नि के समान है।

भावार्थ—जिस प्रकार वन में लगी हुई अग्नि समस्त वन को भस्म कर देती है उसी प्रकार परमात्म तत्व भी समस्त संसार का नाश करने वाला हैं अर्थात् परमात्म तत्व के प्राप्त होने पर संसार का सर्वथा नाश हो जाता है ॥१७॥

निर्विकल्प पदवी का आश्रयण करने वाला ही संयमी मोक्ष पद को प्राप्त होता है
इस बात को आचार्य दिखाते है।

मुक्त इत्यपि न कार्यमञ्जसा कर्मजालकलितोऽहमित्यपि ।
निर्विकल्पपदवीमुपाश्रयन् संयमी हि लभते परं पदम् ॥१८॥

अर्थ—मैं समस्त कर्मोंकर रहित मुक्त हूं ऐसा भी संयमियों को नहीं मानना चाहिये तथा समस्त कर्मोंकर सहित हूं ऐसा भी नही मानना चाहिये क्योंकि निर्विकल्प पदवी को आश्रय करने वाला ही संयमी मोक्ष पद को प्राप्त होता है।

भावार्थ—मैं कर्मकर रहित हूं यह भी विकल्प है तथा मैं कर्मकर सहित हूं यह भी विकल्प है और जिस संयमी के जबतक ऐसा विकल्प रहता है तबतक उसकी कदापि मुक्ति नहीं होती इसलिये जो संयमी मोक्षाभिलाषी हैं उनको निर्विकल्प पदवी का ही आश्रय करना चाहिये ॥१८॥

अब आचार्य द्वैत तथा अद्वैत भाव का निषेध वर्णन करते हैं।

कर्मचाहमिति च द्वये सति द्वैतमेतदिह जन्मकारणम् ।
एक इत्यपि मतिः सति द यत्साप्युपाधिरचिता तदङ्गभृत् ॥१६॥

अर्थ—हे जीव कर्म तथा मैं दो हूं इस प्रकार का द्वैत भी जीवों को संसार का कारण है अर्थात् इसप्रकार के द्वैत से भी जीवों को नाना प्रकार के भवों में भ्रमण करना पड़ता है तथा मैं एक हूं यह भी बुद्धि ठीक नहीं क्योंकि उपर्युक्त दोनों प्रकार की बुद्धि उपाधिजन्य है।

भावार्थ—मैं द्वैत हूं तथा एक हूं इस प्रकार के दोनों भाव असत्य हैं क्योंकि ये संसार के उत्पन्न करने वाले हैं तथा कर्म जनित उपाधि से पैदा हुवे है इसलिये जो पुरुष मोक्षाभिलाषी है उनको ईन दोनों भावों का त्यागकर निर्विकल्प पदवी का ही आश्रय अरना चाहिये ॥१६॥

अब आचार्य इस वात को दिखाते हैं कि शुद्ध भावना तो शुद्ध पदकी का कारण है और अशुद्ध भावना अशुद्ध पदकी का कारण है

संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत् ।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ॥२०॥

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्ण से सुवर्णपात्र की उत्पत्ति होती है तथा लोह से लोह पात्र की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार शुद्ध परमात्मा की भावना करने से शुद्ध पद मोक्ष पद की प्राप्ति होती है तथा अशुद्ध भावना से अशुद्ध पद स्वर्ग नरकादि पद की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—"कारण सदृशानि कार्याणि भवन्ति" अर्थात् कारण के समान ही कार्य उत्पन्न होते है इस नीति के अनुसार जो भव्यजीव निष्कलंक शुद्ध बुद्ध परमात्मा का ध्यान करते हैं उनको परमपद मोक्षपद की प्राप्ति होती है अर्थात् वे मोक्ष को जाते है और जो मनुष्य परमात्मा

की भावना नहीं करते हैं उनको परमपद की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् उनको संसार में नरकादि गतियों में भ्रमण करना पड़ता है ॥२०॥

परमार्थ को जानने वाले योगी को किसी प्रकार के सुख दुःख का अनुभव
नहीं करना पड़ता इस बात को आचार्य दिखाते हैं ।

कर्मभिन्नमनिशं स्वतोऽखिलं, पश्यतो विशदबोधचक्षुषा ।
तत्कृतेऽपि परमात्मवेदिनो, योगिनो न सुखदुःखकल्पना ॥२१॥

अर्थ—समस्त कर्म मुझसे भिन्न हैं इस प्रकार निरंतर अपने दिव्य सम्यग्ज्ञानरूपी चक्षु से देखने वाले तथा परमात्मा को भलीभांति जानने वाले योगी के कर्म के उत्पन्न सुख दुःख के होने पर भी सुख दुःख की कल्पना नहीं होती ।

भावार्थ—अपने से कर्म को भिन्न समझने वाला और परमार्थ को भलीभांति जानने वाला योगीश्वर कर्म जनित सुख दुःख के होने पर भी अपने को सुखी दुःखी नहीं मानता ॥२१॥

मानसस्य गतिरस्ति चेन्निरालम्ब एव पथि भास्वतो यथा ।
योगिनो दृगवरोधकारकः सन्निधिर्न तमसां कदाचन ॥२२॥

अर्थ—सूर्य के समान योगियों के मन की गति यदि निरालंब मार्ग में ही होवे तो कभी उनके सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की प्रभा को रोकने वाले अंधकार की निकटा न होवे ।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य निवारण मार्ग में गमन करता है इसलिये उसका प्रकाश किसी के द्वारा रोका नहीं जाता उसी प्रकार जिस योगी का मन निरालम्ब मार्ग में गमन करता है अर्थात् जिस समय योगी निरालम्ब ध्यान को करता है उस समय उस योगी के सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान रूपी तेज को दर्शनावरण ज्ञानावरणरूपी अंधककार रोक नहीं सकता इसलिये योगियों को सदा निरालम्ब ही ध्यान करना चाहिये ॥२२॥

रुग्जरादिविकृतिर्न मेऽञ्जसा सा तनोरहमितः सदा पृथक् ।
मीलितेऽपि सति खे विकारिता जायते न जलदैर्विकारिभिः ॥२३॥

अर्थ—नाना प्रकार के विकारोंकर सहित मेघों के साथ संबंध होने पर भी जिसप्रकार आकाश में किसी प्रकार का विकार पैदा नहीं होता क्योंकि वे मेघों के हैं उसीप्रकार रोग वृद्धावस्था आदि नाना प्रकार के विकार शरीर में ही हैं मेरे (आत्मा) विकार नहीं है क्योंकि शरीर से मैं सदा जुदा हूं।

भावर्थ—मूर्तीकपदार्थों में ही विकार होता है अमूर्तीक पदार्थों में नही आकाश अमूतीक है इसलिये अनेक प्रकार के विकार सहित मेघों के सम्बंध होने पर भी जिस प्रकार आकाश में विकार नहीं होता उसी प्रकार आत्मा का भी विकार नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा अमूर्तीक है जो रोग वृद्धावस्था आदि विकार है वे शरीर के विकार हैं तथा शरीर आत्मा से सर्वथा भिन्न है ॥२३॥

व्याधिनाङ्गमभिभूयते परं तद्गतोऽपि न पुनश्चितम् ॥२४॥
उच्छ्रितेन गृहमेव दह्यते वन्हिना न गगनं तदाश्रितम् ॥२४॥

अर्थ—यदि किसी कारण से मकान में अग्नि लग जावे तो उस अग्नि से मकान ही जलता है किंतु उसके भीतर रहा हुआ आकाश नहीं जलता उसी प्रकार शरीर में किसी कारण से व्याधि उत्पन्न हो जावे तो उस ध्याधि से शरीर ही नष्ट होता है उसके भीतर रहे हुए आत्मा का नाश नहीं होता।

भावार्थ—जिस प्रकार मकान में उठी हुई अग्नि से मकान ही जलता है उसी प्रकार शरीर में उठी हुई व्याधि से शरीर ही नष्ट होता है किन्तु अग्नि से जिस प्रकार मकान के भीतर रहा हुआ आकाश नहीं जलता उसी प्रकार व्याधि से शरीर के भीतर रहा हुआ चैतन्यस्वरूप आत्मा भी नष्ट नहीं होता ॥२४॥

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः।
नान्यदल्पमपि तत्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ॥२५॥

अर्थ—समस्त प्रकार की रागद्वेष आदि उपाधियों से रहित तथा सम्यग्ज्ञानस्वरूप जो कोई वस्तु है वही हमारी है किन्तु इससे भिन्न थोड़ी भी वस्तु हमारी नहीं है इस प्रकार जो

योग का निश्चय है वही मोक्ष का कारण है किन्तु इससे भिन्न योग का निश्चय मोक्ष का कारण नहीं ॥२५॥

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि योग से ही तो आत्मा बंधन को
प्राप्त होता है और योग से ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

योगतो हि लभते विबंधनं योगतो हि किल मुच्यते नरः।
योगवर्त्म विषमं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा ॥२६॥

अर्थ—ध्यान से ही तो मनुष्य बंधन को प्राप्त होता है तथा ध्यान से ही मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है इस प्रकार यह ध्यान का मार्ग अत्यन्त कठिन है किन्तु जो भव्य जीव मोक्ष के अभिलाषी हैं उनको यह समस्त ध्यान का मार्ग गुरु के उपदेश से समझना चाहिये।

भावार्थ—ध्यान अनेक प्रकार का होता है उनमें जो मनुष्य जैसा ध्यान करता है उसे उसी प्रकार के फल की प्राप्ति होती है इस लिये मोक्षाभिलाषियों को चाहिये कि वे मोक्ष के कारणभूत ध्यान को ही गुरु के उपदेश से समझें और संसार का जो कारण ध्यान उस की ओर दृष्टि न देवें ॥२६॥

शुद्ध ज्ञान स्वरूप वस्तु ही रमणीक स्थान है इस बात को आचार्य दिखाते हैं।

शुद्धबोधमयमस्ति वस्तु यद्रामणीयकपदं तदेव नः।
स प्रमाद इह मोहजः क्वचित्कल्प्यते यदपरापि रम्यता ॥२७॥

अर्थ—जो वस्तु शुद्धबोध स्वरूप है अर्थात् निर्मल सम्यग्ज्ञान स्वरूप है वही हमारा रमणीय स्थान है किन्तु जो मनुष्य निर्मल सम्यग्ज्ञान से अतिरिक्त भी रमणीयता है इस बात को कहते हैं वह वास्तविक रमणीयता नहीं किन्तु वह मोहनीय कर्म से उत्पन्न हुआ प्रमाद ही है।

भावार्थ—निर्मल सम्यग्ज्ञान स्वरूप ही रमणीय है किन्तु इस से भिन्न कोई भी पदार्थ रमणीय नहीं है यदि कोई मनुष्य इस से भिन्न पदार्थ को भी रमणीय माने तो उस का प्रमाद ही समझना चाहिये ॥२७॥

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं स्नानमत्रकुरुतोत्तमं बुधाः ।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदन्तरम् ॥२८॥

अर्थ—आचार्य उपदेश देते हैं कि हे भव्य पंडितो यदि तुम अपने पापों का नाश करना चाहते हो तो अत्यन्त पवित्र तथा आश्चर्य के करने वाले उत्तम इस आत्म ज्ञान स्वरूपी तीर्थ में ही स्नान करो क्योंकि जो अंतरंग का मल अन्य करोड़ों तीर्थ में स्नान करने पर भी नष्ट नहीं होता है वह अंतरंग का मल इस आत्मज्ञान स्वरूप तीर्थ में एक समय स्नान करने पर ही नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—पाप से भयभीत होकर करोड़ों मनुष्य काशी प्रयाग आदि स्थानों पर गंगा आदि नदियों में स्नान करते हैं तथा अपने को मल रहित शुद्ध मानते हैं परन्तु गंगा आदि नदियों में स्नान करने से बाह्य मल का ही नाश होता है किन्तु रागद्वेष आदि अंतरंग मल का नाश नहीं होता और वास्तविक रीति से अंतरंग मल का नाश ही वास्तविक सुख का मूल है इस लिये आचार्यवर उपदेश देते है कि हे भव्य जीवो यदि तुम अंतरंग मल का नाश करना चाहते हो तो तुम को इस परमपवित्र आत्मारूपी तीर्थ में ही स्नान करना चाहिये क्योंकि जो अंतरंग मल दूसरे २ करोड़ों तीर्थ में स्नान करने पर भी नष्ट नहीं होता वह अंतरंग मल आत्म रूपी पवित्र तीर्थ में एक बार ही स्नान करने से निश्चय से पल भर में नष्ट हो जाता है ॥२८॥

चित्समुद्रतटबद्धसेवया जातते किमु न रत्नसंचयः
दुःखहेतुरमुतस्तु दुर्गतिः किं न विप्लवमुपैति योगिनः ॥२९॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि जो पुरुष बड़े उत्साह के साथ चैतन्यरूपी समुद्र के तीर की भलीभांति सेवा करते है क्या उनको सम्यक् दर्शन आदि रत्नों की प्रप्ति नहीं होती है अवश्य ही होती है तथा इस पाये हुये रत्न समूह से चैतन्य रूपी समुद्र को सेवा करने वाले मुनियों की क्या नाना प्रकार के दुःखों को देने वाली नरक आदि खोटी गतियों का नाश नहीं होता ? अवश्य ही होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र की पार पर रहने वाले मनुष्यों को नाना प्रकार के रत्नों की प्राप्ति होती है तथा उन रत्नों की सहायता से वे धनिक हो जाते हैं और उन को दरिद्रता से पैदा हुआ दुःख कुछ भी नहीं सता सकता उसी प्रकार जो मुनि सदा अपनी आत्मा का चिंतवन

करने वाले हैं उन को सम्यग्दर्शन सयग्ज्ञान सम्यक् चारित्र रूपी रत्नों की प्राप्ति होती है तथा उन रत्नों की प्राप्ति होने पर उन को किसी प्रकार की नरक आदि गतियों में नहीं जाना पड़ता इस लिये दुःख से सदा भय करने वाले मनुष्यों को आत्मा का ही चिंतवन करना चाहिये ॥२९॥

निश्चयावगमनस्थितित्रयं रत्नसंचितिरियं परात्मनि ।
योगदृष्टिविषयीभवन्नसौ निश्चयेन पुनरेक एव हि ॥३०॥

अर्थ—परमात्मा में जो निश्चय तथा ज्ञान और स्थिति है उन्ही को सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र कहते हैं और केवली भगवान की दृष्टि में ये तीनों निश्चयनय से आत्म स्वरूप ही हैं अर्थात् आत्मा से भिन्न सम्यग्दर्शन सम्यक् चारित्र कोई प र्थ नहीं।

भावार्थ—परमात्मा है इस प्रकार का जो निश्चय है सो तो सम्यग्दर्शन है और परमात्मा को भली भांति जाना सम्यग्ज्ञान है तथा परमात्मा में स्थिरता रखना सम्यक् चारित्र है और यदि निश्चयनय से देखा जावे तो ये आत्म स्वरूप ही हैं आत्मा से भिन्न नहीं है तथा केवली भगवान अपने केवल ज्ञान तथा केवल दर्शन से इनको आत्मस्वरूप ही जानते हैं तथा देखते हैं ॥३०॥

प्रेरिताः श्रुतगुणेन शेमुषीकार्मुकेण शरवद्दृगादयः ।
बाह्यवेध्यविषये कृतश्रमाश्चिद्रणे प्रहतकर्मशत्रवः ॥३१॥

अर्थ—चैतन्य रूपी संग्राम में शास्त्र रूपी गुण (प्रत्यंचा) सहित जो श्रेष्ठ बुद्धि रूपी धनुष उससे प्रेरणा किये गये तथा बाह्य पदार्थों के वेधना करने में तत्पर ऐसा जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूपी बाण है वे समस्त कर्म रूपी वैरियों के नाश करने वाले होते है।

भावार्थ—जिस प्रकार संग्राम में प्रत्यंचा सहित धनुष से छोड़े हुए बाणों से समस्त वैरी नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार चैतन्य रूपी संग्राम में शास्त्र रूपी प्रत्यंचा सहित बुद्धि रूपी धनुष से प्रेरित तथा बाह्य पदार्थों के वेधन करने में तत्पर जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र रूपी बाण है वे समस्त कर्म रूपी वैरियों को नष्ट करते हैं ॥३१॥

चित्तवाच्यकरणीयवर्जिता निश्चयेन मुनिवृत्तिरीदृशी
अन्यथा भवति कर्मगौरवात् सा प्रमादपदवीमुपेयुषः ॥३२॥

अर्थ—निश्चय करके मुनियों की जो प्रवृत्ति है वह मन वचन कार्य की प्रवृत्ति कर रहित है किन्तु वह मुनि यदि प्रमाद पदवी को प्राप्त हो जावे अर्थात् प्रमादी बन जावे तो कर्म की गुरुता से उसकी प्रवृत्ति विपरीत ही अर्थात् मन वचन कायकर सहित ही हो जाती है।

भावार्थ—निश्चयनय से मुनियों की प्रवृत्ति मन वचन कायकी प्रवृत्ति कर रहित है किन्तु जिस समय वे प्रमादी बन जाते हैं उस समय प्रमाद के द्वारा उनकी आत्मा में कर्मों का आगमन होता है तथा पीछे कर्मों का बंध होता है उस समय कर्म के संबंध से उनकी प्रवृत्ति मन वचन कायकर सहित ही होती है ॥३२॥

सत्समाधिशशलाञ्छनोदयादुल्लसत्यमलबोधवारिधिः।
योगिनोऽणुसदृशं विभाव्यते यत्र मग्नमखिलं चराचरम् ॥३३॥

अर्थ—जिन योगियों के निर्मल ज्ञान में चर अचर समस्त जगत परमाणु के समान मालूम पड़ता है ऐसा वह योगियों का ज्ञान रूपी समुद्र श्रेष्ठ समाधि रूप चन्द्रमा के उदय से वृद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार चंद्रमा के उदय से समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार समाधि से निर्मल ज्ञान की वृद्धि होती जाती है तथा उस ज्ञान में समस्त जगत बड़ा भी परमाणु के समान छोटा मालूम पड़ता है अर्थात् अनंत भी जगत उस ज्ञान में परमाणु के समान ही है ॥३३॥

कर्मशुष्कतृणराशिरुन्नतोऽप्युद्गते शुचिसमाधिमारुतात्।
भेदबोधदहने हृदिस्थिते योगिनोझटिति भस्मसाद्भवेत् ॥३४॥

अर्थ—पवित्र समाधिरूपी पवन से उदय को प्राप्त, ऐसे भेदज्ञानरूपी अग्नि के योगी के हृदय में स्थित होने पर प्रचल भी कर्मरूपी सूखे तृणों का समूह शीघ्र ही भस्मी भूत हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सूखे तृणों में पड़ी हुई थोड़ी सी भी चिनगारी (अग्नि का फुलिंगा) जिस समय पवन की सहायता से बढ़ जाती है उस समय बहुत भी तृणों के समूह को पलभर में भस्म कर देती है उसी प्रकार जिस समय मुनियों के मन में (मेरी आत्मा भिन्न है और ये स्त्री पुत्र मित्र आदि पदार्थ भिन्न है ऐसा) स्वपर का भेद विज्ञान समाधिरूपी पवन से उदय को प्राप्त हो जाता है उस समय जितने कर्मों का आत्मा के साथ संबंध मौजूद हैं वे समस्त कर्म पलभर में नष्ट हो जाते है इसलिये जिन मुनियों को अपनी आत्मा से कर्मों के जुदे करने की अभिलाषा हैं उनको चाहिये कि वे निर्मल समाधि से भेदज्ञान को उदित करैं जिससे उनके समस्त कर्म आत्मा से शीघ्र जुदे होजावे ॥३४॥

अब आचार्य इस बात को बताते है कि समाधिरूपी कल्प वृक्ष मुनियों को
वांछित फल का देने वाला है ॥

चित्तमत्तकरिणा न चेद्धतो दुष्टबोधवनवन्हिनाथवा ।
योगकल्पतरुरेष निश्चितं वाञ्छितं फलति मोक्षसत्फलम् ॥३५॥

अर्थ—यदि यह समाधिरूपी कल्प वृक्ष मनरूपी मतवाले हाथी से नष्ट न किया जाय और दुष्टज्ञान (मिथ्याज्ञान) रूपी वनाग्नि से भस्म न किया जाय तो वह अवश्य ही वांछित मोक्षरूपी श्रेष्ठ फल को देता है ।

भावार्थ—जिस प्रकार बन में खड़े हुए कल्पवृक्ष को यदि मत्तहाथी नष्ट न करे अथवा वन की अग्नि भस्म न करे तो वह अवश्य ही उत्तम तथा मिष्टफल को देता है उसी प्रकार यह समाधि भी यदि खोटे विषयो में प्रवृत्त मन से नष्ट न होवे और मिथ्या ज्ञानपूर्वक न की जाय तो अवश्य ही मोक्ष के देने वाली होती है इसलिये जो मुनि मोक्षरूपी उत्तम फल के इच्छुक हैं उनको चाहिये कि वे मन को अपने वश में रक्खे और सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही समाधि का आचरण करे अन्यथा उनको उत्तम फल की प्राप्ति नही होगी ॥३५॥

जब तक मन में आत्मा का ज्ञान नहीं होता है तभी तक बुद्धि शास्त्रों में
भटकती फिरती है इस बात को आचार्य समझाते हैं ।

तावदेव मतिवाहिनी सदा धावति श्रुतगता पुरः पुरः ।
यावदत्र परमात्मसंविदा भिद्यते न हृदयं मनीषिणः ॥३६॥

अर्थ—आचार्य कहते है कि जब तक चित्त परमात्मा के ज्ञान से भेद को प्राप्त नहीं होता है तभी तक बुद्धिमान पुरुष की बुद्धिरूपी नदी सदा शास्त्रों में आगे २ दौड़ती चली जाती है।

भावार्थ—बुद्धिमान पुरुष शास्त्र का स्वाध्याय इसलिये करते है कि किसी रीति से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होवे किन्तु जिस समय चित्त परमात्मा के ज्ञान से भिन्न होजाता है अर्थात् जिस समय मन में परमात्मा का ज्ञान हो जाता है उस समय बुद्धिमान की बुद्धि शास्त्र की ओर नहीं जाती है ॥३६॥

संसार में चैतन्यरूपी दीपक ही देदीप्यमान है इस बात को आचार्य दिखाते हैं ॥

यः कषायपवनैरचुम्बितो बोधवन्हिरमलोल्लसद्दशः।
किं न मोहतिमिरं विखण्डयन् भासते जगति चित्प्रदीपकः ॥३७॥

अर्थ—जिस चैतन्यरूपी दीपका पवन ने स्पर्श नहीं किया है और जिसमें सम्यग्यज्ञान-रूपी अग्नि मौजूद है तथा जिसकी दशा निर्मल और देदीप्यमान है ऐसा चैतन्यरूपी दीपक मोहरूपी अंधकार को नाश करता हुआ क्या जगत में प्रकाशमान नहीं है ? अवश्य ही है।

भावार्थ—जो दीपक पवन द्वारा स्पष्ट नहीं है अर्थात् जिसका पवन ने स्पर्श नहीं किया है और जिसमें अग्नि मौजूद है तथा जिसमें बत्ती उत्तम है ऐसा दीपक जिस प्रकार अंधकार को नाश करता है और प्रकाशमान रहता है उसी प्रकार जिस चैतन्य के साथ क्रोधादि कषायों का संबंध नहीं है और जिसमें सम्यग्ज्ञान मौजूद है तथा जिसकी स्थिति निर्मल और देदीप्यमान है. ऐसा चैतन्य अवश्य ही मोह को नाशकर संसार में प्रकाशमान रहता है ॥३७॥

जो बुद्धि आत्म स्वरूप से भिन्न बाह्य पदार्थों में भ्रमण करती है वह बुद्धि उत्तम नहीं इस बात को आचार्य समझाते है ॥

बाह्यशास्त्रगहने विहारिणी या मतिर्बहुविकल्पधारिणी।
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता सा सती न सदृशी कुयोषिता ॥३८॥

अर्थ—जो बुद्धि अपने चैतन्यरूपी जो कुलगृह उससे निकली हुई है अतएव जो बाह्य शास्त्ररूपी बनमें विहार करने वाली है। और अनेकप्रकार के विकल्पों को धारण करनेवाली है। ऐसी वह बुद्धि उत्तम बुद्धि नहीं किन्तु कुलटा स्त्री के समान निकृष्ट है।

भावार्थ—जिस प्रकार अपने घर से निकलकर बाह्यवनों में भ्रमण करने वाली और अनेक प्रकार के संकल्प विकल्पों को धारण करनेवाली स्त्री कुलटा समझी जाती है उसी प्रकार जो बुद्धि अमने चैतन्यरूपी मन्दिर से निकलकर बाह्यशास्त्रों में विहार करने वाली है और अनेक विकल्पों को धारण करने वाली है अर्थात् स्थिर नही है ऐसी बुद्धि उत्तम बुद्धि नहीं समझी जाती इसलिये अपनी आत्मा के हित अभिलाषियों को चाहिये किवे अपने आत्मा के स्वरूप से भिन्न पदार्थों में अपनी बुद्धि कोभ्रमण न करने देवें और स्थिर रक्खें उसी समय उनकी बुद्धि उत्तम बुद्धि हो सकती है ॥३८॥

हेय और उपादेय दोनों प्रकार के पदार्थों में जो भव्य जीव हेय को छोड़करउपादेय ग्रहण करता है वही मोक्ष को जाता है इस बात को आचार्य दिखलाते हैं॥

यस्तुहेयमिरञ्ज भावयन्नाद्यतो हि परमाप्तुमीहते ।
तस्य बुद्धिरुपदेशतोगुरोराश्रयेत्स्वपदमेव निश्चलम्॥३९॥

अर्थ—जो भव्यजीव हेय तथा उपादेय पदार्थों का रातदिन चिंतवन करता है और उन दोनों में त्यागने योग्य पदार्थों को त्यागकरता है उस भव्यजीव की बुद्धि उत्तमगुरु के उपदेश से चैतन्यरूपी जो अविनाशी स्थिरपद है उसको प्राप्त होती है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं॥

भावार्थ—संसार में भव्यजीवों को त्यागने योग्य पदार्थ तो स्त्री पुत्र धन धान्य आदिक पदार्थ हैं और ग्रहण करने योग्य चैतन्यस्वरूप है इसप्रकार का विचार कर जो भव्य जीव स्त्री पुत्र धन धान्य आदिक त्यागने योग्य पदार्थों को त्याग करता है उसम मनुष्य की बुद्धि अवश्य निर्लोभी उत्तम गुरुओं के उपदेश से नहीं चलायमान तथा अविनाशी, चैतन्यस्वरूप के अभिलाषी भव्य जीवों को अवश्य ही हेय पदार्थों का त्याग कर देना चाहिये ॥३९॥

जो मनुष्य मोह निद्रा में मग्न है उस मनुष्य को वाह्य पदार्थ भी स्वस्वरूप ही मालूम पड़ते हैं इस बात को आचार्य दिखाते हैं।

[1]सुप्त एव बहुमोहनिद्रया लंघितः स्वमवलादि पश्यति ।
जाग्रतोच्चवचसा गुरोर्गतं संगतं सकलमेव दृश्यते ॥४०॥

अर्थ—गाढ़ मोहरूपी निद्रा ने जिस के ऊपर अपना प्रभाव डाल रक्खा है अतएव मोह रूपी नीद में मग्न है वह मनुष्य अपने से भिन्न भी स्त्री पुत्र आदि को अपना मानता है किंतु जो मनुष्य जग रहा है उस मनुष्य को तो समस्त जगत उत्तम गुरु के उपदेश से संयुक्त मात्र क्षणभंगुरही मालूम पड़ता है।

भावार्थ—जब तक जीव मोह निद्रा में सोते रहते है तब तक उन को अपना पराया कुछ भी भेद नहीं मालूम पड़ता इस लिये वे जीव अपने से सर्वथा भिन्न भी स्त्री पुत्र धन धान्य आदि पदार्थों को अपने स्वरूप ही समझते हैं किंतु जिस समय वे मोह निद्रा में मग्न नहीं रहते उस समय उन की दृष्टि के सामने गुरु के उपदेश से समस्त जगत् क्षणभंगुर मालूम पड़ता है अतएव वे अपने से भिन्न किसी पदार्थ में रत नही होते ॥४०॥

निर्मल समाधि की सिद्धि के लिये बुद्धिमान पुरुषों को सर्व पदार्थों में समता ही धारण करनी चाहिये इस बात को आचार्य दिखाते हैं।

जल्पितेन बहुना किमाश्रयेद् बुद्धिमानमलयोगसिद्धये ।
साम्यमेव सकलैरुपाधिभिः कर्मजालजनितैर्विवर्जितम् ॥४१॥

अर्थ—आचार्यवर कहते हैं कि बहुत कहां तक कहा जावे जो पुरुष बुद्धिमान हैं अर्थात् जिन पुरुषों को इस बात का भलीभांति ज्ञान है कि यह पदार्थ त्यागने योग्य है और यह पदार्थ ग्रहण करने योग्य है उन को चाहिये कि वे निर्मल योग की सिद्धि के लिये नाना प्रकार के कर्मों से पैदा हुई जो नाना प्रकार की उपाधियां उन से सर्वथा रहित साम्यभाव का आश्रय करें।

---

१ सुप्त एतदिह यह भी क. पुस्तक में पाठ है।

भावार्थ—जब तक पदार्थों में समता नहीं होती तब तक कदापि चित्त की एकाग्रता के न होने से निर्मल योग की प्राप्ति भी नहीं हो सकती इस लिये आचार्यवर उपदेश देते है कि अधिक कहने से क्या ? जिन मनुष्यों को निर्मल योग के प्राप्त करने की अभिलाषा है उन को चाहिये कि वे समस्त प्रकार के कर्मों से उत्पन्न हुई उपाधियों से सर्वथा रहित साम्यभाव का ही अवलम्बन करें जहां तहां व्यर्थ भटकते न फिरें ॥४१॥

आचार्यवर परमात्मा के नाम मात्र के लेने से ही क्या लाभ होता है
इस बात को बतलाते है।

नाममात्रकथया परमात्मनः भूरिजन्मकृतपापसंक्षयः ।
बोधवृत्तरुचयस्तु तद्गताः कुर्ववते हि जगतां पतिं नरम् ॥४२॥

अर्थ—परमात्मा के नाम मात्र के कथन से ही अनेक जन्मों में संचय किया हुआ पापों का समूह पल भर में नष्ट हो जाता है और उस आत्मा में विद्यमान जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र रूपी रत्नत्रय है वह तो मनुष्य को जगत का पती ही बना देता है अर्थात् परमात्म पद को प्राप्त करा देता है।

भावार्थ—उस आत्मा की सिद्धि के लिये प्रयत्न करना तो दूर रहा चिन्तु जो भव्य जीव उस परमात्मा का केवल नाम भी लेता है उस मनुष्य के जन्म २ के पापों के समूह पल भर में नष्ट हो जाते हैं और उस आत्मा में विद्यमान जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र है वे तो इस को परमात्मा ही बना देते है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र की ओर लक्ष्य देने से तो मनुष्य साक्षात् तीन लोक का पति (सिद्ध) हो जाता है इस लिये जो मनुष्य जन्म २ के पापों के नाश करने की इच्छा करने वाले है तथा तीनों लोक के पति होना चाहते हैं उन को चाहिये कि वे अवश्य परमात्मा का नाम लेवें और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र की ओर लक्ष्य देवें ॥४२॥

जो मनुष्य चैतन्य स्वरूप आत्मा में लीन है वह समस्त योगियों में उत्तम हैं
इस बात को आचार्य कहते हैं।

चित्तस्वरूपपदलीनमानसो, यः सदा स किल योगिनायकः ।
जीवराशिरखिलश्चिदात्मको, दर्शनीय इतिचात्मसन्निभः ॥४३॥

अर्थ—जिस योगी का चित्त चैतन्य रूप जो मोक्ष पद उसमें लगा हुवा है वही योगी समस्त योगियों में उत्तम योगी है अर्थात् योगियों का ईश्वर है और वही योगीश्वर समस्त चैतन्य स्वरूप प्राणियों को अपने समान देखता है।

भावार्थ—यों तो वेषधारी बहुत से योगी संसार में देखने में आते है किन्तु वास्तविक योगी (योगियों का ईश्वर) वही योगी है जिसका चित्त संसारिक सुखों से सर्वथा विरक्त है और चैतन्यस्वरूप उत्तम पद मोक्ष पद में लगा हुवा है तथा वही मनुष्य समस्त प्राणियों को अपने समान देखता है अन्य योगी नहीं ॥४३॥

अब आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि जितने भर संसार में जीव मौजूद हैं उन सबको अपने समान ही देखना चाहिये तभी कार्य सिद्ध होता है।

अन्तरङ्गबहिरङ्गयोगतः कार्यसिद्धिरखिलेति योगिना।
[1]आसितव्यमनिशं प्रयत्नतः स्वं परं सदृशमेव पश्यता ॥४४॥

अर्थ—समस्त प्रकार के कार्यों की सिद्धि अन्तरंग तथा वहिरंग योग से होती है इस लिये जो योगी आपको तथा परको समान देखने वाला है उसको बड़े भारी प्रयत्न से रहना चाहिये।

भावार्थ—यह लोक एकेन्द्री जीवों से पञ्चेन्द्री जीव पर्यंत सब जगह घीके घड़ेके समान भरा हुवा है उन सब जीवों को जो मनुष्य अपने समान मानता है उसी को समस्त कार्यों की सिद्धि होती है किन्तु जो मनुष्य अपने से छोटे जीवों को तुच्छ समझता है इसी लिये उनके मारने में भी नहीं डरता है उस मनुष्य को कदापि किसी उत्तम कार्य की सिद्धि नहीं होती इस लिये उत्तम कार्यों की सिद्धि के अभिलाषी भव्य जीवों को, आपको और परको समान ही देखना मानना चाहिये ॥४४॥

---

[1] ख. पुस्तक में आशितव्यम् यह भी पाठ है।

योगियों का हृदय संसार के चरित्रों को देखकर कदापि विकार भाव को नहीं प्राप्त होता इस बात को आचार्य दिखाते हैं।

लोक एष बहुभावभावितः स्वार्जितेन विविधेन कर्मणा।
पश्यतोऽस्य विकृतिर्जडात्मनः क्षोभमेति हृदयं न योगिनः ॥४५॥

अर्थ—अपने आप पैदा किये हुवे जो नाना प्रकार के कर्म उनसे यह लोक अनेक भावोंकर सहित है इसलिये इस जडस्वरूप संसार को देखते हुवे भी योगी का मन कदापि क्षोभ को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—जिस योगी को भली भांति आत्मा का ज्ञान हो गया है और जिसकी इच्छा मोक्ष स्थान में निवास करने की है उस योगी के मन में इस लोक के देखने से अंश मात्र भी क्षोभ नहीं होता क्योंकि अपने द्वारा उपार्जन किये कर्मों से यह लोक नाना परिणाममय होता है यह इस लोक का स्वभाव ही है इस बात को वह योगी भली भांति समझता है ॥४५॥

अब आचार्य लोक के उद्धार का उपाय बताते है।

सुप्तएव बहुमोहनिद्रया दीर्घकालमविरामया जनः।
शास्त्रमेतदधिगम्य साम्प्रतं सुप्रबोध इह जायतामिति ॥४६॥

अर्थ—जिस का अन्त नहीं है ऐसा जो गाढ़ मोह रूपी निद्रा उससे यह लोक चिरकाल से सोया हुआ है अब इस शास्त्र को जानकर जाग्रत दशा को प्राप्त हो।

भावार्थ—अनादि काल वीत गया यह लोक मोह रूपी गाढ निद्रा में सोया हुवा है इस लिये इसको इस बात का भी ज्ञान नहीं कि कौन सी वस्तु तो मुझे ग्रहण करने योग्य है और कौन सी वस्तु मुझे छोड़ने योग्य है इसलिये आचार्य उपदेश देते हैं कि अब हुवा सो तो हुआ किंतु आगे के लिये शास्त्र के अभिप्राय को भली भांति जानकर तो जाग्रत अवस्था को प्राप्त हो जिससे तुम को उत्तम सुख मिले नहीं तो अनादि काल तक तुमको संसार में ही रुलना पड़ेगा ॥४६॥

चित्स्वरूपगगने जयत्यसावेकदेशविषमापि रम्यता ।
ईषदुद्गतवचः करैः परैः पद्मनन्दि वदनेन्दुना कृता ॥४७॥

अर्थ—पद्मनन्दि मुनिका जो मुख वही हुआ चंद्रमा उससे कुछ उदय को प्राप्त ऐसी ऐसी जो वचनरूपी उत्कृष्ट किरण उनसे की गई, और स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के गोचर ऐसी यह रम्यता चैतन्यरूपी आकाश में चिरकाल तक जयवन्त पर्वर्तो॥

भावार्थ—जिस प्रकार चंद्रमा की किरणों से की हुई रम्यता आकाश में रहती है उसी प्रकार पद्मनन्दि आचार्य के मुख से निकले हुवे वचनों से की हुई यह रम्यता भी सदा सब जगह पर चिरकाल तक जयवन्त प्रवर्तो।

अब आचार्य इस बात को दिखाते है कि यदि मोहवैरी विघ्न करने वाला संसार में न होता तोमोक्षकी प्राप्ति अत्यंत सुलभ हो जाती।

शार्दूल विक्रीड़ित।

त्यक्ताशेषपरिग्रहः शमधनो गुप्तित्रयालंकृतः
शुद्धात्मानमुपाश्रितो भवति यो योगी निराशस्ततः।
मोक्षो हस्तगतोऽस्य निर्मलमतेरेतावतैव ध्रुवं
प्रत्यूहं कुरुते स्वभावविषमो मोहो न वैरी यदि ॥४८॥

अर्थ—जिसने बाह्य तथा अभ्यंतर के भेद से समस्त परिग्रहों का नाश कर दिया है और जिसके शान्ति ही धन है तथा मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति इन तीन प्रकार की गुप्तियों से जो शोभित है और जिसको शुद्धात्मा की प्राप्ति हो गई है और जो निराश है अर्थात् जिसकी किसी भी पदार्थ में अंशमात्र भी इच्छा नहीं रही है ऐसा योगी होता है इसलिये निर्मल है बुद्धि जिसकी ऐसे उपयोगी के यदि स्वभाव से ही कुटिल मोहरूपी वैरी उस मोक्षकी प्राप्ति में विघ्न न करता तो परिग्रह आदि के रहितपने आदि कारणों से ही मोक्ष निश्चय से हस्तगत हो जाती अर्थात् उसकी प्राप्ति बहुत शीघ्र हो जाती।

भावार्थ—मोक्ष की प्राप्ति में अन्यान्य सामग्री के होते सन्ते भी यदि स्वभाव से ही कुटिल ऐसा मोह विघ्न करने वाला होवे तो कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती इसलिये जो

मनुष्य मोक्ष के अभिलाषी हैं इनको सबसे पहले मोहरूपी प्रबल वैरी जीत लेना चाहिये क्योंकि वही मोक्ष प्राप्ति में विघ्न का करने वाला है और तब तक मोक्ष की प्राप्ति में दूसरे २ कारण व्यर्थ ही हैं ॥४८॥

त्रैलोक्ये किमिहास्ति कोपि स सुरः किंवा नरः किंफणी
यस्माद्भीर्मम यामि कातरतया यस्याश्रयं चापदि ।
उक्तं यत्परमेश्वरेण गुरुणा निश्शेषवाञ्छाभय-
भ्रान्ति क्लेशहरं हृदि स्फुरति चेच्चित्तत्वमत्यद्भुतम् ॥४९॥

अर्थ—जो चैतन्य समस्तप्रकार के अभिलाषा भय भ्रम तथा दुःखों का दूर करनेवाला है और अत्यंत आश्चर्यका करने वाला है ऐसा चैतन्यरूपीतत्व परमईश्वर श्रीगुरुद्वारा कहा गया यदि मेरे हृदय में स्फुरायमान है मौजूद है तो तीनों लोक में न तो कोई ऐसा देव है जिससे मुझे भय होवे और न कोई ऐसा पुरुष तथा सर्प ही है जिससे मैं डरूं और कातर होकर आपत्ति में किसी के सहारे जाऊं ।

भावार्थ—जबतक मनुष्य को चैतन्यस्वरूप का भलीभांति ज्ञान नहीं होता तथा जबतक किसी पदार्थ की अभिलाषा रहती है और भय तथा भ्रम और दुःख होते हैं तब मनुष्य एकदम कातर होकर उस इच्छा की पूर्ति के लिये तथा भय भ्रम दुःखों के दूर करने के लिये जहांतहां देवी देवताओं की सेवा के लिये भटकता फिरता है और उससे कुछ फल भी नहीं निकलता किन्तु मेरे हृदय में श्रीगुरुमहाराज के उपदेश से वह चैतन्य तत्त्वस्फुरायमान है जो चैतन्य-स्वरूप तत्त्व समस्तप्रकार की इच्छाओं का पूरण करने वाला है और जिसकी कृपा से भय भ्रम दुःख मेरे पास तक भी नहीं फटकने पाते फिर मुझे क्या आवश्यता है जो मैं जहां तहां भटकूं और इच्छा की पूर्ति के लिये तथा भय भ्रम दुःख आदि के दूर करने के लिये किसी देवी देव की सेवा करूं ऐसा "जिस मनुष्य को चैतन्यस्वरूप का ज्ञान हो गया है वह" सदा विचार करता रहता है ॥४९॥

अब आचार्यवर श्रेष्ठ ज्ञान की महिमा को गाते हुवे सद्बोध चन्द्रोदय नामक अधिकार को समाप्त करते है ।

तत्वज्ञानसुधार्णवं लहरिभिर्दूरं समुल्लासयन्
तृष्णापत्रविचित्रचित्तकमले संकोचमुद्रां दधत् ।

सद्विद्याश्रित भव्यकैरवकुले कुर्वन् विकारश्रियं
योगीन्द्रोदयभूधरे विजयते सद्बोधचन्द्रोदयः ॥५०॥

अर्थ—वह श्रेष्ठ ज्ञानरूपी चन्द्रमा अथवा "सद्बोधचन्द्रोदय नामक अधिकार" इस संसार में योगियों के इन्द्र अर्थात् बड़े बड़े योगी वे ही हुवे उदयाचल उन में सदा जयवंत है जो सद्बोधचन्द्रोदय, तत्वज्ञान रूपी जो अमृत समुद्र उस को कल्लोलों से दूर तक उछालने वाला है और तृष्णारूपी ही है पत्र जिस में ऐसे जो नाना प्रकार के चित्त रूपी कमल उन को संकुचित करने वाला है तथा श्रेष्ठज्ञान का आधारभूत जो भव्य जीव रूपी "कैरवकुल" अर्थात् रात्रिविकासी कमलों का समूह उसका विकास करने वाला है।

भावार्थ—जिस प्रकार उदयाचल में चन्द्रमा का उदय होता है उस समय समुद्र अपनी लहरों को दूर तक उछालता हुआ बढ़ता चला जाता है और सूर्य विकासी कमल संकुचित हो जाते हैं तथा रात्रि विकासी कमल विकसित हो जाते है उसी प्रकार जिस समय योगीश्वरों की आत्मा में श्रेष्ठज्ञान का उदय होता है अर्थात् जिस समय उन की आत्मा सम्यग्ज्ञान को धारण करती है उस समय निरंतर उन योगियों का तत्वज्ञान बढता ही चला जाता है और चित्त में जो कुछ किसी वस्तु की तृष्णा रहती है वह सब नष्ट हो जाती है और भव्य जीवों के मन को अत्यंत प्रसन्नता हो जाती है अर्थात् उन श्रेष्ठज्ञान के धारी योगीश्वरों से वास्तविक सुख के मार्ग के सुनने से भव्य जीवों के चित्त को बड़ा भारी संतोष होता है ऐसा वह सम्यग्ज्ञान रूपी चन्द्रमा का उदय चिरकाल तक इस संसार में जयवंत रहता है ॥५०॥

इस प्रकार श्रीपद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित इस पद्मनन्दि पञ्चविंशति का में
सद्बोध चन्द्रोदय नामक अधिकार समाप्त हुआ।

निश्चय पञ्चाशत् ।

आर्या

दुर्लक्ष्यं जगति परं ज्योतिर्वाचां गणः कवीन्द्राणाम् ।
जलमिव वज्रे यस्मिन्नलब्धमध्यो बहिर्लुठति ॥१॥

अर्थ—जिस प्रकार जल हीरा नामक रत्न के अन्दर प्रवेश नहीं करता है और बाहिरी भाग में ही रहा आता है उसी प्रकार जिस चैतन्य स्वरूप ज्योति में बड़े बड़े कवियों की वाणी भी प्रवेश नहीं कर सकती बाहिरी भाग में ही रह जाती है ऐसा वह चैतन्य स्वरूपी तेज संसार में दुर्लक्ष्य है अर्थात् जिस को बड़ी कठिनाई से भी नहीं देख सकते ।

भावार्थ—जो वस्तु दृष्टि के गोचर होवे अर्थात् जिस को देख सकें उस को तो कवि लोग बचन से कह सकते है उस का वर्णन कर सकते है किन्तु चैतन्य स्वरूप तेज संसार में इतना दुर्लक्ष्य है कि जिस प्रकार जल हीरा के मध्य भाग में प्रवेश नहीं कर सकता है बाहिरी भाग में ही रह जाता है उसी प्रकार कवियों की वाणी भी उस के अंतरंग में प्रवेश कर उस का वर्णन नहीं कर सकती किंतु बाहिर में ही लडखड़ाती रह जाती है ॥१॥

मनसोऽचिन्त्यं वाचामगोचरं यन्महस्तनोर्भिन्नम् ।
स्वानुभवमात्रगम्यं चिद्रूपममूर्तमव्याद्वः ॥२॥

अर्थ—जिस चैतन्यरूपी तेज का मन से चिंतवन नहीं कर सकते और वाणी से भी वर्णन नहीं कर सकते है और जो शरीर से सर्वथा भिन्न है और केवल स्वानुभव से ही जाना जाता है ऐसा यह चैतन्यरूपी तेज आप लोगों की रक्षा करे ॥२॥

वपुरादिपरित्यक्ते[१] मज्जत्यानंदसागरे मनसि ।
प्रतिभाति यत्तदेकं जयति परं चिन्मयं ज्योतिः ॥३॥

१ ख पुस्तक में "परेत्यक्ते" यह भी पाठ हैं उसका अर्थ यह है कि शरीर आदि के जो पर उनके त्याग होने पर—

अर्थ—शरीर धन धान्य आदि से रहित होने पर जिस समय चित्त आनन्द सागर में डूबता है उस समय जो तेज मालूम पड़ता है वह एक, तथा चैतन्यरूपी उत्कृष्ट ज्योति इस संसार में जयवंत है ॥

भावार्थ—जब तक प्राणियों को, यह शरीर मेरा है, यह स्त्री मेरी है, तथा ये पुत्र आदिक मेरे हैं, इस प्रकार की शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, धान्य, आदि पदार्थों में ममता लगी रहती है तबतक किसी को भी उस उत्कृष्ट चैतन्यरूपी तेज का अनुभव नहीं हो सकता किन्तु जिस समय शरीर आदि से ममता छूट जाती है और मन आनन्द सागर में गोता मारता है उस समय जो तेज अनुभव में आता है वही चैतन्य स्वरूप उत्कृष्ट तेज है तथा वह तेज सदा इस लोक में जयवंत है ॥३॥

अब आचार्य सच्चे गुरु को नमस्कार करते हैं।

स जयति गुरुर्गरीयान् यस्यामलवचनरश्मिभिर्झटिति ।
नश्यति तन्मोहतमो यदविषयो दिनकरादीनाम् ॥४॥

अर्थ—जिन गुरुओं के निर्मल वचनरूपी किरणों से जिसको सूर्य चन्द्र आदि भी नाश नहीं कर सकते ऐसा प्रबल मोहरूपी अंधकार बात की बात में नष्ट हो जाता है ऐसे वे उत्तम गुरु सदा इस लोक में जयवंत हैं अर्थात् ऐसे गुरुओं को मैं नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—यों तो संसार में वेषधारी बहुत से गुरु मौजूद हैं और अपने को जगतगुरु के नाम से पुकारने का प्रयत्न भी करते है किन्तु वे बनावटी गुरु सच्चे गुरु नहीं हो सकते क्योंकि गुरुशब्द का अर्थ ही यह है जो मोहान्धकार को दूर करने वाला हो इसलिये जो अपने वचनों से मोहांधकार को दूर करने वाले है वास्तव में वेही गुरु हैं और उन ही गुरुओं को में नमस्कार करता हूं ॥४॥

मोक्ष दुःसाध्य है इस बात को आचार्य दिखाते है।

आस्तां जरादिदुःखं सुखमपि विषयोद्भवं सतां दुःखम् ।
तन्मन्यते सुखं यत्तन्मुक्तौ सा च दुःसाध्या ॥५॥

से जानना यह विषय व्यवहार नयका है इसलिये व्यवहारनय तो मूर्खों को समझाने के लिये है किन्तु उसके आशय से कर्मों का नाश नहीं हो सकता और शुद्धनय से जो पदार्थ जैसा है वह वैसा ही समझा जाता है इसलिये पदार्थ के वास्तविक स्वरूप के समझाने के कारण शुद्धनय कर्मों को नाश करने वाला है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति में कारण है इसलिये स्वयं मोक्ष को जाने की इच्छा करने वाले श्री आचार्य कहते है कि मैं अब इस ग्रंथ में कुछ शुद्धनय का वर्णन करता हूं ॥८॥

प्रथम ही आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि जो पुरुष निश्चयनय के अनुगामी है वे मोक्ष को जाते हैं।

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः ।
शुद्धनय आश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम् ॥९॥

अर्थ—व्यवहारनय तो असत्यार्थभूत कहा गया है और शुद्धनय सत्यार्थभूत कहा गया है और जो मुनि शुद्धनय को आश्रित है वे मुनि मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—अखंड पदार्थ को खंड रीति से जानना यह जो व्यवहारनय का विषय है वह सत्यार्थभूत नहीं है इस लिये व्यवहारनय भी सत्यार्थभूत नहीं है अतः जो जीव इस नय का आश्रय करते है उन को संसार में ही रुलना पड़ता है मोक्ष को नहीं जाते किन्तु जो जीव शुद्ध निश्चयनय का आश्रय करते है उन को मोक्ष पद की प्राप्ति होती है क्योंकि जो पदार्थ जैसा है वह शुद्ध निश्चयनय से उसी रीति से जाना जाता है इस लिये जो जीव मोक्ष के अभिलाषी हैं उन को शुद्ध निश्चयनय का ही आश्रय करना चाहिये और यदि संसार में भटकना हो तो उनको संसार के प्रधान कारण व्यवहारनय का अवलम्बन करना चाहिये ॥९॥

व्यवहारनय से तो तत्व का स्वरूप कुछ कह सकते हैं किन्तु निश्चयनय से तत्व अवाच्य है इस बात को आचार्य बतलाते है।

तत्वं वागतिवर्ति व्यवहृतिमासाद्य जायते वाच्यम् ।
गुणपर्ययादिविवृतेः प्रसरति तच्चापि शतशाखम् ॥१०॥

अर्थ—निश्चयन से तो तत्व वाणी के अगोचर है अर्थात् बचन से उसके स्वरूप का वर्णन नही कर सकते किन्तु वही तत्व व्यवहारनय की अपेक्षा से वाच्य है अर्थात् बचन से उस को कुछ कह सकते हैं और पीछे वह तत्व गुण पर्याय आदि के विवरण से सैंकड़ों शाखा स्वरूप में परिणत हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही वृक्ष शाखा प्रशाखाओं से अनेक प्रकार का हो जाता है उसी प्रकार यद्यपि निश्चयनय से आत्मा अवाच्य तथा एक है तो भी व्यवहारनय से वह वाच्य अर्थात् बचन द्वारा वर्णन करने योग्य है तथा गुण पर्याय आदि भेदों से अनेक प्रकार का है॥१०॥

व्यवहारनय भी हेय नहीं है किन्तु उपादेय और पूज्य है इस बात को आचार्य दिखाते है।

"मुख्योपचारविवृतिव्यवहारोपायतो"[1] यताः संतः।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्वमिति व्यवहृतिः पूज्या ॥११॥

अर्थ—मुख्य जो शुद्धनय उस में उपचार से है विवरण जिस का ऐसा व्यवहारनय है उस की सहायता से सज्जन पुरुष शुद्ध जो तत्व उस का अवलम्बन करते हैं इस लिये व्यवहानय भी पूज्य ही है।

भावार्थ—यह भलीभांति अनुभव है कि जन्म लेते ही जीव इतने बुद्धिमान नहीं होते जोकि विना प्रयास के ही वे असली तत्व को समझ लेवे किन्तु उपदेश आदि के बल से ही उन को असली तत्व समझाया जाता है और असली तत्व का जो स्वरूप है वह व्यवहारनय को अवलम्बन करके समझाया जाता है इस लिये असली तत्व के आश्रय कनने में व्यहारनय भी अवश्य कारण पड़ा अतः व्यवहारनय पूज्य ही है किन्तु हेय नहीं ॥११॥

---

१ क० पुस्तक में मुख्योपचारविवृतिम् यह भी पाठ है तथा इस पाठ में इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि मुख्य जो शुद्धनय और उपचार जो व्यवहारनय इन दोनों के स्वरूप का व्यवहारनय की सहायता से जान कर भव्य जीव शुद्ध तत्व का आश्रय करते हैं इस लिये व्यवहारनय भी पूज्य ही है हेय नहीं है।

अर्थ—संसार में जो जीवों को जरा मरण आदिक दुःख होते हैं वे तो दुख ही हैं इसलिये वे तो दूर ही रहो परन्तु विषयों से उत्पन्न हुवे सुख को जो जीव सुख मानते हैं वह भी सुख नहीं है दुःख ही है किन्तु वास्तविक सुख तो मोक्ष में ही है और वह मोक्ष अत्यंत दुःख साध्य है ॥

भावार्थ—जरा मरण आदि के दुःख को तो सर्व मनुष्य दुःख ही कहते हैं इसलिये वे तो दुःख ही हैं किन्तु बहुत से अज्ञानी जीव इन्द्रियों से उत्पन्न हुवे सुख को भी सुख कहते हैं सो उसको सुख कहना ठीक नहीं वह सुख नहीं दुःख ही है किन्तु यदि वास्तविक सुख है तो मोक्ष में ही है और वह मोक्ष अत्यंत दुःख से साध्य है ॥५॥

विषयादिक सुख तो सुलभ है किन्तु मोक्ष के लिये शुद्धात्मा की प्राप्ति
सुलभ नहीं है इस बात को आचार्य दिखाते हैं।

श्रुतपरिचितानुभूतं सर्वं सर्वस्य जन्मने सुचिरम् ।
न तु मुक्तयेऽत्र सुलभा शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धिः ॥६॥

अर्थ—जिन को चिरकाल से सुना है और जिनका परिचय तथा अनुभव किया है ऐसे समस्त काम क्रोध भोग विकथा आदिक सर्व प्राणियों के जन्म के लिये हैं अर्थात् उनकी प्राप्ति सबको सुलभ रीति से हो सकती है किन्तु मुक्ति के लिये शुद्ध जो आत्मज्योतिः उसकी प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है।

भावार्थ—काम क्रोध भोग विकथा आदिक पदार्थ तो अनादि काल से प्रत्येक जन्म में सुने गये हैं तथा उनका परिचय और अनुभव किया गया है इसलिये उनकी प्राप्ति तो संसार में अत्यंत सुलभ है अर्थात् उद्बोधक कारण पाकर ही वे तो बहुत शीघ्र प्रकट हो जाते हैं किंतु मुक्ति के लिये शुद्ध आत्मा की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है अर्थात् इसकी प्राप्ति जल्दी नहीं हो सकती क्योंकि किसी जन्म में इसको भली भांति सुना भी नहीं है और न इसका परिचय तथा अनुभव किया है इसलिये मोक्षाभिलाषियों को शुद्ध आत्मज्योति की प्राप्ति के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥६॥

आत्मा का अनुभव भी कठिन है इस बात को आचार्य दिखाते है।

बोधोऽपि यत्र विरलो वृत्तिर्वाचामगोचरोवाढम् ।
अनुभूतिस्तत्र पुनर्दुर्लक्ष्यात्मनि परं गहनम् ॥७॥

अर्थ—और जिस आत्मा का ज्ञान भी अत्यंत दुर्लभ है और जिसका वर्णन भी वाणी के अगोचर है अर्थात् वाणी से जिसका वर्णन नहीं कर सकते और जब उसका वाणी से वर्णन ही नहीं कर सकते तब उसका अनुभव तो अत्यंत ही दुर्लक्ष्य है इसलिये आचार्य कहते है कि आत्मज्योति अत्यंत गहन है।

भावार्थ—जो पदार्थ गहन नहीं होता है उसका ज्ञान तो कर सकते है अर्थात् उसको जान सकते हैं और जब उसको जान सकते हैं तब उसका वर्णन भी कर सकते है तथा वर्णन करने से उसका अनुभव भी हो सकता है किंतु आत्मा तो अत्यंत गहन है इसलिये प्रथम तो उस को जान ही नहीं सकते यदि किसी रीति से जान भी लेवे तो उसका वर्णन नहीं कर सकते यदि कुछ उसका वर्णन भी कर सके तो उसका अनुभव नहीं कर सकते इसलिये आत्मा का बोध वर्णन अनुभव सर्व ही कठिन है ॥७॥

अब आचार्य इस बात को कहते है दोनों नयों में व्यवहारनय तो अज्ञानी जनों को समझाने के लिये है और शुद्धनय कर्मों के नाश के लिये है इसलिये शुद्धनय का कुछ वर्णन करता हूं।

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः ।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रित किंचित् ॥८॥

अर्थ—जीव अज्ञानी है उनके समझने के लिये तो व्यवहारनय है और शुद्धनय कर्मों के नाश के लिये. है इसलिये आचार्य कहते हैं कि मोक्ष का इच्छा करने वाला मैं अपने लिये शुद्धनय का आश्रय कर कुछ कहता हूं अर्थात् शुद्धनय का वर्णन करता हूं।

भावार्थ—यदि निश्चयनय से अनुभव किया जाय तो आत्मा एक अखंड पदार्थ है उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं लेकिन जिन पुरुषों के ज्ञान पर आवरण पड़ा हुवा है अर्थात् जो अज्ञानी है वे सहसा आत्मा के स्वरूप को नहीं जान सकते इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि आत्मा के गुणों को जुदा कर उनको आत्मा का स्वरूप समझाया जाता है और अखंड वस्तु को खंड रूप

से जानना यह विषय व्यवहार नयका है इसलिये व्यवहारनय तो मूर्खों को समझाने के लिये है किन्तु उसके आशय से कर्मों का नाश नहीं हो सकता और शुद्धनय से जो पदार्थ जैसा है वह वैसा ही समझा जाता है इसलिये पदार्थ के वास्तविक स्वरूप के समझाने के कारण शुद्धनय कर्मों को नाश करने वाला है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति में कारण है इसलिये स्वयं मोक्ष को जाने की इच्छा करने वाले श्री आचार्य कहते हैं कि मैं अब इस ग्रंथ में कुछ शुद्धनय का वर्णन करता हूं ॥८॥

प्रथम ही आचार्य इस बात को दिखाते हैं कि जो पुरुष निश्चयनय के अनुगामी हैं वे मोक्ष को जाते हैं।

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः ।
शुद्धनय आश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम् ॥६॥

अर्थ—व्यवहारनय तो असत्यार्थभूत कहा गया है और शुद्धनय सत्यार्थभूत कहा गया है और जो मुनि शुद्धनय को आश्रित है वे मुनि मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—अखंड पदार्थ को खंड रीति से जानना यह जो व्यवहारनय का विषय है वह सत्यार्थभूत नहीं है इस लिये व्यवहारनय भी सत्यार्थभूत नहीं है अतः जो जीव इस नय का आश्रय करते है उन को संसार में ही रुलना पड़ता है मोक्ष को नहीं जाते किन्तु जो जीव शुद्ध निश्चयनय का आश्रय करते है उन को मोक्ष पद की प्राप्ति होती है क्योंकि जो पदार्थ जैसा है वह शुद्ध निश्चयनय से उसी रीति से जाना जाता है इस लिये जो जीव मोक्ष के अभिलाषी है उन को शुद्ध निश्चयनय का ही आश्रय करना चाहिये और यदि संसार में भटकना हो तो उनको संसार के प्रधान कारण व्यवहारनय का अवलम्बन करना चाहिये ॥६॥

व्यवहारनय से तो तत्व का स्वरूप कुछ कह सकते है किन्तु निश्चयनय से तत्व अवाच्य है इस बात को आचार्य बतलाते है।

तत्वं वागतिवर्ति व्यवहृतिमासाद्य जायते वाच्यम् ।
गुणपर्ययादिविवृतेः प्रसरति तच्चापि शतशाखम् ॥०१॥

अर्थ—निश्चयन से तो तत्व वाणी के अगोचर है अर्थात् वचन से उसके स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकते किन्तु वही तत्व व्यवहारनय की अपेक्षा से वाच्य है अर्थात् वचन से उस को कुछ कह सकते है और पीछे वह तत्व गुण पर्याय आदि के विवरण से सैंकड़ों शाखा स्वरूप में परिणत हो जाता है।

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही वृक्ष शाखा प्रशाखाओं से अनेक प्रकार का हो जाता है उसी प्रकार यद्यपि निश्चयनय से आत्मा अवाच्य तथा एक है तो भी व्यवहारनय से वह वाच्य अर्थात् वचन द्वारा वर्णन करने योग्य है तथा गुण पर्याय आदि भेदों से अनेक प्रकार का है॥१०॥

व्यवहारनय भी हेय नहीं है किन्तु उपादेय और पूज्य है इस बात को आचार्य दिखाते है।

"मुख्योपचारविवृतिव्यवहारोपायतो"[1] यतः संतः।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्धं तत्वमिति व्यवहृतिः पूज्या॥११॥

अर्थ—मुख्य जो शुद्धनय उस में उपचार से है विवरण जिस का ऐसा व्यवहारनय है उस की सहायता से सज्जन पुरुष शुद्ध जो तत्व उस का अवलम्बन करते हैं इस लिये व्यवहानय भी पूज्य ही है।

भावार्थ—यह भलीभांति अनुभव है कि जन्म लेते ही जीव इतने बुद्धिमान नहीं होते जोकि विना प्रयास के ही ये असली तत्व को समझ लेवे किन्तु उपदेश आदि के वल से ही उन को असली तत्व समझाया जाता है और असली तत्व का जो स्वरूप है वह व्यवहारनय को अवलम्बन करके समझाया जाता है इस लिये असली तत्व के आश्रय कनने में व्यहारनय भी अवश्य कारण पड़ा अतः व्यवहारनय पूज्य ही है किन्तु हेय नहीं॥११॥

१ क० पुस्तक मे मुख्योपचारविवृतिम् यह भी पाठ है तथा इस पाठ मे इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि मुख्य जो शुद्धनय और उपचार जो व्यवहारनय इन दोनों के स्वरूप का व्यवहारनय की सहायता से जान कर भव्य जीव शुद्ध तत्व का आश्रय करते हैं इस लिये व्यवहारनय भी पूज्य ही है हेय नहीं है।

अब आचार्य निश्चय रत्नत्रय संसार का नाशक है इस बात को दिखाते है।

आत्मनि निश्चयबोधस्थितयो रत्नत्रयं भवक्षतये।
भूतार्थपथप्रस्थितबुद्धे रात्मैव तत्त्रितयम् ॥१२॥

अर्थ—आत्मा में जो निश्चय बोध स्थितिरूप रत्नत्रय है अर्थात् सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय है वह संसार के नाश केलिये होता है और वह रत्नत्रय कोई जुदा पदार्थ नहीं है किन्तु जिन भव्यजीवों की बुद्धि भूतार्थमार्ग में स्थित है अर्थात शुद्धनिश्चय नय आश्रय करनेवाली है उन भव्य जीवों की आत्मा ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र स्वरूप जो रत्नत्रय उसरत्नत्रय स्वरूप है।

भावार्थ—जो भव्यजीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र स्वरूप जो रत्नत्रय उस रत्नत्रय स्वरूप जो आत्मा उस आत्मा का ध्यान करते है वे समस्त दुःखों से छूट जाते है और सीधे मुक्ति को जाते हैं इसलिये मोक्षाभिलाषियों को अवश्य ही रत्नत्रयस्वरूप आत्मा का आराधन करना चाहिये ॥१२॥

सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय आत्मा का खंडनरूप हैं इस बात को आचार्य बतलाते हैं।

सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखण्डं परात्मनोरूपम्।
तत्तत्र तत्परो यः सएव तल्लब्धिकृतकृत्यः ॥१३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्मा के अखंडरूप हैं इसलिये आचार्य कहते हैं कि जो पुरुष परमात्मा में लीन है अर्थात् परमात्मा के आराधक हैं उनको सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति होती है और वे कृतकृत्य हो जाते हैं।

भावार्थ—जो मनुष्य आत्मा के अराधन करनेवाले है उनको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान आदि की सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है क्योंकि सम्यग्दर्शन आत्मा से भिन्न नहीं है। आत्मा के ही अखड स्वरूप है और सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति से वे मनुष्य कृतकृत्य हो जाते है अर्थात् उनको संसार में कोई भी काम करने के लिये बाकी नहीं रहता इसलिये जो मनुष्य कृतकृत्य होना चाहते है उनको अवश्य ही सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र की प्राप्ति करनी चाहिये ॥१३॥

अब आचार्यवर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र के स्वरूप को कहते हैं।

अग्नाविवोष्णभावः सम्यग्बोधेऽस्ति दर्शनं शुद्धम्।
ज्ञातं प्रतीतमाभ्यां सत्स्वास्थ्यं भवति चारित्रम् ॥१४॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि में उष्णता है उसी प्रकार से जो आत्मा में ज्ञान है इसप्रकार की जो दृढ़ प्रतिति है इसका नाम तो सम्यग्दर्शन है और आत्मा का जो भलीभांति ज्ञान है उसको निश्चयज्ञान कहते है तथा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सहित जो आत्मा उस में समीचीन जो स्वास्थता उसको चारित्र कहते है।

भावार्थ—आत्मा में निश्चलरीति से जो श्रद्धान है उसको तो सम्यग्दर्शन कहते हैं और उसी आत्मा का जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में जो स्थिति है उसको चारित्र कहते हैं। ॥१४॥

अब आचार्य सम्यग्दर्शन आदि की सफलता का वर्णन करते हैं।

विहिताभ्यासा बहिरर्थवेध्यसंवन्धतो दृगादिशराः।
सफलाः शुद्धात्मरणे छिन्दितकर्मारिसंघाताः ॥१५॥

अर्थ—बाह्य जो पदार्थ वेही हुई वेध्य "निशान" उनके संबंध से किया गया है अभ्यास जिनका ऐसे जो सम्यग्दर्शन आदिक बाण है वे शुद्धात्मा रूपी संग्राम में समस्त कर्म-रूपी वैरियों को नाशकर सफल होते है।

भावार्थ—नाना प्रकार के निशानों को मार २ कर जिस बाण का अभ्यास किया गया है ऐसा वह बाण जिस समय वैरी का छेद करता है उस समय जिस प्रकार सफल समझा जाता है उसी प्रकार जिस समय सम्यग्दर्शन के होते सन्ते समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं उस समय सम्यग्दर्शन आदिक सफल समझे जाते है ॥१५॥

१ क: पुस्तक में "बहिरर्थसंवन्धीनः" यह भी पाठ है।

सम्यग्ज्ञान की जबतक प्राप्ति नहीं होती है तबतक कदापि जीव सिद्ध नहीं
हो सकता इस बात को आचार्य दिखाते हैं।

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि।
तरुरिव नरो न सिध्यति सम्यग्बोधादृते जातु ॥१६॥

अर्थ—समस्त प्रकार की हिंसाओं कर रहित और अकेला तथा समस्त प्रकार के उपद्रवों को (विघ्नों को) सहन करने वाला मुनि वृक्ष के समान वन में स्थित भी सम्यग्ज्ञान के विना कभी भी सिद्ध नहीं वन सकता।

भावार्थ—जबतक मुनि सम्यग्ज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेता तबतक चाहे जैसा वह हिंसा का त्यागी क्यों न हो और वह वन में अकेला ही क्यों न रहता हो तथा समस्त प्रकार के उपसर्गों को भलीभांति सहने वाला क्यों न हो कभी भी सिद्ध पदवी को नहीं पा सकता इसलिये सिद्ध पद के अभिलाषियों को चाहिये कि वे सब से पहले सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करें ॥१६॥

शुद्धनय में स्थित कौन पुरुष हो सकता है इस बात को आचार्यवर समझाते हैं।

अस्पष्टमवद्धमनन्यमयुतमविशेसमभ्रमोपेतः।
यःपश्यत्यात्मानं स पुमान खलु शुद्धनयनिष्ठः ॥१७॥

अर्थ—जो मनुष्य भ्रम रहित होकर आत्मा को अस्पृष्ट अवद्ध अयुत अविशेष मानता है वही पुरुष शुद्धनय में स्थित है ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ—जो मनुष्य शुद्धनय का अवलम्बन करने वाला है वह मनुष्य, जिस प्रकार जल में पड़ा हुवा कमल का पत्र जल से अस्पृष्ट है अर्थात् जल के स्पर्शकर रहित है उसी प्रकार आत्मा भी कर्मों के स्पर्शकर रहित है अर्थात् विमुक्त है ऐसा देखता है तथा आत्मा कर्मों के बंधनकर रहित है अर्थात् एक है यह भी देखता है और आत्मा कर्म स्वरूप नहीं है कर्मों से भिन्न है यह भी वह देखता है और आत्मा अविशेष है अर्थात् कर्मों द्वारा किये हुवे जो मनुष्य देव आदि नाना प्रकार के विशेप, उन करके रहित है ऐसा भी देखता है ॥१७॥

नाटक समय सारकलशाभिषेक में भी कहा है।

भेदविज्ञानतःसिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतोबद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१८॥

अर्थ—जो कुछ जीव सिद्ध हुवे हैं वे जीव स्वपर भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुवे हैं और जो कुछ जीव बंधे हैं वे स्वपर भेद विज्ञान के अभाव से हीं बंधे हैं इसलिये सिद्ध बनने की इच्छा करने वाले भव्यजीवों को अवश्य ही भेद विज्ञान की ओर दृष्टि देनी चाहिये ॥१८॥

जो शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है उसको तो शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है और जो अशुद्ध आत्मा का ध्यान करता है उसको अशुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है इस बात को आचार्य बतलाते हैं।

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यायन्नाप्नोत्यशुद्धमेव स्वम्।
जनयति हेम्नो हैमं लोहाल्लौहं नरः कटकम् ॥१६॥

अर्थ—जिस प्रकार मनुष्य सुवर्ण से सुवर्णमय ही कढ़ाई को बनाता है और लोह से लोहमय कढ़ाई को ही बनाता है उसी प्रकार जो मनुष्य शुद्धात्मा का ध्यान करता है उसको तो शुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है और जो मनुष्य अशुद्ध आत्मा का ध्यान करता है उसको अशुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—यह नियम है जिस प्रकार का कारण होता है कार्य भी उसी प्रकार का होता है सुवर्ण मे सुवर्ण मयपात्र की तथा लोह से लोहमयपात्र की ही क्यों उत्पत्ति होती है उसका कारण यही है कि उन दोनों का कारण सुवर्ण तथा लोहा है उसी प्रकार शुद्धात्मा की प्राप्ति में कारण शुद्धात्मा का ध्यान है और अशुद्धात्मा की प्राप्ति में अशुद्धात्मा का ध्यान है इसलिये जो मनुष्य शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं उनको तो शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है और जो मनुष्य अशुद्धात्मा का ध्यान करते है उनको अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है अतः जो मनुष्य शुद्ध आत्मा की प्राप्ति के अभिलाषी है उनको शुद्ध आत्मा की ही ध्यान मनन करना चाहिये ॥१८॥

चारित्रकर शुद्ध यदि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान हैं तो जन्म नहीं हो सकता इस बात को आचार्य कहते हैं।

सानुष्ठानविशुद्धे दृग्बोधे जृम्भिते कुतो जन्म।
उदिते गभस्तिमालिनि किं न विनश्यति तमो नैशम् ॥१६॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर रात्रि का अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार सम्यक्चारित्र से शुद्ध जिस समय सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते है उस समय जन्म कदापि नही हो सकता।

भावार्थ—जब तक सूर्य का उदय नहीं होता है तभी तक निशा का अंधकार आकाश में व्याप्त रहता है किन्तु जिस समय सूर्य का उदय हो जाता है उस समय पल भर में रात्रि का अंधकार दूर भाग जाता है उसी प्रकार जब तक आत्मा में अखंड सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होती तभी तक संसार रहता है अर्थात् संसार में भटकना पड़ता है किन्तु जिस समय निर्मल सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की प्राप्ति हो जाती उस समय आत्मा को संसार में भटकना नहीं पड़ता ॥१६॥

मन को नाश कर देना चाहिये इस बात को अचार्य वर्णन करते हैं।

आत्मभुवि गर्मवीजाच्चित्ततरुर्यत्फलं फलति।
जन्ममुक्त्यर्थिना स दाह्योभेदज्ञानोग्रदावेन ॥२०॥

अर्थ—आत्मा रूपी भूमि में कर्म रूपी बीज से उत्पन्न हुआ मन रूपी वृक्ष, संसार रूपी फल को फलता है इस लिये आचार्य कहते हैं कि जिन को जन्म से मुक्त होने की इच्छा है अर्थात् जो मुमुक्षु हैं उन को चाहिये कि वे भेद ज्ञान रूपी जाज्वल्यमानअग्नि से उस चित्त रूपी वृक्ष को जलावें।

भावार्थ—जिस प्रकार भूमि में उत्पन्न हुआ वृक्ष फल को देता है उसी प्रकार जिस समय मन की सहायता से इन्द्रियां विषयों में प्रवृत्त होती है उस समय नाना प्रकार के कर्मों का सम्बन्ध आत्मा में होता है और फिर कर्मों के संबंध से आत्मा को संसार में भटकना पड़ता है

इस लिये संसार का पैदा करने वाला मन ही है अतः भव्य जीवों को चाहिये कि वे इस मन को स्वपर के विवेक से सर्वथा नष्ट करें ॥२०

आत्मा को कर्म अशुद्ध बनाते है तो भी भव्य जीवों को भय नही करना चाहिये इस बात को आचार्य कहते है।

अमलात्मजलं समलं करोति मम कर्मकर्दमस्तदपि।
का भीतिः सति निश्चित भेदकरज्ञानकतकफले ॥२१॥

भावार्थ—यद्यपि कर्मरूमी कीचड़ अत्यंत निर्मल भी मेरे आत्मारूपी जल को गदला करती है तोभी मुझे कोई भय नहीं क्योंकि निश्चय से स्वपर के भेद को करनेवाला ज्ञान रूपी कतक (फिटकरी) फल मेरे पास मौजूद है।

भावार्थ—जिस प्रकार गदले जल में यदि फिटकरी छोड़ दी जावे तो वह फिटकरी शीघ्र ही उस जल में रही हुई कीचड़ को नष्ट कर देती है और जल कोनिर्मल बना देती है उसी प्रकार यद्यपि ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा- को मलिन कर रहे है तो भी स्वपर के भेदज्ञान से वह कर्मों से की हुई मलिनता पलभर में नष्ट हो जाती है इसलिये यदि मेरी आत्मा में स्वपर का भेद विज्ञान है तो चाहे जितना कर्म मेरी आत्मा को मलिन करें मुझे किसी प्रकार का भय नहीं है ऐसा भेद ज्ञानी सदा विचार करता रहता है ॥२१॥

और भी आचार्य कहते है।

अन्योहमन्यमेतच्छरीरमपि किं पुनर्न बहिरर्थाः।
व्यभिचारी यत्र सुतस्तत्र किमरयः स्वकीयाःस्युः ॥२३॥

अर्थ—मै अन्य हूं और यदि वह शरीर भी मुझ से अन्य है तो बाह्य जो स्त्री पुत्र आदिक पदार्थ हैं वे तो मुझसे अवश्य ही भिन्न है क्योंकि यदि संसार में अपना पुत्र ही अनिष्ट का करने वाला होजावे तो वैरी भी मेरे नहीं हो सकते अर्थात् वे तो अवश्य ही मेरे अनिष्ट के करने वाले होंगे।

भावार्थ—संसार में सबसे स्वकीय (अपना) पुत्र समझा जाता है यदि वह भी मुझे दुःख का देने वाला होजावे और मेरे अनिष्टों का करने वाला होजावे तो वैरी तो अवश्य ही

अनिष्ट के करने वाले होंगे क्योंकि वे पहिले से ही स्वकीय (अपने) नहीं हैं उसी प्रकार संसार में सबसे अधिक अपना संबंधी शरीर है यदि वह भी आत्मा से भिन्न है तो स्त्री पुत्र आदिक तो अवश्य ही भिन्न हैं ऐसा समझना चाहिये ॥२२॥

और भी आचार्यवर आत्मा शरीर से जुदा है इस बात को बताते हैं।

व्याधिस्तुदति शरीरं न माममूर्तं विशुद्धबोधमयम्।
अग्निर्दहति कुटीरं न कुटीरासक्तमाकाशम् ॥२३॥

अर्थ—यदि झोंपड़े में अग्नि लग जाये तो वह झोंपड़े में लगी हुई अग्नि झोंपड़े को ही जलाती है किन्तु उसके मध्य में रहे हुवे आकाश को नहीं उसी प्रकार जो शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं वे रोग उस शरीर को ही नष्ट करते हैं किन्तु उस शरीर में रहे हुवे निर्मल ज्ञानमय आत्मा को नष्ट नहीं करते।

भावार्थ—जिस प्रकार अमूर्तीक आकाश का मूर्तीक अग्नि कुछ भी नहीं कर सकती किन्तु वह मूर्तीक झोंपड़े को ही जलाकर नष्ट कर देती है उसी प्रकार आत्मा तो अमूर्तीक और निर्मल ज्ञानमय है इसलिये मूर्तीक शरीर के धर्म जो रोग आदिक हैं वे इस आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकते किन्तु वे शरीर के ही नाश करने वाले होते हैं इसलिये शरीर में रोग आदि के होने पर सज्जन पुरुषों को कभी भी नहीं डरना चाहिये ॥२३॥

क्षुधा आदिक जो दुःख है वे शरीर में ही होते हैं इस बात को आचार्यवर वर्णन करते हैं

वपुराश्रितमिदमखिलं क्षुधादिभिर्भवति किमपि यदसातम्।
नो निश्चयेन तन्मे यदहं बाधाविनिर्मुक्तः ॥२४॥

अर्थ—भूंख प्यास आदि कारणों से जो दुःख होता है वह समस्त दुःख मेरे शरीर में ही होता है और निश्चयनय से वह शरीर मेरा नहीं है क्योंकि मैं समस्त प्रकार की बाधाओंकर रहित हूं।

भावार्थ—मैं तो निर्मल ज्ञानस्वरूप हूं और शरीर जड़ पदार्थ है इसलिये वह मुझसे भिन्न है यदि असाता वेदनी कर्म के उदय से क्षुधा तृषा आदि कारणों से दुःख भी होवे तो वह

दुःख शरीर में होता है मुझे कोई दुःख नहीं होता क्योंकि मैं समस्त प्रकार के दुःखों से रहित हूं ॥२४॥

क्रोधमान आदिक भी आत्मा के धर्म नहीं हैं इस बात को आचार्य दिखाते हैं।

नैवात्मनो विकारः क्रोधादिः किन्तु कर्मसंवन्धात्।
स्फटिकमणेरिव रक्तत्वमाश्रितात्पुष्पतो रक्तात ॥२५॥

अर्थ—जिस प्रकार लाल फूल के आश्रय से स्फटिकमणि लाल हो जाती है उसी प्रकार आत्मा में कर्म के संबंध से क्रोध आदि विकार पैदा हो जाते हैं किन्तु वे क्रोधादि विकार आत्मा के विकार नहीं है।

भावार्थ—स्फटिक मणि स्वभाव से लाल नहीं है किन्तु उसका तो सफेद ही स्वभाव है परन्तु जिस समय उसके पास लाल फूल रख दिया जाता है तो उस लालफूल के संबंध से वह भी लाल हो जाती है उसी प्रकार आत्मा स्वभाव से न तो क्रोधी है और न मानी लोभी आदिक ही है किन्तु कर्मों के संबंध से वह क्रोधी लोभी बन जाता है इसलिये क्रोध आदि विकार आत्मा के विचार नहीं हैं किन्तु कर्मों के ही विकार है ॥२५॥

कर्मों से उत्पन्न हुवे विकल्प भी शुद्ध आत्मा में नहीं हैं इस बात को आचार्य समझाते हैं

कुर्यात् कर्म विकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य।
मुखसंयोगजविकृतेर्न विकारी दर्पणो भवति ॥२६॥

अर्थ—मुख के संयोग से उत्पन्न हुवे विकार से अर्थात् मलिनमुख के संबंध से जिस प्रकार दर्पण मलिन नहीं होता उसीप्रकार कर्म चाहे कितने ही विकल्प क्यों न करें किन्तु अत्यंत शुद्ध स्वरूप मुझ आत्मा का वे विकल्प कुछ नहीं कर सकते।

भावार्थ—जिस प्रकार मलिन मुख के संबंध से दर्पण मलिन नहीं होता वह स्वच्छ ही बना रहता है उसीप्रकार कर्मों से पैदा हुवे नाना प्रकार के विकल्पों से मेरा आत्मा विकल्पी नहीं बन सकता वह तो निर्मल ही रहेगा ॥२६॥

और भी आचार्य इसीविषय में कहते हैं।

आस्तां बहिरुपधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम्
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चत् ॥२७॥

अर्थ—बाह्य स्त्री पुरुष आदि उपाधि तो दूर हो किन्तु शरीर वचन और विकल्प भी मुझसे भिन्न हैं क्योंकि शरीर वचन और विकल्प भी कर्म से किये गये है मैं विशुद्ध हूं इसलिये मेरा कुछ भी नहीं है।

भावार्थ—जो कुछ कर्मों द्वारा की हुई उपाधि है वे समस्त उपाधि मुझसे भिन्न हैं तो स्त्री पुत्र आदिक सर्मथा भिन्न तो मेरी आत्मा से भिन्न ही है ॥२७॥

कर्म तथा कर्मों से किये हुवे सुख दुःखाकिक भी भिन्न है इसवात को आचार्यवर दिखाते हैं।

कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः ॥२८॥

अर्थ—कर्म भी भिन्न हैं और कर्मों के जो सुख दुःख आदि कार्य हैं वे भी भिन्न है और उन कर्म के सुख दुःख आदि कार्यों में निश्चय से मोही जीव ही हर्ष विषाद को करता है अन्य नहीं।

भावार्थ—जिस मनुष्य को हिताहित का विवेक नही है अर्थात् जो मोही है वह मनुष्य ज्ञानावरणादिक कर्मों को भी अपना मानता है और कर्मों के कार्य को भी अपना मानता है इसलिये जिस सातावेदनी कर्म के उदय से कुछ सुख होता है उस समय हर्ष मानता है तथा असात वेदनीय कर्म के उदय से जिस समय दुःख होता है उस समय विषाद को करता है अर्थात् दुःख मानता है किन्तु जो मनुष्य बुद्धिमान है अर्थात् जिस मनुष्य को यह वस्तु मेरे हित को करने वाली है और यह वस्तु मेरे अहित की करने वाली है इस वात का ज्ञान है वह मनुष्य कर्म तथा कर्मों के कार्य को अपना नहीं मानता और सातावेदनीय कर्म के उदय से जिस समय कुछ सुख होता है उस समय हर्ष नहीं मानता और जिस समय असातावेदनी कर्म के उदय से दुःख होता है उस समय विषाद नहीं करता क्योंकि वह समझता है कि कर्म तथा

कर्मों के जितने भर कार्य हैं वे सब जड़ है और मैं चेतन हूं इसलिये वे मुझसे सर्वथा भिन्न हैं ॥२८॥

मोक्ष का अभिलाषी पुरुष ही कुछ सुखी है इस बात को आचार्य दिखाते हैं।

कर्म न यथा स्वरूपं न तथा तत्कार्यकल्पनाजालम्।
तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति २९॥

अर्थ—जिस प्रकार कर्म आत्मा का स्वरूप नहीं है उसी प्रकार उस कर्म का जो सुख दुःख आदि कार्य, उनकी जो कल्पना, उनका समूह भी, आत्मा का स्वरूप नहीं है इसलिये उन कर्मों में तथा कर्म के कार्य जो सुख दुःख आदिक है उनमें जो मोक्ष की इच्छा करने वाला भव्य जीव आत्म बुद्धि कर रहित है अर्थात् उनको अपना नहीं मानता है वही आत्मा (भव्यजीव) संसार में सुखी है।

भावार्थ—जब तक जीव अपने से सर्वथा भिन्न जो कर्म तथा कर्मों के सुख दुःख आदि कार्य हैं उनको अपना मानता है तब तक उसको रंचमात्र भी सुख नहीं होता क्योंकि कर्म तथा कर्मों के कार्यों को अपनाने के कारण उसको संसार में भटकना पड़ता है और भटकने से उसको अनन्ते नरकादि दुःखों का सामना करना पड़ता है किन्तु मोक्ष की इच्छा करने वाले भव्य जीव कर्म तथा कर्मों के कार्य को अपनाते नहीं है अतः उनको ही सुख की प्राप्ति होती है अर्थात् वे ही सुखी होते हैं इसलिये मोक्षाभिलाषियों को चाहिये कि वे परपदार्थों में आत्मबुद्धि न करें ॥२९॥

और भी आचार्यवर कर्म की भिन्नता का वर्णन करते हैं।

कर्मकृतकार्यजाते कर्मैव विधौ तथा निषेधे च।
नाहमतिशुद्धबोधो विधूतविश्वोपधिर्नित्यम् ॥३०॥

अर्थ—कर्म द्वारा किये हुवे जो सुख दुःख रूप कार्य उन कार्यों के विधान में तथा निषेध में कर्म ही है अर्थात् कर्म ही कर्ता है किन्तु अत्यंत निर्मल ज्ञान का धारी मैं नहीं हूं क्योंकि मैं सदा समस्त प्रकार की, कर्मों से पैदा हुई जो उपाधियां उनसे रहित हूं।

भावार्थ—कर्म के द्वारा जो राग, द्वेष, सुख, दुःख, आदि कार्य होते हैं उन समस्त कार्यों का कर्ता, कर्म ही है किन्तु मेरी आत्मा उन सुख दुःख आदि कार्यों का कर्ता नहीं है क्योंकि मेरी आत्मा अत्यंत शुद्ध ज्ञान का धारी है और सदा समस्त प्रकार की जो कर्म जनित उपाधियां हैं उन उपाधियों से रहित है ॥३०॥

बाह्य विकारों को भी मोही जीव सदा आत्मस्वरूप ही मानता है
इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं।

बाह्यायामपि विकृतौ मोही जागर्ति सर्वदात्मेति।
किं नोपभुक्तहेमो हेमग्रावाणमपि मनुते ॥३१॥

अर्थ—जो मनुष्य धतूरे को खा लेता है उस मनुष्य को जिस प्रकार पत्थर भी सोना मालूम पड़ता है उसी प्रकार जो मनुष्य मोही है अर्थात् जिस मनुष्य को हिताहित का ज्ञान नहीं है वह मनुष्य बाह्य स्त्री पुत्र आदि विकृति को आत्मा ही मानता है।

भावार्थ—धूलि मिट्टी पत्थर आदिक पदार्थ यद्यपि सुवर्ण नहीं है किन्तु जिस मनुष्य ने धतूरा पी लिया है उसको ये सुवर्ण ही मालूम पड़ते है उसी प्रकार यद्यपि निश्चयनय से स्त्री पुत्र धन धान्य पदार्थ जड़ पदार्थ है इसलिये अपने नहीं हैं तो भी जिन मनुष्यों की आत्मा पर प्रबल मोह रूपी पर्दा पड़ा हुवा है उनको वे सब विपरीत ही सूझते है अर्थात् मोही मनुष्य उन सब को अपना ही मानता है ॥३१॥

मोक्ष की इच्छा करने वाला मनुष्य इस बात का विचार करता रहता है।

सति द्वितीये चिन्ता कर्म ततस्तेन वर्तते जन्म।
एकोऽस्मि सकलचिन्तारहितोऽस्मि मुमुक्षुरिति नियतम् ॥३२॥

अर्थ—द्वितीय वस्तु के होते सन्ते तो चिंता होती है और चिन्ता से कर्मों का आगमन होता है और कर्मों से जन्म होता है इस लिये निश्चय से मोक्ष की इच्छा करने वाला मैं अकेला हूं तथा समस्त प्रकार की चिंताओं से रहित हूं।

भावार्थ—यह नियम है कि संसार में जो जीव दुःखित हैं वे कर्मों से बन्धे हुए हैं इस लिये दुःखित हैं और आत्मा के साथ जो कर्मों का बन्ध है वह चिंता से है और वह चिंता द्वितीय पदार्थों के होते सन्ते ही होती है इस लिये मोक्षाभिलाषी ऐसा विचार करता रहता है कि निश्चय से मैं अकेला हूं और समस्त प्रकार की चिंताओं से भी रहित हूं ॥३२॥

और भी मोक्षाभिलाषी इस प्रकार का विचार करता रहता है।

यादृश्यपि तादृश्यपि परतश्चिंता करोति खलु बन्धम्।
किं मम तया मुमुक्षोः परेण किं सर्वदैकस्य ॥३३॥

अर्थ—चिंता जिस २ प्रकार की होती है उस २ प्रकार की वह समस्त चिंता बन्ध को ही करने वाली होती है मैं तो मोक्ष की इच्छा करने वाला हूं इस लिये मुझे उस चिंता से क्या प्रयोजन है और मैं तो सदा एक हूं इस लिये मुझे दूसरे पदार्थों से भी क्या प्रयोजन है।

भावार्थ—चिंता दो प्रकार की है एक तो शुभचिंता दूसरी अशुभचिंता उन में शुभचिंता तो उसे कहते हैं जो शुभ पदार्थों की चिंता की जाय जिस प्रकार तीर्थंकर के आसन आकार आदिक की, और अशुभचिंता उसे कहते है जो अशुभ पदार्थों की चिंता की जाय जिस प्रकार स्त्री पुत्र आदिक की चिंता, किंतु ये दोनों ही चिंता बंध की ही कारण हैं, क्योंकि शुभ चिंता के करने से शुभ कर्मों का बंध होता है और अशुभ चिंता के करने से अशुभ कर्मों का बंध होता है और पीछे संसार में भटकना पड़ता है इस लिये मोक्षाभिलाषी ऐसा विचार करता है कि मैं मुमुक्षु हूं इस लिये मुझे चिंता से क्याः प्रयोजन है और मैं सदा अकेला हूं इस किये मुझे पर जो स्त्री पुत्र मित्र आदिक पदार्थ हैं उन पदार्थोंसे भी क्या प्रयोजन है ॥३३॥

मैं निर्मलज्ञानस्वरूप तथा निर्विकार हूं ज्ञानी इस बात का विचार करता है
इसबातको आचार्य कहते हैं।

मयि चेतः परजातं तच्च परं कर्मविकृतिहेतुरतः
किं तेन निर्विकारः केवलमहममलबोधात्मा ॥३४॥

अर्थ—मेरी आत्मामें जो मन है वह मुझसे भिन्न है क्योंकि वह परपदार्थसे उत्पन्न हुआ है और जिससे मन उत्पन्न हुआ है ऐसा वह कर्म भी मुझसे भिन्न है क्योंकि वह विकारका करनेवाला है और मैं तो निश्चयसे विकार रहित हूं।

भावार्थ—यदि मन पर न होता और कर्म, विकारोंके करनेवाले न होते तब तो मैं उनको अपना मानता किन्तु मनतो मुझसे सर्वथा पर है क्यों कि वह जड़कर्मसे पैदा हुआ है और कर्म मुझे विकृत करने वाला अर्थात् मेरे ज्ञानादि गुणों का घात करने वाला है इस लिये मैं उन दोनों को अपना कैसे मानूं ? इस लिये मैं तो विकार रहित हूं तथा निर्मल ज्ञान का धारी हूं अर्थात् निर्मल ज्ञान स्वरूप हूं ॥२४॥

मोक्षाभिलाषियों को समस्त प्रकार की चिंताओं का त्याग कर देना चाहिये इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं।

त्याज्या सर्वा चिन्तेतिबुद्धिराविष्करोति तत्तत्त्वम्।
चन्द्रोदयायते यच्चैतन्यमहोदधौ झटिति ॥२५॥

अर्थ—समस्त प्रकार की चिंता त्यागने योग्य है जिस समय इस प्रकार की बुद्धि होती है उस समय वह बुद्धि उस तत्त्व को प्रकट करता है कि जो तत्त्व चैतन्य रूपी प्रवल समुद्र में शीघ्र ही चन्द्रमा के समान आचरण करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार समस्त चिंताएं त्यागने योग्य हैं इस प्रकार की बुद्धि भी उस तत्त्व को प्रकट करती है कि जिस तत्त्व की प्रकृता से चैतन्य तत्त्व सदा बढ़ता ही चला जाता है इसलिये मोक्षाभिलाषियों को अवश्य ही समस्त चिंताओं का त्याग कर देना चाहिये ॥२५॥

और भी आचार्यवर चैतन्य के स्वरूप को वर्णन करते हैं।

चैतन्यमसम्पृक्तं कर्मविकारेण यत्तदेवाहम्।
तस्य च संसृतिजन्मप्रभृति न किंचित्कुतश्चिंता ॥२६॥

अर्थ—जो चैतन्य, कर्मों के विकार से अलिप्त है वही चैतन्य मैं हूं और उस चैतन्य के संसार में जन्म मरण आदिक कुछ भी नहीं है फिर किस की चिंता करनी चाहिये ॥

भावार्थ—यदि चैतन्य में जन्म मरण आदिक होते तो चिंता होती किन्तु चैतन्य में तो न जन्म है और न मरण है और वह चैतन्य रागद्वेष आदिक जो कर्मों के विकार है उनसे अलिप्त है और उसी चैतन्य स्वरूप मैं हूं इसलिये मुझे चिंता नहीं करनी चाहिये ॥३६॥

मन को वश में रखना चाहिये इस बात को आचार्य दिखाते है।

चित्तेन कर्मणा त्वं वद्धो यदि बध्यते तया तदतः ।
प्रतिवन्दीकृतमात्मन् मोचयति त्वां न सन्देहः ॥३७॥

अर्थ—अरे आत्मा तू इस मन की कृपा से कर्मों से बंधा हुआ है यदि तू इस मन को बांध लेवे अर्थात् मन को वश में कर लेवे तो इस में किसी प्रकार का संदेह नहीं कि बंधा हुआ तू छूट जावेगा।

भावार्थ—आचार्य उपदेश देते है कि तेरा सबसे अधिक वैरी मन है क्योंकि जबतक यह मन वश में नहीं होता तबतक इसी की कृपा से नाना प्रकार के कर्म आते है और तुझे बांधते हैं और इसी की कृपा से तू इस समय भी कर्मों से बंधा हुआ है यदि अब भी इसको वश में करले तो कर्मों से तू बंध नहीं सकता इसमें कुछ भी संदेह नहीं इसलिये तुझे मन को अवश्य ही बांधना चाहिये ॥३७॥

मन को इस रीति से समझाना चाहिये—

नृत्वतरोर्विषयसुखछायालाभेन किं मनःपान्थ ।
भवदुःखक्षुत्पीडित ? तुष्टोऽसि गृहाण फलममृतम् ॥३८॥

अर्थ—"संसार का दुःखरूप जो क्षुधा उससे दुःखित हुआ अरे मन रूपी बटोही" तू क्यों मनुष्यरूपी वृक्ष के विषय सुखरूपी छाया के लाभ से संतुष्ट है, । अमृतफल को गृहण कर।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई पथिक अत्यंत बुभुक्षित होकर वृक्ष के नीचे बैठे और उस वृक्ष पर लगे हुए फल खाने का प्रयत्न न करता हो तो कोई हितैषी मनुष्य वहां आकर उसको इस रीति से समझावे कि अरे भाई तू इस वृक्ष की छाया मात्र के लाभ से क्यों संतुष्ट हो रहा है इस वृक्ष पर से उत्तम फलों को तोड़कर उनको खा जिससे तेरी भूख की शान्ति होवे उसी प्रकार आत्मा मन को समझाता है कि अरे मन तू संसार के दुःखों से पीड़ित हुआ इस मनुष्य जन्म में इन्द्रियों के विषयों के लाभ से ही क्यों वृथा संतुष्ट हो रहा है अरे इस मनुष्य जन्म से ही प्राप्त होने वाले अमृतरूपी फल को प्राप्त कर, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार का न तो जन्म है और न मरण है ऐसे उस मोक्ष पद की ओर दृष्टि लगा क्योंकि विषयों के लाभ से संतुष्ट होकर तू संसार में ही भटकेगा और नाना प्रकार के दुःखों को उठावेगा इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥३८॥

मुनियों का चित्त निरालम्ब मार्ग का ही अवलम्बन करता है इसबात को आचार्य समझाते हैं।

स्वान्तं ध्वान्तमशेषं दोषोज्झितमर्कबिम्बमिव मार्गे।
विनिहन्ति निरालम्बे संचरदनिशं मुनीशानाम् ॥३९॥

अर्थ—समस्त दोषोंकर रहित सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान मुनीश्वरों का मन निरालम्ब मार्ग में ही गमन करता है तथा निरालम्ब मार्ग में गमन करने के कारण वह समस्त अंधकार को दूर कर देता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य आकाश में गमन करता है और जब वह बादलों के समूह से ढका नहीं जाता तथा राहु से ग्रसा नहीं जाता उस समय वह समस्त अंधकार को नाश कर देता है उसी प्रकार मुनियों का चित्त जिस समय समस्त दोषोंकर रहित होता है तथा जिसमें कोई अवलम्बन नहीं ऐसे मार्ग में अर्थात् निर्विकल्प मार्ग में गमन करता है. उस समय वह मुनियों का चित्त भी समस्त अज्ञानादि अंधकार को दूर कर देता है ॥३९॥

अपने चैतन्यस्वरूप को देखने वाला योगी सिद्ध होता है इस बात को आचार्य समझाते हैं।

संविच्छिखिना गलिते तनुमूषाकर्ममदनमयवपुषि।
स्वमिव स्वं चिद्रूपं पश्यन् योगी भवति सिद्धः ॥४०॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान रूपी जो अग्नि उससे जिस समय शरीर रूपी जो मूषा, उसमें जो कर्म रूपी मोम स्वरूप शरीर, वह पिघलकर निकल जाता है उस समय जो योगी आकाश के समान अपने चैतन्य रूप को देखता है वही योगी सिद्ध होता है।

भावार्थ—एक मिट्टी का मनुष्याकार पात्र बनाया जाय तथा उसके भीतर मोम भर दिया जाय और पीछे वह आंच में तपाया जाय उस समय जिस प्रकार उस मोम के निकल जाने पर उस मूषा में मनुष्याकार आकाश के प्रदेश रह जाते है उसी प्रकार यह शरीर तो मूषा है और कर्म मोम है और सम्यग्ज्ञान रूपी अग्नि है इनमें से जिस समय सम्यग्ज्ञान रूपी अग्नि से कर्म सर्वथा नष्ट कर दिये जाते है उस समय जो कुछ उस शरीर के भीतर अमूर्तीक प्रदेश रह जाते हैं वे आत्मा के प्रदेश है अर्थात् उन्हीं का नाम आत्मा है इसलिये जो मनुष्य उस आत्मा का ध्यान करते है वे सिद्ध पद को प्राप्त होते है अर्थात् उनको नरक आदि गतियों में भ्रमण नहीं करना पड़ता।

सारार्थ—जो भव्य जीव समस्त कर्मों कर रहित चैतन्य स्वरूप उन सिद्धों का ध्यान करते हैं उनको सिद्ध पद की प्राप्ति होती है ॥४०॥

मैं ही चैतन्य स्वरूप हूं इस बात को आचार्य दिखाते है।

अहमेव चित्स्वरूपश्चिद्रूपस्याश्रयो मम स एव।
नान्यत्किमपि जडत्वात्प्रीतिःसदृशेषु कल्याणी ॥४१॥

अर्थ—मैं ही चैतन्य स्वरूप हूं और मेरे चैतन्य स्वरूप का आश्रय वह चैतन्य ही है और चैतन्य से भिन्न वस्तु चैतन्य स्वरूप नही है और चैतन्य से भिन्न वस्तु मेरे चैतन्य की आश्रय है क्योंकि वे जड़ हैं मेरी प्रीति उनमें नहीं हो सकती, प्रीति समान पदार्थों में ही कल्याण की करने वाली होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्नि का लक्षण उष्णता है और वह कदापि अग्नि से जुदा नहीं रह सकता उसी प्रकार आत्मा का लक्षण ज्ञान है और वह कदापि आत्मा से जुदा नहीं रह सकता इसलिये वह ज्ञान स्वरूप मैं हूं और मेरे चैतन्य स्वरूप का आश्रय ज्ञानादि स्वरूप चैतन्य ही है किन्तु चैतन्य से भिन्न अर्थात् जिनमें चेतनता नहीं रहती है ऐसे पुद्गल धर्म अधर्म

आकाश आदि जो द्रव्य है वे मेरे स्वरूप नहीं है और न वे मेरे आधार हैं क्योंकि वे जड़ है और मैं चेतन हूं और पुद्गल आदि पदार्थों में मेरी प्रीति भी नहीं हो सकती क्योंकि वे मेरे समान जातीय नहीं हैं मेरा समान जातीय तो चैतन्य ही है इसलिये मेरी प्रीति उसी में ही है और चैतन्य में की हुई प्रीति ही मुझे सुख को दे सकती है और देती है ॥४१॥

स्वपर के विवेक से ही आत्मा परको छोड़कर शुद्ध होता है ऐसा आचार्य दिखाते हैं—

स्वपरविभागावगमे जाते सम्यक् परे परित्यक्ते ।
सहजबोधैकरूपे[1] तिष्ठत्यात्मा स्वयं शुद्धः॥४२॥

अर्थ—जिस समय आत्मा में स्वपर के विभाग का ज्ञान हो जाता है और त्यागने जोग्य जो वस्तु उसका त्याग हो जाता है उस समय स्वाभाविक निर्मल ज्ञानस्वरूप जो अपना रूप है उसमें आत्मा ठहरता है और पीछे स्वयं शुद्ध हो जाता है।

भावार्थ—यह वस्तु मेरी है और यह वस्तु मेरी नहीं है जबतक इसप्रकार स्वपर का विवेक आत्मा में नही होता है और जबतक आत्मा पर पदार्थों को नहीं छोड़ता है तबतक आत्मा बाह्यपदर्थों में ही घूमा करता है और स्वरूप में कभी भी स्थिर नहीं रहता इसीलिये शुद्ध भी नहीं होता किन्तु जिस समय ज्ञान दर्शन आदिक मेरे है और रूप रस आदिक मेरे नहीं है इसप्रकार का आत्मा में विवेकज्ञान हो जाता है और रूप रस आदिक जो पर है उनसे वह जुदा हो जाता है उस समय वह स्वाभाविक निर्मल ज्ञानस्वरूप अपने में स्थिर हो जाता है और अत्यंत शुद्ध जाता है ॥४२॥

इसी श्लोक के आशय को लेकर समयसार में भी कहा गया है।

चैद्रूप्यं जड़रूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञान घनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः॥

१ क. पुस्तक मे " सहजैकबोधरूपे तिष्ठत्यात्म परं सिद्धः " यह भी पाठ है इसमे सिद्ध पद का अर्थ शुद्ध ही है।

अर्थ—चैतन्य रूपता और जड़रूपता को धारण करनेवाले अर्थात् चेतन और जड़ जो आत्मा और शरीर हैं उनके, विभाग को करके (उनको जुदी २ रीति से जानकर) और अच्छी तरह अंतरंग से, ज्ञान के तथा राग विभाग को करके अर्थात् ज्ञान आत्मा का धर्म है तथा राग शरीर का धर्म है इसबात को भलीभांति जानकर" यह निर्मल भेद ज्ञान उत्पन्न होता है इस समय मोक्षाभिलाषी जो भव्य जीव हैं वे शुद्ध जो ज्ञान वही है धन का समूह जिसके उस आत्मा को प्राप्त होकर और पर पदार्थों के सम्बन्ध से रहित हो कर चिरकाल तक आनन्द से रहो।

भावार्थ—स्व तथा पर के विभाग से आत्मा शुद्ध होता है इसलिये भव्य जीवों को स्वपर विभाग की और अवश्य लक्ष्य देना चाहिये ॥४२॥

निश्चयकर आत्मा हेयोपादेय के विभाग से भी रहित है इस बात को आचार्य दिखाते हैं।

हेयोपादेयविभागभावना कथ्यमानमपि तत्वम्।
हेयोपादेयविभागभावनावर्जितं विद्धि ॥४३॥

अर्थ—जो तत्व हेय तथा उपादेय की भावना कर रहित कहा गया है वह तत्व भी निश्चय से हेय तथा उपादेय की भावना कर रहित ही है ऐसा समझो।

भावार्थ—जड़ रूप तो परतत्व है वह तो हेय है और चैतन्य जो स्वतत्व है वह उपादेय है इस प्रकार स्वपर विभाग की भावना से जो चैतन्यतत्व का वर्णन किया गया है वह तत्व भी वास्तविक रीति से हेय तथा उपादेय की भावना कर रहित ही है क्योंकि जिस समय शुद्ध निश्चयनय का आश्रय किया जाता है उस समय निर्विकल्प अवस्था होती है तथा उस अवस्था में हेय उपादेय आदिक कोई भी किसी प्रकार का विकल्प नहीं होता ॥४३॥

शुद्धात्मतत्व मन के गोचर नहीं है इस बात को भी आचार्य बतलाते हैं।

प्रतिपद्यमानमपि च श्रुतादिशुद्धं परात्मनस्तत्वम्।
उररीकरोतु चेतस्तदपि न तच्चेतसोगम्यम् ॥४४॥

अर्थ—शास्त्र के द्वारा भलीभांति कहे हुवे भी अत्यन्त विशुद्ध परमात्म तत्व को चाहे मन, स्वीकार करे तो भी मनके गम्य नहीं है अर्थात् मन उस को नहीं जान सकता है।

भावार्थ—यद्यपि शास्त्र ने उस अत्यन्त शुद्ध परमात्मा के स्वरूप का भलीभांति वर्णन किया है और उस परमात्मतत्व को मन ने स्वीकार भी कर लिया है तो भी वह मन के गोचर नहीं है अर्थात् मन उस को भलीभांति जान नहीं सकता क्योंकि मन सविकल्पक है तथा आत्मा निर्विकल्पक है इस लिये मन उस को कैसे जान सकता है ? ॥४४॥

अहमेकाक्यद्वैतं द्वैतमहं कर्मकलित इति बुद्धेः।
आद्यमनपायि मुक्तेरद्विविकल्पं भवस्य परम् ॥४५॥

अर्थ—मैं अकेला हूं इस प्रकार की जो बुद्धि है वह तो अद्वैत बुद्धि है और कर्मोंकर सहित हूं इस प्रकार की जो बुद्धि है वह द्वैत बुद्धि है इन दोनों बुद्धियों में आदि की जो अविनाशी अद्वैत बुद्धि है वह तो मोक्ष की कारण है और दूसरी जो द्वैत बुद्धि है संसार की कारण है।

भावार्थ—जब तक मैं, तथा अन्य, इस प्रकार का द्वैत भाव रहता है तब तक जीव को संसार में डोलना पड़ता है किन्तु जिस समय में यह द्वैत भाव नष्ट हो जाता है अर्थात् अद्वैत भाव हो जाता है उसी समय जीव मोक्ष को प्राप्त होता है क्योंकि मैं तथा तू इत्यादि विकल्प रहित निर्विकल्पक अवस्था ही का तो नाम मोक्ष है इस लिये मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को चाहिये कि वे मैं अकेला ही हूं इस प्रकार के अद्वैत भाव का ही चिंतवन करें ॥४५॥

द्वैत तथा अद्वैत भाव से रहितपना ही मोक्ष है इस बात को आचार्य बतलाते हैं।

बद्धो मुक्तोऽहमथ द्वैते सति जायते ननु द्वैतम्।
मोक्षायेत्युभयमनोविकल्परहितो भवति मुक्तः ॥४६॥

अर्थ—मैं बंधा हुआ हूं तथा मैं मुक्त हूं इस प्रकार के द्वैत के होते सन्ते निश्चय से द्वैत होता है और इस प्रकार के दोनों विकल्पों से रहित जीव मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—द्वैत तथा अद्वैत का जिस समय सर्वथा त्याग हो जाता है उसी समय मुक्ति होती है इस लिये जो जीव मुक्त होना चाहते हैं उन को दोनों प्रकार के विकल्पों के त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिये ॥४६॥

निर्विकल्प चित्त से परमानन्द की प्राप्ति होती है इस बात का आचार्यवर वर्णन करते हैं।

गतभाविभवद्भावाभावप्रतिभाव भावितं चित्तम्।
अभ्यासाच्चिद्रूपं परमानन्दान्वितं कुरुते ॥४७॥

अर्थ—भूत भविष्यत वर्तमानकाल के जो पदार्थ उनकी भावना से भाया हुआ जो चित्त है वह अभ्यास से चैतन्यस्वरूप को परमानन्दकर सहित करता है।

भावार्थ—भूत भविष्यत जो विकल्प उन से रहित भाया हुआ जो चित्त वह चैतन्य को परमानन्दकर युक्त करता है अर्थात् उस प्रकार की भावना से चित्त अत्यन्त आनन्दित हो जाता है ॥४७॥

जो मनुष्य जिस रीति से आत्मा को देखता है उस को उसी प्रकार के आत्मा की प्राप्ति होती है इस बात को आचर्यवर दिखाते हैं।

बद्धं पश्यन् बद्धो मुक्तं मुक्तो भवेत् सदात्मानं।
याति यदीयेन पथा तदेव पुरमश्नुते पान्थः ॥४८॥

अर्थ—जिस प्रकार जो पथिक जिस पुर के मार्ग से गमन करता है वह उसी पुर को प्राप्त होता है उसी प्रकार जो जीव आत्मा को सदा बंधा हुआ देखता है वह कर्मों से बद्ध हो रहता है और जो पुरुष आत्मा को सदा कर्मों से रहित देखता है वह मुक्त ही होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार जो मनुष्य जिस नगर के मार्ग से गमन करता है वह उसी नगर में पहुंचता है उसी प्रकार जो मनुष्य जिस प्रकार के आत्मा का आराधन करता है वह उसी प्रकार के आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है अर्थात् यदि वह आत्मा की भावना करने वाला कर्मों से बद्ध आत्मा का ध्यान करेगा तो उसकी आत्मा कर्मों से बद्ध ही रहेगी और यदि वह कर्मों से मुक्त आत्मा का ध्यान करेगा तो उसकी आत्मा मुक्त ही होवेगी ॥४८॥

मन को इस रीति से शिक्षा देनी चाहिये ॥

मागा बहिरन्तर्वा साम्यसुधापानवर्द्धितानन्द।
आस्व यथैव तथैव च विकारपरिवर्जितः सततम् ॥४९॥

अर्थ—समतारूपी जो अमृत जो उसके पीने से बढ़ा है आनंद जिसको ऐसा हे मन, तू बाहर तथा भीतर मत गमन करे और जिस रीति से तू समस्त प्रकार के विकारों से रहित हो उसी प्रकार से रह।

भावार्थ—जब तक मन जहां तहां घूमता फिरता है तब तक साम्यभाव का अनुभव नहीं कर सकता और नाना प्रकारों के विकारों से विकृत हो जाता है किन्तु जिस समय उसका जहां तहां घूमना बंद हो जाता है उस समय वह समता का अनुभव करता है तथा विकारों से विकृत भी नहीं होता इसलिये आचार्यवर इस बात को समझाते हैं कि भव्य जीवों को मन को इस रीति से शिक्षा देनी चाहिये कि हे समता रूपी अमृत के पान से अत्यंत आनंदित मन, तू बाहर तथा भीतर कहीं भी मत घूमे और जिस प्रकार से बने उस प्रकार से तू समस्त विकार रहित ही रह ॥४९॥

तज्जयति यत्र लब्धे श्रुतभुविमत्यापगातिधावन्ती।
व्यावृत्ता दूरादपि झटिति स्वस्थानमाश्रयति ॥५०॥

अर्थ—जिस चैतन्य रूप तत्व के प्राप्त होने पर शास्त्र रूपी भूमि में अत्यंत दौड़ती हुई बुद्धि रूपी नदी दूर से ही लौटकर शीघ्र ही अपने स्थान को प्राप्त हो जाती है ऐसा वह चैतन्य रूपी तत्व सदा इस लोक में जयवंत है।

भावार्थ—जब तक बुद्धि शास्त्र में लगी रहती है तब तक कदापि उस चैतन्य तत्व की (परमात्म तत्त्व) की प्राप्ति नहीं होती किन्तु जिस समय चैतन्य की प्राप्ति होने पर बुद्धि शास्त्र से व्यावृत्त हो जाती है अर्थात् शास्त्र से फिर जाती है उस समय बुद्धि शीघ्र ही अपने चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होती है इसलिये वह चैतन्य स्वरूपी तत्व सदा इस लोक में जयवंत है ॥५०॥

और भी आचार्य वर उपदेश देते हैं।

तन्नमत गृहीताखिलकालत्रयजगत्त्रयव्याप्ति।
यत्रास्त मेति सहसा सकलोऽपि ही वाक्परिस्पन्दः ॥५१॥

अर्थ—ग्रहण की है तीनों कालों में तीनों जगत की व्याप्ति जिसने तथा जिसके होते संते समस्त वाणी का परिस्पन्द शीघ्र ही नष्ट हो जाता है उस चैतन्य को नमस्कार करो॥

भावार्थ—जो चैतन्य तीनों कालों में तीनों जगत में व्याप रहा है और जिस चैतन्य का वाणी से सर्वथा वर्णन नहीं कर सकते उस चैतन्यरूपी तेज को नमस्कार करो ॥५१॥

तन्नमत विनष्टाखिलविकल्पजालद्रुमाणि परिकलिते ।
यत्रवहन्तिविदग्धा दग्धवनानीव हृदियानि ॥५२॥

अर्थ—उस चैतन्य रूप को नमस्कार करो जिस चैतन्य रूप की प्राप्ति के होने पर मुनिगण सर्वथा नष्ट हो गये हैं विकल्प रूपी वृक्ष जिनसे ऐसे हृदयों को जले हुवे वनो के मानिन्द धारण करते हैं।

भावार्थ—जब तक मनुष्यों के चित्त में नाना प्रकार के विकल्प लगे रहते हैं तब तक मनुष्यों को कभी भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती किंतु जिस चैतन्य के होते सन्ते मनुष्यों के मन के समस्त विकल्प नष्ट हो जाते हैं ऐसे उस चैतन्य तत्त्व को नमस्कार करो ॥५२॥

जिस समय समस्तनयों का पक्षपात नष्ट हो जाता है उस समय समयसार की प्राप्ति है

इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं।

बद्धो वा मुक्तोवा चिद्रूपो नयविचारविधिरेषः ।
सर्वनयपक्षरहितो भवति हि साक्षात्समयसारः ॥५३॥

अर्थ—चैतन्य स्वरूप आत्मा कर्मों से बंधा हुवा है तथा कर्मों से रहित भी है यह नय विचार की विधि है और समस्त नयों के पक्ष से रहित होने पर ही निश्चय से समयसार होता है।

भावार्थ—समयसार नाम शुद्धात्मा का है उस शुद्धात्मा की प्राप्ति उसी समय होती है जिस समय समस्त निश्चय तथा व्यवहारनय का पक्षपात दूर हो जाता है किंतु जब तक व्यवहार-नय से आत्मा बंधा हुवा है तथा निश्चयनय से आत्मा मुक्त है इस प्रकार का नयका पक्षपात रहता है तब तक उस समयसार शुद्धात्मा की प्राप्ति के इच्छुकों को नयों के पक्षपात कर रहित ही रहना चाहिये ॥५३॥

नाटक समयसार में भी कहा है।

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥१॥

अर्थ—व्यवहारनय से तो आत्मा कर्मों से बंधा हुवा है और निश्चयनय से आत्मा मुक्त है इस प्रकार इन दोनों प्रकार के आत्माओं में दोनों प्रकार के पक्षपात हैं जो मनुष्य वास्तविक तत्व का जानने वाला है और समस्त प्रकार के नयों के पक्षपातों से रहित है उसका चैतन्य है सो निश्चय करके चैतन्य ही है ॥१॥

और भी कहा है

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमिव परमार्थःसेव्यतां नित्यमेव।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्
न खलु समयसारदुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥२॥

अर्थ—नाना प्रकार के जो खोटे २ विकल्प उनके अत्यंत कहने से पूर्ण हो पूर्ण हो सदा इस परमार्थ परमात्मा की ही सेवा करो क्योंकि अपना रस जो विसर अर्थात् फैलाव उससे परिपूर्ण जो ज्ञान उसकी है केवल प्रकटता जिसमें ऐसे समयसार से उत्कृष्ट, यहां पर कोई भी वस्तु नहीं है अर्थात् समयसार ही उत्कृष्ट वस्तु है ॥२॥

आत्मा नय प्रमाण निक्षेप आदि विकल्पों से भी रहित है इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं।

नयनिक्षेपप्रमितिप्रभृतिविकल्पोज्भितं परं शान्तम्।
शुद्धानुभूतिगोचरमहमेकं धाम चिद्रूपम् ॥५४॥

अर्थ—जिसमें नय निक्षेप प्रमिति आदिक किसी प्रकार के विकल्प नहीं हैं और जो उत्कृष्ट है तथा शांत है और शुद्धानुभव के गोचर है तथा एक है वह चैतन्य तेज रूप मैं ही हूं।

भावार्थ—न तो मुझ में द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक स्वरूप नय का विकल्प है और न प्रत्यक्ष परोक्ष रूप प्रमाण का विकल्प है तथा नाना स्थापना आदि निक्षेप का विकल्प भी मुझ में नहीं है और मैं उत्कृष्ट हूं तथा शांत हूं शुद्धानुभव के गोचर हूं और चैतन्य स्वरूप तेज हूं ॥५४॥

समय सार में भी कहा है।

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्-
ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥५५॥

अर्थ—सबको कषने वाले इस चैतन्यरूपी तेज के अनुभव होने पर द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय भी उदय को प्राप्त नहीं होते तथा प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाण अस्त हो जाते है और नाम स्थापना द्रव्य भाव रूपी निक्षेप न जाने कहां चले जाते है और अधिक कहां तक कहा जावे द्वैत भी दृष्टि गोचर नहीं होता ॥५५॥

चैतन्यरूप के जानने पर सब जाना जाता है तथा चैतन्यरूप के देखने पर सब देखा जाता है इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं।

ज्ञाते ज्ञातमशेषं दृष्टे दृष्टं च शुद्धचिद्रूपे।
निश्शेषबोध्यविषयौ दृग्बोधौ यन्न तद्भिन्नौ ॥५६॥

अर्थ—जिस चैतन्यरूप तेज के जानने पर तो समस्त वस्तु जानी जाती है और देखने पर समस्त वस्तु देखी जाती है क्योंकि समस्त जो ज्ञेय पदार्थ वे है विषय जिनके ऐसे जो दर्शन और ज्ञान हैं वे आत्मस्वरूप ही है आत्मा से भिन्न नहीं है ॥५६॥

जब तक आत्मा का दर्शन नहीं होता तबतक अन्य पदार्थों में प्रीति होती है किन्तु जिस समय आत्मा का दर्शन हो जाता है उस समय बाह्य पदार्थों में प्रीति नहीं होती इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं॥

भावे मनोहरेऽपि च काचिन्नियता च जायते प्रीतिः ।
अपि सर्वाः परमात्मनि दृष्टे तु स्वयं समाप्यन्ते ॥५७॥

अर्थ—अत्यंत मनोहर भी पदार्थ में कोई विचित्र तथा निश्चित प्रीति हो जाती है किन्तु जिस समय उसको परमात्मा का दर्शन हो जाता है उस समय उन अन्य पदार्थों में प्रीति की समाप्ति हो जाती है ।

भावार्थ—जबतक मनुष्य परमात्मा को नहीं देखता तभी तक उस मनुष्य को बाह्यपदार्थ प्रीति के करने वाले होते हैं अर्थात् वह बाह्य पदार्थों को प्रिय मानता है किन्तु जिस समय उसको परमात्मा का दर्शन होजाता है उस समय वह बाह्य पदार्थों को अंशमात्र भी प्रिय नहीं मानता अप्रिय ही मानता है ॥५७॥

बुद्धिमान पुरुषों के आत्मा के साथ विद्यमान भी कर्मों का सम्बंध
अविद्यमान सरीखा ही है इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं ।

सन्नप्यसन्निव विदां जनसामान्योऽपि कर्मणो योगः ।
तरणपटूनामृद्धः पथिकानामिव सरित्पूरः ॥५८॥

अर्थ—यद्यपि कर्मों का संबंध सब प्राणियों के समान है तो भी बुद्धिमान पुरुष के वह विद्यमान भी नहीं विद्यमान के समान ही है जिस प्रकार तैरने में चतुर रस्तागीरों को बढ़ा हुवा नदी का प्रवाह ।

भावार्थ—यद्यपि जिस प्रकार नदी का प्रवाह समस्त प्राणियों को समान भय का करने वाला है तो भी जो रस्तागीर तैरने में चतुर हैं अर्थात् जिनको तैरना अच्छा आता है उनको वह भय का करने वाला नहीं होता उसी प्रकार यद्यपि कर्मों का संबंध सब जीवों के समान है तो भी जो पुरुष बुद्धिमान है अर्थात् जिनको स्वपर का विवेक है उन पुरुषों को आत्मा के साथ विद्यमान भी कर्मों का संबंध नहीं विद्यमान सा ही है ॥५८॥

तत्व ज्ञानियों को हेय तथा उपादेय का अवश्य ध्यान रखना चाहिये
इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं ।

मृगयमाणेन सुचिरं रोहणभुवि रत्नमीप्सितं प्राप्य
हेयाहेयश्रुतिरपि विलोक्यते लब्धतत्वेन ॥५९॥

अर्थ—रोहण पर्वत की भूमि में चिरकाल से रत्न को ढूंढ़ने वाला मनुष्य दैवयोग से इष्टरत्न को पाकर जिस प्रकार यह तत्व हेय है अथवा उपादेय है इसबात पर विचार करता है उसी प्रकार जिस मनुष्य को वास्तविकतत्व की प्राप्ति हो गई है उसको भी यह तत्व हेय है अथवा उपादेय है ऐसा विचार करना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी मनुष्य को रत्न की इच्छा हुई और उस इच्छा से वह रोहणाचल की भूमि में रत्न ढूंढ़ने लग गया और उसको इष्टरत्न की प्राप्ति भी हो गई उस समय जिस प्रकार वह मनुष्य विचार करता है कि यह तत्व हेय है अथवा अहेय है अर्थात् छोड़ने योग्य है अथवा ग्रहण करने योग्य है उसी प्रकार अनादि कालसे तत्व की प्राप्ति के इच्छुक मनुष्य को यदि भाग्यवश तत्व मिल जावे तो उसको भी इसप्रकार का विचार करना चाहिये कि यह तत्व मुझे ग्रहण करने योग्य है कि छोड़ने योग्य है ॥५९॥

तत्वज्ञानी को इस रीति से विचार करना चाहिये।

कर्मकलितोपि मुक्तः सश्रीको दुर्गतोप्यहमतीव।
तपसा दुःख्यपि च सुखी श्री गुरुपादप्रसादेन ॥६०॥

अर्थ—यद्यपि ज्ञानावरण आदि कर्मों से मेरी आत्मा संयुक्त है तो भी मैं श्रीगुरु के चरणारविंद की कृपा से सदा मुक्त हूं और यद्यपि मैं अत्यंत दरिद्री हूं तो भी मैं श्रीगुरु के चरणों के प्रसाद से लक्ष्मीकर सहित हूं और यद्यपि मैं तप से दुःखित हूं तो भी श्रीगुरु के चरणों की कृपा से में सदा सुखी ही हूं अर्थात् मुझे किसी प्रकार का संसार में दुःख नहीं है ॥५९॥

बोधादस्ति न किञ्चित्कार्यं यद्दृश्यते मलात्तन्मे।
आकृष्टयंत्रसूत्राद्दारुनरः स्फुरति नटकानाम् ॥६१॥

अर्थ—जो कुछ मेरे कार्य मौजूद है अर्थात् जो कुछ कार्य मैं कर रहा हूं वह कर्म की कृपा से कर रहा हूं ज्ञान से कुछ भी कार्य नहीं क्योंकि नट के खैंचे हुए यंत्र के सूत्र से ही पुतली नाचती है।

भावार्थ—जिस प्रकार पुतली के नृत्य में नट द्वारा खींचा हुआ सूत्र ही कारण है उसी प्रकार मेरे जो कार्य दृष्टि गोचर हो रहे है उनमें कर्म ही कारण है अर्थात् कर्म की कृपा से ही मुझमें कार्य दीख रहे है ज्ञान की कृपा से नहीं ॥६२॥

निश्चयपंचाशत्पद्मनन्दिनं सूरिमाश्रिभिः कैश्चित् ।
शब्दैः स्वभक्तिसूचितवस्तु गुणैर्विरचितेयमिति ॥६२॥

अर्थ—श्री पद्मनन्दी आचार्य को आश्रित तथा अपनी भक्ति से प्रकट किया है वस्तु का गुण जिन्होंने ऐसे कै एक शब्दों द्वारा इस निश्चय पञ्चाशत् की रचना की गई है ।

भावार्थ—इस श्लोक से आचार्य ने अपनी लघुता का वर्णन किया है कि इस अनित्य पञ्चाशत् नामक अधिकार की रचना मैंने नहीं की है किन्तु मुझको आश्रित कइ एक वचनों ने की है ॥६२॥

तृणं नृपश्रीः किमु वच्मि तस्यां न कार्यमाखन्डलसम्पदोऽपि
तत्वं परं चेतसि चेन्ममास्ति अशेषवाञ्छाविलयैकरूपं ॥६३॥

अर्थ—समस्त प्रकार की इच्छाओं को दूर करने वाला यदि चैतन्यरूपी तत्व मेरे मन में मौजूद है तो राज लक्ष्मी तो तृण के समान है इसलिये मैं उसके विषय तो क्या हूं इन्द्र की संपदा भी मेरे लिये किसी काम की नहीं ॥६३॥

इस प्रकार श्रीपद्मनन्दि पंचविंशतिका में अनित्य पंचाशत नामक अधिकार समाप्त हुआ ।



ब्रह्मचर्यरक्षावर्त्यधिकारः ।

शार्दूल विक्रीड़ित ।

भ्रूक्षेपेण जयंति ये रिपुकुलं लोकाधिपाः केचन
द्राक्तेषामपि येन वक्षसि दृढं रोपः समारोपितः ।
सोऽपि प्रोद्गतविक्रमस्मरभटः शान्तात्मभिर्लीलया
यैः शस्त्रग्रहवर्जितैरपि जितस्तेभ्यो यतिभ्यो नमः ॥१॥

अर्थ—संसार में कई एक ऐसे भी राजा है जो कि अपनी भ्रुकुटी के विक्षेप मात्र से ही वैरियों के समूह को जीत लेते हैं उन राजाओं के भी हृदय में शीघ्र ही जिस कामदेवरूपी योधाने दृढ़तासे वाण को समारोपित कर दिया है ऐसे अत्यंत पराक्रमी भी उस कामदेवरूपी सुभट को समस्तप्रकार के शास्त्रों कर रहित तथा जिनकी आत्मा क्रोधादिकषायों के नाश होने से शांत होगई है ऐसे यतियों ने बात की बात में जीत लिया है उन यतियों के लिये नमस्कार है अर्थात् वे यतीश्वर मेरी रक्षा करें ।

भावार्थ—जिन राजाओं की भों की टेड़ी होनेपर ही प्रवल भी शत्रुओं का समूह बातकीबात में वश हो जाता है उन महापराक्रमी राजाओं के हृदय में भी जिस कामदेवरूपी सुभट ने अपना वाण समारोपित कर दिया है अर्थात् उसने ऐसे पराक्रमी राजाओं के ऊपर भी अपना प्रभाव जमा रक्खा है उस महापराक्रमी भी कामदेवरूपी सुभट को विना ही हथियार के जिन शान्तात्मा मुनियों ने बात की बात में जीत लिया है आचार्य कहते है कि उन मुनियों के लिये मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥१॥

ब्रह्मचारी कौन होसक्ता है इसबात को आचर्यवर दिखाते हैं ।

आत्मा ब्रह्मविविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं परं
स्वांगासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः ।
एवं सत्यवलाः स्वमातृभगिनीपुत्रीसमाः प्रेक्षते
वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत् ॥२॥

अर्थ—अपने शरीर में जो आशक्तता उसकर रहित है एक मन जिसका अर्थात् जिस मुनि के मन में शरीर विषयक कुछ भी आशक्तता नहीं है ऐसे मुनिकी जो समस्त पदार्थों से भिन्न तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा है वही ब्रह्म है और उस ब्रह्म में जो चर्या है अर्थात् एकाग्रता है वही ब्रह्मचर्य है और ऐसे होने पर जो वृद्ध आदिक स्त्रियां हैं उनको अपनी माता, बहिन, लड़की के समान देखता है उस समय वह ब्रह्मचारी होता है।

भावार्थ—समस्तपदार्थोंसे भिन्न और ज्ञानका स्थान अर्थात् ज्ञानस्वरूप जो आत्मा है वह तो ब्रह्म है और उसब्रह्ममें जो शरीर विषयक ममताकर रहित मुनीके मनकी एकाग्रता है वह अतरंग ब्रह्मचर्य है और बाह्यमें जो वृद्ध स्त्रीको माता के समान समझता है तथा बराबरकी स्त्रीको बहिनके समान समझता है तथा छोटीस्त्रीको पुत्रीके समान समझता है उस पुरुषका वह बाह्यचर्य है और जो इन दोनोंप्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला है वह (वशी) ब्रह्मचारी होता है ॥२॥

अब आचार्य इस बातको दिखाते हैं कि यदि शयन आदि अवस्था में मुनिको अतीचार लगे तो वे प्रायश्चित करते हैं

स्वप्ने स्यादतिचारिता यदि तदा तत्रापि शास्त्रोदित
प्रायश्चितविधिं करोति रजनीभागानुमत्या मुनिः।
रागोद्रेकतया दुराशयतया सा गौरवात्कर्मणः
तस्य स्याद्यदि जाग्रतोपि हि पुनस्तस्यां महच्छोधनम् ॥३॥

अर्थ—यदि किसी कारणसे स्वप्न में मुनिको अतीचार लगजावे तो मुनि रात्रिका विभाग कर शास्त्रमें कहे हुवे प्रायश्चित को करते हैं और यदि जाग्रत अवस्था में राग के उद्रेकसे अथवा खोटे आशय से वा कर्मकी गुरुतासे यदि मुनिको अतीचार लगजावे तो उस अतीचारिता में वे बड़ा भारी संशोधन करते हैं॥

भावार्थ—यदि मुनीश्वरों को सोते समय रात्रि में अतीचार लगे तो वे रात्रि का विभाग कर प्रायश्चित करते हैं और यदि जाग्रत अवस्था में राग की अधिकता से व खोटे आशय से अथवा कर्म के गौरव से अतीचार लगे तो मुनि उसका बड़ा भारी संशोधन करते हैं ॥३॥

साधु के दृढ़ मन का संयम जो है वही ब्रह्मचर्य की रक्षा करता है इस बात को आचार्य दिखाते हैं।

नित्यं खादति हस्तिसूकरपलं सिंहोवली तद्रतिः
वर्षेणैकदिने शिलाकणचरे परावते सा सदा।
न ब्रह्मव्रतमेति नाशमथवा स्यान्नैव भुक्तेर्गुणात्
तद्रक्षां दृढ़ एक एव कुरुते साधोर्मनः संयमः ॥४॥

अर्थ—भोजन के गुण से अर्थात् भोजन के करने से ब्रह्मचर्यव्रत नष्ट होता है तथा भोजन के न करने से ब्रह्मचर्यव्रत पलता है यह बात नहीं है क्योंकि अत्यंत बलवान सिंह सदा हाथी तथा सूहर के मास को खाता है किंतु वर्ष में वह एक ही समय रति को करता है तथा कबूतर सदा पत्थर के टुकड़े खाता है तो भी वह सदा रति करता है किंतु ब्रह्मचर्य का पालन (रक्षा) एक मात्र साधु का दृढ़ जो मनका संयम है वही करता है।

भावार्थ—बहुत से मनुष्य ऐसा समझते हैं कि पुष्ट भोजन करने से ब्रह्मचर्य नहीं पलता है और पुष्ट भोजन के न करने से ब्रह्मचर्य पलता है सो यह बात नहीं क्योंकि यदि पुष्ट भोजन करने से ही काम की अतितीव्रता होती तो सिंह को भी अधिक कामी होना चाहिये क्योंकि वह भी तो दिन रात हाथी तथा सूहर के अत्यंत पुष्ट मास को खाता है किंतु वह रति वर्ष में एक ही दिवस करता है तथा यदि पुष्ट भोजन के न करने से ही काम अधिक नही सताता है तो कबूतर जो कि रात दिन रूखे पत्थर के टुकड़ों को खाता, है उसे काम को अधिक नहीं सताना चाहिये किंतु देखने में आता है कि कबूतर बड़ा कामी है तथा सदा करता रहता है इसलिये पुष्ट भोजन करने से ब्रह्मचर्य का नाश होता है तथा पुष्ट भोजन के न करने से ब्रह्मचर्य का पालन होता है यह बात नहीं किंतु ब्रह्मचर्य की रक्षा का कारण एकमात्र साधु का दृढ़ मन संयम ही है और दृढ़ मन का संयम न होवे तो ब्रह्मचर्य का नाश होता है ऐसा समझना चाहिये ॥४॥

चेतः संयमनं यथावदवनं मूलव्रतानां मतं
शेषाणां च यथाबलं प्रभवतां बाह्यं मुनेर्ज्ञानिनः

तज्जन्यं पुनरांतरं समरसीभावेन चिच्चेतसो
नित्यानंदविधायिकार्यजनकं सर्वत्र हेतुद्वयम् ॥५॥

अर्थ—ज्ञानी मुनि के यथा शक्ति होने वाले जो मूल गुण हैं उनको यथा योग्य जो रक्षण करना है वह तो बाह्य मन का संयम है तथा उस बाह्यमन के संयम से उत्पन्न हुआ और सदा आनन्द के करने वाले कार्य को पैदा करने वाला "चैतन्य तथा मन के समरसी भाव से, जो मन का संयम होता है वह अंतरंग मन का संयम है तथा सब जगह यह दोनों प्रकार का संयम है ॥५॥

समस्त स्त्रियों के त्याग करने में व्रती को अत्यंत प्रयत्न करना चाहिये इस बात को आचार्यवर दिखाते हैं।

चेतोभ्रांतिकरी नरस्य मदिरापीतिर्यथा स्त्री तथा
तत्संगेन कुतो मुनेर्व्रतविधिः स्तोकोऽपि सम्भाव्यते ।
तस्मात्संसृतिपात भीतमतिभिः प्राप्तैस्तपोभूमिकां
कर्तव्यो व्रतिभिः समरतयुवतित्यागे प्रयत्नो महान् ॥६॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा का पान मनुष्य को भ्रांति का करने वाला होता है उसी प्रकार स्त्री भी मनुष्य के चित्त को भ्रांति के करने वाली होती है इसलिये उस स्त्री की संगति से मुनि के थोड़े व्रत के विधान की संभावना नहीं हो सकती इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिन मुनियों की मति संसार में भ्रमण करने से भयभीत है और जो मुनि तप की भूमि का को प्राप्त हो गये हैं उनको समस्त स्त्रियों के त्याग में बड़ाभारी प्रयत्न करना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार शराब को पीने वाला मनुष्य बेहोश रहता है और वह कुछ भी काम नहीं कर सकता उसी प्रकार स्त्री का लोलुपी पुरूष भी हिताहित से शून्य तथा किंकर्तव्यता विमूढ़ रहता है इसलिये ऐसी निकृष्ट स्त्री की संगति से थोड़ा सा भी व्रत का विधान नहीं हो सकता अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि जिन मुनियों की बुद्धि संसार के भ्रमण से अत्यंत भयभीत है और जो तप की भूमि का को प्राप्त हो गये हैं उन मुनियों को चाहिये कि वे समस्त प्रकार की स्त्रियों के त्याग में बड़ा प्रयत्न करें ॥६॥

और भी आचार्यवर स्त्री के त्याग की दृढ़ता को बतलाते हैं।

मुक्तेर्द्वारि दृढार्गला भवतरोः सेकेंगंना सारिणी
मोहव्याधविनिर्मिता नरमृगस्याबंधने वागुरा।
यत्संगेन सतामपि प्रसरति प्राणादिपातादि तत्
तद्वार्तापि यतेर्यतित्वहतये कुर्यान्न किं सा पुनः ॥७॥

अर्थ—यह स्त्री मुक्ति के द्वार के रोकने के लिये मजबूत अर्गला है और संसार रूपी वृक्ष के सींचने के लिये नाली है तथा मनुष्य रूपी मृगों के बांधने के लिये मोह रूपी व्याध द्वारा बनाया हुवा जाल है क्योंकि जिस स्त्री के संग से सज्जनों का भी जीवन नष्ट हो जाता है और जिस स्त्री की बात भी मुनियों के मुनि पने के नाश के लिये होती है वह स्त्री संसार में और क्या २ नहीं कर सकती ? अर्थात् समस्त प्रकार के अनिष्टों को कर सकती है।

भावार्थ—स्त्री को अर्गला की उपमा इसलिये दी गई है कि जिस समय किवाड़ लगा कर अर्गला लगा दी जाती है उस समय जिस प्रकार उस दरवाजे के भीतर कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता उसी प्रकार जो मनुष्य स्त्री के लोलुपी हैं अर्थात् स्त्री केफंदे में फंसे हुवे है उनको मोक्ष की प्राप्ति कदापि नही हो सकती। और स्त्री को नाली की उपमा इसलिये दी गई है कि जिस प्रकार नाली द्वारा सींचने से वृक्ष दिन प्रति दिन बढ़ता चला जाता है उसी प्रकार स्त्री लंपटियों के लिये संसार भी बढ़ता चला जाता है अर्थात् उनको निरंतर संसार में भ्रमण करना पड़ता है और स्त्री को जाल की उपमा इसलिये दी गई है कि जिस प्रकार जाल में फसकर जीव दुःख पाते हैं उसी प्रकार स्त्री में आसक्त होने से जीवों को नाना प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता हैं इसलिये ऐसी स्त्री संसार में समस्त अनिष्टों के करने वाली है क्योंकि जिस स्त्री के संग से सज्जनों का भी जीवन नष्ट हो जाता है तथा यातियों के यतिपने का भी नाम निशान उड़ जाता है ॥७॥

और भी आचार्यवर स्त्री के विषय में उपदेश देते हैं—

तावत्पूज्यपदस्थितिः परिलसत्तावद्यशो जृंभते
तावच्छुभ्रतरा गुणाः शुचिमनस्तावत्तपो निर्मलम्।

तावद्धर्मकथापि राजति यतेस्तावत्स दृश्यो भवेत्
यावन्न स्मरकारि हारि युवते रागान्मुखं वीक्षते ॥८॥

अर्थ—जब तक यति, प्रीति से काम के उद्दीपन करने वाले तथा मनोहर स्त्री के मुख को नहीं देखता तभी तक वह यति पूज्य पद में अर्थात् उत्तम पद में स्थित रहता है और तभी तक उस यती का शोभायमान यश वृद्धि को प्राप्त होता रहता है तथा तभी तक उसके गुण निष्कलंक रहते हैं और तभी तक उस यतीश्वर का मन पवित्र बना रहता है तथा उसी समय तक उसका निर्मल तप रहता है तथा उसी समय तक उसकी धर्म कथा शोभित रहती है और तभी तक वह देखने योग्य बना रहता है। किंतु स्त्री के मुख देखते ही ये कोई बातें नही रहतीं इसलिये यतियों को स्त्री का मुख कदापि नहीं देखना चाहिये ॥८॥

मुनीश्वरों को स्त्री का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये इस बात को आचार्यवर बताते हैं—

तेजोहानिमपूततां व्रतहतिं पापं प्रपातं पथो
मुक्तेरागितयांगनास्मृतिरपि क्लेशं करोति ध्रुवं ।
तत्सानिध्यविलोकनप्रतिवचःस्पर्शादयः कुर्वते
किं नानर्थपरंपरामिति यतेस्त्याज्यावला दूरतः ॥९॥

अर्थ—जिस स्त्री का राग सहित पने से स्मरण भी तेज की हानि को करता है तथा अपवित्रता को करता है और व्रतों के नाश को करता है तथा पाप की उत्पत्ति करता है और मोक्ष के मार्ग से मनुष्यों को गिराता है और निश्चय से नाना प्रकार के क्लेशों को करता है तब उस स्त्री के समीप में रहना तथा उसको देखना और उसके साथ वचनालाप, और उसके स्पर्श, आदिक किस २ अनर्थ को नहीं करते ? अर्थात् सर्व ही अनर्थों को करते हैं इसलिये ऐसी स्त्री यतियों को दूर से ही त्यागने योग्य है ।

भावार्थ—जब स्त्री का न कुछ स्मरण ही तेज का नाश करता है और पवित्रता नहीं होने देता तथा समस्त प्रकार के व्रतों को जड़ से उड़ाता है और मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट करता है और नाना प्रकार के दुःखों को देता है तब उसके पास रहना उसका देखना उसके साथ वार्तालाप करना और स्पर्श आदि करना किस २ अनर्थ को न करेगा ? इसलिये अपने हित के अभिलाषी यतीश्वरों को चाहिये कि वे सर्वथा स्त्री से दूर रहें ॥९॥

और भी आचार्यवर मुनीश्वरों को उपदेश देते हैं—

वेश्या स्याद्धनतस्तदस्ति न यतेश्चेदस्ति सा स्यात्कुतो
नात्माया युवतिर्यतित्वमभवत्तत्त्यागतो यत्पुरा ।
पुंसोऽन्यस्य च योषिता यदि रतिश्छिन्नो नृपात्तत्पतेः
स्यादापज्जननद्वयक्षयकरी त्याज्यैव योषा यतेः ॥१०॥

अर्थ—यदि मुनि वेश्या के लोलुपी बने तो वेश्या उनको मिल नहीं सकती क्योंकि वेश्या अधिक धन होने पर ही प्राप्त होती है और वह धन यती के पास है नहीं, यदि कदाचित् धन भी होवे तो वेश्या उनको मिल नहीं सकती और अपनी स्त्री भी यती को प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि पहिले उस स्त्री के त्यागने से ही यतिपना हुवा है और यदि दूसरे पुरुष की स्त्री के साथ यति रति करें तो वे राजा से छेदन आदिक दंड को प्राप्त होते हैं तथा उस स्त्री के पति के द्वारा भी बहुत से कष्टों को पाते हैं इसलिये यतियों को दोनों जन्मों की नाश करने वाली स्त्री का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ।

भावार्थ—यदि स्त्री के साथ में प्रीति करने से कुछ सुख मिलता तब तो यतियों को स्त्री के साथ प्रीति करना अच्छा होता किन्तु स्त्री के साथ में प्रीति करने में तो अंशमात्र भी सुख नहीं क्योंकि वेश्या के साथ प्रीति तो धन से होती है सो धन यती के पास है नहीं, इसलिये उनको एक प्रकार का कष्ट ही है यदि कदाचित् उनके पास धन होवे भी तो वेश्या उनको कहां से मिल सकती है यदि कहो अपनी युवति के पास रति करें सो अपनी स्त्री भी यति को नहीं मिल सकती क्योंकि पहिले उस स्त्री के त्याग से ही यती हुवे हैं इसलिये दुःख ही है यदि कहो कि परस्त्री के साथ ही रति करें सो भी नहीं बन सकता क्योंकि परस्त्री सेवियों को राजा, छेदन भेदन आदि दंड देता है तथा उस स्त्री का पति भी नाना प्रकार के ताड़न आदि दुःख देता है और स्त्री दोनों जन्मों के नाश करने वाली होती है इसलिये ऐसी स्त्री का मुनि को सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥१०॥

आचार्य ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हैं—

दारा एव गृहं नचेष्टकचितं तत्रैग्र हस्थो भवेत्
तत्त्यागे यतिरादधाति नियतं सद्ब्रह्मचर्यं परम् ।

वैकल्यं किल तत्र चेत्तदपरं सर्वं विनष्टं व्रतं
पुंसस्तेन विना तदा तदुभयभ्रष्टत्वमापद्यते ॥११॥

अर्थ—स्त्री का नाम ही घर है किंतु ईंटों से व्याप्त घर नहीं कहलाता इसलिये उन स्त्रियों से ही मनुष्य गृहस्थ होता है और उस स्त्री के सर्वथा त्याग से ही यति उत्कृष्ट तथा श्रेष्ट ब्रह्मचर्य को निश्चय से धारण करते हैं यदि उस ब्रह्मचर्य में किसी कारण से विकलता हो जावे तो दूसरे २ समस्त व्रत नष्ट हो जाते हैं और उस समय उस ब्रह्मचर्य के विना यति के व्रतीपना तथा गृहस्थपना दोनों नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—स्त्री के ग्रहण से तो मनुष्य गृहस्थ कहा जाता है और स्त्री के त्यागने से यति, वास्तविक रीति से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं यदि ब्रह्मचर्य में किसी प्रकार की विकलता (हीनता) हो जावे तो और दूसरे २ भी समस्त व्रत नष्ट हो जाते हैं और ब्रह्मचर्य में विकलता के आजाने के कारण न तो वास्तविक रीति से व्रतीपना ही रहता है और न गृहस्थपनाही रहता है इसलिये यतियोंको चाहिये कि वे ब्रह्मचर्य के धारण करने पर उसका अच्छी तरह पालन करें और यदि ब्रह्मचर्य भलीभांति पालन न करसकें तो वे गृहस्थही बने रहें जिससे उन का गृहस्थपना तो उत्तम बना रहे नहीं तो दोनोंही गृहस्थपना तथा व्रतीपना दोनों ही उनके नष्ट हो जावेगें ॥११॥

और भी आचार्यवर मुनियों को उपदेश देते हैं।

सम्पद्येत दिनद्वयं यदि सुखं नो भोजनादेस्तदा
स्त्रीणामप्यतिरूपगर्वितधियामंगं शवांगायते।
लावण्याद्यपि तत्र चंचलमिति श्लिष्टं च तत्तद्गतां
दृष्ट्वा कुंकुमकज्जलादिरचनां मा गच्छ मोहं मुने ॥१२॥

अर्थ—रूपसे अतयंत घमंडयुक्त है बुद्धि जिन्होंकी ऐसी स्त्रियोंको यदि दो दिन भी भोजनादि से सुख न मिले अर्थात् यदि वे दो दिन भी नही खांय तो उनका शरीर मुर्देके शरीरके समान मालूम पड़ता है और उन स्त्रियोंके शरीर में मौजूद जो लावण्य है वह चंचल है अर्थात्

तद्गता, यह भी ख. पुस्त में पाठ है—

क्षणभर में विनाशीक है इसलिये हे मुनियो उन स्त्रियोंके शरीर में केसर, काजल, आदिकी रचनाको देखकर मोहित मत हो ॥

भावार्थ—यदि स्त्रियोंका शरीर नित्य तथा सुन्दर, बना रहता और उनके शरीरका लावण्य चंचल न होता तब तो हे मुनियो तुमको उनके शरीर में केसर तथा काजल आदिकी रचनाको देखकर मुग्ध होना था लेकिन उनका शरीर तो ऐसा है कि यदि वे दो दिन भी भोजन न करें तो वह मुर्देके शरीरके समान फीका पड़जाता है स्त्रीमें कदापि तुमको मोह न करना चाहिये ॥

स्त्रीके शरीरकी शोभा क्षणभंगुर है इस बात को आचार्य दिखाते हैं—

रम्भास्तम्भमृणालहेमशशभृन्नीलोत्पलाद्यैः पुरा
यस्य स्त्रीवपुषः पुरः परिगतैः प्राप्ता प्रतिष्ठा न हि ।
तत्पर्यंतदशां गतं विधिवशात्क्षिप्तं क्षतं पक्षिभिः
भीतैश्छादितनासिकैः पितृवने दृष्टं लघु त्यज्यते ॥१३॥

अर्थ—जिस स्त्रीके शरीरके आगे प्राप्त ऐसे केलोंका स्तंभ, कमलका तंतु, बरफ, चंद्रमा, और नीलकमल आदिकों ने भी पहिले प्रतिष्ठा नहीं पाई थी वही स्त्रीका शरीर जिससमय मृत शरीर बनजाता है और जब वह श्मसान भूमि में फेंक दियां जाता है और जिससमय पक्षी उसके टुकड़े २ कर देते हैं उससमय वह देखा हुआ शरीर, भयभीत तथा जिनकी नाक ढकी हुई हैं ऐसे मनुष्यों द्वारा शीघ्र ही छोड़ दिया जाता है ॥१३॥

भावार्थ—जब तक स्त्रीका शरीर जीवितशरीर रहता है तबतकतो इतना मनोहर रहता है कि केलोंका स्तंभभी उसके सामने कोई चीज नहीं, और न कमल तंतुही कोई चीज है तथा शीतल इतना होता है कि बरफ चंद्रमा तथा नीलकमलकी भी शीतलता उसके सामने कोई चीज नहीं। किंतु वही शरीर जब मृतशरीर बन जाता है उससमय वह श्मसान भूमिमें फेंक दिया जाता है और पक्षिगण उसके टुकड़े २ उड़ा देते हैं और मनुष्य उसको भयभीत होकर तथा नाक ढककर देखते हैं और शीघ्र ही छोड़ देते हैं इसलिये ऐसे अपवित्र तथा अनित्य शरीर में मुनियोंको कभी भी राग नहीं करना चाहिये ॥१३॥

और भी इसीविषयमें आचार्य कहते हैं—

अंगं यद्यपि योषितां प्रविलसत्तारुण्यलावण्यवद्
भूषावत्तदपि प्रमोदजनकं मूढात्मनां नो सताम् ।
उच्छूनैर्बहुभिः शवैरतितरां कीर्णं श्मसानस्थलं
लब्ध्वा तुष्यति कृष्णकाकनिकरो नो राजहंसव्रजः ॥१४॥

अर्थ—यद्यपि स्त्रियों का शरीर मनोहर योवन अवस्था तथा लवण्यकर सहितभी है, और अनेक प्रकार के भूषणों से भूषित है तो भी वह मूढ़बुद्धिपुरुषों को ही आनंदका देने वाला है किंतु सज्जन पुरुषों को आनंद का देने वाला नहीं जिस प्रकार सड़े हुवे अनेक मुर्दों से व्याप्त श्मसान भूमि को प्राप्त होकर काले काकों का समूह ही संतुष्ट होता है राजहंसों का समूह संतुष्ट नहीं होता ।

भावार्थ—जिस प्रकार सड़े हुवे मुर्दों से व्याप्त श्मसान भूमि को प्राप्त होकर कौवा संतुष्ट होता है और राजहंस संतुष्ट नहीं होता उसी प्रकार यद्यपि स्त्री का शरीर उत्तम यौवन तथा लावण्यकर सहित भी है और नाना प्रकार के भूषणों से भी सहित है तो भी उसको मूर्ख लोग हर्ष का करने वाला मानते है विद्वान् लोग हर्ष का करने वाला कदापि नहीं मानते ॥१४॥

स्त्री का शरीर अपवित्र है इसलिये विद्वान् लोग उसमें राग नहीं करते इस बात को आचार्यवर दिखाते है ।

यूकाधाम कचाः कपालमजिनाच्छन्नं[1] मुखं योषितां
तच्छिद्रे नयने कुचौ पलभरौ बाहूतते कीकसे ।
तुंदं मूत्रमलादिसद्म जघनं प्रस्पन्दिवर्चोगृहं
पादस्थूणमिदं किमत्र महतां रागाय संभाव्यते ॥१५॥

अर्थ—स्त्रियों के बाल तो जूंवाओं के स्थान हैं और मुख तथा कपाल चामकर वेष्टित हैं और दोनों नेत्र उसके छेद हैं तथा स्तन मांस से भरे हुवे है और दोनों भुजा विस्तृत हड्डियां

१ क, पुस्तक में अजिनाच्छादि यह भी पाठ है ।

हैं और स्त्रियों का पेट मूत्र तथा मल का घर है और जघन बहती हुई विष्टा के घर हैं और स्त्रियों के चरण स्थूल के समान हैं इसलिये नहीं मालूम सज्जनों को स्त्रियों की कोन सी चीज राग के लिये होती है।

भावार्थ—यदि स्त्री की कोई भी चीज पवित्र तथा सुन्दर होती तो स्त्री में विद्वान पुरुषों के राग की संभावना हो सकती थी किंतु स्त्री की तो कोई चीज पवित्र तथा सुन्दर नहीं क्योंकि उनके बालों में तो असंख्याते जूवां लीख आदि जीव भरे हुवे हैं और मुख तथा कपाल चर्मकर वेष्टित हैं तथा दोनों नेत्र छिद्र हैं और स्तन मांस के पिंड है और भुजा लम्बी २ हड्डियां हैं और पेट मल मूत्र का पिटारा है और जघन बहती हुई विष्टा के घर है और चरण थूड़ी के समान हैं इसलिये ऐसे अपवित्र स्त्री के शरीर में उत्तम पुरुषों को कदापि मोह नहीं करना चाहिये ॥१५॥

और भी आचार्य स्त्री की अपवित्रता को दिखाते हैं—

कार्याकार्यविचारशून्यमनसो लोकस्य किं ब्रूमहे
यो रागांधतयादरेण वनितावक्रास्यलालां पिवेत्।
श्लाघ्यास्ते कवयः शशांकवदिति प्रव्यक्तवाग्डंवरैः
चर्मानद्धकपालमेतदपि यैरग्रे सतां वर्ण्यते ॥१६॥

अर्थ—राग से अंधा होकर जो लोक बड़े आदर से स्त्री के मुख की लारका पान करता है ग्रन्थकार कहते है कि कार्य तथा अकार्य के विचार से रहित है मन जिसका ऐसे उस लोक के विषय में हम क्या कहें ? और वे कवि भी सराहना करने योग्य हैं कि जो कवि सज्जनों के सामने चाम से ढका हुवा है कपाल जिसका ऐसे भी स्त्री के मुख को, अपने प्रबलवाणी के आडम्बर से चंद्रमा के समान कहते है।

भावार्थ—बिना ही उपदेश के समस्त जीव स्त्री के सेवक बने हुवे है और रात दिन बड़े आदर से उनकी लारका पान करते है किन्तु कवि लोग चाम से ढके हुए भी स्त्री के मुख को चंद्रमा की उपमा देकर और उनको चंद्रवदनी कहकर और भी जीवों को भ्रांत करते हैं यह बड़ी भारी भूल है इसलिये ऐसी निकृष्ट तथा अपवित्र स्त्री की प्रशंसा करने वाले वे कवि कुकवि हैं ऐसा समझना चाहिये ॥१६॥

आचार्यवर कवियों की निंदा करते हैं—

एष स्त्रीविषये विनापि हि परप्रोक्तोपदेशं भृशं
रागांधो मदनोदयादनुचितं किं किं न कुर्याज्जनः।
अप्येतत्परमार्थबोधविकलः प्रौढं करोति स्फुरत्
शृंगारं प्रविधाय काव्यमसकृल्लोकस्य कश्चित्कविः ॥१७॥

अर्थ—राग से अंध यह लोक पर के दिये हुवे उपदेश के विना ही काम के उदय से अर्थात् कामी होकर क्या २ अनुचित काम नहीं करता है अर्थात् सभी अनुचित काम को करता है इतने पर भी जिसको अन्श मात्र भी परमार्थ का ज्ञान नहीं ऐसा कोई कवि जिसमें भली भांति शृंगार का बर्णन किया गया है ऐसे काव्य को बनाकर और भी निरंतर लोगों को चतुर (स्त्रियों के सेवन में प्रौढ़) करता रहता है।

भावार्थ—यह नीतिकार का सिद्धान्त है कि जो पदार्थ त्यागने योग्य होता है उसमें मनुष्य की बुद्धि विना उपदेश के प्रवेश कर जाती है, उपादेय पदार्थ के ग्रहण करने में उतनी जल्दी बुद्धि प्रवेश नहीं करती इसलिये जो पुरुष रागांध है उनकी एक तो विना उपदेश के ही स्त्री के विषय में बुद्धि प्रवृत्त हो जाती है और जब उनकी बुद्धि स्त्री विषय में फंस जाती है तब वे अनेक प्रकार के अनुचित काम कर बैठते हैं। ऐसे होने पर भी कविलोग अपने को दयालु समझकर और भी उनके लिये शृंगारविशिष्ट काव्यों को बनाकर उनको स्त्री विषय में चतुर बना देते हैं इसलिये कवियों को उत्तम कवि न समझकर कुकवि ही समझना चाहिये ॥१७॥

अब आचार्यवर इस बात को बताते है कि जो मुनि स्त्री तथा धन त्यागी है वह देवों का देव है और सबों का मानने योग्य है—

दारार्थादिपरिग्रहः कृतगृहव्यापारसारोऽपि सन्
देवः सोऽपि गृही नरः परधनस्त्रीनिस्पृहः सर्वदा।
यस्य स्त्री नतु सर्वथा नच धनं रत्नत्रयालंकृतो
देवानामपि देव एव स मुनिः केनात्र नो मन्यते ॥१८॥

ं—समस्त जो सुर तथा असुर उनके जो चित्रविचित्र मणियोंकर सहित मुकुट, उनको उनसे कर्बुरित अर्थात् चित्रविचित्र है सिंहासन जिसका ऐसे हे जिननाथ जो मनुष्य ते हैं और आपकी स्तुति करते हैं तथा आपका जप और ध्यान करते हैं वे मनुष्य

—हे जिनेन्द्र आपको बड़े २ सुर असुर भी आकर नमस्कार करते हैं इसलिये । आपके दर्शन तथा आपकी स्तुति और आपके जप तथा ध्यानका सुलभरीतिसे सकता किंतु जो मनुष्य ऐसे पुण्यवान हैं जिनको अपका दर्शन मिलता है और जप और ध्यानका भी अवसर मिलता है वे संसारमें धन्य हैं अर्थात् उन है ॥२॥

र्य को लेकर कहीं पर कहा भी है—

पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनैः सोर्च्यते
ंदति एकशस्त्रिजगता सोऽहर्निशं वन्द्यते ।
नौति परत्र वृत्तदमनस्तोमेन संस्तूयते
यति वलृप्तकर्मनिधनः स ध्यायते योगिभिः ॥१॥

जिनेंद्र भगवान की फूलोंसे पूजन करता है वह मनुष्य परभवमें वांगना उनके नेत्रों से पूजित होता है और जो मनुष्य एकबार ष्य रात दिन तीनों लोकमें वंदनीय होता है अर्थात् तीनों लोक था जो मनुष्य एकबार भी जिनेंद्र भगवानकी स्तुति करता है पर- करते हैं और जो मनुष्य एकबार भी जिनेन्द्र भगवान का ध्यान जाता है तथा बड़े २ योगीश्वर भी उसमनुष्य का ध्यान करते वे भगवानकी पूजन तथा वंदना और स्तुति तथा ध्यान

तइतइलोयेण माइ महहरिसो ।
जेण ण याणिमो किं परिप्फुरइ ॥

आचार्यवर कवियों की निंदा करते हैं—

एष स्त्रीविषये विनापि हि परप्रोक्तोपदेशं भृशं
रागांधो मदनोदयादनुचितं किं किं न कुर्याज्जनः।
अप्येतत्परमार्थबोधविकलः प्रौढं करोति स्फुरत्
श्रृंगारं प्रविधाय काव्यमसकृल्लोकस्य कश्चित्कविः ॥१७॥

अर्थ—राग से अंध यह लोक पर के दिये हुवे उपदेश के विना ही काम के उदय से अर्थात् कामी होकर क्या २ अनुचित काम नहीं करता है अर्थात् सभी अनुचित काम को करता है इतने पर भी जिसको अन्श मात्र भी परमार्थ का ज्ञान नहीं ऐसा कोई कवि जिसमें भली भांति श्रृंगार का वर्णन किया गया है ऐसे काव्य को बनाकर और भी निरंतर लोगों को चतुर (स्त्रियों के सेवन में प्रौढ़) करता रहता है।

भावार्थ—यह नीतिकार का सिद्धान्त है कि जो पदार्थ त्यागने योग्य होता है उसमें मनुष्य की बुद्धि विना उपदेश के प्रवेश कर जाती है, उपादेय पदार्थ के ग्रहण करने में उतनी जल्दी बुद्धि प्रवेश नहीं करती इसलिये जो पुरुष रागांध है उनकी एक तो विना उपदेश के ही स्त्री के विषय में बुद्धि प्रवृत्त हो जाती है और जब उनकी बुद्धि स्त्री विषय में फंस जाती है तब वे अनेक प्रकार के अनुचित काम कर बैठते हैं। ऐसे होने पर भी कविलोग अपने को दयालु समझकर और भी उनके लिये श्रृंगारविशिष्ट काव्यों को बनाकर उनको स्त्री विषय में चतुर बना देते हैं इसलिये कवियों को उत्तम कवि न समझकर कुकवि ही समझना चाहिये ॥१७॥

अब आचार्यवर इस बात को बताते है कि जो मुनि स्त्री तथा धन त्यागी है वह देवों का देव है और सबों का मानने योग्य है—

दारार्थादिपरिग्रहः कृतगृहव्यापारसारोऽपि सन्
देवः सोऽपि गृही नरः परधनस्त्रीनिस्पृहः सर्वदा।
यस्य स्त्री नतु सर्वथा नच धनं रत्नत्रयालंकृतो
देवानामपि देव एव स मुनिः केनात्र नो मन्यते ॥१८॥

अर्थ—जिस नरभव में बहुत दुःखों का समूह है और जिस में अपवित्र तथा थोड़ी आयु है और जिसमें थोड़ा ज्ञानपना है तथा जिसमें अंत के दिन का निश्चय नहीं है "अर्थात् कब मरण होगा यह बात मालूम नहीं है" और जिस नरभव में बुद्धि वृद्धावस्था कर नष्ट है ऐसा इस संसार में यह नरभव है किंतु तप की प्राप्ति इसी नरभव में होती है और उस तप से मोक्ष पद की प्राप्ति होती है तथा उस मोक्ष पद में साक्षात् सुख मिलता है इसलिये ग्रंथकार कहते हैं कि ऐसा भलीभांति चित्त में विचार कर जो मनुष्य उत्तम सुख की प्राप्ति के अभिलाषी हैं उनको अवश्य ही निर्मल तप करना चाहिये।

भावार्थ—यद्यपि इस नरभव में बहुत से दुःख हैं तथा अपवित्र और थोड़ी आयु है और थोड़ा ज्ञान है तथा इस नरभव में मरण के दिन का भी निश्चय नहीं है जरा से बुद्धि भी नष्ट है तोभी तप की प्राप्ति इस नरभव में ही होती है और उस तप से मोक्षपद की प्राप्ति होती है तथा मोक्ष में साक्षात् सुख मिलता है इसलिये ऐसा विचार कर और इस उत्तम नरभव को पाकर मनुष्य को निर्मल तप अवश्य करना चाहिये किन्तु व्यर्थ ही इस नरभव को व्यतीत नहीं करना चाहिये ॥२१॥

उक्तेयं मुनिपद्मनंदिभिषजा द्वाभ्यां युतायाः शुभा
सद्वृत्तौषधिविंशतेरुचितवागर्थाम्भसा वर्तिता ॥
निर्ग्रन्थैः परलोकदर्शनकृते प्रोद्यत्तपोवाद्धकैः
चेतश्चक्षुरनंगरोगशमनी वर्तिः सदा सेव्यताम् ॥२२॥

अर्थ—श्री पद्मनंदि नामक वैद्य द्वारा, उचित जो वचन और अर्थ वही हुआ जल उससे दो श्लोकों कर सहित तथा श्रेष्ठ छन्दरूपी है औषधि जिसमें ऐसी जो विंशति उससे "अर्थात् बाईस श्लोकों से" यह शुभ सलाई (ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति) बनाई है इसलिये जो समस्त प्रकार के परिग्रहों कर रहित निर्ग्रंथ हैं और उन्नत जो तप उससे वर्धमान है अर्थात् जो अत्यंत तपस्वी हैं उनको मनरूपी नेत्र में स्थित जो कामरूपी रोग, उसको शान्त करने वाली यह सलाई परलोक के दर्शन के लिये अवश्य ही सेवनीय है।

भावार्थ—जिस प्रकार नेत्र का रोगी पुरुष नेत्र से देखने के लिये किसी वैद्य द्वारा उत्तम जल से बनाई हुई सलाई का सेवन करता है उसी प्रकार आचार्यवर पद्मनंदि नामक वैद्य ने भी

यह ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति उत्तम वचन तथा अर्थरूपजल से २२ श्लोकोंमें बनाई है इसलिये जो मनुष्य समस्त प्रकारके परिग्रहों से रहित निर्ग्रंथ है और प्रबलतस्वी तथा परलोकके देखने के अभिलाषी हैं उनको अवश्य ही इस कामरूपी ज्वरको शमन करनेवाली सलाई (ब्रह्मचर्यरक्षावर्ति) का सेवन करना चाहिये अर्थात् उनको अवश्य ही पूरीतौर से ब्रह्मचर्य का रक्षणकरना चाहिये ॥२२॥

इस प्रकार श्रीपद्मनदिआचार्य द्वारा रचित श्रीपद्मनंदिपंचविंशतिकामें ब्रह्मचर्यरक्षावर्तिनामक अधिकार समाप्त हुआ।

ऋषभस्तोत्रप्रारंभः।

गाथा।

जय उसह णाहिणंदण तिहुवणणिलयेकदीव तित्थयर।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि णाह ॥१॥

जय ऋषभ नाभिनंदन त्रिभुवननिलयैकदीप तीर्थंकर
जय सकलजीववत्सल निर्मलगुणरत्ननिधे नाथ।

अर्थ—श्रीमान नाभिराजा के पुत्र, तथा उर्ध्वलोक और अधोलोकरूपी जो घर उस के लिये दीपक, तथा धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करने वाले, हे ऋषभदेव भगवान तुम सदा इस लोक में जयवंत रहो। तथा समस्त जीवोंपर वात्सल्यको धारण करने वाले, और निर्मल जो गुण वे ही हुए रत्न उनके आकर (खजाना) ऐसे हे नाथ तुम सदा इसलोकमें जयवंत रहो ॥१॥

सयलसुरासुरमणिमउडकिरणकब्बुरियपायपीठ तुमं
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह ॥२॥

सकलसुरासुरमणिमुकटकिरणैः कर्बुरितपादपीठ
त्वां धन्याः प्रेक्षंते स्तुवंति जपंति ध्यायंति जिननाथ।

अर्थ—समस्त जो सुर तथा असुर उनके जो चित्रविचित्र मणियोंकर सहित मुकुट, उनको जो किरणें उनसे कर्बुरित अर्थात् चित्रविचित्र है सिंहासन जिसका ऐसे हे जिननाथ जो मनुष्य आपको देखते हैं और आपकी स्तुति करते हैं तथा आपका जप और ध्यान करते हैं वे मनुष्य धन्य हैं।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र आपको बड़े २ सुर असुर भी आकर नमस्कार करते हैं इसलिये हर एक मनुष्यको आपके दर्शन तथा आपकी स्तुति और आपके जप तथा ध्यानका सुलभरीतिसे अवसर नहीं मिल सकता किंतु जो मनुष्य ऐसे पुण्यवान हैं जिनको अपका दर्शन मिलता है और आपकी स्तुति तथा जप और ध्यानका भी अवसर मिलता है वे संसारमें धन्य हैं अर्थात् उन मनुष्यों को धन्यवाद है ॥२॥

इसीश्लोकके तात्पर्य को लेकर कहीं पर कहा भी है—

यः पुष्पैर्जिनमर्चति स्मितसुरस्त्रीलोचनैः सोर्च्यते
यस्तं वंदति एकशस्त्रिजगता सोऽहर्निशं वन्द्यते ।
यस्तं स्तौति परत्र वृत्तदमनस्तोमेन संस्तूयते
यस्तं ध्यायति क्लृप्तकर्मनिधनः स ध्यायते योगिभिः ॥१॥

अर्थ—जो मनुष्य जिनेंद्र भगवान की फूलोंसे पूजन करता है वह मनुष्य परभवमें मंदहास्य सहित ऐसी जो देवांगना उनके नेत्रों से पूजित होता है और जो मनुष्य एकबार भी जिनेन्द्रको वंदता है वह मनुष्य रात दिन तीनों लोकमें वंदनीय होता है अर्थात् तीनों लोक आकर उसकी वंदना करता है तथा जो मनुष्य एकबार भी जिनेंद्र भगवानकी स्तुति करता है परलोकमें बड़े २ इन्द्र उसकी स्तुति करते हैं और जो मनुष्य एकबार भी जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करता है वह समस्तकर्मोंसे रहित होजाता है तथा बड़े २ योगीश्वर भी उसमनुष्य का ध्यान करते हैं इसलिये भव्यजीवों को चाहिये कि वे भगवानकी पूजन तथा वंदना और स्तुति तथा ध्यान सर्वदा किया करें ॥१॥

चम्मच्छिणवि देहे तइतइलोयेण माइ महहरिसो ।
णाणाच्छिणा उणोजिए ण याणिमो किं परिप्फुरइ ॥

चर्माक्ष्णापि दृष्टे त्वयि त्रैलोक्ये न माति महाहर्षः
ज्ञानाक्ष्णा पुनर्स जिन न जानीमः किं परिस्फुरति ।

अर्थ—हे जिनेन्द्र हे भगवन् यदि हम आपको चामकी आंखसे भी देखलें तो भी हमें इतना भारी हर्ष होता है कि वह हर्ष तीनों लोकों में नहीं समाता फिर यदि आपको हम ज्ञानरूपी नेत्रसे देखें तब तो हम कही नहीं सकते कि हमको कितना आनन्द न होगा ?

भावार्थ—चर्मके नेत्रका विषय परिमित तथा बहुत थोड़ा है इसलिये उसचर्म नेत्रसे आपका समस्त स्वरूप हमको नहीं दीखसकता किंतु हे प्रभो उस चर्मनेत्र से जो कुछ आपका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उससे ही हमको इतना भारी हर्ष होता है कि और की तो क्या बात वह तीनों लोक में भी नहीं समाता किन्तु यदि हम ज्ञानरूपी नेत्र से आपके समस्त रूपको देखें तब हम नहीं जानसकते हमको कितना आनन्द न होगा ? ॥३॥

तं जिण णाणमणंतं विसईकयसयलवत्थुवित्थारं ।
जो थुणइ सो पयासइ समुद्दकहमवटसालूरो ॥४॥

त्वां जिन ज्ञानमनंतं विषयीकृतसकयवस्तुविस्तारं
यः स्तौति स प्रकाशयति समुद्रकथामवटसालूरः ।

अर्थ—हे जिनेन्द्र जो पुरुष, नही है अंत जिसका तथा जिसने समस्तवस्तुओं के विस्तार को विषयकर लिया है ऐसे ज्ञानस्वरूप आपकी स्तुति करता है वह कूवाका मैंढक समुद्रकी कथा का वर्णन करता है ।

भावार्थ—जिसप्रकार कूवाका मैंढक समुद्रकी कथा नहीं करसकता उसीप्रकार हे जिनेन्द्र जो पुरुष ज्ञानस्वरूप आपका स्तवन तथा आपको नमस्कार नहीं करता उसका ज्ञान समस्त पदार्थों का विषय करने वाला नहीं होता किंतु जो मनुष्य आपकी भक्तिपूर्वक स्तुति करता है उसको विस्तृतज्ञान की प्राप्ति होती है ॥४॥

अह्मारिसाण तुह गोत्तकित्तणेण वि जिणेस संचरई ।
आयेसम्मग्गंती पुरडहियेइच्छिया लच्छी ॥५

अस्मादृशां तव गोत्रकीर्तनेनापि जिनेश संचरति
आदेशं मार्गयंती पुरतोहृदयेप्सिता लक्ष्मीः ।

अर्थ—हे जिनेन्द्र हे प्रभो आप के नाम के कीर्तन मात्र से ही हम सरीखे मनुष्यों के आगे आज्ञा को मांगती हुई मनोवांछित लक्ष्मी गमन करती है ।

भावार्थ—हे जिनेन्द्र आप के नाम में ही इतनी शक्ति है कि आपके नाम के कीर्तन मात्र से ही हम सरीखे मनुष्यों के सामने हमारी आज्ञा को मांगती हुई लक्ष्मी दोड़ती फिरती है तब जो मनुष्य साक्षात् आप को प्राप्त करलेगा उसकी तो बात ही क्य है ? अर्थात् उस को तो अवश्य हीअंतरंग तथा वहिरंग लक्ष्मो की प्राप्ति होगी ॥५॥

जासिसिरी तइ संते तुव अवयणमित्तियेणट्ठा ।
संके जणियाणट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धावि ॥६॥

आसीत् श्रीः त्वयि सति त्वयि अवतीर्णे नष्टा
शंके जनितानिष्टा दृष्टा सर्वार्थसिद्धावपि ।

अर्थ—हे सर्वज्ञ हे जिनेश जिस समय आप सवार्थ सिद्धि विमान में थे उस समय जैसी उस विमान की शोभा थी वह शोभा आपके इस पृथ्वीतल पर उतरने पर आप के वियोग से उत्पन्न हुवे दुःख से नष्ट हो गई ऐसा मैं (ग्रन्थकार) शंका (अनुमान) करता हूं ।

भावार्थ—हे भगवन् आपमें यह वड़ीभारी एक प्रकार की खूबी मौजूद है कि जहां पर आप निवास करते हैं वहीं पर उत्तम शोभा भी रहती है क्योंकि जिस समय आप सर्वार्थ सिद्धि नाम के विमान में विराजमान थे उस समय उस विमान की बड़ी भारी शोभा थी किंतु जिस समय आप इस पृथ्वीतल में उतर कर आये उस समय उस विमान की उतनी शोभा नहीं रही किंतु इस पृथ्वीतल की शोभा अधिक वढ़ गई ॥६॥

णाहिघरे वसुहारा, वडणंजं सुइर महितहो अरणी ।
आसि णहाहि जिणेसर, तेण धरा वसुमयी जाया ॥७॥

नाभिगृहे वसुधारापतनं यत् सुचिरं महीमवतरणात्
आसित् नभसो जिनेश्वर तेन धरा वसुमती जाता ।

अर्थ—हे जिनेश्वर जिस समय आप इस पृथ्वीतल पर उतरे थे उस समय जो नाभि राजा के घर में बहुत काल तक धन की वर्षा आकाश से हुई थी उसी से हे प्रभो यह पृथ्वी वसुमती हुई है।

भावार्थ—पृथ्वी का नाम वसुमती है और जो धन को धारण करने वाली होवे उसी को वसुमती कहते है इसलिये ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस पृथ्वी का नाम वसुमती जो पड़ा है सो हे भगवन् आपकी कृपा से ही पड़ा है क्योंकि जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि विमान से पृथ्वी मंडल पर उतरे थे उस समय बराबर १५ मास तक रत्नों की वृष्टि इस पृथ्वी मंडल में नाभिराजा के घर में हुई थी इसलिये पृथ्वी के समस्त दारिद्र्य दूर हो गये थे। किंतु पहिले इसका नाम वसुमती नहीं था ॥७॥

सच्चियसुरणवियपया मरुएवी पहु ठिऊसि जं गब्भे।
पुरऊपट्टो वज्झइ मज्झे से पुत्तवत्तीणं ॥८॥

शचीसुरनमितपदा मरुदेवी प्रभो स्थितोऽसि यद्गर्भे
पुरतःपट्टो वध्यते मध्ये तस्याः पुत्रवतीनाम्।

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र आप मरुदेवी माता के गर्भ में स्थित होते हुए इसीलिये मरुदेवी माता इन्द्राणी तथा देवों से नमस्कार किये गये हैं चरण जिसके ऐसी होती हुई और जितनी भर पुत्रवती स्त्रियां थीं उन सब में मरुदेवी का ही पद सबसे प्रथम रहा

भावार्थ—संसार में बहुत सी स्त्रीयां पुत्रों को पैदा करने वाली हैं, उनमें मरुदेवी के ही क्यों इन्द्राणी तथा देवों ने नमस्कार किया ? और उनके चरणों की ही क्यों सेवा की ? इसका कारण केवल यही है कि हे प्रभो मरुदेवी माता के गर्भ में आप आकर विराजमान हुवे थे इसलिये उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई और वे जितनी भर पुत्रों को पैदा करने वाली स्त्रियां थीं और हैं, उनमें सबसे उत्तम समझीं गईं और कोई कारण नहीं ॥८॥

अंकत्थे तइ दिट्ठे, जं तेण सुरालयं सुरिंदेण।
अणिमेसत्तवहुत्तं, सहलं णयणाणपडिवट्ठं ॥९॥

अंकस्थे त्वयि दृष्टे गच्छता सुरालयं सुरेन्द्रेण
अनिमेषत्ववहुत्वं सफलं नयनानां प्रतिपन्नम्।

अर्थ—हे जिनेन्द्र हे प्रभो जिस समय आपको लेकर इंद्र मेरु पर्वत को चला तथा आपको गोद में बैठे हुए उसने देखा उस समय उसके नेत्रों का निमेष (पलक) कर रहितपना तथा बहुतपना सफल हुवा।

भावार्थ—हे प्रभो इन्द्र के नेत्रों की अनिमेषता और अधिकता आपके देखने से ही सफल हुई थी यदि इन्द्र आपके रूप को न देखता तो उसके नेत्रों का पलक रहितपना और हजार नेत्रों का धारण करना, सर्वथा निष्फल ही समझा जाता।

सारांर्थ—आपके समान रूपवान संसार में दूसरा कोई भी मनुष्य नहीं था ॥९॥

तित्थत्तणमावट्टो मेरु तुह जम्मण्हाणजलजोए।
तत्तस्स सूरपमुहा पयाहिणं जिण कुणंति सया ॥१०॥

तीर्थत्वामापन्नो मेरुस्तव जन्मस्नानजलयोगेन।
तत् तस्य सूरप्रमुखाः प्रदक्षिणां जिन कुर्वंति ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जिस समय आपका जन्म स्नान मेरु के ऊपर हुआ था उस समय उस स्नान के जल के संबंध से मेरु तीर्थपने को प्राप्त हुआ था अर्थात् तीर्थ बना था और इसलिये हे जिनेन्द्र उस मेरु पर्वत की सूर्य चंद्रमा आदिक सदा प्रदक्षिणा करते रहते हैं।

भावार्थ—आचार्य उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो जबतक मेरुपर्वत के ऊपर आपका जन्मस्नान नहीं हुआ था तब तक वह मेरु पर्वत सामान्य पर्वतों के समान था और तीर्थ भी नहीं था किंतु जिस समय से आपका जन्मस्नान मेरु के ऊपर हुआ है उस समय से उस आपके जन्मस्नान के जल के संबंध से मेरु पर्वत तीर्थ अर्थात् पवित्र स्थान हो गया है और यह बात संसार में प्रत्यक्ष गोचर है कि जो वस्तु पवित्र हुआ करती है उसकी लोग भक्ति तथा परिक्रमा आदि करते हैं इसलिये उस मेरु को पवित्र मानकर सूर्य चंद्रमा आदि रात दिन उस मेरु की प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करते रहते हैं ऐसा मालूम होता है ॥१०॥

मेरुसिरे पडणुच्छलि, यणीरताडणपणट्ठदेवाणं।
तं वित्तं तुह ण्हाणं, तह जह णहमासियं किरणं ॥

मेरुशिरसि पतनोच्छलननीरताडनप्रनष्टदेवानाम्
तद्वृत्तं तव स्नानं तथा यथा नभे आश्रितं कीर्णम् ।

अर्थ—हे जिनेन्द्र हे प्रभो मेरुपर्वत के मस्तक पर आपके स्नान के होने पर पतन से उछलता हुआ जो जल उसके ताड़न से अत्यंत नष्ट जो देव उन देवों की ऐसी दशा होती हुई मानों चारों ओर से आकाश ही व्याप्त हो गया हो ॥११॥

णाह तुह जम्म हरिणो, मेरुस्सि पणच्चमाणस्स ।
वेल्लिरभुवाहिभग्गा, तह अज्जवि भंगुरा मेहा ॥

नाथ तव जन्मस्नाने हरेर्मेरौ प्रनृत्यमानस्य ।
प्रलंबभुजाभ्यां भग्नाः तथा अद्यापि भंगुरा मेघाः ॥

अर्थ—हे प्रभो आपके जन्मस्नान के समय जिस समय अपनी लंबी भुजाओं को फैलाकर इंद्र ने नृत्य किया था उन लम्बी भुजाओं से जो मेघ भग्न हुए थे वे मेघ इस समय भी क्षणभंगुर ही है ।

भावार्थ—ग्रंथकार उत्पेक्षा करते है कि जो मेघ क्षण भंगुर मालुम पड़ते हैं उनकी क्षणभंगुरता का यही कारण है कि जिस समय भगवान का जन्म स्नान मेरु पर्वत के ऊपर हुआ था उस समय उस मेरुपर्वत के ऊपर आनन्द में आकर अपनी भुजाओं को फैलाकर इंद्र ने भगवान के सामने नृत्य किया था और उस समय फैली हुई भुजाओं से मेघ भग्न हुए इसीकारण अब भी मेघों में भंगुरता है किंतु भंगुरता का दूसरा कोई भी कारण नहीं है ॥१२॥

जाण वहुएहि वित्ति जाया कप्पदुमेहि तेहि विणा ।
एक्केणवि ताण तए पयाण परिकप्पिया णाह ॥१३॥

यासां वहुभिर्वृत्तिर्जाता कल्पद्रुमैः, तैर्विना
एकेनापि तासां त्वया प्रजानां परिकल्पिता नाथ ॥

अर्थ—हे नाथ हे प्रभो जिन प्रजाओं की आजीविका बहुत से कल्प वृक्षों से होती हुई उन कल्पवृक्षों के अभाव में उन प्रजाओं की आजीविका आप अकेले ने ही की ।

भावार्थ—जब तक ऋषभदेव भगवान की उत्पत्ति पृथ्वी तल पर नहीं हुई थी उस समय तक इस जम्बू द्वीप में भोग भूमि की रचना थी और उस भोग भूमि की स्थिति में समस्त जीव भोग विलासी ही थे क्योंकि युगलिया उत्पन्न होते थे और जिस समय उनको जिस बात की आवश्यकता होती थी उस समय उस वस्तु की प्राप्ति के लिये उनको प्रयत्न नहीं करना पड़ता था किंतु वे सीधे कल्प वृक्षों के पास चले जाते थे तथा जिस बात की उनको अभिलाषा होती थी उस अभिलाषा की पूर्ति उन कल्प वृक्षों के सामने कहने पर ही हो जाती थी क्योंकि उस समय दश प्रकार के कल्प वृक्ष मौजूद थे तथा जुदी २ सामग्री देकर जीवों को आनंद देते थे। किंतु जिस समय भगवान आदि नाथ का जन्म हुआ उस समय जम्बूदीप में कर्म भूमि की रचना हो गई भोग भूमि की रचना न रही, तथा कल्प वृक्ष भी नष्ट हो गये उस समय जीव भूंखे मरने लगे और उनको अपनी आजीविका की फिक्र पड़ी तब उस समय भगवान आदीश्वर ने असि, मषि, वाणिज्य, आदि का उपदेश दिया तथा और भी नाना प्रकार के लौकिक उपदेश दिये जिससे उनको फिर भी वैसा ही सुख मालूम होने लगा इसलिये कर्म भूमि की आदि में भगवान आदि नाथ ने ही कल्प वृक्षों का काम किया था इसलिये इसी बात को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार भगवान की स्तुति करते हैं कि हे प्रभो जिन प्रजाओं की आजीविका भोग भूमि की रचना के समय बहुतसे कल्प वृक्षों से हुई थी वही आजीविका कर्म भूमि के समय विना कल्प वृक्षों के आप अकेले ने ही की इसलिये हे जिनेंद्र आप कल्प वृक्षों में भी उत्तम कल्प वृक्ष हैं ॥१३॥

पहुणा तए सणाहा धरा सती एकहन्नहो वूढो ।
णवघणसमयसमुल्लसि यसासछम्मेण रोमंचो ॥१४॥

प्रभुणा त्वया सनाथा धरा आसीत् तस्याः कथमहोवृद्धः ।
नवघनसमयसमुल्लसितश्वासच्छद्मना रोमांचः ॥

अर्थ—हे जिनेश हे प्रभो आप ने ही यह पृथ्वी सनाथ की क्योंकि यदि ऐसा न होता तो नवीन मेघ के समय में होने वाला जो श्वासोच्छ्वास उसके बहाने से इसमें रोमांच कैसे हुवे होतें ?

भावार्थ—जो स्त्री विवाह की अत्यंत अभिलाषिणी है यदि उसका विवाह हो जावे अर्थात् वह सनाथा हो जाय तो जिस प्रकार उसके शरीर में रोमांच उद्गत हो जाते हैं और उस रोमांच के उद्गम से उसकी सनाथता का अनुमान कर लिया जाता है उसी प्रकार हे प्रभो जिस

समय आप इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुवे थे उस समय पृथ्वी में रोमांच हुवे इसलिये उन रोमांचों से यह बात जान ली थी कि आपने इस पृथ्वी को सनाथा अर्थात् नाथ सहित किया ॥१४॥

विज्जुव्व घणे रंगे दिट्ठपणिट्ठा पणच्चिरी अमरी ।
जइया तइयावि तये रायसिरी तारिसी दिट्ठा ॥१५॥

विद्युदिव घने रंगे दृष्टप्रणष्टा प्रनृत्यती अमरी ।
यदा तदापि त्वया राज्यश्रीः तादृशी दृष्टा ॥

अर्थ—हे वीतराग जिस प्रकार मेघ में बिजली दीखकर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार आपने जिस समय नत्य करती हुई नीलांजसा नाम की देवांगना को पहिले देखकर पीछे नष्ट हुई देखी उसी समय आपने राज्य लक्ष्मी को भी वैसा ही देखा अर्थात् उसको भी आपने चंचल समझ लिया ।

भावार्थ—किसी समय भगवान सिंहासन पर आनंद से विराजमान थे और नीलांजसा नाम की अप्सरा का नाच देख रहे थे उसी समय अकस्मात् वह अप्सरा लीन हो पुनः प्रकट हुई इस दृश्य को देखकर ही भगवान को शीघ्र ही इस बात का विचार हुवा कि जिस प्रकार यह अप्सरा लीन होकर तत्काल में प्रकट हुई है उसी प्रकार इस लक्ष्मी का भी स्वभाव है अर्थात् यह भी चंचल है अतएव उस समय शीघ्र ही भगवान को वैराग्य हो गया उसी अवस्था को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने इस श्लोक से भगवान की स्तुति की है ॥१५॥

वेरग्गदिणे सहसा वसुहा जुण्णंतिणव्व जं मुक्का
देव तएसा अज्जवि विलवह सरिजलरवा वरई ।

वैराग्यदिने सहसा वसुधा जीर्णतृणमिव यत् मुक्ता
देव त्वया सा अद्यापि विलपति सरिज्जलमिषेण वराकी ।

अर्थ—हे जिनेश हे प्रभो जिस दिन आपको वैराग्य हुआ था उस दिन जो आपने यह पृथ्वी पुराने तृण के समान छोड दी थी वह दीन पृथ्वी इस समय भी नदी के व्याज से विलाप कर रही है ॥

भावार्थ—जिस समय नदी में जल का प्रभाव आता है उस समय नदी कल २ शब्द करती है उस को अनुभव कर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते है कि हे प्रभो यह नदी जो कल २ शब्द कर रही है यह इस का कल २ शब्द नहीं है किंतु यह इस कल २ शब्द इस पृथ्वी के विलाप का शब्द है क्योंकि जिस दिन आप को वैराग्य हुआ था उस समय आपने इस बिचारी पृथ्वी को सड़ेतृण के समान छोड़ दिया था और आप इसके नाथ थे, इसलिये आपके द्वारा ऐसा अपमान पाकर यह विलाप कर रही है। और कोई भी कारण नहीं ॥१६॥

अइ सोइओसि तइया काउस्सग्गट्ठिओ तुमं णाह
धम्मिक्कघरारंभे उज्झीकय मूलखंभोव्व।

अतिशोभितोऽसि तदा कायोत्सर्गास्थितस्त्वं नाथ
धर्मैकगृहारंभे उर्ध्वीकृत मूलस्तंभ इव।

अर्थ—हे भगवान् हे प्रभो जिस समय आप कायोत्सर्ग सहित विराजमान् थे उस समय धर्म रूपी घर के निर्माण में उन्नत मूलखंभ के समान आप अत्यंत शोभित होते थे।

भावार्थ—हे भगवन् जिस समय आप कायोत्सर्ग मुद्रा को धारण कर वन में खड़े थे उस समय ऐसा मालूम होता था कि आप इस धर्म रूपी घर के स्थित रहने में प्रधान खंभ ही हैं अर्थात् जिस प्रकार मूलखंभ के आधार से घर टिका रहता है उसी प्रकार आपके द्वारा ही यह विद्यमान था ॥१७॥

हिययत्थझाणसिहिओज्झमाणसहसासरीरधूमोव्व
सोहइ जिण तुह सीसे महुपरकुलसणिहकेसभरो।

हृदयस्थध्यानशिखिदह्यमानशीघ्रशरीरधूम्रवत्
शोभतेजिनतव शिरसि मधुकर कुल सन्निभः केशसमूहः।

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र भौरों के समूह के समान काला जो आपके मस्तक पर बालों का समूह है वह हृदय में स्थित जो ध्यान रूपी अग्नि उस से शीघ्र जलाया हुआ जो शरीर उसके धूआं के समान शोभित होता है ऐसा मालूम पड़ता है।

भावार्थ—धूआं भी काला है और भगवान के मस्तक पर विराजमान केशों का समूह भी काला है इस लिये ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे प्रभो यह जो आपके मस्तक पर बालोंका समूह है वह बालों का समूह नहीं है किंतु वैराग्य संयुक्त आपके हृदय में जलती हुई जो ध्यान रूपी अग्नि उससे जलाया हुआ जो आपका शरीर है उसका यह धूआं है ॥१८॥

कम्मकलंकचउक्के णट्ठे णिम्मलसमाहि भूईए
तुहणाणदप्पणेच्चिय लोयालोयं पडिप्फलियं ।

कर्मकलंकचतुष्के नष्टे निर्मलसमाधिभूत्या तव
ज्ञानदर्पणेऽत्र लोकालोकं प्रतिबिम्बितम् ।

अर्थ——हे जिनेश हे प्रभो निर्मल समाधि के प्रभाव से चार घातिया कर्मों के नाश होने पर आपके सम्यग्ज्ञान रूपी दर्पण में यह लोक तथा अलोक प्रतिबिम्बित होता हुआ ।

भावार्थ—जब तक इस आत्मा में अखंड ज्ञान (केवलज्ञान) की प्रकटता नहीं होती तब तक यह आत्मा लोक तथा अलोक के पदार्थ को नही जान सकता किन्तु जिस समय उसके केवल ज्ञान की प्रकटता हो जाती है उस समय यस लोकालोक के पदार्थों को जानने लग जाता है तथा उस सम्यग्ज्ञान की प्रकटता तेरये गुणस्थान में जबकि प्रकृष्ट ध्यान से चार घातिया कर्मों का नाश हो जाता है तब होती है इसी आशय को लेकर ग्रन्थकार स्तुति करते है कि हे प्रभो आपने प्रकृष्ट ध्यान से चार घातियाकर्मों का का नाश कर दिया है इसीलिये आप समस्त लोकालोक के भलीभांति जानने वाले हुए है ॥१९॥

आवरणाईणि तए समूलमुम्मूलियाई दट्ठूण
कम्मचउक्केण मुअंव णाह भीएण सेसेण॥

आवरणादीनि त्वया समूलन्मुमूलितानि दृष्ट्वा ।
कर्मचतुष्केण मृतवत् नाथ भीतेन शेषेण ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जिस समय आपने जड़ सहित ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों का सर्वथा नाश कर दिया था उस समय उन सर्वथा नष्ट ज्ञानावरणादि कर्मों को देखकर शेष के जो चार अघातिया रहे वे भय से आपकी आत्मा में मरे हुए के समान रहगये ।

भावार्थ—जिस समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, और अंतराय, इन चारों का सर्वथा नाश हो जाता है उस समय शेष जो वेदनीय, आयुः, नाम, तथा गोत्र, ये चार अघातियाकर्म हैं वे बलहीन रह जाते हैं इसी आशय को मन में रखकर ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन् जो अघातियाकर्म आपकी आत्मा में मृत के समान अशक्त होकर पड़े रहे उनकी अशक्तता का कारण यह है कि जब आपने अत्यंत प्रबलचार घातियां कर्मों को नाश कर दिया उस समय उनको बड़ा भारी भय हुआ कि हम भी अब निर्मूल किये जायंगे इसीलिये वे मरे हुए के समान अशक्त ही आपकी आत्मा स्थिर रहे ॥२०॥

णाणामणिणिम्माणे देव ट्ठिउ सहसि समवसरणम्मि ।
उवरिव्व सण्णिविट्ठो जियाण जोईण सव्वाणं ॥२१॥

नानामणिनिर्माणे देव स्थितः शोभते समवशरणे ।
उपरि इव सन्निविष्टः यावतां योगिनां सर्वेषाम् ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र हे प्रभो जिस समवशरण की रचना चित्रविचित्र मणियों से की गई थी ऐसे समवशरण में जितने भर मुनि थे उन समस्त मुनियों के ऊपर विराजमान आप अत्यंत शोभा को प्राप्त होते थे ॥२१॥

लोउत्तरावि सा समवसरणसोहा जिणेस तुह पाये ।
लहिऊण लहइमहिमं रविणो णलिणिव्व कुसुमट्ठा ॥

लोकोत्तरापि सा समवशरणशोभा जिनेश तव पादौ ।
लब्ध्वा लभते महिमानं रवेः नलिनीव कुसुमस्था ॥

अर्थ—हे भगवन् हे प्रभो जिस प्रकार पुष्प में स्थित कमलिनी सूर्य के किरणों को पाकर और भी अधिक महिमा को प्राप्त होती है उसी प्रकार यद्यपि समवशरण की शोभा स्वभाव से ही लोकोत्तर होती है तो भी हे जिनेन्द्र आप के चरण कमलों को पाकर वह और भी अत्यंत महिमा को धारण करती है।

भावार्थ—एक तो कमलिनी स्वभाव से ही अत्यंत मनोहर होती है किंतु यदि वही कमिलनी सूर्य के किरणों को प्राप्त हो जावे तो और भी महिमा को प्राप्त होती उसी प्रकार सम

शरण की शोभा एक तो स्वभाव से ही लोकोत्तर अर्थात् सबसे उत्तम होती है और आपके चरणों के आश्रय को प्राप्त होकर, और भी वह अत्यंत महिमा को धारण करती है ॥२२॥

णिद्दोसो अकलंको अजडो चंदोव्व सहासितं तहवि ।
सिंहासणायलत्थो जिणंदकयकुवलयाणंदो ॥

निर्दोषः अकलंकः अजडः चंद्रवत् शोभते तथापि ।
सिंहासनाचलस्थः जिनेंद्र कृतकुवलयानंदः ॥

अर्थ—हे जिनेंद्र हे प्रभो आप यद्यपि निर्दोष तथा अकलंक और अजड़ है तो भी अचल सिंहासन में स्थित तथा किया है कुवलय को आनंद जिन्होंने ऐसे आप चंद्रमा के समान शोभित होते है।

भावार्थ—आप तो निर्दोष हैं और चंद्रमा दोषा (रात्रि) कर सहित है अर्थात् सदोष है और आप तो कर्म कलंककर रहित है किंतु चंद्रमा कलंककर सहित है तथा आप तो जड़ता रहित है किंतु चंद्रमा जड़ताकर सहित है इसलिये इस रीति से तो आप में तथा चंद्रमा में भेद है परन्तु जिस प्रकार चंद्रमा पर्वत की शिखिर पर स्थित रहता है और रात्रि विकासी कमलों को आनंद का देने वाला होता है इसलिये शोभा को प्राप्त होता है उसी प्रकार पर्वत के समान आप भी सिंहासन पर स्थित थे तथा आपने समस्त पृथ्वी मंडल को आनन्द दिया था इसलिये आप भी चंद्रमा के समान ही शोभित होते थे ॥२३॥

अच्छंतु ताव इयरा फुरियविवेया णमंतसिरसिहरा ।
होइ असोहो रुक्खोवि णाह तुह संणिहाणत्थो ॥

आस्तां तावत् इतरा स्फुरितविवेका नम्रशिरःशिखराः ।
भवति अशोको वृक्षः अपि नाथ तव सन्निधानस्थः ॥

अर्थ—आचार्य कहते है कि हे प्रभो हे जिनेंद्र जिन भव्य जीवों के ज्ञान की ज्योति स्फुरायमान है और जो आपको मस्तक झुका कर नमस्कार करते है ये तो दूर ही रहें किंतु हे भगवन् आपके समीप रहा हुआ जड़ भी वृक्ष, अशोक हो जाता है।

भावार्थ—हे जिनेश जिनको ज्ञान मौजूद है अर्थात् जो ज्ञानी हैं तथा आपको मस्तक झुका कर नमस्कार करने वाले है ऐसे भव्य जीव आपके पास में रहकर तथा आपका उपदेश सुनकर शोक रहित हो जाते है इसमें तो कोई आश्चर्य नहीं किंतु जो वृक्ष जड़ हैं वह भी आपके केवल समीप में रहा हुआ ही अशोक हो जाता है इसमें बड़ा भारी आश्चर्य है ॥२४॥

छत्तत्तयमालंवियणिम्मलमुत्ताहलच्छलात्तज्झ ।
जणलोयणेसु वरिसइ अमयंपिव णाह विंदूहिं ॥

छत्रत्रयमालंवितनिर्मलमुक्ताफलच्छलात्तव ।
अनलोचनेपु वर्पति अमृतमिव नाथ विंदुभिः ॥

अर्थ—हे भगवन् हे नाथ आप के जो ये तीनों छत्र है वे लटकते हुए जो निर्मल मुक्ताफल उनके व्याज से मनुष्यों की आंखों में विंदुओं से अमृत की वर्षा करते हैं ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थ—हे भगवन् जिस समय भव्य जीव आपके छत्र को देखते हैं उस समय उनको इतना आनंद होता है कि आनंद के मारे उनकी आंखों से अश्रु पात होने लगता है ॥२५॥

कयलोयलोयणुप्पलहरिसाइ सुरेसहच्छचलियाइ ।
तुह देव सरहससहरकिरणकयाइव्व चमराइ ॥

कृतलोकलोचनोत्पलहर्षणि सुरेशहस्तचालितानि
तव देव शरच्छशधरकिरणकृतानि इव चमराणि ॥

अर्थ—जिन चमरों के देखने से समस्त लोक के नेत्र रूपी कमलों को हर्ष होता है और जिनको बड़े २ इन्द्र ढोरते हैं ऐसे हे जिनेन्द्र आपके चमर शरदऋतु के चंद्रमा की किरणों से बनाये गये हैं ? ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थ—और ऋतु की अपेक्षा शरदऋतु के चंद्रमा की किरण बहुत स्वच्छ तथा सफेद होती है इसलिये ग्रन्थकार कहते है कि हे भगवन् आपके चमर इतने स्वच्छ तथा सफेद हैं जो कि ऐसे मालूम होते है मानों शरदकालीन चद्रमा की किरणों से ही बनाये हुए है और जिनको

देखने मात्र से समस्त लोक के • नेत्रों को आनंद होता है तथा जिनको बड़े २ इन्द्र आकर ढोरते हैं ॥२६॥

विहलीकयपंचसरो पंचसरो जिण तुमम्मि काऊण
अमरकयपुप्फविट्ठिछलइव बहु मुअइ कुसुमसरो ।

विफलीकृतपंचशरः पंचशरो जिन त्वयि कृत्वा
अमरकृतपुष्पवृष्टिच्छलाद् इव बहून् मुंचति कुसुमशरान् ॥

अर्थ—हे भगवन् हे जिनेन्द्र जिस कामदेव के आपके सामने पांचोंवाण विफल हो गये हैं ऐसा वह कामदेव, देवोंकर की हुई जो आपके ऊपर पुष्पों की वर्षा उसके व्याज से पुष्पों के वाणों का त्याग कर रहा है ऐसा मालूम है ।

भावार्थ—आपके अतिरिक्त जितने भर देव है उनको वाण मार २ कर कामदेव ने वश में कर लिया किंतु हे प्रभो जब वही कामदेव अपने वाणों से आपको भी वश करने आया तब आपके सामने तो उसके वाण कुछ कर ही नही सकते थे । इसलिये उस कामदेव के समस्त वाण आपके सामने विफल हो गये इसलिये ऐसा मालूम होता है कि जिस समय देवों ने आपके ऊपर फूलों की वर्षा की उस समय वह फूलों की वर्षा नहीं थी किंतु अपने वाणों को योग्य न समझ कर कामदेव अपने फूलों के वाणों को फेंक रहा है, क्योंकि संसार में यह बात देखने में भी आती हैं कि समयके ऊपर जो चीज काम नही देती है उस को मनुष्य छोड़ ही देता है ॥२७॥

एस जिणो परमप्पा णाणोरणाणं सुणेह मावयणं
तुह दुंदुही रसंतो कहइव तिजयस्स मिलियस्स ॥

एष जिनः परमात्मा नान्योऽन्येषां शृणुत मावचनम्
तव दुंदुभिःरसन् कथयति इव त्रिजगतः मिलितस्य ॥

अर्थ—हे भगवन् वजती हुई जो आपकी दुंदुभि (नगाड़ा) वह तीनों लोक को इकट्ठाकर यह बात कहती है कि हे लोगो यदि वास्तविक परमात्मा है तो भगवान आदिनाथ ही हैं किंतु इन से भिन्न परमात्मा कोई भी नहीं इसलिये तुम इन से अतिरिक्त दूसरे का उपदेश मत सुनो इन्ही भगवान के उपदेश को सुनो ।

भावार्थ—मंगल काल में जिस समय आपकी दुंदुभि आकाश में शब्द करती है अर्थात् बजती है उस समय उस के बजने का शब्द निष्फल नहीं है किंतु वह इस बात को पुकार २ कर कहती है कि हे भव्यजीवो यदि तुम परमात्मा का उपदेश सुनना चाहते हो तो भगवान श्री आदिनाथ का दिया हुआ ही उपदेश सुनो किंतु इनसे भिन्न जो दूसरे २ देव है उन के उपदेश को अंश मात्र भी मत सुनो क्योंकि यदि परमात्मा है तो श्री आदिश्वर भगवान ही हैं किंतु इनसे भिन्न लोक में दूसरा परमात्मा नहीं ॥२८॥

रविणो संतावयरं ससिणो उण जड्डयाअरं देव
संतावजडत्तहरं तुम्हच्चिय पहु पहावलयं ॥२९॥

रवेः संतापकरं शशिनःपुनः जडताकरं देव
संतापजडत्वहरं तवार्चित प्रभो प्रभावलयम् ॥

अर्थ—हे जिनेश हे प्रभो सूर्य का प्रभासमूह तो मनुष्यों को संताप का करने वाला है तथा चंद्रमा का प्रभासमूह जड़ता का करने वाला है किंतु हे पूज्यवर आपका प्रभासमूह तो संताप जड़ता दोनों का नाश करने वाला है।

भावार्थ—यद्यपि संसार में बहुत से तेजस्वी पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु हे पूज्यवर प्रभो आपके समान कोई भी तेजस्वी पदार्थ उत्तम नहीं क्योकि यदि हम सूर्य को उत्तम तेजस्वी पदार्थ कहैं सो हम कह नहीं सकते क्योंकि उसका जो प्रभा समूह है वह मनुष्यों को अत्यंत संताप का करने वाला है और यदि चंद्रमा को हम उत्तम तथा तेजस्वी पदार्थ कहैं तो यह भी बात नहीं बन सकती क्योंकि चंद्रमा की प्रभा का समूह जड़ता का करने वाला है किन्तु हे जिनवर आपकी प्रभा का समूह संताप तथा जड़ता दोनों का सर्वथा नाश करने वाला है इसलिये आपकी प्रभा का समूह ही उत्तम तथा सुखदायक है ॥२९॥

मंदरमसिज्जमाणांवुरा, सिणिध्धोससरिणहा तुज्झ।
वाणीसुहा ण अरणा, संसारविसस्सणासयरी ॥३०॥

मंदरमथ्यमानाम्बुराशिनिर्घोषसन्निभा तव।
वाणी शुभा संसारविषस्य नाशकारी ॥

अर्थ—हे भगवन् हे जिनेश मंदराचल से मथन किया गया जो समुद्र उसका जो निर्घोष (बड़ा भारी शब्द) उसके समान जो आपकी वाणी है वह शुभ है किन्तु अन्य वाणी शुभ नहीं। तथा आपकी वाणी ही संसाररूपी विष को नाश करने वाली है किंतु और दूसरी वाणी संसाररूपी विष को नाश करने वाली नहीं है।

भावार्थ—हे भगवन् यद्यपि संसार में बहुत से बुद्ध प्रभृति देव मौजूद है और वाणी उनकी भी मौजूद है किंतु हे प्रभो जैसी आपकी वाणी (दिव्य ध्वनि) शुभ तथा उत्तम है वैसी बुद्ध आदि की वाणी नहीं क्योंकि आपकी वाणी अनेकांत स्वरूप पदार्थ का वर्णन करने वाली है और उनकी वाणी एकांत स्वरूप का वर्णन करने वाली है तथा वस्तु अनेकांतात्मक ही है एकान्तात्मक नहीं। और आपकी वाणी समस्त संसाररूपी विष को नाश करने वाली है किन्तु बुद्ध आदि की वाणी संसाररूपी विष को नाश करने वाली नहीं संसाररूपी विष को उत्कट करने वाली ही है तथा आपकी वाणी मंदराचल से जिस समय समुद्र का मथन हुवा था और जैसा उस समय में शब्द हुवा था उसी शब्द के समान उन्नत तथा गंभीर है ॥३०॥

पत्ताण सारणिंपिव, तुज्झगिरं सा गई जडाणंपि।
जा मोक्खतरुट्ठाणे, असरिसफलकारणं होई॥

प्राप्तानां सारिणीमिव तव गिरं सा गतिः जड़ानामपि।
या मोक्षतरुस्थाने असदृशफलकारणं भवति॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश जो अज्ञानी जीव आपकी वाणी को प्राप्त कर लेते हैं उन अज्ञानी जीवों की वह गति होती है जो गति मोक्षरूपी वृक्ष के स्थान में अत्युत्तम फल की कारण होती है॥

भावार्थ—जो जीव ज्ञानी हैं वे आपकी वाणी को पाकर मोक्ष स्थान में जाकर उत्तम फल को प्राप्त होते है उसमें तो किसी प्राकर का आश्चर्य नहीं किन्तु हे भगवन् अज्ञानी भी पुरुष आपकी वाणी का आश्रय कर मोक्ष स्थान में उत्तम फल को प्राप्त करते है और जिस प्रकार नदी वृक्ष के पास में जाकर उत्तम फलों की उत्पत्तियों में कारण होती है उसी प्रकार आपकी वाणी भी उत्तम फलों की उत्पत्तियों में कारण है इसलिये आपकी वाणी उत्तम नदी के समान है ॥३१॥

पोयंपिव तुह पवयणम्मि, सल्लीणफुडमहो कयजडोहं ।
हेलाएच्चिय जीवा, तरंति भवसायरमणंतं ॥

पोत इव तव प्रवचने सल्लीना स्फुटमहो कृतजलौघम् ।
हेलयार्चित जीवाः तरंति भवसागरमनंतं ॥

अर्थ—जिन मनुष्यों के पास जहाज मौजूद है वे मनुष्य जिस प्रकार उस जहाज में बैठ कर जिसमें बहुतसा जल का समूह विद्यमान है ऐसे समुद्र को बात की बात में तर जाते हैं उसी प्रकार हे पूज्य हे जिनेश जो मनुष्य आपके वचन में लीन हैं अर्थात् जिन मनुष्यों को आपके वचन के ऊपर श्रद्धान है बड़े आश्चर्य की बात है कि वे मनुष्य भी पलमात्र में जिसका अन्त नहीं है ऐसे संसार रूपी सागर को तर जाते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो इस समय जितने भर जीव हैं सब अज्ञानी हैं उनको स्वयं वास्तविक मार्ग का ज्ञान नहीं हो सकता यदि हो सकता है तो आपके वचन में श्रद्धान रखने पर ही हो सकता है। इसलिये हे प्रभो जिन मनुष्यों को आपके वचनों पर श्रद्धान है वे मनुष्य अनंत भी इस संसार समुद्र को बात की बात में तर जाते है किंतु जो मनुष्य आपके वचनों में श्रद्धान नही रखते वे इस संसार समुद्र से पार नहीं हो सकते जिस प्रकार जहाज वाला ही समुद्र को पार कर सकता है और जिसके पास जहाज नहीं वह नहीं कर सकता ॥३२॥

तुह वयणं चिय साहइ णूणमणेयंतवायवियडपहं ।
तह हिययपईपअरं सव्वत्तणमप्पणोणाह ॥

तव वचनमेव साधयति नूनमनेकांतवादविकटपथम् ।
तथा हृदयप्रदीपकरं सर्वज्ञत्वमात्मनो नाथ ॥

अर्थ—हे जिनेद्र हे प्रभो आपके वचन ही निश्चय से अनेकांतवाद रूपी जो विकट मार्ग है उसको सिद्ध करते हैं तथा हे नाथ यह जो आपका सर्वज्ञपना है वह समस्त मनुष्यों के हृदयों को प्रकाश करने वाला है।

भावार्थ—जितने भर पदार्थ हैं वे समस्त पदार्थ अनेक धर्म स्वरूप हैं जब और जिस वाणी से उन पदार्थों के अनेक धर्मों का वर्णन किया जायगा तभी उन पदार्थों का वास्तविक

स्वरूप समझा जायगा किंतु दो एक धर्म के कथन से उन पदार्थों का वास्तविक स्वरूप नहीं समझा जा सकता और हे भगवन् आप से अतिरिक्त जितने भर देव हैं उन सब की वाणी एकांत मार्ग को ही सिद्ध करती है इसलिये उनकी वाणी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को नहीं कह सकती किंतु आपकी वाणी ही अनेकांत मार्ग को सिद्ध करने वाली है इसलिये वही पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन कर सकती है तथा आपके सर्वज्ञपने से भी समस्त मनुष्यों के हृदय को प्रकाश होता है अर्थात् जिस समय आप उनको यथार्थ उपदेश देते हैं उस ससय उनके हृदय में भी वास्तविक पदार्थों का ज्ञान हो जाता है ॥३३॥

विप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइसुइवलेण केवलिणो
वरदिट्ठिदिट्ठणहजंतपक्खगणणेवि सो अन्धो ॥

विप्रतिपद्यते यस्तव गिरि मतिश्रुतिवलेन केवलिनः ।
वरदृष्टिदृष्टनभोयातपक्षिगणनेपि सोन्धः ॥

अर्थ—हे भगवन् जो मनुष्य मति ज्ञान तथा श्रुतज्ञान के ही वल से आप केवली के वचन में विवाद करता है वह मनुष्य उस प्रकार का काम करता है कि अच्छी दृष्टि वाले मनुष्य द्वारा देखे हुए जो आकाश में जाते हुए पक्षी उनकी गणना में जिस प्रकार अंधा संशय करता है।

भावार्थ—जिस की दृष्टि तीक्ष्ण है ऐसा कोई मनुष्य यदि आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की गणना करे और उस समय कोई पास में बैठा हुआ अंधा पुरुष उससे पक्षियों की गणना में विवाद करे तो जैसा उस सूझते पुरुष के सामने उस अंधे का विवाद करना निष्फल है उसी प्रकार हे प्रभो हे जिनेश यदि कोई केवल मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान का धारी आप के वचन में विवाद करे तो उसका भी विवाद करना निरर्थक ही है क्योंकि आप केवली हैं तथा आपके ज्ञान में समस्त लोक तथा अलोक के पदार्थ हाथ की रेखा के समान झलक रहे हैं और वह प्रति वादी मनुष्य मति ज्ञान तथा श्रुति ज्ञान का धारी होने के कारण थोड़े ही पदार्थों का ज्ञाता है ॥३४॥

भिण्णाण परणयाणं एक्केक्कमसंगयाणया तुज्झ ।
पावंति जयम्मि जयं मज्झम्मि रिऊण किं चित्तं ॥

भिन्नानां परनयानाम् एकमेकमसंगतानां तव ।
प्राप्नुवंति जगत्रये जयं मध्ये पिपूणां किं चित्रम् ॥

अर्थ—हे भगवन हे प्रभो आपके नय, परस्पर में नहीं संबंध रखने वाले, तथा भिन्न ऐसे परवादियों के नयरूपी वैरियों के मध्य में तीनों जगत में विजय को प्राप्त होते है इसमें कोई भी आश्चर्य नहीं।

भावार्थ—परस्पर में नहीं संबंध रखने वाले तथा एक दूसरे के विरोधी ऐसे शत्रु, जिनमें एकता है तथा एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं ऐसे योधाओं के द्वारा जिस प्रकार बातचीत में जीत लिये जाते हैं तो जैसा उन शत्रुओं के जीतने में कोई आश्चर्य नहीं है उसीप्रकार हे प्रभो जो परवादियों के नय परस्पर हैं एक दूसरे से संबंध नहीं रखनेवाले हैं तथा भिन्न है ऐसे उन नयों को यदि परस्पर में संबंध रखने वाले तथा अभिन्न आपके नय जीत लेवे तो इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी आश्चर्य नहीं है ॥३५॥

अणस्य जए जीहा कस्स सयाणस्स वण्णणे तुज्झ।
जत्थ जिण तेवि जाया सुरगुरुपमुहा कई कुंठा ॥३६॥

अन्यस्य जगति जिह्वा कस्य सज्ञानस्य वर्णने तव।
यत्र जिन तेऽपि जाताः सुरगुरुप्रमुखाः कवयः कुंठा ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र हे प्रभो ऐसा संसार में कौनसा पुरुष समर्थ है कि जिसकी जिह्वा उत्तम ज्ञान के धारक आपके वर्णन करने में समर्थ हो ? क्योंकि वृहस्पति आदिक जो उत्तम कवि हैं वे भी आपके वर्णन करने में मंदबुद्धि हैं।

भावार्थ—संसार में वृहस्पति के बराबर पदार्थों के वर्णन करने में दूसरा कोई उत्तम कवि नहीं है क्योंकि वे इंद्र के भी गुरु है किंतु हे जिनेन्द्र आपके गुणानुवाद करने में वे भी असमर्थ हैं अर्थात् उनकी बुद्धि में भी यह सामर्थ्य नहीं जो आपका गुणानुवाद वे कर सकें क्योंकि आपके गुण संख्यातीत तथा अगाह है। और जब वृहस्पती की जिह्वा भी आपके गुणानुवाद करने में हार मानती है तब अन्य साधारण मनुष्यों की जिह्वा आपका गुणानुवाद कर सके यह बात सर्वथा असम्भव है ॥३६॥

सो मोहत्थेण रहिओ पयासिओ पहु सुपहो तएवईया।
तेणाज्जवि रयणजुआ णिव्विघ्घं जंति णिव्वाणं ॥३७॥

स मोहचौररहितः प्रकाशितः सुपंथा तस्मिन्काले ।
तेनाद्यापि रत्नत्रययुता निर्विघ्नंयांति निर्वाणम्॥

अर्थ—हे प्रभुओं के प्रभु जिनेन्द्र आपने उस समय मोहरूपी चोर कर रहित उत्तम मार्ग का प्रकाशन किया था इसलिये सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के धारी भव्य जीव इस समय भी उस मार्ग से बिना ही क्लेश के मोक्ष को चले जाते हैं।

भावार्थ—यदि मार्ग साफ तथा चोरों के भय कर रहित होवे तो रस्तागीर जिस प्रकार बिना ही विघ्न से उस मार्ग से चले जाते है उसी प्रकार हे भगवन् आपने भी जिस मार्ग का उपदेश दिया है वह मार्ग भी साफ तथा सबसे बलवान मोह रूपी चोर कर रहित है इसलिये जो भव्यजीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय के धारी हैं वे बिना ही किसी विघ्न के सुख से उस मार्ग से मोक्ष को चले जाते हैं।

सारार्थ—यदि मोक्ष मार्ग में गमन करने वाले प्राणियों को रोकने वाला है तो मोह रूपी चोर ही है इसीलिये भव्यजीव सहसा मोक्ष को नहीं जाते, और हे भगवन् आपने मोह रहित मार्ग का वर्णन किया है इसलिये भव्तजीव निर्विघ्न मोक्ष को चले जाते हैं ॥३७॥

उम्मुद्दियम्मि तम्मि हु मोक्खणिहाणे गुणणिहाण तए
केहिं ण जुणतिणाइव इयरणिहाणाइ भुवणम्मि ॥३८॥

उन्मुद्रिते तस्मिन् खलु मोक्षनिधाने गुणनिधान त्वया
कैर्न जीर्णतृणानीव इतरनिधानानि भुवने ॥

अर्थ—हे भगवन् हे गुणनिधान जिस समय आपने मोक्षरूपी खजाने को खोल दिया था उस समय ऐसे कौनसे भव्यजीव नहीं हैं जिन्होंने सड़ेतृण के समान दूसरे २ राज्य आदि निधानों को नहीं छोड़ दिया।

भावार्थ—हे जिनेश हे गुणनिधान जब तक भव्यजीवों ने मोक्षरूपी खजाने को नहीं समझा था तथा उस के गुणों को नहीं जाना था तभी तब वे राज्य आदि को उत्तम तथा सुख का करने वाला समझते थे किंतु जिस समय आपने उनको मोक्ष रूपी खजाने को खोलकर दिखा दिया

तब उन्होंने राज्य आदिक निधानों को सड़े हुए तृण के समान छोड़ दिया अर्थात् वे सब मोक्ष रूपी खजाने की प्राप्ति के इच्छुक हो गये ॥३८॥

मोहमहाफणिडक्को जणो विरायं तुमं पमुत्तूण
इयरणाए कह पहु विवेयणो चेयणं लहइ ॥३९॥

मोहमहाफणिदष्टो जनो विरागं त्वां प्रमुच्य
इतराज्ञया कथं प्रभो चेतनां लभते ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश जो पुरुष मोहरूपी प्रबल सर्प से काटा गया है अर्थात् जो अत्यंत मोही है वह मनुष्य समस्त प्रकार के रोगों से रहित वीतराग आपको छोड़ कर आप से भिन्न जो कुदेव हैं उनकी आज्ञा से कैसे चेतना को प्राप्त कर सकता है ? अर्थात् वह कैसे ज्ञानी बन सकता है ?

भावार्थ—जो जीव यह पुत्र मेरा है यह स्त्री मेरी है तथा यह संपत्ति मेरी है इस प्रकार अनादि काल से मोह कर ग्रस्त हो रहा है अर्थात् जिस को अंशमात्र भी हिताहित का ज्ञान नहीं है हे प्रभो उस मनुष्य को कभी भी आप से भिन्न कुदेवादि की आज्ञा से चेतना की प्राप्ति नहीं हो सकती है अर्थात् वह मनुष्य कदापि कुदेवादि के मार्ग में गमन करने से ज्ञान का संपादन नहीं कर सकता ॥३९॥

भवसायरम्मि धम्मो धरइ पडंतं जणं तुहच्चेव
सबरस्सव परमारणकारणमियराण जिणणाह ॥४०॥

भवसागरे धर्मो धरति पतंतं जनं तवैव
शवरस्येव परमारणकारणमितरेषां जिननाथ ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश संसार रूपी समुद्र में गिरते हुए जीवों को आपका धर्म ही धारण करता है किंतु हे जिनेन्द्र आप से भिन्न जितने भर धर्म है वे भील के धनुष के समान दूसरों के मारने में ही कारण हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार भील का धनुष जीवों को मारने ही वाला है रक्षा करने वाला नहीं उसी प्रकार हे जिनेन्द्र यद्यपि संसार में बहुत से धर्म मौजूद है परन्तु वे सर्व धर्म प्राणियों को

दुःखों के ही कारण हैं अर्थात् जो प्राणी उन धर्मों को धारण करता है उसको अनेक गतियों में भ्रमण ही करना पड़ता है तथा उन गतियों में नाना प्रकार के दुःखों को वह उठाता है क्योंकि उन धर्मों में वस्तु का वास्तविक स्वरूप जोकि जीवों को हितकारी है नहीं बतलाया गया है किंतु हे प्रभो आपके धर्म में वस्तु का यथार्थ स्वरूप भलीभांति बतलाया गया है अर्थात् असली मोक्ष मार्ग आदि को विस्तृत रीति से समझाया गया है इसलिये जो प्राणी आपके धर्म के धारण करने वाले हैं वे शीघ्र ही इस भयंकर संसाररूपी समुद्र को तर जाते हैं इसलिये आपका धर्म ही उत्तम मार्ग है ॥४०॥

अरणो को तुह पुरउ, वग्गइ गुरुयत्तणं पयासंसो
जम्मि तइ परमियत्तं, केशणहाणंपि जिण जायं ॥४१॥

अन्यः कः तव पुरतो वल्गति गुरुत्वं प्रकाशयन् ।
यस्मिन् त्वयि प्रमाणत्वं केशनखानामपि जिन जातम् ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जब आपके केश तथा नख भी परिमित हैं अर्थात् बढ़ते घटते नहीं तब ऐसा कौन है जो आपके सामने अपनी गुरुता को प्रकाशित करता हुआ बोलने की सामर्थ्य रखता हो ।

भावार्थ—जब अचेतन भी नख तथा केश आपके प्रताप से सदा परिमित ही रहते हैं अर्थात् न कभी बढ़ते है तथा न कभी घटते है तब जो आपके प्रताप को जानता है वह कैसे आपके सामने अपनी महिमा को प्रकट कर सकता है तथा आपके सामने अधिक बोल सकता है ॥४१॥

सोहइ सरीरं तुह, पहु तिहुयणजणणयणविवविच्छुरियं ।
पडिसमयमच्चियं चारुतरलनीलुप्पलेहिंव ॥४२॥

शोभते शरीरं तव प्रभो त्रिभुवनयनविबविच्छुरितं ।
प्रतिसमयमर्चितं चारुतरलनीलोत्पलैरिव ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र तीनों लोक के जो नेत्र उनको जो प्रतिबिंब उनसे चित्र विचित्र

आपका शरीर ऐसा मालूम पड़ता है मानों सुन्दर तथा चंचल नील कमलों से प्रति समय पूजित ही है क्या ?

भावार्थ—हे जिनेन्द्र आपका शरीर अत्यंत स्वच्छ सोने के रंग का है और जीवों के नेत्रों को उपमा नील कमलों से दी गई है इसलिये जिस समय वे जीव आपके दर्शन करते हैं उस समय उनके नेत्रों के प्रतिबिंब आपके शरीर में पड़ते है उन नेत्रों के प्रतिबिंब को अनुभव कर ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते है कि हे प्रभो ये नेत्रों के प्रतिबिंब नहीं है किंतु प्रति समय समस्त जीव आपकी नील कमलों से पूजा करते है इसलिये ये नील कमल हैं ॥४२॥

अहमहमिआये णिवडंति णाह छुहियालिणोव्व हरिचक्खू।
तुज्झच्चिय णहपहसरमज्झट्ठियचलणकमलेसु ॥४३॥

अहमहमिकया निपतंति नाथ क्षुधितालय इव हरिचक्षूंपि।
तव अर्चितनखप्रभासरोमध्यस्थितचरणकमलेषु ॥

अर्थ—हे जिनेश हे प्रभो आपके पूजित जो नख उनकी जो प्रभा (कांति) वही हुआ सरोवर उसके मध्य में स्थित जो चरण कमल उनमें भूंखे भ्रमरों के समान इन्द्रों के नेत्र अहम् अहम् (मैं मैं) इस रीति से गिरते है।

सारांर्थ—जिस प्रकार कमलों में सुगंध के लोलुपी भ्रमर बारम्बार आकर गिरते हैं उसी प्रकार हे जिनेन्द्र जिस समय इन्द्र आकर आपके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं उस समय आपके चरण कमलों में भी उन इन्द्रों के नेत्र रूपी भ्रमर पड़ते है और वे नेत्र काले २ भ्रमरों के समान मालूम पड़ते हैं ॥४३॥

कणयकमलाणमुवरिं सेवातुहविवुहकप्पियाण तुह
अहियसिरीणं तत्तो जुत्तं चरणाणसंचरण ? ॥४४॥

कनककमलानामुपरि सेवातुरविबुधकल्पितानां तव।
अधिकश्रीणां ततो युक्तं चरणानां संचरणम् ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र हे प्रभो आपके चरण अत्यंत उत्तम शोभाकर संयुक्त है इसलिये उनका, भक्तिवश देवों द्वारा रचित जो सुवर्ण कमल उनके ऊपर गमन करना युक्त ही है।

भावार्थ—जिस समय भगवान ज्ञानावरणादि चार घातियां कर्मों को सर्वथा नष्ट कर देते हैं उस समय उनको केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है और केवल ज्ञान की प्राप्ति होने के पीछे वे उपदेश देने को निकलते है उस समय यद्यपि वे आकाश में अधर चलते है तो भी देव भक्ति के वश होकर उनके चलने के लिये सुवर्ण कमलों से निर्मित मार्ग की रचना करते है उसी आशय को मन में रखकर ग्रन्थकार भगवान की स्तुति करते है कि हे भगवन् आपने जो देवरचित सुवर्ण कमलों पर गमन किया था वह सर्वथा युक्त ही था क्योंकि जैसे सुवर्ण कमल एक उत्तम पदार्थ थे उसी प्रकार आपके चरण भी अति उत्तम शोभाकर संयुक्त थे ॥४४॥

सइहरिकयकण्णसुहो गिज्जइ अमरेहि तुह जसो सग्गो।
मण्णे तं सोउमणो हरिणो हरिणंकसल्लीणे ॥४५॥

शचीन्द्रकृतकर्णसुखं गीयते अमरैस्तव यशः स्वर्गे।
मन्ये तच्छ्रोतुमनाःहरिणः हरिणांकसल्लीनः ॥

अर्थ—हे भगवन् हे जिनेन्द्र जिसके सुनने से इन्द्र तथा इन्द्राणी के कानों को सुख होता है ऐसे आप के यश को सदा स्वर्गों में देवता लोग गाया करते है इसलिये ऐसा मालूम होता है कि उसी के सुनने के लिये मृग चंद्रमा में जाकर लीन हो गया।

भावार्थ—संसार में यह किंवदन्ती भली भांति प्रसिद्ध है कि चंद्रमा के हिरण का चिह्न है इसलिये उसका नाम मृगांक है (अर्थात् चंद्रमा में हिरण रहता है) अतः आचार्यवर उत्प्रेक्षा करते हैं कि इस भूमंडल को छोड़कर जो चंद्रमा में जाकर हिरण ने स्थिति की है उसका यही कारण है कि वह पास में स्वर्ग में गाना सुनने के लिये गया है क्योंकि हे जिनेन्द्र इन्द्र तथा इन्द्राणी के कानों को सुख के करने वाले आपके यश को स्वर्ग में सदा देव गान किया करते हैं और हिरण गाने का अत्यंत प्रिय है यह प्रत्यक्षगोचर है ॥४५॥

अलियं कमले कमला कमकमले तुह जिणंद सा वसइ
णहकिरणणिहेण घडंति णयजणे से कडक्खछडा ॥४६॥

अलीकं कमले कमला क्रमकमले तव जिनेन्द्र सा वसति
नखकिरणनिभेन घटते नतजने तस्याः कटाक्षच्छटाः ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश लक्ष्मी कमल में रहती है यह बात सर्वथा असत्य है क्योंकि वह लक्ष्मी आप के चरण कमलों में रहती है क्योंकि जो भव्य जीव आप को शिर झुका कर नमस्कार करते हैं उन भव्य जीवों के ऊपर नखों की किरणों के बहाने से उस लक्ष्मी का कटाक्षपात प्रतीत होता है।

भावार्थ—ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि हे भगवन् आप की जो नखों की किरणें हैं वे नखों की किरण नहीं किंतु आपके चरणों में विराजमान जो लक्ष्मी (शोभा) है उसके कटाक्षपात है क्योंकि जो पुरुष भक्ति पूर्वक आप के चरण कमलों को नमस्कार करते हैं उनके ऊपर मुग्ध होकर लक्ष्मी कटाक्षपात करती है अर्थात् जो पुरुष आपके चरणकमलों को शिर झुकार नमस्कार करते हैं उनको लक्ष्मी की प्राप्ति होती है वे लक्ष्मीवान बन जाते हैं इसलिये हे प्रभो जो यह ससार में किंवदंती प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी कमल में निवास करती है यह बात सर्वथा असत्य है किंतु वह आपके चरण कमलों में ही रहती है अन्यथा भव्य जीव लक्ष्मीवान कैसे हो सकते है ॥४६॥

जे कयकुवलयहरिसे तुमम्मि विद्देसिणो स ताणंपि ।
दोसो ससिम्मि वा आहयाण जह वाहिआवरणं ॥४७॥

ये कृतकुवलयहर्षे त्वयि विद्वेषिणः स तेषामपि ।
दोषः शशिनि इव आहतानां यथा वाह्यावरणम् ॥

अर्थ—चंद्रमा तो सदा पृथ्वी को (रात्रिविकासी कमलों को) आनन्द का ही देनेवाला है किंतु जो मनुष्य रोग ग्रस्त है वे चंद्रमा से घृणा करते हैं सो जिस प्रकार उस घृणा के करने में उनके वाह्य आवरण का (उनकेरोगका) ही दोष है चंद्रमा का दोष नहीं। उसी प्रकार हे जिनेद्र आप तो समस्त भूमंडल को आनन्द के करने वाले है यदि ऐसा होने पर भी कोई मूर्ख आपसे विद्वेष करे तो वह उसी का दोष है इसमें आपका कोई भी दोष नहीं ॥४७॥

को इहहि उव्वरंति जिण जयसंहरणमरणवणसिहिणो ।
तुह पयथुरणिज्झरणीरणीवारणमिणमो ण जइ होंति ॥४८॥

क इहहि उद्धरति जिन जगत्संहरणमरणवनशिखिनः
तव पादस्तुतिनिर्झरिणीवारणमिदं न यदि भवति ॥

अर्थ—हे भगवन् हे प्रभो आपके चरणों की स्तुति वही हुई नदी उससे यदि वारण बुझाना नहीं होता तो समस्त जगत को सहार करने वाली ऐसी जो मरणरूपी वन की अग्नि उससे कैसे उद्धार होता ?

भावार्थ—यदि किसी कारण से वन में अग्नि लग जावे और उस अग्नि का बुझाने वाला यदि नदी का जल न होवे तो उस अग्नि से जिस प्रकार कुछ भी चीज नहीं बचती सब ही भस्म हो जाती हैं उसी प्रकार हे जिनेद्र यदि आपके चरणों की स्तुतिरूप जो नदी उससे बुझाना न होता तो समस्त जगत को नष्ट करने वाली मरणरूपी वनाग्नि से किसी प्रकार से उद्धार नहीं हो सकता था ।

सारार्थ—हे जिनेन्द्र यदि जीवों को मरने से बचाने वाली है तो आपकी चरणों की स्तुति ही है ॥४८॥

करजुयलकमलमउले भालत्थे तुह पुरो करा वसई ।
सग्गापवग्गकमला थुणंति तं तेण सप्पुरिसा ॥४६॥

करयुगलकमलमुकुले भालस्थे तव पुरतः कृते वसति ।
स्वर्गापवर्गकमला कुर्वंति तत् तेन सत्पुरुषाः ॥

अर्थ—हे भगवन् हे जिनेन्द्र जिस समय भव्य जीव आपके सामने दोनों हाथरूपी कमलों को मुकुलित कर अर्थात् जोड़कर मस्तक पर रखते है उस समय उनको स्वर्ग तथा मोक्ष की लक्ष्मी की प्राप्ति होती है इसीलिये उत्तम पुरुष हाथ जोड़कर मस्तक पर रखते हैं ।

भावार्थ—ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते है कि हे भगवन् जो सज्जन पुरुष हाथ जोड़कर मस्तक पर रखते हैं उनका उस प्रकार का कार्य निष्फल नहीं है किंतु उनको, हाथ जोड़कर

मस्तक पर रखने से स्वर्ग तथा मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति होती है अर्थात् हे भगवन् जो भव्यजीव आपको हाथ जोड़कर तथा मस्तक नवाकर नमस्कार करते है उनको स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है ॥४६॥

वियलइ मोणहधूली तुह पुरओ मोहठगपरिठविया
पणवियसीसाउ तओ पणवियसीस वुहा होंति ॥५०॥

विगलति मोहनधूलिस्तव पुरतो मोहठकस्थापिता
प्रणमितशीर्षान् ततः प्रणमितशीर्षा बुधा भवंति ॥

अर्थ—हे भगवन् हे प्रभो जो भव्यजीव आपको मस्तक झुका कर नमस्कार करते है उनकी मोह रूपी ठग से स्थापित मोहन रूपी धूली आपके सामने बात की बात में नष्ट हो जाती है इसीलिये विद्वान पुरुष आपको नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—जिन जीवों की आत्मा पर जब तक मोह रूपी भयंकर तथा दुर्जय ठग द्वारा रचित मोहनधूली विद्यमान रहती है तब तक उन जीवों को अंशमात्र भी हेयोपादेयका ज्ञान नहीं होता किन्तु वे विक्षिप्त के समान यह पुत्र मेरा है यह स्त्री मेरी और यह द्रव्य मेरा है ऐसे असत्य विकल्पों को सदा किया करते हैं किंतु हे प्रभो जिस समय वे भव्य जीव आपको मस्तक नवाकर विनय से नमस्कार करते है उस समय आप के सामने प्रबल भी उस मोहरूपी ठग की कुछ भी नहीं चलती अर्थात् वह आपको नमस्कार करने वाले भव्यजीवों के ऊपर अंशमात्र भी मोहन धूली नहीं डाल सकता इसीलिये उत्तम विद्वान पुरुष आपको मस्तक झुकाकर नमस्कार करते है ॥५०॥

बंभप्पमुहा सण्णा सव्वा तुह जे भणंति अण्णस्स
ससिजोण्णा खज्जोए जडेहि जोडिज्जये तेहिं ॥५१॥

ब्रह्मप्रमुखाः संज्ञाः सर्वाः तव ये भणंति अन्यस्य
शशिज्योत्स्ना खद्योते जड़ैः युज्यते तैः ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र ब्रह्मा विष्णु आदिक जो संज्ञा सुनने में आती हैं वे आप की हैं अर्थात् आप ही ब्रह्मा विष्णु हैं तथा बुद्ध आदिक भी आप ही हैं किंतु जो मनुष्य ब्रह्मा विष्णु

आदि संज्ञा दूसरों की मानते हैं वे मूढ मनुष्य चंद्रमाकी चांदनी का खद्योत (जुगुनू) के साथ के साथ सबंध करते हैं ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—खद्योत (पटवीजना) का प्रकाश बहुत कम होता है और शीतल नहीं होता और चंद्रमा का प्रकाश अधिक तथा शान्ति का देने वाला होता है यह बात भलीभांति प्रतीति सिद्ध है ऐसे होने पर भी जो मनुष्य चंद्रमा की अधिक तथा शीतल चांदनी को यदि खद्योत की चांदनी कहें तो जिस प्रकार वह मूर्ख समझा जाता है उसी प्रकार हे प्रभो वास्तविक रीति से तो ब्रह्मा आदिक संज्ञा आपकी ही है किंतु जो मनुष्य चतुर्मुख व्यक्ति को ब्रह्मा कहता है तथा गोपिकाओं के साथ रमण करने वाले को पुरुषोत्तम (विष्णु) कहता है और पार्वती नाम की स्त्री के पति को महादेव कहता है वह मनुष्य मूर्ख है क्योंकि ब्रह्मा आदिक जो संज्ञा है वे सार्थक है तथा उनका अर्थ चतुर्मुख आदि व्यक्तियों में घट नहीं सकता इसलिये वे ब्रह्मा आदिक नहीं हो सकते ॥५१॥

आदिनाथ स्तोत्र में भी यही बात कही है—

वसंत तिलका।

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥

अर्थ—हे आदीश्वर भगवन् आपके ज्ञानकी बड़े २ देव आकर पूजन करते हैं इसलिये आप ही बुद्ध हो किंतु आपसे भिन्न दूसरा कोई भी बुद्ध नहीं तथा आपही तीनों लोक के कल्याण के करने वाले हैं इसलिये आप ही शंकर हो किंतु आपसे भिन्न कोई भी शंकर (महादेव) नहीं है और हे धीर मोक्ष मार्ग की विधि के रचना करने वाले आप ही है इसलिये आप ही विधाता (ब्रह्मा है किंतु आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति ब्रह्मा नहीं है और आप प्रकट रीतिसे समस्त पुरुषों में उत्तम है इसलिये आप ही पुरुषोत्तम (विष्णु) हैं किंतु आपसे भिन्न कोई भी व्यक्ति पुरुषोत्तम नहीं ॥५१॥

और भी आदि नाथ स्तोत्र में कहा है—

त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं
ब्रह्माणमीश्वरमनंतमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदंति सन्तः ॥

अर्थ—हे भगवन् आप नाशकर रहित हैं तथा विभु हैं अर्थात् आपका ज्ञान सर्व जगह पर व्यापक है और आप अचिन्त्य हैं अर्थात् आपका भलीभांति कोई चिंतवन नहीं कर सकता और आप असंख्य हैं तथा आप सबके आदि में हुए हैं और आप ब्रह्मा है तथा ईश्वर है और अंतकर रहित हैं तथा आप कामदेव स्वरूप हैं और समस्त योगियों के जिनेन्द्र है तथा आप प्रसिद्ध ध्यानी हैं और आप अपने गुणों की अपेक्षा व्यवहारनय से अनेक हैं तथा परमशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा एक हैं और आप ज्ञानस्वरूप हैं तथा निर्मल है ऐसा उत्तम पुरुष कहते हैं ॥

तं चेव मोक्खपयवी, तं चिय सरणं जणस्स सव्वस्स ।
तं णिक्कारणविद्दो जाइ, जरामरणवाहिहरो ॥५२॥

त्वं चैव मोक्षपदवी त्वंचैव शरणं जनस्य सर्वस्य ।
त्वं निष्कारणवैद्यः जातिजरामरणव्याधिहरः ॥

अर्थ—हे भगवन् हे जिनेश आप ही तो मोक्ष के मार्ग हैं तथा समस्त प्राणियों के आप ही शरण हैं और समस्त जन्म जरा मरण आदि रोगों के नाश करने वाले आप ही विना कारण के वैद्य हैं ॥५२॥

किच्छाहि समुवलद्धे, कयकिच्चा जम्मि जोइणो होंति ।
तं परमकारणं जिण, ण तुमाहिंतो परोअत्थि ॥५३॥

कृच्छ्रात्समुपलब्धे कृतकृत्या यस्मिन् योगिनो भवंति ।
तत्परमपदकारणं जिन न त्वत्तः परोऽस्ति ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र बड़े कष्टों से आपको प्राप्त होकर योगी लोग कृतकृत्य होजाते हैं अर्थात् संसार में उनको कोई भी दूसरा काम नहीं बाकी रहता इसलिये आप से भिन्न कोई भी परमपद (मोक्षपद) का कारण दूसरा नहीं है।

भावार्थ—यद्यपि संसार में बहुत से देव हैं तथा वे अपने को परमपद का कारण भी कहते हैं किंतु हे जिनेन्द्र उनमें अनेक दूषण मौजूद हैं इसलिये वे परमपद के कारण नहीं हो सकते किंतु यदि परमपद के कारण हो तो आप ही हो क्योंकि योगी तप आदि को करके आपके स्वरूप को प्राप्त होकर कृतकृत्य होजाते है ॥५३॥

सुहमोसि तह ण दीससि, जह पहु परमाणुपेत्थियेहिंपि ।
गुरवो तह वोहमए, जह तइ सव्वंपि सम्मायं ॥५४॥

सूक्ष्मोऽसि तथा न दृश्यसे परमाणुप्रेक्षिभिरपि ।
गरिष्टस्तथा बोधमये यथा त्वयि सर्वमपि सम्मातम् ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश आप सूक्ष्म तो इतने हैं कि परमाणुपर्यंत पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाले भी आपको देख नहीं सकते तथा गुरु आप इतने है कि सम्यग्ज्ञानस्वरूप आपमें यह समस्त पदार्थ समूह समाया हुआ है अर्थात् आपका ज्ञान आकाश से भी अनंत गुणा है इसलिये आकाशादि समस्त पदार्थ आपके ज्ञान में झलक रहे हैं ॥५४॥

णिस्सेसवत्थुसत्थे, हेयमहेयं निरूवमाणस्स ।
तं परमाप्पासारो, सेसमसारं पलालं वा ॥५५॥

निश्शेषवस्तुसार्थे हेयमहेयं विरूप्यमाणस्य ।
त्वं परमात्मा सारः शेषमसारं पलालं वा ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र समस्त वस्तुओं के समूह में जो मनुष्य हेय तथा उपादेय को देखने वाला है उस पुरुष की दृष्टि में परमात्मा आप ही सार है और आप से भिन्न जितने भर पदार्थ है वे समस्त सूखे तृण के समान असार हैं।

भावार्थ—यद्यपि संसार में अनेक पदार्थ हैं किंतु हे प्रभो जो मनुष्य हेय तथा उपादेय का ज्ञाता है अर्थात् यह वस्तु त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है जिसको इस बात का भली भांति ज्ञान है उस मनुष्य की दृष्टि में यदि सारभूत पदार्थ हो तो आप ही हो क्योंकि आप समस्त कर्मों कर रहित परमात्मा हो परन्तु आपसे भिन्न कोई भी पदार्थ सार नहीं किंतु जिस प्रकार सूखा तृण असार है उसी प्रकार आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असार हैं ॥५५॥

धरइ परमाणुलीलं जं गब्भे तिहुयणंपि तंपि णह ।
अन्तो णाणस्य तुह इयरस्स न एरिसी महिमा ॥५७॥

धरति परमाणुलीलां यद्गर्भे त्रिभुवनमपि तदपि नभः ।
अन्तो ज्ञानस्य तव इतरस्य न ईदृशी महिमा ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश जिस आकाश के गर्भ में ये तीनों भुवन परमाणु की लीला को धारण करते हैं अर्थात् परमाणु के समान मालूम पड़ते हैं वह आकाश भी आपके ज्ञान के मध्य में परमाणु के समान मालूम पड़ता है ऐसी महिमा आपके ज्ञान में ही मौजूद है किंतु आप से भिन्न और किसी भी देव के ज्ञान में ऐसी महिमा नहीं है।

भावार्थ—जैन सिद्धांत में अकाश अनंत प्रदेशी माना गया है और उस आकाश के दो भेद स्वीकार किये है एक लोकाकाश दूसरा अलोकाकाश उनमें जिसमें जीवादि द्रव्य ६ रहें उसको लोक कहते हैं वह लोक इस आकाश के मध्य में सर्वथा छोटा परमाणु के समान मालूम पड़ता है क्योंकि लोक असंख्यात प्रदेशी ही है तथा आकाश अनंत प्रदेशी है परन्तु हे भगवन् यह एक आपकी अपूर्व महिमा है कि अनंत प्रदेशी भी यह आकाश आपके ज्ञान में परमाणु के समान ही है अर्थात् आपका ज्ञान आकाश से भी हे प्रभो अनंतगुणा है किंतु हे भगवन् आपसे भिन्न जितने भर देव हैं उनमें यह महिमा नहीं मौजूद है क्योंकि जब उनके केवल ज्ञान ही नही है तो वह अनंतगुण वाले हो किस प्रकार सकते हैं ॥५७॥

भुवणत्थुय थुणइ जइ जए सरस्सइ संतयं तुहं तहवि ।
ण गुणंतं लहइ तहिं को तरइ जडो जणो अण्णो ॥५८॥

भुवनस्तुत्य स्तौति यदि जगति सरस्वती संततं त्वां तथापि ।
न गुणांतं लभते तर्हि कस्तरति जडो जनोऽन्यः ॥

अर्थ—हे तीन भुवन के स्तुति के पात्र संसार में सरस्वती आपकी स्तुति करती है यदि वह भी आपके गुणों के अन्त को नहीं प्राप्त कर सकती है तब अन्य जो मूर्ख पुरुष हैं वह यदि आपके गुणों की स्तुति करें तो वह कैसे आपके गुणों का अन्त पा सकता है ?

भावार्थ—सरस्वती के सामने पदार्थ के वर्णन करने में दूसरा कोई भी प्रवीण नहीं है क्योंकि वह साक्षात् सरस्वती ही है परन्तु हे प्रभो जब वह भी आपके गुणों के अन्त को नहीं प्राप्त कर सकती है अर्थात् आपके गुणों के वर्णन करने में जब वह भी हार मानती है तब हे जिनेश जो मनुष्य मूर्ख हैं अर्थात् जिसकी बुद्धि पर ज्ञानावरण कर्म का पूरा २ प्रभाव पडा हुआ है वह मनुष्य कैसे आपके गुणों का वर्णन कर सकता है ?

सारार्थ—हे जिनेन्द्र आप में इतने अधिक गुण विद्यमान हैं तथा वे इतने गंभीर हैं कि उनको कोई भी वर्णन नहीं कर सकता ॥५७॥

खयरिव्व संचरंती तिहुयणगुरु तुह गुणोहगयणम्मि।
दूरंपि गया सुइरं कस्स गिरा पत्तयेरंता ॥५८॥

खचरीव संचरंती त्रिभुवनगुरो तव गुणौघगगने।
दूरमपि गता सुचिरं कस्य गीः प्राप्तपर्यंता ॥

अर्थ—हे त्रिभुवनगुरो हे जिनेन्द्र आपके गुणों के समूहरूपी आकाश में गमन करने वाली तथा दूर तक गई हुई ऐसी किसकी वाणीरूपी पक्षिणी है ? जो अंत को प्राप्त हो जावे।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश में गमन करने वाली पक्षिणी दूर तक उड़ भी उड़ती २ चली जावे तो भी आकाश के अंत को नही प्राप्त कर सकती है क्योंकि आकाश अनंत है उसी प्रकार हे प्रभो आपके गुण भी अनंत हैं इसलिये कवि अपनी वाणी से चाहे जितना आपके गुणों का वर्णन करे तो भी उसकी वाणी आपके गुणों के अंत को नहीं पा सकती ॥५८॥

जच्छअसक्कोअसक्को अणीसरो ईसरो फणीसोवि।
तुह थौत्ते तच्छ कई अहममई तं खमिज्जासु ॥५९॥

यत्राशक्तः शक्तोऽनीश्वरः ईश्वरः फणीश्वरोऽपि
तवस्तोत्रे तव वा कविः अहममतिः तत्त्वमस्व ॥

अर्थ—हे गुणागार प्रभो जिस आपके स्तोत्र करने में इन्द्र भी असमर्थ हैं और महादेव तथा शेषनाग भी आशक्त हैं उस आपके स्तोत्र करने में मैं अल्प बुद्धि कवि क्या चीज हूं ? इसलिये मैंने भी जो आपका स्तोत्र किया है उसको क्षमा कीजिये ।

भावार्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र आपके गुणों का स्तोत्र उतना कठिन है कि साधारण मनुष्यों की तो क्या बात जो अत्यंत बुद्धिमान तथा सामर्थ्यमान हैं ऐसे इंद्र ईश्वर (महादेव) तथा धरणीन्द्र हैं वे भी नहीं कर सकते किंतु मुझ अल्पबुद्धि ने इस आपके स्तोत्र के करने का साहस किया है इसलिये यह मेरा एकमात्र का बड़ा भारी अपराध है अतः विनय पूर्वक प्रार्थना है कि इस मेरे अपराध को आप क्षमा करें ॥५९॥

तं भव्वपोमणंदी तेयणिहीणो सरुव्वणिद्दोसो ।
मोहंधयारहरणे तुह पायां मम पसीयंतु ॥६०॥

त्वं भव्यपद्मनंदी तेजोनिधिः सूर्यवन्निर्दोषः
मोहांधकारहरणे तव पादौ मम प्रसीदेताम् ॥

अर्थ—हे जिनेश हे प्रभो आप भव्यरूपी कमलों को आनन्द के देने वाले तथा तेज के निधान और निर्दोष सूर्य के समान है इसलिये मोहरूपी अंधकार के नाश करने के लिये आप के चरण सदा प्रसन्न रहें।

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य कमलों को आनन्द का करने वाला होता है तथा तेज भंडार होता है और निर्दोष होता है तथा उसकी किरण समस्त अंधकार के नाश करने वाली होती हैं उसी प्रकार हे प्रभो आप भी भव्यरूपी कमलों को आनंद के देने वाले है तथा तेज के निधान हैं तथा निर्दोष हैं इसलिये आप सूर्य के समान है इसलिये विनय पूर्वक प्रार्थना है कि आपके चरण मोह रूपी अंधकार के नाश करने के लिये सदा मेरे ऊपर प्रसन्न रहें ॥६०॥

इस प्रकार श्री पद्मनंदि आचार्य द्वारा रचित श्रीपद्मनंदिपंचशिंतिका में
ऋषभस्तोत्र समाप्त हुआ ॥

श्रीमाज्जिनवरस्तोत्रप्रारंभः ।

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सहलीहूआइ मज्झ णयणाई
चित्तं गत्तं च लहू अमिएणव सिंचियं जायं ॥१॥

दृष्टे त्वयि जिनवर सफलीभूतानि मम नयनानि
चित्तं गात्रं च लघु अमृतेनवै सिंचितं जातम् ॥

अर्थ—हे जिनेश हे प्रभो आपके देखने पर मेरे नेत्र सफल होते हैं तथा मेरा मन और मेरा शरीर ऐसा मालूम होता है कि मानों अमृत से ही शीघ्र खींचा गया हो।

भावार्थ—उत्तम पदार्थों के देखने से ही नेत्र सफल होते हैं हे भगवन् आप उत्तम पदार्थ हैं इसलिये आपके देखने से मेरे नेत्र सफल होते हैं तथा मनमें और मेरे शरीर में इतना आनंद होता है मानों ये दोनों अमृत से ही सींचे गये हों ॥१॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिट्ठिहरासेसमोहतिमिरेण
तह णट्ठं जह दिट्ठं जहट्ठियं तं मए तच्चा ॥२॥

दृष्टे त्वयि जिनवर दृष्टिहरनिखिलमोहतिमिरेण
तथा नष्टं यथा दृष्टं यथास्थितं तन्मया तत्त्वम् ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र आपके देखने पर, जो सर्वथा दृष्टिको रोकने वाला था ऐसा मोहरूपी अंधकार इसरीति से नष्ट हो गया कि मैंने जैसा वस्तु का स्वरूप था वैसा देख लिया।

भावार्थ—जिस प्रकार अंधकार में वस्तु का वास्तविक स्वरूप थोड़ा भी नहीं मालूम पड़ता क्योंकि अन्धकार दृष्टिका प्रतिरोधक (रोकनेवाला) है उसी प्रकार जब तक मोह का प्रभाव इस आत्मा के ऊपर पड़ा रहता है तब तक वस्तुका अंशमात्र भी वास्तविक स्वरूप नहीं मालूम पड़ता किंतु हे प्रभो जिस समय आपके दर्शन हो जाते है उस समय बलवान भी मोहरूपी अंधकार पल भर में नष्ट होजाता है और ऐसा सर्वथा नष्ट हो जाता है कि वस्तु का वास्तविक स्वरूप दीखने लगजाता है ॥२॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर परमाणंदे णपूरियं हिययं
मज्झ तहा जह मग्गे मोक्खंपिव पत्तमप्पाणं ॥३॥

दृष्टे त्वयि जिनवर परमानंदेन पूरितं हृदयं
मम तथा यथा मन्ये मोक्षमपि वा प्राप्तमात्मानम् ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र हे प्रभो आप के देखने से परमानन्द से भरे हुवे मैं अपने मन को ऐसा मानता हूं मानों मैं ही मोक्ष को साक्षात प्राप्त हो गया हूं ॥

भावार्थ—जिस समय मेरा आत्मा मोक्ष को प्राप्त होजाय तथा जैसा उसको वहां पर आनंद मिले उसी प्रकार हे प्रभो मुझे आपके देखने से आनंद मालूम पड़ता है अर्थात् आपके दर्शन से पैदा हुवा सुख तथा मोक्ष का सुख ये दोनों सुख बराबर हैं किंतु इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं ॥३॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णट्ठं चिय मण्णयं महापावं
रविउग्गमे निसाए ठाइ तमो कित्तयं कालं ॥४॥

दृष्टं त्वयि जिनवर नष्टे चैव ज्ञातं महापापम्
रव्युद्गमे निशायाः तिष्टेत् तमः कियंतं कालम् ॥

अर्थ—हे जिनवर आप के देखने पर प्रबल पाप नष्ट हो गया ऐसा मुझे मालूम हुवा सो ठीक ही है क्योंकि सूर्य के उदय होने पर रात्रि का अंधकार कितने काल तक रह सकता है ?

भावार्थ—हे जिनेन्द्र जिस प्रकार अत्यंत प्रबल भी रात्रि का अन्धकार सूर्य के देखते ही पल भर में नष्ट हो जाता है उसी प्रकार हे कृपानिधान अत्यंत जबर्दस्त, तथा बड़ा भारी भी पाप आपके दर्शन से पल भर में नष्ट हो जाता है ॥४॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर सिज्झइ सो कोवि पुण्णपब्भारो ।
होइ जणो जेण पहु इह परलोयत्थसिद्धीणं ॥५॥

दृष्टे त्वयि जिनवर सिध्यति स कोऽपि पुण्यप्राग्भरः ।
भवति जनो येन प्रभुः इहपरलोकस्थसिद्धीनाम् ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र आपके देखने से ऐसे किसी उत्तम पुण्यों के समूह की प्राप्ति होती है कि जिसकी कृपा से यह जन इस लोक तथा परलोक दोनों लोक की सिद्धियों का स्वामी हो जाता है।

भावार्थ—जो मनुष्य आपका दर्शन करते हैं उनको हे प्रभो ऐसे अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है कि वे उस पुण्य की कृपा से इस लोक में तो तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि विभूतियों को प्राप्त करते हैं तथा परलोक में अणिमा महिमा आदि ऋद्धियों के धारी इन्द्र अहमिन्द्र आदि विभूतियों को पाते है ॥५॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर मण्णे तं अप्पणो सुकयलाहम् ।
होही सो जेणासरिससुहनिही अक्खओ मोक्खे ॥६॥

दृष्टे त्वयि जिनवर मन्य तमात्मनः सुकृतलाभम् ।
भविष्यति येनासदृशसुखनिधिः अक्षयो मोक्षः ॥

अर्थ—हे जिनेश हे प्रभो आप के देखने से उस पुण्य लाभ को मानता हूं जिस पुण्य लाभ से असाधारण सुख का निधि तथा अविनाशी ऐसे मोक्ष पद की प्राप्ति होती है ॥६॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर संतोषो मज्झ तह परो जाओ
इंदविहवोपि जणइ ण तण्हालेसंपि जह हियए ॥७॥

दृष्टे त्वयि जिनवर संतोषो मम तथा परोजातः
इन्द्रविभवोऽपि जनयति न तृष्णालेशमपि यथा हृदये ॥

अर्थ—हे स्वामिन् हे जिनेन्द्र आप के देखने से मुझे ऐसा उत्तम संतोष हुवा है कि जिस संतोष के सामने इन्द्र का ऐश्वर्य भी मेरे हृदय में तृष्णा के लेश को भी उत्पन्न नहीं करता।

भावार्थ—संसार में यद्यपि इन्द्र के ऐश्वर्य का पाना भी बड़े भारी पुण्य का फल है तो भी हे जिनेन्द्र आप के दर्शन से ही मुझे इतना उत्कृष्ट तथा बड़ा भारी संतोष होता है कि मुझे इन्द्र के ऐश्वर्य के पाने की तृष्णा ही नहीं होती अर्थात् मैं आपके दर्शन से उत्पन्न हुवे संतोष के सामने इन्द्र के ऐश्वर्य को भी सड़े तृण के समान असार मानता हूं ॥७॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर वियारपडिवज्जिए परमसंते
जस्स ण हिट्ठी दिट्ठी तस्स ण णियजम्मविच्छेओ ॥८॥

दृष्टे त्वयि जिनवर विकारपरिवर्जिते परमशान्ते ।
यस्य न दृष्टा हृद्दृष्टिः तस्य न निजजन्मविच्छेदः ॥

अर्थ—समस्त प्रकार के विकारों कर रहित तथा परम शांत ऐसे आप को देखकर हे जिनेन्द्र जिस मनुष्य की दृष्टि को आनंद नहीं होता उस मनुष्य के स्वीय जन्मों का नाश भी नहीं होता ।

भावार्थ—हे भगवन् हे जिनेश जो मनुष्य समस्त प्रकार के विकारों कर रहित तथा परमशांत ऐसी आपकी मुद्रा को देखकर आनंदित होता है उसको संसार में जन्म नहीं धारण करने पड़ते किंतु जिस मनुष्य की दृष्टि को समस्त विकारों कर रहित तथा शांतस्वभावी आपको देखकर आनंद नहीं होता उस मनुष्य को अनंत काल तक इस संसार में परिभ्रमण करना पड़ता ॥८॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, जम्मह कज्जंतराउलं हिययं ।
कइयावि होइ पुव्वा, जियस्स कम्मस्स सो दोसो ॥९॥

दृष्टे त्वयि जिनवर यन्मम कार्यान्तराकुलं हृदयं ।
कदापि भवति पूर्वार्जितस्य कर्मणः स दोषः ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र आपको देखकर भी जो कभी २ मेरा मन दूसरे २ कार्यों से आकुलित हो जाता है उसमें तेरे पूर्वोपार्जित कर्म का ही दोष है ॥

भावार्थ—हे प्रभो संसार में आपके दर्शन अलभ्य है अर्थात् हरएक मनुष्य को आपके दर्शन नहीं मिल सकते इसलिये यद्यपि आपका दर्शन मन की एकाग्रता से ही करना चाहिये तो भी हे प्रभो मैंने जो पूर्वभावों में अशुभ कर्मों का उपार्जन किया है उन अशुभ कर्मों ने मेरे ऊपर इतना अपना प्रभाव जमा रक्खा है कि आपके दर्शन के होने पर भी मेरा मन दूसरे २ कार्यों से

ख. पुस्तक में णयजम्मविच्छेओ यह भी पाठ है ।

व्याकुलित होजाता है इसलिये दूसरे २ कार्यों में जो मेरा मन आसक्त होता है उसमें पूर्वोपार्जित कर्मों का ही दोष है मेरा कोई दोष नहीं है ॥९॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, अच्छओ जम्मंतरं ममेहावि ।
सहसा सुहेहि घडियं, दुक्खेहि पलाइयं दूरं ॥१०॥

दृष्टे त्वयि जिनवर आस्तां जन्मांतरं ममेहापि ।
सहसा सुखैर्घटितं दुःखैश्च पलायितं दूरम् ॥

अर्थ—हे जिनवर प्रभो आपको दर्शन से मेरे दूसरे जन्मों की तो बात दूर ही रहो किंतु इस जन्म में भी मुझे नाना प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है और मेरे समस्त पाप दूर भाग जाते है ॥

भावार्थ—हे जिनेश आपके दर्शनों में इतनी शक्ति है कि जो मनुष्य आपको विनय भाव से देखता है उस मनुष्य के जन्म जन्मांतर के समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं तथा नाना प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है यह तो कुछ बात नहीं अर्थात् जन्मांतर के दुःख तो अवश्य ही नष्ट होते हैं तथा जन्मांतर में सुख मिलता ही है किंतु हे प्रभो इस जन्म में भी आपके दर्शनों से नाना प्रकार के सुखों की प्राप्ति होती है तथा समस्त प्रकार के दुःखों का नाश हो जाता है अर्थात् आपके दर्सन तत्काल फल के देने वाले है ॥१०॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, वज्झइ पट्टो दिणम्मि अज्जयणे ।
सहलत्तणेण मज्झे, सव्वदिणाणंपि सेसाणं ॥११॥

दृष्टे त्वयि जिनवर वध्यते पट्टो दिनेऽद्यतने ।
सफलत्वेन मध्ये सवदिनानामपि शेषाणाम् ॥

अर्थ—हे प्रभो हेजिनवर आपके दर्शनों के होने के कारण समस्त दिनों में आज का दिन उत्तम तथा सफल है ऐसा जानकर पट्टबंधन किया ।

भावार्थ—समस्त दिनों में मेरा आज का दिन उत्तम तथा सफल है ऐसा मैं समझता हूं क्योंकि आज मुझे आपका दर्शन मिला है ॥११॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, भवणमिदं तुज्झ महमहग्घतरं ।
सव्वाणंपि सिरीणं, संकेयघरेव पडिहाये ॥१२॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भवनमिद तव महार्घ्यतरम् ।
सर्वासामपि श्रीणां संकेत गृहमिव प्रतिभाति ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश्वर आपके देखने से यह जो बहुमूल्य आपका मंदिर है वह मेरे लिये समस्त प्रकार की लक्ष्मी के संकेत घर के समान है ऐसा मुझे मालूम पड़ता है ।

भावार्थ—हे भगवन् आपके दर्शन से यह आपका स्थान मुझे ऐसा मालूम पड़ता है मानों समस्त प्रकार की लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये मेरे लिये संकेत घर है ॥१२॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, भक्तिजलोल्लं समासियं छेत्तं
जंतं पुलयमिसा, पुण्णबीयंकुरियमिव सोहइ ॥१३॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भक्तिजलौघेन समाश्रितं क्षेत्रम् ।
यत्तत्पुलकमिषात् पुण्यबीजमंकुरितमिव शोभते ॥

अर्थ—हे प्रभो हे हे जिनेन्द्र आपके देखने से जो मेरा क्षेत्र (शरीर) भक्ति रूपी जल से समाश्रित हुआ (सींचा गया) वह शरीर रोमांचों के बहाने से ऐसा शोभित होता है मानों अंकुर स्वरूप से परिणत पुण्यबीज ही है ।

भावार्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जिस समय मैं आपको भक्ति पूर्वक देखता हूं उस समय मारे आनंद के मेरे शरीर में रोमांच हो जाते है तथा वे रोमांच ऐसे मालूम होते हैं मानों पुण्य रूपी बीज से अंकुर ही उत्पन्न हुए हों ॥१३॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, समयामयसायरे गहीरंम्भि
रायाइदोसकलुसे, देवे को मण्णइ सयाणे ॥१४॥

दृष्टे त्वयि जिनवर समयामृतसागरे गंभीरे
रागादिदोषकलुषे देवे को मन्यते सज्ञानः ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र सिद्धान्त रूपी अमृत के गंभीर समुद्र, आपके देखने पर ऐसा कौनसा ज्ञानी होगा जो, रागादि दोषों से जिनकी आत्मा मलिन हो रही है ऐसे देवों को मानेगा ? ।

भावार्थ—जब तक मनुष्य ज्ञानी नहीं होता अर्थात् कौनसा पदार्थ मुझे हित का करने वाला है और कौनसा पदार्थ मुझे अहित का करने वाला है ऐसा मनुष्य का ज्ञान नहीं होता तब तक वह जहां तहां रागी तथा द्वेषी भी देवों को उत्तम देव समझता है किंतु जिस समय उसको हिताहित ज्ञान हो जाता है उस समय वह रागी तथा द्वेषी देवों को न अपना हितकारी मानता है तथा उनके पास भी नहीं झांकता है इसलिये हे प्रभो जिसने सिद्धान्तरूपी अमृत के समुद्र आपको देख लिया है वह ज्ञानवान् प्राणी भी रागी तथा द्वेषी देवों को नही मान सकता है १४॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, मोक्खो अइदुल्लहोवि संपडई ।
मिच्छत्तमलकलंकी, मणो ण जइ होइ पुरिसस्स ॥१५॥

दृष्टे त्वयि जिनवर मोक्षोऽतिदुर्लभः संप्रतिपद्यते ।
मिथ्यात्वमलकलंकितमनो न यदि भवति पुरुषस्य ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश यदि मनुष्य का मन मिथ्यात्वरूपी कलक से कलंकित नहीं हुआ हो तो वह पुरुष आपके दर्शन से अत्यंत दुर्लभ भी मोक्ष को भलीभांति प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—यदि मनुष्य का चित्त मिथ्यात्वरूपी मल से ग्रस्त हो जावे तो उस मनुष्य को तो मोक्ष की प्राप्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि जिस प्रकार पित्तज्वर वाले को मीठा भी दूध जहर के समान कडुवा लगता है उसी प्रकार उस मिथ्या दृष्टि को आपका उपदेश तथा आपका दर्शन विपरीत ही मालूम पड़ता है और जब वह आप के उपदेश को ही अच्छा न मानेगा तब तक उसको वास्तविक पदार्थ का स्वरूप नही मालूम पड़ सकता और वास्तविक स्वरूप के न जानने से मोक्ष को नहीं जा सकता किंतु जिस मनुष्य का मन मिथ्यात्व रूपी कलंक से कलंकित नहीं है अर्थात् जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि है वह मनुष्य आपके दर्शन से अत्यंत कठिन भी मोक्षको सुलभ रीति मे प्राप्त कर लेता है ॥१५॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर चम्ममएणाच्छिणावि तं पुण्णं
जं जणइ पुरोकेवलदंसणणाणाई ॥१६॥

दृष्टे त्वयि जिनवर चर्ममयेनाक्ष्णापि तत्पुण्यं
यज्जनयति पुरः केवलदर्शनज्ञानानि नयनानि ॥

अर्थ—हे प्रभो जो मनुष्य आपको इस चामके नेत्र से भी देख लेता है उस मनुष्य को उस अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है जो पुण्य आगे केवलदर्शन तथा केवलज्ञान रूपी नेत्रों को उत्पन्न करता है।

भावार्थ—हे प्रभो जो मनुष्य आपको चर्मके नेत्रों से देख लेता है उस मनुष्य को जब उस चर्म के नेत्र से देखते ही इतने पुण्य प्राप्ति होती है कि वह आगे केवल दर्शन तथा केवल ज्ञान को भी प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह पुरुष चारघातिया कर्मों को नाशकर केवली बनजाता है तब जो पुरुष आपको दिव्य नेत्र से देखता है उस को क्या २ फल की प्राप्ति न होगी अर्थात् दिव्यदृष्टि से आपको देखने वाला मनुष्य तो अवश्य ही अचिंत्य फल को प्राप्त करता है इस में किसी प्रकार का संशय नहीं ॥१६॥

दिट्ठे तुमम्मि जिनवर सुकयोत्थो मणणई ण जेणप्पा
सो बहुअ वड्डुणोद्धुडुणाई भवसायरे काही ॥१७॥

दृष्टे त्वयि जिनवर सुकृतार्थो मानितो न येनात्मा
स बहु मज्जनोन्मज्जितानि भवसागरे करिष्यति ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र जिस मनुष्य ने आपको देख कर भी अपनी आत्मा को कृतकृत्य नहीं माना वह मनुष्य नियम से संसार रूपी समुद्र में मज्जन तथा उन्मज्जन को करेगा अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य समुद्र में उछलता तथा डूबता है उसी प्रकार वह मनुष्य बहुत काल तक संसार में जन्म मरण करता हुआ भ्रमण करेगा ॥१७॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर णिच्छयदिट्ठीय होइ जं किंपि।
ण गिराइगोयरं तं साणुभवत्थंपि किं भणिमो ॥१८॥

दृष्टे त्वयि जिनवर निश्चयदृष्ट्या भवति यत्किमपि
न गिरां गोचरं तत् स्वानुभवस्थमपि किं भणामः

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश वास्तविक दृष्टि से आपके देखने पर जो कुछ हम को (आनंद) होता है वह यद्यपि हमारे मन स्थित है तो भी वह वचन के अगोचर ही है इसलिये हम उसके विषय में क्या कहें ?

भावार्थ—हे प्रभो जिस समय मैं आपको निश्चय दृष्टि से देख लेता हूं उस समय मुझे इतना आनंद होता है कि मैं यद्यपि अपने आप उसको जानता हूं तो भी उसको वचन से नहीं कह सकता ॥१८॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दट्ठव्वावहिविसेसरूवम्मि
दंसणसुद्धायगयं दाणिं मम णत्थि सव्वत्थ ॥१९॥

दृष्टे त्वयि जिनवर दृष्टव्यावधिविशेषरूपे ।
दर्शनशुद्धया गतमिदानीं मम नास्ति सर्वार्थः ॥

अर्थ—हे प्रभो जिनेन्द्र देखने योग्य पदार्थों की सीमा के विशेषरूप अर्थात् केवल ज्ञानस्वरूप आपके देखने पर मैं दर्शनविशुद्धि को प्राप्त हुआ और इस समय जितने भर बाह्य-पदार्थ हैं वे मेरे नहीं हैं ॥१९॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर अहयं सुहिया समुज्जला होई
जणदिट्ठी को पेच्छई तद् दंसणसुहयरं सूरं ॥२०॥

दृष्टे त्वयि जिनवर अधिकं सुखिता समुज्ज्वला भवति
जनदृष्टिः कः प्रेक्षते तद्दर्शनसुखकरं सूरम् ॥

अर्थ—हे भगवन् आपको देखकर मनुष्योंकी दृष्टि अधिक सुख तथा अत्यंत निर्मल होती है इसलिये दर्शन को सुख के करने वाले सूर्य को कौन देखता है ? अर्थात् कोई नहीं ।

भावार्थ—यद्यपि संसार में आप तथा सूर्य दोनों ही प्रतापी है और दोनों ही देखने योग्य पदार्थ हैं किंतु हे प्रभो जब आपके दर्शन से ही मनुष्यों की दृष्टि अधिक सुखी तथा अत्यंत स्वच्छ हो जाती तब सूर्य के देखने की क्या आवश्यकता है ? ॥२०॥

दिठ्ठे तुमम्मि जिणवर वुहम्मि दोसोज्झियम्मि वीरम्मि
कस्स किल रमइ दिठ्ठी जडम्मि दोसायरे खत्थे ॥२१॥

दृष्टे त्वयि जिनवर बुद्धे दोषोज्झिते वीरे
कस्य किल रमते दृष्टिः जड़े दोषाकरे खस्थे ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ज्ञानवान समस्तदोषोंकर रहित और वीर ऐसे आपको देखकर ऐसा कौन मनुष्य है जिसकी दृष्टि जड़ तथा दोषाकर और आकाश में रहनेवाले ऐसे चंद्रमा में प्रीति को करै ।

भावार्थ—यद्यपि चंद्रमा भी मनुष्यों को आनंद का देने वाला है किंतु हे प्रभो चंद्रमा ज्ञानरहित जड़ है और दोषाकार है तथा आकाश में ऊपर रहने वाला है और आप ज्ञानवान हैं अर्थात् ज्ञानस्वरूप हैं और क्षुधातृषा आदि अठारह दोषों के जीतने वाले है तथा अष्टकर्मों के जीतने के कारण आप वीर हैं इसलिये आपको छोड़कर ऐसा कौन मनुष्य है जिसकी दृष्टि चंद्रमा में प्रीतिको करैगी ? ॥२१॥

दिठ्ठे तुमम्मि जिणवर चिंतामणिकामधेणुकप्पतरू
खज्जोतव्व पहाये मज्झ मणे णिप्पहा जाया ॥२२॥

दृष्टे त्वयि जिनवर चिंतामणिकामधेनुकल्पतरवः
खद्योता इव प्रभाते मम मनसि निष्प्रभा जाताः ॥

अर्थ—हे प्रभो जिनेन्द्र आप के देखने पर जिस प्रकार सुवह के समय में पटवीजना प्रभा रहित हो जाता है उसी प्रकार चिंतामणी कामधेनु और कल्पवृक्ष भी मेरे मनमें प्रभारहित हो गये ॥

भावार्थ—जब तक अन्धेरी रात रहती है तब तक तो पटवीजना का प्रकाश भी प्रकाश समझा जाता है किंतु जिस समय प्रतःकाल होता है और सूर्य की किरण जहां तहां चारो ओर कुछ फैल जातीं है उस समय जिस प्रकार उस पटवीजना का प्रकाश कुछ भी नहीं समझा जाता उसी प्रकार हे प्रभो ! जब तक मैंने आपको नहीं देखा था तब तक मैं चिंतामणी कामधेनु तथा कल्पवृक्षों को उत्तम समझता था क्योंकि संसार में ये इच्छा के पूर्ण करने वाले गिने जाते हैं किंतु जिस समय से मैंने आपको देख लिया है उस समय से मेरे मन में आपही तो चिंतामणी हैं तथा

आपही कामधेनु और कल्पवृक्ष हैं किंतु जिनको संसार में चिन्तामणी कामधेनु कल्पवृक्ष कहते हैं वे आपके दर्शन के सामने फीके हैं ॥२२॥

दृष्टे तुमम्मि जिणवर रहसरसो यह मणम्मि जो जाओ
आणंदासुमिसासो तत्तो णीहरइ बहिरंतो ॥२३॥

दृष्टे त्वयि जिनवर रहस्यरसो मम मनसि योजातः
आंनदाश्रु मिषात् स ततो निस्सरति बहिरंतः ॥

अर्थ—हे जिनेश आपके देखने से जो मेरे मन में रहस्यरस (प्रेमरस) उत्पन्न हुवा है वह प्रेम रस आनंदाश्रुओं के व्याज से भीतर से बाहिर निकलता है ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—हे प्रभो हे दीनबन्धो मैं जिस समय आपको देखता हूं उस समय मेरे मन में इतना अधिक आनंद होता है कि मारे आनंद के मेरी आंख में आंसू निकल आते हैं किंतु मैं उनको आनंदाश्रु नहीं कहता क्योंकि मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आनंद के आसुओं के व्याज से भीतर न समाता हुवा प्रेमरस ही बाहर निकलता है ॥२३॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर कल्लाणपरंपरा पुरो पुरिसे
संचरइ अणाहूयावि ससहरे किरणमालव्व ॥२४॥

दृष्टे त्वयि जिनवर कल्याण परंपरा पुरः पुरुषस्य
संचरति, अनाहूतापि शशधरे किरणमाला इव ॥

अर्थ—हे प्रभो जिनेन्द्र जिस प्रकार चंद्रमा में किरणों की माला (पंक्ति आगे गमन करती है उसी प्रकार आपके दर्शन से पुरुषों के सामने बिना बुलाये भी कल्याणों की परंपरा आगे गमन करती है।

भावार्थ—जो मनुष्य आपका दर्शन करता है उसको इस भंव में नाना प्रकार के कल्याणों की प्राप्ति होती है ॥२४॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दिसवल्लीओ फलंति सव्वाओ
इठ्ठं अहुल्लियाविहु वरिसइ सुवण्णंपि रयणेहिं ॥२५॥

दृष्टे त्वयि जिनवर दिशवल्यः फलंति सर्वाः
इष्टमफुल्लितापि खलु वर्षति शून्योऽपि रत्नैः ॥

अर्थः—हे प्रभो जिनेश्वर आपके दर्शन से बिना पुष्पतभी समस्त दशदिशारूपी लता इष्ट-पदार्थों को देती हैं तथा रत्नोंकर रहित भी आकाश रत्नों की वृष्टि करता है ॥

भावार्थ—यद्यपि नियम यह है कि लता पुष्पित होकर फलको देती है किंतु हे प्रभो आपके दर्शनों में इतनी शक्ति है कि नहीं पुष्पित होकर भी मनुष्यों को दिशारूपीलता इष्टफल को देती हैं तथा रत्नोंकर रहित भी आकाश आपके दर्शनों की कृपा से रत्नोंकी वृष्टि को करता है ॥२५॥

दिठ्ठे तुमम्मि जिणवर भव्वो भयवज्जिओ हवे णवरं
गयणिंदच्चिय जायइ जोण्हापसरे सरे कुमुअं ॥२६॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भव्यो भयवर्जितो भवेन्नवरम्
गतनिद्र एव जायते ज्योत्स्नाप्रसरे सरसि कुमुदम् ॥

अर्थ—जिस प्रकार चांदनी के फैलने पर सरोवर में रात्रिविकाशी कमल शीघ्र ही प्रफुल्लित हो जाते हैं उसी प्रकार हे जिनेश आपके केवल दर्शन से ही भव्यजीव समस्त प्रकार के भयोंकर रहित तथा मोहरूपी निद्रा से रहित सुखी हो जाते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार रात्रिविकाशी कमलों के संकोचरहित पने में तथा प्रफुल्लिता में चंद्रमा की चांदनी असाधारण कारण है उसी प्रकार हे प्रभो भव्यजीवों के मोहनिद्रा के रहितपने में तथा समस्त प्रकार के भयों को दूर करने में आप ही असाधारण कारण है और दूसरा कोई नहीं ॥२६॥

दिठ्ठे तुमम्मि जिणवर हिययेण महा सुहं समुल्लसियं
सरिणाहेणिव सहसा उग्गमिए पुण्णिमा इंदे ॥२७॥

दृष्टे त्वयि जिनवर हृदयेन महासुखं समुल्लसितम्
सरिन्नाथेनेव सहसा उद्गमिते पूर्णिमाचंद्रे ॥

अर्थ—हे जिनेश हे प्रभो जिस प्रकार चंद्रमा के उदय होने पर समुद्र शीघ्र ही उल्लास को प्राप्त होता है उसी प्रकार आपके दर्शन से भी मेरे हृदय में अत्यंत प्रसन्नता होती है।

भावार्थ—जिस समय पूर्णिमासी के चंद्रमा को देखकर समुद्र उछलता है उस समय यद्यपि चंद्रमा समुद्र के उछलने के लिये प्रेरणा नहीं करता किंतु चंद्रमा के उदय होते ही जिस प्रकार वह स्वभाव से ही उल्लास को प्राप्त को होता है उसी प्रकार हे प्रभो आपको देखकर आपकी प्रेरणा से मेरा मन प्रसन्न नहीं होता कितु आपके देखने से ऐसा अपूर्व आनंद होता है जिससे वह स्वभाव से ही प्रसन्न हो जाता है ॥२७॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर दोहिमि चक्खूहिं तह सुही अहियं
हियये जह सहसाहो, होहित्ति मणोरहो जातः ॥२८॥

दृष्टे त्वयि जिनवर द्वाभ्यां चक्षुर्भ्यां तथा सुखी अधिकं।
हृदये यथा सहसार्थो भविष्यति इति मनोरथो जातः ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश आपको देखकर मैं इतना हृदय में अधिक सुखी हुआ मानो बहुत शीघ्र मेरे प्रयोजन सिद्ध होवेंगे ऐसा मेरा मनोरथ ही सिद्ध हुआ।

भावार्थ—मनुष्य की जो अभिलाषा हुआ करती है यदि उसकी सिद्धि शीघ्र होने वाली हो तो जिस प्रकार उस मनुष्य के हृदय में बचनातीत आनंद होता है प्रभो आपको देखकर मुझे भी बचनातीत आनंद हुआ अर्थात् मै आपके दर्शन से अत्यंत सुखी हुआ ॥२८॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, भवोवि मित्तणं गओ वसो।
एयम्मि ठियस्स जओ जायं तुह दंसणं मज्झ ॥२९॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भवोऽपि मित्रत्वं गत एष।
एतस्मिन् स्थितस्य यतः जातं तव दर्शनं मम ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश आपके दर्शन से यह जन्म भी मेरा परममित्र बन गया क्योंकि इस जन्म में रहने वाले मुझे आपका दर्शन हुआ है।

भावार्थ—संसार में जितने भर दुखों को उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं वे किसी के हितकारी मित्र नहीं होते इसलिये यद्यपि जन्म जीवों का मित्र नहीं हो सकता क्योंकि वह जीवों को नाना प्रकार के दुःखों का देने वाला है किन्तु हे प्रभो आपके दर्शन से वह जन्म मित्र ही बन गया क्योंकि अनेक जन्मों से आपका दर्शन नहीं मिला है किंतु इसी जन्म में आपका दर्शन मुझे मिला है ॥२६॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, भव्वाण भूरिभत्तिजुत्ताण
सव्वाओ सिद्धीओ होंति पुरो एक्कलीलाए ॥३०॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भव्यानां भूरिभक्तियुक्तानाम्
सर्वाः सिद्धयो भवंति पुरएकलीलया ॥

अर्थ—हे प्रभो हे भगवन् गाढ़ जो भक्ति उस भक्तिकर सहित जो भव्य जीव हैं उनको आपके दर्शन से बातकी बात में समस्त प्रकार की प्राप्ति हो जाती है।

भावार्थ—संसार में उत्तमोत्तम सिद्धियों की प्राप्ति यद्यपि अत्यंत कठिन है किंतु हे प्रभो जो मनुष्य आपके गाढ़ भक्त है अर्थात् आपमें भक्ति श्रद्धा रखते है उन मनुष्यों को केवल दर्शन से ही समस्त प्रकार की सिद्धियां बात की बात में आगे आकर उपस्थित हो जातीं हैं ॥३०॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, सुहगइसंसाहणेक्कवीयम्मि।
कंठगयजीवियस्सवि, धीरं संपज्जए परमं ॥३१॥

दृष्टे त्वयि जिनवर शुभगतिसंसाधनैकबीजे
कंठगतजीवितस्यापि धैर्यं संपद्यते परमम् ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र शुभगति की सिद्धि में एक असाधारण कारण ऐसे आपके दर्शन से जिस प्राणी के प्राण कंठ में आगये है अर्थात् जो तत्काल मरने वाला है ऐसे उस प्राणी को उत्तम धीरता आजाती है।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी जीव पर अधिक कष्ट आकर पड़े और उस समय यदि कोई उसका हितैषी मनुष्य सामने पड़ जावे तो उसको एकदम धीरता आजाती है उसी प्रकार

हे प्रभो जिस मनुष्य के प्राण सर्वथा कंठ में आ पहुंचे हैं अर्थात् जो शीघ्र ही मरने वाला है उस मनुष्य को यदि आपका दर्शन होजावे तो वह शीघ्र ही धीरवीर बन जाता है अर्थात् उसको मरण से किसी प्रकार का भय नहीं रहता क्योंकि आप जीवों को शुभगति की प्राप्ति में एक असाधारण कारण है इसलिये वह आपके दर्शन से समझ लेता है कि अब मेरे समस्त दुःख दूर हो गये ॥२१॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, कमम्मि सिद्धे ण किं पुरा सिद्धं
सिद्धियरं को णाणी, यहइ ण तुह दंसणं तह्मा ॥२२॥

दृष्टे त्वयि जिनवर क्रमे सिद्धे न किं पुरा सिद्धम्
सिद्धिकरं को ज्ञानी इच्छति न तव दर्शनं तस्मात् ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश आपके दर्शन से आपके चरणकमलों की प्राप्ति होने पर ऐसी कौनसी वस्तु बाकी रही जो मुझे न मिली हो ? अर्थात् समस्त पदार्थों की सिद्धि हुई इसलिये ऐसा कौनसा ज्ञानी है जो आपके दर्शनों की इच्छा न रखता हो ? अर्थात् समस्त ज्ञानी पुरुष आपके दर्शनों की इच्छा रखते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो और तो समस्त पदार्थों की सिद्धि अनेक जन्मों में मुझे बहुत समय हुई है किंतु हे जिनेश आपके चरणों की प्राप्ति मुझे नहीं हुई है इसलिये यदि इस समय आपके दर्शन से मुझे आपके चरणों की प्राप्ति हो गई तो संसार में समस्त पदार्थों की सिद्धि हो गई अतः ऐसा कोई ज्ञानी नहीं है जो आपके दर्शनों की इच्छा न करे किंतु समस्त ज्ञानी पुरुष आपके दर्शनों के लिये लालायित हैं ॥२२॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, पोम्मकयं दंसणत्थुई तुज्झ ।
जो पहु पढइ तियालं, भवजालं सो समोसरई ॥२३॥

दृष्टे त्वयि जिनवर पद्मनंदिकृतां दर्शनस्तुतिं तव
यः प्रभो पठति त्रिकालं भवजालं स स्फोटयति ॥

अर्थ—हे प्रभो जिनेश जो भव्यजीव पद्मनंदिनाम के आचार्य द्वारा की गई आपकी दर्शन स्तुति को तीनों काल पढ़ता है वह भव्यजीव संसाररूपी जाल का सर्वथा नाश कर देता है।

भावार्थ—यद्यपि संसाररूपी जाल का सर्वथा नाश करना अत्यंत कठिन बात है किंतु हे प्रभो जो मनुष्य श्री पद्मनंदि नामक आचार्य द्वारा की गई ऐसी आपकी स्तुति को प्रातःकाल मध्याह्नकाल और सायंकाल तीनोंकाल पढ़ता है वह मनुष्य शीघ्र ही संसाररूपी जाल का नाश कर देता है ॥३३॥

दिट्ठे तुमम्मि जिणवर, भणियमिणं जणियजणमणाणंदं ।
भव्वेहि पढज्जंतं, णंदउ सुयरं धरापीठे ॥३४॥

दृष्टे त्वयि जिनवर भणितमिदं जनितजनमनआनंदम्
भव्यैः पठ्यमानं तत् नंदतु सुचिरं धरापीठे ॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र आपको देखकर कहा हुआ तथा समस्त भव्य जनों के मनों को आनंद का देने वाला और भव्य जीवों द्वारा पठयमान अर्थात् जिसका सदा भव्य-जीव पाठ करते रहते हैं ऐसा यह आपका दर्शनस्तोत्र सदा इस पृथ्वी पर वृद्धि को प्राप्त हो ॥३४॥

इस प्रकार श्रीपद्मनंदि आचार्य विरचित श्रीपद्मपनंदि पंचविंशतिका
में जिनेन्द्रस्तवन नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥

अथ, सरस्वतीस्तोत्रम् ।

वंशस्थवृत्त ।

जयत्यशेषामरमौलिलालितं सरस्वति त्वत्पदपंकजद्वयम् ।
हृदि स्थितं यज्जनजाडयनाशनं, रजोविमुक्तं श्रयतीत्यपूर्वताम् ॥१॥

अर्थ—समस्त प्रकार के जो देव उनके जो मुकुट उनकरके लालित अर्थात् जिनको समस्त देव मस्तक नवाकर नमस्कार करते हैं ऐसे हे सरस्वति मातः आपके दोनों चरणकमल

सदा इसलोक में जयवंत है जो चरण कमल मन में तिष्ठते हुए मनुष्यों की समस्त प्रकार की जड़ताओं के नाश करने वाले और रजकर रहित अपूर्वता को आश्रय करते हैं।

भावार्थ—कमल तो स्वयं जड़ होते है इसलिये वे दूसरों की जड़ता का नाश भी नहीं कर सकते किंतु सरस्वती के चरण कमल मन में स्थित होने पर ही समस्त प्रकार की जड़ता के नाश करने वाले हैं और कमल तो रज (धूलि) कर सहित है किंतु सरस्वती के चरण कमल रजकर रहित हैं और जिन चरण कमलों को समस्त देव मस्तक नवाकर नमस्कार करते हैं इसलिये आचार्यवर सरस्वती के चरण कमलों की आशीर्वादात्मक स्तुति करते हैं कि इस प्रकार आश्चर्य के करने वाले सरस्वती को चरण कमल सदा इस लोक में जयवन्त हैं॥१॥

अपेक्षते यन्न दिनं न यामिनीं, नचांतरं नैव बहिश्च भारति
न तापकृज्जाड्यकरं न तन्महः, स्तुवे भवत्याः सकलप्रकाशकम् ॥२॥

अर्थ—हे सरस्वति जो आपका तेज न तो दिन की अपेक्षा करता है और न रात्रि की अपेक्षा करता है और न भीतर की अपेक्षा करता है और न बाहिर की अपेक्षा करता है और जो तेज न जीवों को संताप का देने वाला है और न जड़ता का करने वाला है तथा जो समस्त प्रकार के पदार्थों का प्रकाश करने वाला है आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार के सरस्वती के तेज को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं अर्थात् ऐसा सरस्वती का आश्चर्य का करने वाला तेज मेरी रक्षा करो।

भावार्थ—यद्यपि संसार में सूर्य आदि बहुतों के तेज मौजूद हैं किन्तु वे एक दूसरे की अपेक्षा के करने वाले है जिस प्रकार सूर्य का तेज तो दिन की अपेक्षा करने वाला है तथा चंद्रमा का तेज रात्रि की अपेक्षा करने वाला है और सूर्य तथा चंद्रमा दोनों के तेज मनुष्यों को नाना प्रकार के संतापों के देने वाले है अर्थात् सूर्य के तेज से तो मनुष्य मारे गर्मी के व्याकुल हो जाते है तथा चंद्रमा का तेज कामोत्पादक होने के कारण कामी पुरुषों को नाना प्रकार के संतापों का देने वाला होता है और सूर्य तथा चन्द्रमा के तेज बाह्य के ही प्रकाशक है अंतरंग के प्रकाशक नहीं हैं तथा सूर्य चन्द्रमा के तेज थोड़े ही पदार्थों के प्रकाशक हैं समस्त पदार्थों के प्रकाशक नहीं हैं किन्तु सरस्वती का तेज न तो दिन की अपेक्षा करता है और न रात की अपेक्षा करता है और न वह भीतर तथा बाहिर की ही अपेक्षा करता है और जीवों को

संताप का भी देने वाला नहीं है और न जड़ता का करनेवाला है तथा समस्त पदार्थों का प्रकाश करने वाला है इसलिये आचार्यवर कहते हैं कि ऐसे सरस्वती के तेज के लिये मैं मस्तक झुका-कर नमस्कार करता हूं ॥२॥

तव स्तवे यत्कविरस्मि साम्प्रतं भवत्प्रसादादिव लब्धपाठवः
सवित्रि गंगासरितेऽर्घदायको भवामि तत्तज्जलपूरिताञ्जलि ॥३॥

अर्थ—हे सरस्वति मातः आपकी कृपा से ही प्राप्त किया है चातुर्य जिसने ऐसा जो मैं इस समय आपकी स्तुति करने में कवि हुआ हूं उससे ऐसा मालूम होता है कि गंगा नदी के जल से पूरित (भरी हुई) है अंजिली जिसकी ऐसा मैं गंगा नदी के लिये ही अर्घ देने वाला हुआ हूं।

भावार्थ—जिस प्रकार गंगा नदी से पानी लेकर उसी को अर्घ देते हैं उसी प्रकार हे मातः सरस्वति आपकी कृपा से ही चातुर्य प्राप्त कर आपकी स्तुति में ही मैं कवि हुआ हूं ॥३॥

श्रुतादिकेवल्यपि तावकीं श्रियं स्तुवन्नशक्तोऽहमिति प्रपधते
जयेति वर्णद्वयमेवमादृशा वदंति यद्देवि तदेव साहसम् ॥४॥

अर्थ—हे सरस्वति मातः आपकी शोभा की स्तुति करता हुआ श्रुत है आदि में जिसके ऐसा केवली भी श्रुत केवली भी जब "मैं सरस्वती की शोभा की स्तुति करने में" असमर्थ हूं ऐसा अपने को मानता है तब मुझ सरीखे मनुष्यों की तो क्या बात है ? अर्थात् मुझ सरीखे मनुष्य तो आपकी स्तुति कर ही नहीं सकते किंतु हे देवि जो मुझ सरीखे मनुष्य आपके लिये जय इन दो वरणों को भी बोलते है वही मेरे सरीखे मनुष्यों का एक बड़ा भारी साहस है ऐसा समझना चाहिये।

भावार्थ—यद्यपि श्रुतकेवली समस्त शास्त्र के पारंगत होते हैं किंतु हे मातः आपकी लक्ष्मी (शोभा) इतनी अधिक है कि वे भी आपकी शोभा का वर्णन नहीं कर सकते और जब वे ही आपकी शोभा का वर्णन नहीं कर सकते तो मुझ सरीखे मनुष्यों की तो बात ही क्या है अर्थात् मैं तो अल्पज्ञानी हूं इसलिये मैं तो आपकी शोभा का वर्णन कर ही नहीं सकता और हे

देवि हम सरीखे मनुष्यों में इतनी भी शक्ति नहीं है जो आपके लिये जय ये दो अक्षर भी कह सकें किंतु जो हम आपके लिये जय ये दो अक्षर कहते है वह हम सरीखे मनुष्यों का बड़ा भारी साहस है ऐसा समझिये ॥४॥

त्वमत्र लोकत्रयसद्मनि स्थिता प्रदीपिका बोधमयी सरस्वति
तदंतरस्थाखिलवस्तुसंचयं जनाः प्रपश्यन्ति सदृष्टयोऽप्यतः ॥५॥

अर्थ—हे सरस्वति मातः आप तीन लोकरूपी घर में स्थित सम्यग्ज्ञानमय उत्कृष्ट दीपक हैं और जिस दीप की कृपा से सम्यग्दृष्टि जीव उन तीनों लोकों के भीतर रहने वाले जीवा जीवादि पदार्थों को भलीभांति देखते हैं।

भावार्थ—नाना प्रकार के पदार्थों से भरे हुये घर में यदि अंधकार के समय में दीपक रख दिया जाय तो नेत्र वाला पुरुष जिस प्रकार दीपक की सहायता से समस्त पदार्थों को भलीभांति देख लेता है उसी प्रकार यह तीनों लोक भी एक प्रकार का घर है तथा इसमें एक कोने से लेकर दूसरे कोने पर्यंत भलीभांति जीवादि पदार्थ भरे हुए हैं उस त्रिलोकरूपी घर में समस्त पदार्थों के प्रकाश करने में हे मातः आप उत्कृष्ट दीपक के समान हैं क्योंकि आपकी कृपा से सम्यग्दृष्टि पुरुष त्रिलोक में भरे हुए समस्त पदार्थों को भलीभांति देख लेते है ॥५॥

नभःसमं वर्त्म तवातिनिर्मलं पृथुप्रयातं विबुधैर्न कैरिह
तथापि देवि प्रतिभासतेतरां यदेतदक्षुण्णमिव क्षणेन तत् ॥६॥

अर्थ—हे देवि आपका जो मार्ग है वह आकाश के समान अत्यंत निर्मल है और अत्यंत विस्तीर्ण है उस मार्ग में ऐसे कौनसे विबुध हैं जो नहीं गये हों अर्थात् सभी गये हैं किंतु मातः तो भी वह मार्ग क्षण भर में ऐसा मालूम होता है कि अक्षुण्ण ही है अर्थात् कोई भी उस मार्ग से नहीं गया।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश का मार्ग अत्यंत निर्मल तथा विस्तीर्ण है और उसपर अनेक प्रकार के अनेक देव भी गमन करते हैं किंतु वह क्षण में ऐसा मालूम पड़ता है कि इस मार्ग से कोई भी नहीं गया है उसी प्रकार हे सरस्वती हे मातः आपका मार्ग भी अत्यंत निर्मल है और विस्तीर्ण है और अनेर विद्वान उस मार्ग से गये भी हैं तो भी वह मार्ग क्षण भर में

ऐसा मालूम होता है कि उह मार्ग से कोई नहीं गया है अर्थात् हे सरस्वती मातः आपका मार्ग अत्यंत गहन है ॥६॥

तदस्तु तावत्कवितादिकं नृणां तव प्रभावात्कृतलोकविस्मयम् ।
भवेत्तदप्याशु.पदं यदिष्यते तपोभिरुग्रैर्मुनिभिर्महात्मभिः ॥ ॥७॥

अर्थ—हे मातः हे सरस्वति समस्त लोक को आश्चर्य के करने वाले कविता आदिक गुण मनुष्यों को आपकी कृपा से हों इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है किन्तु हे मातः जिस पद को बड़े बड़े मुनि कठिन २ तप करके प्राप्त करने की इच्छा करते हैं वह पद भी आपकी कृपा से बात की बात में प्राप्त हो जाता है ॥

भावार्थ—हे मातः जो मनुष्य आपके उपासक हैं और जिनके ऊपर आपकी कृपा है उन मनुष्यों को आपके प्रसाद से समस्त लोक को आश्चर्य के करने वाली कविता आदि की प्राप्ति होती है अर्थात् कविता आदि से समस्त लोक को आश्चर्य सहित करते हैं। तथा आपकी कृपा से मनुष्यों को उस मोक्ष पद की प्राप्ति होती है जिस मोक्ष की बड़े बड़े मुनिगण उग्रतपों के द्वारा प्राप्त करने की अभिलाषा करते हैं ॥७॥

भवत्कला यत्र न वाणि मानुषे न वेत्ति शास्त्रं स चिरं पठन्नपि ।
मनागपि प्रतियुतेन चक्षुषा यमीक्षसे कैर्न गुणैः स भूष्यते ॥ ॥८॥

अर्थ—हे सरस्वती मातः जिस मनुष्य में आपकी कला नहीं अर्थात् जो मनुष्य आपका कृपा पात्र नहीं है वह चिरकाल तक पढ़ता हुआ भी शास्त्र को नहीं जानता है किन्तु जिसको आप थोड़ा भी स्नेह सहित नेत्र से देख लेती हो अर्थात् जो मनुष्य थोड़ा भी आपकी कृपा का पात्र बन जाता है वह मनुष्य संसार में किन २ गुणों से विभूषित नहीं होता है ? अर्थात् विना ही प्रयत्न के वह केवल आपकी कृपा से समस्त गुणों का भंडार हो जाता हैं।

भावार्थ—हे मातः आपके विना कृपा के यदि मनुष्य चाहे कि मैं पढ़ पढ कर विद्वान हो जाऊं तथा वास्तविक तत्वों का मुझे ज्ञान हो जावे यह कभी भी नहीं हो सकता किन्तु जिस मनुष्य पर आपकी थोड़ी भी कृपा रहती है वह मनुष्य विना पढ़े विद्वता आदि अनेक गुणों

को बात की बात में प्राप्त कर लेता है इसलिये आपकी कृपा ही मनुष्यों को कल्याण की करने वाली है ॥८॥

स सर्ववित्पश्यति वेत्ति चाखिलं नवा भवत्या रहितोऽपि बुध्यते ।
तदत्र तस्यापि जगत्त्रयप्रभोस् त्वमेव देवि प्रतिपत्तिकारणम् ॥९॥

अर्थः—संसार में जो केवली भगवान समस्त पदार्थों को भली भांति जानते है वे भी आपकी ही कृपा से हे देवि जानते तथा देखते है किंतु आपकी कृपा के बिना न वे जानते हैं और न देखते ही है इसलिये हे मातः इस संसार में तीनों जगत के प्रभू उन केवली के ज्ञान तथा दर्शन में भी आप ही कारण है ॥

भावार्थ—हे सरस्वति यदि आप न होतीं तो समस्त जगत प्रभु केवली भगवान भी समस्त पदार्थों को न तो देख ही सकते थे और न जान ही सकते थे इसलिये केवली भगवान के समस्त पदार्थों के जानने में आप ही साधारण कारण हैं ॥९॥

चिरादतिक्लेशशतैर्भवाम्बुधौ परिभ्रमन् भूरि नरत्वमश्नुते ।
तनूभृदेतत्पुरुषार्थसाधनं त्वया विना देवि पुनः प्रणश्यति ॥

अर्थ—चिरकाल से इस संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करता हुवा यह जीव सेकड़ों क्लेशों से इस मनुष्य जन्म को पाता है तथा वह मनुष्यभवही समस्त पुरुषार्थों का साधन है किंतु हे देवि आपके बिना वह पाया हुवा भी मनुष्यभव नष्ट हो जाता है ।

भावार्थ—यद्यपि गतिचार है परंतु उन सबमें मनुष्यगति (मनुष्यभव) अत्युत्तम है क्योंकि इस मनुष्यभव में ही जीव कर्मों से छूटने का उपाय कर सकते है तथा सबसे उत्तम जो स्थान मोक्ष है उसको भी जीव इसी मनुष्यभव में प्राप्त करते है किंतु इस मनुष्यभव की प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है तथा इस मनुष्यभव की प्राप्ति का फल यथार्थ तत्वज्ञानी बनना और तत्वज्ञानी बनने का उपाय सरस्वती की सेवा है इसलिये आचार्यवर कहते है कि हे मातः सरस्वती यदि आपकी कृपा न होवे तो मनुष्य का मनुष्यभव पाना व्यर्थ ही है क्योंकि वह मनुष्य विना आप की कृपा से यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है और यथार्थ ज्ञान के विना जो मनुष्यभव की प्राप्ति का फल है वह उसको नही मिल सकता है ॥१०॥

कदाचिदेवं त्वदनुग्रहं विना श्रुते ह्यधीतेऽपि न तत्त्वनिश्चयः ।
ततः कुतः पुंसि भवेद्विवेकता त्वयि विमुक्तस्य तु जन्म निष्फलम् ॥

अर्थ—हे मातः आपके अनुग्रह के बिना शास्त्र के भले प्रकार अध्ययन करने पर भी वास्तविकतत्व का निश्चय नहीं होता है और वास्तवितत्व के निश्चय न होने के कारण मनुष्य में हिताहित का विवेक भी नहीं हो सकता है ? इसलिये हे देवि आपके अनुग्रहकर रहित जो पुरुष हैं उसका मनुष्य जन्म पाना निष्फल ही है ॥

भावार्थ—जिस समय मनुष्य को वास्तविक तत्वका निश्चय (श्रद्धान) होता है उसी समय उस मनुष्य को यह पदार्थ त्यागने योग्य तथा यह पदार्थ ग्रहण करने योग्य है इस प्रकार का विवेक होता है और ये दोनों बातें शास्त्र के अध्ययन से प्राप्त होती है बिना शास्त्र के अध्ययन के नहीं किंतु आचार्यवर सरस्वती की स्तुति करते हैं कि हेमातः यदि मनुष्य के ऊपर आपकी कृपा न होवे तो वह मनुष्य भलीभांति शास्त्र का पाठी ही क्यों न हो ? उसको कदापि वास्तविकतत्वों का निश्चय नहीं हो सकता है और जब उसको वास्तविक पदार्थों का निश्चय ही नहीं हो सकता है तब उसको हेय तथा उपादेय का ज्ञान तो होई नहीं सकता और आप की कृपा के बिना उस मनुष्य का बड़े क्लेशों से पाया हुवा मनुष्यभव भी व्यर्थ ही है इसलिये हे मातः आप ही तो जीवों के तत्वके निश्चय में कारण हैं तथा आपही उनके हिताहित विवेक में कारण हैं तथा आप की ही कृपा से मनुष्य का मनुष्यभव भी सर्वथा फलीभूत है ॥११॥

विधाय मातः प्रथमंत्वदाश्रयं श्रयंति तन्मोक्षपदं महर्षयः ।
प्रदीपमाश्रित्य गृहे तमस्तते यदीप्सितं वस्तु लभेत मानवः ॥

अर्थ—जिस प्रकार मनुष्य, जो घर अन्धकार से व्याप्त है ऐसे घरमें दीपक के आश्रय से इष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार हे मातः बड़े बड़े ऋषि पहले आपके आश्रय को करते हैं सर्वोत्कृष्ट पीछे उस प्रसिद्ध मोक्षस्थान को वे पाते हैं ॥

भावार्थ—जिस घर में बहुतसा अन्धकार भरा हुवा है यदि उस घर में से, कोई मनुष्य चाहे कि मैं बिना दीपक के ही अपनी इष्ट वस्तु को निकाल कर ले आऊं तो वह मनुष्य कदापि नहीं ला सकता किन्तु दीपक की सहायता से ही ला सकता है इसलिये जिस प्रकार वह मनुष्य

दीपक की चाह करता है उसी प्रकार हे मातः सरस्वती यदि बड़े २ मुनि इस बात को चाहैं कि हम बिनाही आपकी कृपा के सीधे मोक्षपद को चले जावें तो वे कदापि नहीं जा सकते किन्तु आपकी सहायता से, कृपा से, ही वे जा सकते हैं इसलिये वे सबसे प्रथम आप का आश्रय करते हैं पीछे मोक्षको जाते हैं इसलिये अत्यंत तपस्वी भी मुनियों की प्राप्तिमें आपही कारण हैं ॥१२॥

त्वयि प्रभूतानि पदानि देहिनां पदं तदेकं तदपि प्रयच्छति ।
समस्तशुक्लापि सुवर्णविग्रहा त्वमत्र मातः कृतचित्रचेष्टिता ॥१३॥

अर्थ—हे मातः यद्यपि तुझमें अनेक पद हैं तो भी तू जीवों को एक ही पद देती है तथा यद्यपि तू चौतर्फा शुक्ल है तो भी तू सुवर्णविग्रहा (स्वर्ण के समान शरीर को धारण करने वाली) है इस लिये तू इस संसार में आश्चर्यकारी चेष्टा को धारण करने वाली है।

भावार्थ—इस श्लोक में विरोधाभासनामक अलंकार है इसलिये आचर्यवर शब्दसे विरोध दिखाते हैं कि जो अनेक पदों का धारण करने वाला होगा ? वह जीवों को एक ही पद क्यों देगा तथा जो चौतर्फा सफेद होगा वह सुवर्ण के रंग के समान शरीर को धारण करने वाला कैसे होगा ? अब अचार्यवर उस विरोध को अर्थ से परिहार करते हैं कि हे मातः यद्यपि आपमें अनेक पद (सुबंत तथा तिंङतरूप) मौजूद हैं तोभी अपने भक्तों को आप एक मोक्षपद को देती हो और यद्यपि आप शुक्ल (उज्वल) है तोभी आप सुवर्णविग्रहा (श्रेष्ठ "वर्ण" अक्षररूपी शरीर को धारण करने वाली) हो इसलिये आपकी इस प्रकार की चेष्टा आश्चर्य करती है॥

सारार्थ—हे मातः आप अनेक सुबंत तथा तिंङत स्वरूप पदों को धारण करने वाली हो तथा भव्यजीवों को मोक्ष को देने वाली हो और आप सर्वथा निर्मल तथा श्रेष्ठवर्णरूपी शरीर को धारण करने वाली हो ॥१३॥

समुद्रघोषाकृतिरर्हति प्रभौ यदा त्वमुत्कर्षमुपागता भृशम् ।
अशेषभाषात्मतया त्वया तदा कृतं न केषां हृदि मातरद्भुतम् ॥१४

अर्थ—हे मातः सरस्वति जिस समय तू भगवान् अर्हंत में अत्यंत उत्कर्ष को प्राप्त हुई थी अर्थात् जिस समय समवसरण में तू भगवान अंर्हत के मुख से दिव्यध्वनिरूप में प्रकट हुई थी उस समय तेरी ध्वनि समुद्र के समान धीर तथा गंभीर थी और उस समय तू अनेक भाषास्वरूप

थी इसलिये किसके मनमें तेने उस समय आश्चर्य नहीं किया था अर्थात् तुझको सुनकर समस्त जीव आश्चर्य करते थे।

भावार्थ—जिस समय ज्ञानावरणादि चारघातियाकर्म नष्ट हो जाते हैं उस समय केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा उनकेवलीके विनाही इच्छा के दिव्यवाणी प्रगट होती है उसी समय का ध्यान कर ग्रन्थकार सरस्वती की स्तुति करते है कि हे मातः जिस समय आप केवलीके मुख दिव्यध्वनिरूप परिणत होकर निकलती हो उस समय आपकी ध्वनि समुद्र की ध्वनि के समान होती है जिससे दूरभी बैठे हुवे पशु पची भली भांति सुन सकते है तथा उस समय आप समस्त भाषास्वरूप परिणत होकर उन केवलीके मुखसे प्रकट होती हो। इसलिये समस्त पशु पची आदिक अपनी २ भाषा में आपको समझ लेते है तथा उनको असली तत्व का भली भांति निश्चय हो जाता है और आपको इस स्वरूप में परिणत सुनकर वे लोग बड़ा आश्चर्य करते हैं ॥१४॥

सचक्षुरप्येष जनस्त्वया विना यदंध एवेति विभाव्यते बुधैः
तदस्य लोकत्रितयस्य लोचनं सरस्वति त्वं परमार्थदर्शने ॥ १५॥

अर्थ—हे मातः सरस्वति आपके बिना नेत्रों सहितभी इस पुरुष को विद्वान लोग अंधा ही समझते हैं इसलिये हे सरस्वति इस तीनों लोक के वास्तविक दर्शन में आप ही नेत्र है।

भावार्थ—यद्यपि इस लोक में अनेक पदार्थ भरे हुवे है किन्तु उन सब पदार्थों में परम पदार्थ जो मोक्ष है वही उत्तम पदार्थ है तथा उस परमपदार्थ का दर्शन ही नेत्र का फल है यदि मोक्ष स्थान का दर्शन नेत्र से न होवे तो वह नेत्र ही नहीं है आंखों से मोक्षरूप परम-पुरुषार्थ का दर्शन हो नहीं सकता इसलिये आंखों के होते भी आपके बिना उस पुरुष को विद्वान लोग अंधा ही कहते हैं तथा वह परमार्थ का दर्शन हे सरस्वति आपकी कृपा से ही होता है इसलिये परमार्थ के दर्शन में आप ही नेत्र है ॥१५॥

गिरा नरप्राणितमेति सारतां कवित्ववक्तृत्वगुणे च सा च गीः ।
इदं द्वयं दुर्लभमेव ते पुनः प्रसादलेशादपि जायते नृणाम् ॥१६॥

अर्थ—मनुष्य का जो जीवन है वह वाणी से सफल समझा जाता है और कवित्व तथा वक्तृत्व गुण के होने पर वाणी सारभूत समझी जाती है किंतु इस संसार में कविपना तथा

वक्तापना दोनों ही दुर्लभ हैं परन्तु आपके तो थोड़े से ही प्रसाद (अनुग्रह) से ये दोनों गुण बात की बात में प्राप्त हो जाते है।

भावार्थ—इस संसार में बड़े कष्टों से तो जीवन प्राप्त होता है यदि उस जीवन में वाणी की प्राप्ति न होवे तो वह दुखों से पाया हुवा भी मनुष्य जन्म निस्सार ही समझा जाता है इसलिये मनुष्य के जीवन की तो सफलता वाणी से है और उस वाणी की सफलता कविपने से तथा वक्ता बनने से होती है क्योंकि सुंदर वाणी की भी प्राप्ति हुई किन्तु सुंदर कविता करना तथा अच्छी तरह बोलना नहीं आया तो उस वाणी का मिलना न मिलना एकसा ही है किन्तु ये दोनों बातें "अर्थात् कविपना तथा वक्तापना" संसार में अत्यंत दुर्लभ है किन्तु हे मातः सरस्वति आपकी कृपा से इन दोनों बातों को मनुष्य बात की बात में पा लेता है अर्थात् जिस मनुष्य पर आपकी कृपा होती है वह मनुष्य प्रसिद्ध कवि भी बन जाता है और अच्छी तरह बोलने वाला भी वह मनुष्य हो जाता है ॥१६॥

नृणां भवत्सन्निधिसस्कृतं श्रवो विहाय नान्यद्धितमक्षयं च तत् ।
भवेद्विवेकार्थमिदं परं पुनर्विमूढतार्थं विषयं स्वमर्पयत ॥१७॥

अर्थ—हे मातः सरस्वति जिस कान का आपके समीप में संस्कार किया गया है अर्थात जो कान आपके सहवास से शुद्ध एवं पवित्र किया गया है वही कान हित का करने वाला तथा अविनाशी है किन्तु उससे भिन्न कान न हितकारी है और न अविनाशी है और आपके सहवास से पवित्र ही कान मनुष्यों को विवेक के लिये होता है किन्तु उससे भिन्न अपने विषयों की ओर झुकता हुवा कान विवेक के लिये नहीं होता किन्तु विशेषता से मूढ़ता के लिये ही होता है।

भावार्थ—हे मातः जिस कान से आपके असली २ तत्व सुने जाते हैं वही कान मनुष्यों को हित का करने वाला होता है अर्थात् उस कान से असली तत्वों को सुनकर मनुष्य खोटे मार्ग में प्रवृत नहीं होते किन्तु हितकारी मार्ग से ही गमन करते है तथा वही कान अविनाशी है अर्थात् उसका कभी भी नाश नहीं होता किन्तु उससे भिन्न कान अर्थात् जिस कान से आपके असली तत्व नहीं सुने जाते वह कान न तो मनुष्य को हित का करने वाला होता है और न अविनाशी ही होता है तथा हे सरस्वति आपके असली तत्वों से पवित्र ही कान मनुष्यों को विवेक के लिये होता है अर्थात् उस कान से असली तत्वों को समझकर मनुष्य यह बात जान लेते हैं कि यह वस्तु हमको त्यागने योग्य है तथा यह वस्तु हमको ग्रहण करने योग्य है किंतु उस

कान से भिन्न कान मनुष्यों को विवेक के लिये नहीं होता मूढ़ता के लिये ही होता है क्योंकि वह कान अपने अन्य विषयों में अर्थात् खोटे २ गायन तथा खोटे २ शब्दों के सुनने में प्रवृत्त हो जाता है इसलिये उस कान की कृपा से मनुष्य अधिक मूढ़ ही बन जाते हैं ॥१७॥

कृत्वापि ताल्वोष्टपुटादिभिर्नृणां त्वमादिपर्यंतविवर्जितस्थितिः ।
इतित्वयापीदृशधर्मयुक्तया स सर्वथैकान्तविधिर्विचूर्णितः ॥१८॥

अर्थ—हे मातः सरस्वति यद्यपि तू मनुष्यों के तालू तथा ओष्ठ पुटों से की गई है तोभी तेरी स्थिति आदि तथा अंतकर रहित ही है अतः इस प्रकार के धर्मों कर संयुक्त हे सरस्वति तूने सर्वथा एकान्त मार्ग का नाश कर दिया ऐसा भलीभांति प्रतीत होता है ।

भावार्थ—अनेक महाशयों का यह सिद्धांत है कि सरस्वति कंठ तालु आदिक स्थानों से ही पैदा हुई है किंतु यह एकान्त सिद्धांत उनका वास्तविक सिद्धांत नहीं क्योंकि यदि ऐसा ही माना जाय तो सरस्वती आदि अंतकर रहित नहीं हो सकती किंतु अनेकांतमत को मानकर ऐसा ही स्वीकार करना चाहिये कि किसी रीति से सरस्वती कंठ तालु आदिक स्थानों से उत्पन्न भी हुई है तथा किसी रीति से आदि अंतकर रहित भी है अर्थात् द्रव्य श्रुत की तो तालू कंठ आदि से उत्पत्ति है किंतु भावश्रुत ज्ञानात्मक है इसलिये शुद्ध निश्चय से वह आदि तथा अंतकर रहित है इसी आशय को लेकर इस श्लोक से आचार्यवर सरस्वति माता की स्तुति करते हैं कि हे मातः यद्यपि आप किसी स्वरूप से कंठ तालु आदिक स्थानों से उत्पन्न हुई हो तोभी आप किसी स्वरूप से आदि अंतकर रहित ही हो इसलिये इसप्रकार के धर्मों को धारण करने के कारण आपने एकांत विधि का सर्वथा नाश कर दिया है ॥१८॥

अपि प्रयाता वशमेकजन्मनि द्युधेनुचिंतामणिकल्पपादपाः ।
फलंति हि त्वं पुनरत्र चापरे भवे कथं तैरुपमीयसे बुधैः ॥१९॥

अर्थ—हे सरस्वति मातः किसी रीति से वश को प्राप्त ऐसे कामधेनु, चिंतमाणि, तथा कल्पवृक्ष, एकही भवमें मनुष्यों को इष्टफल के देनेवाले होते हैं किन्तु आप इस भवमें तथा परभवमें (दोनों भवोंमें) मनुष्यों के इष्टफलोंको देनेवाली हो इसलिये आपको कामधेनु, आदि की उपमा कभी भी नहीं दी जा सकती है ॥

भावार्थ—हे सरस्वति बहुतसे कवि जिस समय आपका वर्णन करते हैं उससमय आप के कामधेनु चिंतामणि तथा कल्पवृक्षकी उपमा दिया करते हैं किंतु उस प्रकारकी आप केलिये उपमा देना योग्य नहीं है क्योंकि यदि किसी रीति से कामधेनु तथा कल्पवृक्ष और चिंतामणि मनुष्यों के ऊपर संतुष्ट हो जायें तो वे इतना ही काम कर सकते है कि उस मनुष्य को इसी भव में इष्ट फलों को दे सकते हैं दूसरे भव में नहीं किंतु हेमातः यदि आप किसी जीव पर संतुष्ट हो जावो तो उसको इस भव में तथा परभव में दोनों भवो में इष्टफल को देती हो इसलिये वे कदापि आप की समता को धारण नहीं कर सकते ॥१९॥

अगोचरो वासरकृन्निशाकृतो जनस्य यच्चेतसि वर्तते तमः ।
विभिद्यते वागधिदेवते त्वया त्वमुत्तमज्योतिरिति प्रगीयसे ॥२०॥

अर्थ—हे वागधि देवते हे सरस्वति जो अंधकार सूर्य तथा चंद्रमा के भी गोचर नहीं हैं अर्थात् न जिस अंधकार को सूर्य देख सकता है और न चंद्रमा देख सकता है ऐसा मनुष्यों के चित्त में अंधकार विद्यमान है उस अंधकार को तू नाश करती है इसलिये संसार में तू ही उत्तम ज्योति है ऐस (विद्वान मनुष्य) तेरा गुणगान करते हैं।

भावार्थ—यद्यपि संसार सूर्यचंद्र दीपक रत्न आदिक बहुत से पदार्थ है जो अंधकार कों नाश करते हैं किंतु वे बाहरी अंधकार को ही नाश करते है मनुष्यों के मन में स्थित जो भीतरी अंधकार है उसको नाश नहीं कर सकते क्योंकि वह अंधकार उनके अगोचर है किंतु हे मातः आप उस भीतरी अन्धकार को भी नाश करती हो इसलिये सूर्य चन्द्र आदि समस्त ज्योतियों में आप ही उत्तम ज्योति हो ऐसा बड़े बड़े विद्वान कवि आपका गुणगान करते हैं ॥२०॥

जिनेश्वरस्वच्छसरः सरोजिनी त्वमंगपूर्वादिसरोजराजिता ।
गणेशहंस व्रजसेविता सदा करोपि केषां न मुदं परामिह ॥२१॥

अर्थ—हे मातः सरस्वति तू जिनेश्वररूपी जो निर्मल सरोवर उसकी तो कमलिनी है और ग्यारह अंग चौदह पूर्वरूपी जो कमल उनकरके शोभित है और गणधररूपी जो हंसों का समूह उसकरके सेवित है इसलिये तू इस संसार में किसको उत्तम हर्ष के करने वाली नहीं है ?

भावार्थ—जो कमलिनी उत्तम सरोवर में उत्पन्न हुई है और जिसके चारों ओर भांति २ के कमल शोभा बढ़ा रहे हैं तथा अत्यंत मनोहर हंसों का समूह जिसकी सेवा कर रहा है ऐसी कमलिनी जिस प्रकार सबोंके चित्तोंको प्रसन्न करने वाली होती है उसी प्रकार हे मातः आप भी जिनेश्वररूपी उत्तम सरोवर से पैदा हुई हो अर्थात् आपको भी केवली भगवान ने प्रगट किया है तथा आप ग्यारह अंग चौदह पूर्व को धारण करने वाली हो और बड़े २ गणधर आपकी सेवा करते हैं फिर भी आप मनुष्यों के चित्तों को क्यों नहीं प्रसन्नता की करने वाली होंगी ? अर्थात् अवश्य ही मनुष्य आपको सुनकर प्रसन्न होंगे ॥२१॥

परात्मतत्वप्रतिपत्तिपूर्वकं परं पदं यत्र सति प्रसिद्ध्यति ।
कियत्ततस्ते स्फुरतः प्रभावतो नृपत्वसौभाग्यवरांगनादिकम् ॥२२॥

अर्थ—हे मातः सरस्वति जब आप की कृपा से परमात्मतत्वका जो ज्ञान उसज्ञान पूर्वक परमपद (मोक्ष पद) की सिद्धि हो जाती है तब आपके देदीप्यमान प्रभाव के सामने राजापना, सौभाग्य तथा उत्तम स्त्री आदि की प्राप्ति क्या चीज है ?

भावार्थ—यद्यपि संसार में राजापना तथा सौन्दर्य और उत्तम स्त्री आदि की प्राप्ति भी अत्यंत कठिन है किन्तु हे मातः आपके देदीप्यमान प्रभाव के सामने इनकी प्राप्ति कोई कठिन नहीं है अर्थात् जिसके ऊपर आपकी कृपा है वह भाग्यशाली विनाही परिश्रम से इन पदार्थों को प्राप्त कर लेता है क्योंकि सबसे कठिन परमात्मतत्व का ज्ञान तथा मोक्ष पद की प्राप्ति है जब मनुष्य आपकी कृपा से परमात्मज्ञान को तथा मोक्षपद को भी बात की बात में प्राप्त कर लेता है तब उनकी अपेक्षा अत्यंत सुलभ नृपत्व सौभाग्य आदि चीजों का प्राप्त करना उसके लिये क्या कठिन बात है ? ॥२२॥

त्वदंघ्रिपद्मद्वयभक्तिभाविते तृतीयमुन्मीलति बोधलोचनम् ।
गिरामधीशे सह केवलेन यत्समाश्रितं स्पर्धमिवेक्षतेऽखिलम् ॥२३॥

अर्थ—हे मातः सरस्वति जो भव्यजीव मनुष्य आपके दोनों चरण कमलों की भक्ति तथा सेवा करता है उस मनुष्य के तीसरा सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र प्रकट होता है जो सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्र केवल ज्ञान के साथ ईर्षा करके ही मानो समस्त पदार्थों को देखता जानता है ऐसा मालूल पड़ता है ।

भावार्थ—सरस्वती की कृपा से जीवों को श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है और उस श्रुतज्ञान से केवल ज्ञान के समान समस्त पदार्थ जाने जाते हैं भेद इतनाही है कि केवल ज्ञानतो पदर्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानता है क्योंकि केवल आत्मा की सहायता से होने वाला केवल ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहा गया है। तथा श्रुतज्ञान पदार्थों को परोक्षरूप से जानता है क्योंकि वह मनकी सहायता से होता है इसलिये वह परोक्ष ज्ञान कहा गया है किंतु पदार्थों के जानने में दोनों ज्ञान समान ही हैं। इसलिये आचार्यवर स्तुति करते हैं। कि हे मातः जो मनुष्य आपके दोनों चरणकमलों का भक्त है उस मनुष्य को श्रुतज्ञान की प्राप्ति होती है और उस श्रुतज्ञान से वह मनुष्य केवल ज्ञान के समान समस्त पदार्थों को भली भांति जानता है ॥२३॥

त्वमेव तीर्थं शुचिबोधवारिमत्समस्तलोकत्रयशुद्धिकारणम् ।
त्वमेव चानंदसमुद्रवर्धने मृगांकमूर्तिः परमार्थदर्शिनाम् ॥२४॥

अर्थ—हे मातः सरस्वति सम्यग्ज्ञानरूपी जल से भरा हुवा तथा समस्त लोकों की शुद्धि का कारण तू ही तो पवित्र तीर्थ है तथा जो पुरुष परमार्थ को देखने वाले हैं उन मनुष्यों के आनंदरूपी समुद्र के बढ़ाने में तू ही चंद्रमा है ॥

भावार्थ—जिससे भव्यजीव तरैं उसी का नाम तीर्थ है इसलिये लोग जिस प्रकार अत्यंत निर्मल जल से भरे हुवे गंगा आदि तीर्थों को तीनों लोक की शुद्धि का कारण समझते हैं उसी प्रकार हे मातः सरस्वति सम्यग्ज्ञानरूपी जल से भरी हुई और समस्त लोक की शुद्धि का कारण तू भी तीर्थ है अर्थात् जो मनुष्य तुझ में गोता लगाते हैं वे मनुष्य अत्यंत शुद्ध हो जाते हैं तथा जिस प्रकार चंद्रमा के उदित होने पर समुद्र वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार हे मातः जो मनुष्य परमार्थ के देखने वाले हैं उन मनुष्यों के आनंद रूपी समुद्र के बढाने में तू चंद्रमा के समान है ॥२४॥

त्वयादिबोधः खलु संस्कृतो व्रजेत् परेषु बोधोष्वखिलेषु हेतुतां ।
त्वमक्षि पुंसामति दूरदर्शने त्वमेव संसारतरोः कुठारिका ॥२५॥

अर्थ—हे भगवति सरस्वति तेरे द्वारा अत्यंत पवित्र किया हुवा मतिज्ञान ही बाकी के बचे हुवे समस्त श्रुत, मनः पर्यय, आदि ज्ञानों में कारण है और अत्यंत दूर देखने में तूही मनुष्य का नेत्र है और संसार रूपी वृक्ष के काटने के लिये तूही कुठार है।

भावार्थ—हे मातः समस्त ज्ञानों में तू ही कारण पड़ती है अर्थात् तेरी ही कृपा से समस्त ज्ञान आत्मा में प्रगट होते हैं और जितने भर दूर पदार्थ हैं उनके देखने में तू ही नेत्र है क्योंकि जितने भर मेरू आदिक देश से दूर, तथा राम रावण आदि काल से दूर, तथा परमाणु आदिक स्वभाव से दूर पदार्थ हैं उन सबका दर्शन तेरी ही कृपा से होता है और संसार के नाश करने में भी तू ही कारण है अर्थात् जो मनुष्य तेरे भक्त तथा आराधक हैं वे मनुष्य यथार्थ तत्वज्ञान को प्राप्त कर निर्विघ्नरीति से सीधे मोक्ष को चले जाते हैं अर्थात् उनका संसार सर्वथा छूट जाता है ॥२५॥

यथाविधानं त्वमनुस्मृता सती गुरूपदेशोयमवर्णभेदतः ।
न ताः श्रियस्ते न गुणा न तत्पदं प्रयच्छसि प्राणभृते न यच्छुभे ॥२६

अर्थ—हे शुभे हे सरस्वति यह गुरु का उपदेश है कि जो पुरुष शास्त्रानुसार अकार से लेकर अंत तक आपका स्मरण करने वाला है उस पुरुष के न तो कोई ऐसी लक्ष्मी है जिसको आप न देवे और न कोई उत्तम गुण तथा उत्तम पद ही है जोकि आपकी कृपा से वह जीव न पा सके।

भावार्थ—हे मातः जो मनुष्य शास्त्रानुसार आपकी सेवा करने वाला है उस मनुष्य को अंतरंग केवल ज्ञानादि तथा वहिरंग समवसरणादि समस्त प्रकार की लक्ष्मी की प्राप्ति होती है तथा वह मनुष्य आपकी कृपा से औदार्य धैर्य आदिक समस्त गुणों को भी प्राप्त कर लेता है और आपकी ही कृपा से उसको मोक्ष पद की प्राप्ति भी शीघ्र हो जाती है ॥२६॥

अनेकजन्मार्जितपापपर्वतो विवेकवज्रेण स येन भिद्यते ।
भवद्वपुःशास्त्रघनान्निरेति तत्सदर्थवाक्यामृतभारमेदुरात् ॥२७॥

अर्थ—हे मातः हे सरस्वति अनेक भवों में संचय किया हुवा जो पापरूपी पर्वत है वह जिस विवेकरूपी वज्र के द्वारा तोड़ा जाता है वह विवेकरूपी वज्र श्रेष्ठ अर्थ तथा वाक्यरूपी जो जल उसका जो भार उससे वृद्धि को प्राप्त ऐसा आपका शरीर स्वरूप जो शास्त्र वही हुवा मेघ उससे निकला है।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्तम पानी के धारण करने वाले मेघ से वज्र उत्पन्न होता है वह वज्र पर्वत को छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार हे मातः श्रेष्ठ अर्थ तथा वाक्यों से परिपूर्ण ऐसे आपके शास्त्र से मनुष्यों को हिताहितका विवेक होता है तथा उस विवेक से अनेक जन्मों में संचित भी पाप का समूह पलभर में नष्ट हो जाता है ॥२७॥

तमांसि तेजांसि विजत्य वाङ्मयं प्रकाशयद्यत्परमं महन्महः ।
न लुप्यते तैर्नच तैः प्रकाश्यते स्वतः प्रकाशात्मकमेव नंदतु ॥२८॥

अर्थ—हे सरस्वति अंधकार तथा अन्य तेजों को जीत कर प्रकाश करता हुवा तथा सर्वोत्कृष्ट, तेरी वाणी स्वरूप तेज इस लोक में जयवंत प्रवर्तो क्योंकि जो तेज न तो अंधकार से नाश होता है और न किसी दूसरे तेज से प्रकाशित होता है किंतु स्वतः प्रकाश स्वरूप ही है।

भावार्थ—यद्यपि सूर्य चन्द्र आदि बहुतों के तेज संसार के अन्दर मौजूद है किंतु हे मातः आपके वाणी रूपी तेज की तुलना दूसरा कोई भी तेज नहीं कर सकता है क्योंकि वे समस्त तेज अंधकार द्वारा विनाशीक है तथा कई एक तेज दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और आपका तेज न तो प्रबल से प्रबल अंधकार द्वारा ही विनाशीक है और दूसरे तेज की अपने प्रकाश होने में सहायता भी नही चाहता किन्तु स्वतः प्रकाशमान ही है इसलिये हे सरस्वति ऐसा आपका तेज सदा इस लोक में जयवंत रहो ॥२८॥

तव प्रसादः कवितां करोत्यतः
कथं जडस्तत्र घटेत मादृशः ।
प्रसीद यत्रापि मयि स्वनन्दने
न जातु माता विगुणेपि निष्ठुरा ॥२९॥

अर्थ—हे सरस्वति हे मातः तेरा प्रसाद ही कविता का करने वाला है इसलिये मेरे (ग्रन्थ कर्ता के) समान वज्र मूर्ख उस कविता के करने में कैसे चेष्टा को कर सकता है ? अतः इस कविता के करने में तू मुझ पर प्रसन्न हो क्योंकि यदि अपना पुत्र निर्गुणी भी होवे तो भी माता उसके ऊपर कठोर नहीं बनती ।

भावार्थ—पुत्र कैसा भी निर्गुणी तथा अविनीत क्यों न हो तो भी जिस प्रकार माता उसके ऊपर रुष्ट नहीं होती सदा उसके ऊपर दयालु ही रहती है उसी प्रकार हे सरस्वति आप भी मेरी माता हो। इसलिये यद्यपि मैं कैसा भी कविता करने में वज्र मूर्ख क्यों न हो तो भी आप को मेरे ऊपर कृपा ही करनी चाहिये क्योंकि यदि मैं चाहूं कि आपकी कृपा का कुछ न सहारा रखकर कविता करने लगू सो हो नहीं सकता क्योंकि कविता के करने में आपकी कृपा ही कारण है अतः मेरे ऊपर प्रसन्न हो ॥२६॥

इमामधीते श्रुतदेवतास्तुतिं
कृतिं पुमान् यो मुनिपद्मनंदिनः।
स याति पारं कवितादिसद्गुण
प्रबन्धसिन्धोः क्रमतो भवस्य च ॥३०॥

अर्थ—जो पुरुष मुनिवर श्री पद्मनंदि द्वारा की गई इस श्रुत देवता की स्तुति रूपी कृती को पढ़ता है वह पुरुष कविता आदिक जो उत्तम गुण उनका जो प्रबन्ध रूपी समुद्र उसके पार को प्राप्त हो जाता है तथा क्रम से संसार रूपी समुद्र के पार को भी प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ—ग्रन्थकार श्री पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि मैंने बड़ी भक्ति से इस श्रुतदेवता स्तुति रूपी कृति का निर्माण किया है जो भव्य जीव इस कृति को पढ़ने वाला है वह भव्य जीव कविता आदि जितने गुण है उन समस्त गुणों में प्रवीण हो जाता है तथा क्रम से वह संसार का भी नाश कर देता है अर्थात् इस श्रुत देवता की स्तुति की कृपा से मोक्ष पद को प्राप्त होकर अव्याबाध सुख का भोगने वाला हो जाता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है ॥३०॥

कुंठास्तेऽपि वृहस्पतिप्रभृतयो यस्मिन् भवंति ध्रुवं
तस्मिन् देवि तव स्तुतिव्यतिकरे मंदानराःकेवयम्।
तद्वाक्चापलमेतदश्रुतवतामस्माकमम्बत्वया
क्षंतव्यं मुखरत्वकारणमसौ येनातिभक्तिग्रहः ॥३१॥

अर्थ—हे देवि हे सरस्वति जिस आपके स्तवन के करने में बड़े २ विद्वान् बृहस्पति आदिक भी निश्चय से कुंठ अर्थात् मंद बुद्धि हो जाते हैं तब आपके स्तवन के करने में हम

सरीखे मंद बुद्धियों की तो बात ही क्या है ? अर्थात् हम तो आपकी स्तुति कर ही नहीं सकते किंतु थोड़े शास्त्र के जानकार हमारी यह (स्तुति नहीं) वाणी की चपलता है इसलिये हे मातः इस हमारे वावदूकपने को क्षमा कीजिये क्योंकि आपमें हमारी अत्यंत भक्ति है ।

भावार्थ—हे मातः जब आपकी स्तुति बड़े २ बृहस्पति आदिक विद्वान भी नहीं कर सकते तब हम सरीखे मंदबुद्धियों की क्या कथा है ? अर्थात् हमतो आपकी स्तुति तुपमात्र भी नहीं कर सकते किंतु यह जो स्तुति के व्याज से हमने अपनी वाणी की चपलता की है वह आपकी भक्ति के वश होकर की है क्योंकि आपमें हमारी विशेष भक्ति है अतः आप इस हमारे वावदूकपने को क्षमा कीजिये ॥३१॥

स्तवन नामक अधिकार समाप्त हुआ ।

चतुर्विंशतितीर्थंकरस्तोत्रम् ।

स्वयंभूस्तोत्रम् ।

स्वयभुवा येन समुद्धृतं जगज्जडत्वकूपे पतितं प्रमादतः ।
परात्मतत्वप्रतिपादनोल्लसद्वचोगुणैरादिजिनः स सेव्यताम् ॥१॥

अर्थ—जो जगत प्रमाद के वश होकर अज्ञान रूपी कुवें में पड़ा था उस जगत को जिस स्वयंभू (अपने आप होने वाले) श्री आदिनाथ भगवान ने पर तथा आत्मा के स्वरूप को कहने वाले मनोहर अपने वचन रूपी गुणों से उस अज्ञान रूपी कूवें से बाहिर निकाला उन आदि नाथ भगवान की भी भव्य जीवो आप सेवा करो ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य प्रमादी बनकर कूवें में गिर पड़े उस मनुष्य को कोई उत्तम मनुष्य रस्सों से बाहर निकाले तो जिस प्रकार कूप से निकालने वाले मनुष्यों को वह कुवें से निकला हुआ मनुष्य बड़ा उपकारी मानता है तथा उसकी शक्त्यनुसार सेवा भी करता है उसी

प्रकार यह जगत भी प्रमाद के वश होकर अज्ञानांधकार में पड़ा हुआ था और सर्वथा हिताहित के विवेक से शून्य था उस समय श्री आदिनाथ भगवान ने अपने उपदेश से इस जगत का उद्धार किया तथा इसको पर और आत्म तत्व का ज्ञान कराया अतः सबसे यदि उपकारी हैं तो आदिनाथ ही भव्य जीवों के उपकारी हैं इसलिये हे भव्य जीवो आपके परमादरणीय तथा सेवा के पात्र श्री आदिनाथ हैं ॥१॥

अजितनाथ भगवान की स्तुति

भवारिरेको न परोऽस्ति देहिनां
सुहृच्च रत्नत्रयमेकमेव हि ।
स दुर्जयो येन जिनस्तदाश्रयात्
ततोऽजितान्मे जिनतोऽस्तु सत्सुखम् ॥२॥

अर्थ—जीवों का संसार ही एक बैरी है और दूसरा कोई भी बैरी नहीं है तथा मित्र सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय ही है और कोई दूसरा मित्र नहीं और वह संसाररूपी बैरी अत्यंत दुर्जय है किंतु जिस श्री अजितनाथ भगवान ने उस सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी मित्र की सहायता से उस संसाररूपी भयंकर बैरी को सर्वथा जीत लिया है उस अजितनाथ भगवान से मुझे श्रेष्ठ सुख मिले ऐसी मेरी प्रार्थना है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई भयंकर वैरी मित्रों की सहायतासे पलभर में जीत लिया जाता है उसी प्रकार श्री अजितनाथ भगवान ने भी सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयरूपी मित्र की सहायता से संसार रूपी भयंकर बैरी को जीत लिया है क्योंकि जीवों को सबसे प्रबल बैरी संसार है और मित्र सबसे अधिक रत्नत्रय है इसलिये इस प्रकार अत्यंत वीर श्री अजितनाथ भगवान मुझे उत्तम सुख के दाता हों ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥२॥

संभवनाथ भगवान की स्तुति।

पुनातु नः संभवतीर्थकृज्जिनः पुनः पुनः संभवदुःखदुःखिताः
तदर्तिनाशाय विमुक्तिवर्त्मनः प्रकाशकं यं शरणं प्रपेदिरे ॥३॥

अर्थ—बारम्बार संसार के दुःखों से दुःखित जो प्राणी समस्त संसार के दुःखों के नाश लिये मोक्ष के मार्ग को प्रकाश करने वाले ऐसे जिस श्रीसंभवनाथ की शरण को प्राप्त हुए ऐसे श्रसंभवनाथ जिनेन्द्र हमारी रक्षा करो अर्थात् ऐसे श्रीसंभवनाथ भगवान को हम नमस्कार करते है।

भावार्थ—जो संभवनाथ भगवान प्राणियों को संसार के दुःखों से छुटाने वाले हैं तथा मोक्ष के मार्ग के प्रकाश करने वाले हैं और शरण में आए हुए जीवों की रक्षा करने वाले हैं ऐसे श्रीसंभवनाथ भगवान हमारी रक्षा करें ॥३॥

अभिनंदन नाथ भगवान की स्तुति।

निजैर्गुणैरप्रतिमैर्महानजो
नतु त्रिलोकीजनतार्चनेन यः
यतो हि विश्वं लघु तं विमुक्तये
नमामि साक्षादभिनंदनं जिनम् ॥४॥

अर्थ—जो अभिनन्दन भगवान तीनों लोक के जनों से पूजित हैं इस लिये बड़े नहीं है किन्तु दूसरे जीवों में नहीं पाये जांय ऐसे जो स्वीय गुण हैं उन से बड़े हैं और जो जन्म कर रहित हैं तथा जिन से समस्त लोक छोटा है अर्थात् जो संसारिक सुखों को तुच्छ समझते हैं अथवा जिन के ज्ञान के सामने यह लोक बहुत छोटी चीज है ऐसे जीवों को समस्त प्रकार के आनन्द के देने वाले श्री अभिनन्दन जिनेन्द्र को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—जो अपने असाधारण गुणों से महान है किन्तु तीनों लोक के जीवों द्वारा पूजित हैं इस लिये महान नहीं हैं तथा जन्म मरण आदिक जिनके पास भी नहीं फटकने पाते और जो समस्त पदार्थों को देखने वाले हैं और जिन के नाम के स्मरण मात्र से ही समस्त जीवों को आनन्द होता है ऐसे श्री अभिनन्दन नाथ को मैं मुक्ति के लिये मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥४॥

सुमतिनाथ भगवान की स्तुति।

नयप्रमाणादिविधानसंघटं[1] प्रकाशितं तत्त्वमतीव निर्मलम्
यतस्त्वया तत्सुमतेऽत्र नावकं तदन्वयं नाम नमोस्तु ते जिन ॥५॥

१ क. पुस्तक में सद्घटं यह भी पाठ है।

अर्थ—हे सुमतिनाथ जिनेन्द्र, जिस में प्रमाण तथा नयों का भली भांति संघट है और जो अत्यन्त निर्मल है ऐसा तत्त्व आपने प्रकाशित किया है इस लिये हे जिनेश आप का नाम सार्थक है तथा आप के लिये नमस्कार हो।

भावार्थ—जिस की बुद्धि शोभन होवे उस को सुमति कहते हैं यह सुमति शब्द का अर्थ है हे सुमति नाथ जिनेश आप का यह नाम सर्वथा सार्थक है क्योंकि आपने उस तत्व का प्रकाश किया है जिस तत्व में प्रमाण तथा नय का अच्छी तरह संघट है तथा जिस में किसी प्रकार का दोष नहीं है और इस लिये जो निर्मल हैं अतः हे प्रभो हे जिनेश आप के लिये नमस्कार है।

पद्मप्रभतीर्थंकर की स्तुति।

रराज पद्मप्रभतीर्थकृत्सदस्यशेषलोकत्रयलोकमध्यगः।
नभस्युडुव्रातयुतः शशी यथा वचोऽमृतैर्वर्षति यः स पातु वः[1] ॥६॥

अर्थ—आकाश में चन्द्रमा जिस प्रकार नक्षत्रों से शोभित होता है तथा जीवों को आनन्दामृतका वर्षण करता है उसी प्रकार जो पद्मप्रभ भगवान तीनों लोक के जो समस्त जीव उनके मध्य भाग में शोभित होते थे तथा जो अपने वचन रूपी अमृत को वर्षाने वाले थे ऐसे वे श्रीपद्मप्रभ भगवान हमारी रक्षा करें अर्थात् ऐसे पद्मप्रभ भगवान को हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार चंद्रमा आकाश में नक्षत्रों से वेष्टित हुआ अधिक शोभा को प्राप्त होता है उसी प्रकार जो पद्मप्रभभगवान समशरण में समस्त जीवों के मध्य में अत्यंत शोभित होते थे तथा जिस प्रकार चंद्रमा अपने प्रकाश से जगत को आनन्द देने वाला है उसी प्रकार प्रकार जो पद्मप्रभभगवान अपने उपदेश से जीवों का आनन्द देनेवाला है उसी प्रकार जो पद्मप्रभभगवान अपने उपदेश से जीवों को आनन्द देने वाले थे अर्थात् जिनके उपदेश को सुनकर भव्य जीव आनंद सागर में मग्न हो जाते थे ऐसे श्री पद्मप्रभभगवान हमारी रक्षा करैं ॥६॥

सुपार्श्वनाथ की स्तुति।

नरामराहीश्वरपीडने जयी धृतायुधो धीरमना झषध्वजः।
विनापि शस्त्रैर्ननु येन निर्जितो जिनं सुपार्श्वं प्रणमामि सर्वदा ॥७॥

---

१ क. पुस्तक में पातु नः यह भी पाठ है।

अर्थ—जो कामदेव नरेन्द्र देवेन्द्र फणीन्द्र को भी दुःख का देनेवाला है और जो शस्त्रों का धारी है तथा जिसका मन अत्यंत धीर है और जिसकी मीन की ध्वजा है ऐसा भी कामदेव जिस सुपार्श्वनाथ जिनेन्द्र ने विना ही शस्त्र के पल भर में जीत लिया उन सुपार्श्व भगवान को मैं सर्वदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥

भावार्थ—यद्यपि संसार में नरेन्द्र देवेन्द्र तथा फणीन्द्र भी बड़े वीर गिने जाते हैं किन्तु कामदेव के सामने जिनकी कुछ भी वीरता नहीं चलती अर्थात् जो कामदेव इनको भी जीतने वाला है तथा जिस कामदेव के पास सदा शस्त्र (बाण) रहते हैं और जो धीरमन तथा मीन की ध्वजा का धारी है उस कामदेव को भी विना शस्त्र के जिन सुपार्श्वनाथ भगवान ने बातकी बात में जीतलिया अर्थात् जिन भगवान के सामने तीनलोक के विजयी भी कामदेव की कुछ भी तीन पांच न चली उन श्री सुपार्श्वजिनेंद्र को मैं सर्वदा मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं ॥७॥

चंद्रप्रभभगवान की स्तुति ।

शशिप्रभो वागमृतांशुभिः शशी परं कदाचिन्न कलंकसंगतः ।
नवापि दोषाकरतां ययौ यतिर्जयत्यसौ संसृतिपापनाशनः ॥८॥

अर्थ—जो चन्द्रप्रभ भगवान वाणी रूपी अमृत की किरणों से यद्यपि चंद्रमा है परन्तु कभी भी कलंक करके युक्त नहीं हैं और न कभी दोषाकरता को ही प्राप्त हुवे हैं तथा समस्त संसार के पापों के नाश करने वाले है। ऐसे यति चंद्रप्रभ भगवान सदा इस लोक में जयवंत हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार चंद्रमा अपनी अमृत की किरणों से जीवों को आनन्द का देने वाला होता है उसी प्रकार चंद्रप्रभ भगवान भी अपने वचनामृत की वर्षा से जीवों को आनन्द देने वाले हैं अतः इसरीति से तो चंद्रप्रभ भगवान चंद्रमा ही है किन्तु जिस प्रकार चंद्रमा कलंक कर सहित है तथा दोषाकर है उस प्रकार भगवान कलंक सहित नही हैं किन्तु कलंक रहित ही हैं तथा दोषाकर नहीं हैं किंतु दोषोंकर रहित ही हैं और समस्त संसार के नाश करने वाले हैं इसलिये ऐसे अपूर्व चंद्रमा श्रीचंद्रप्रभ भगवान सदा इस लोक में जयवंत हैं ॥८॥

पुष्पदंत भगवान की स्तुति ।

यदीयपादद्वितयप्रणामतः पतत्यधो मोहन धूलिरंगिनाम् ।
शिरोगता मोहठकप्रयोगतः स पुष्पदंतः सततं प्रणम्यते ॥९॥

अर्थ—मोह रूठी ठग द्वारा प्राणियों के शिरो में स्थापित मोहन रूपी धूलि जिस पुष्प भगवान के दोनों चरणकमलों के प्रणाम से ही पलभर में नीचे गिरे पड़ती है उन पुष्पदंत भगवान को हम सदा प्रणाम करते हैं ।

भावार्थ—कोई ठग किसी मनुष्य पर मोहन धूलि (जादू) डाल देवे तो जिस प्रकार उसको कुछ भी नहीं सूझता तथा वह ठग उसकी सब चीजों को ठग लेता है उसी प्रकार इस संसार में मोह भी एक बड़ा भारी ठग है तथा उसने भी प्राणियों के मस्तक पर मोहधूलि डाल रक्खी है इसलिये उन प्राणियों को कुछ भी हिताहित का विवेक नहीं है अर्थात् मोह द्वारा उनका सब विवेक ठगा गया है किंतु वह मोहधूलि श्री पुष्पदंत भगवान के चरण कमलों को प्रणाम करने से बात की बात पलभर में नष्ट हो जाती है इसलिये आचार्य कहते हैं कि हम ऐसे पुष्पदंत भगवान को नमस्कार करते हैं ॥९॥

शीतलनाथ भगवान की स्तुति ।

सतां यदीयं वचनं सुशीतलं यदेव चन्द्रादपि चन्दनादपि ।
तदत्र लोके भवतापहारि यत् प्रणम्यते किं न स शीतलो जिनः ।१०।

अर्थ—जिस शीतलनाथ भगवान के वचन सज्जनों को चंद्रमा तथा चंदन से भी अधिक शीतल जान पड़ते हैं और जो वचन समस्त संसार के तापों के नाश करने वाले हैं ऐसे शीतलनाथ भगवान क्या नमस्कार के पात्र नहीं है ? अवश्य ही है ।

भावार्थ—यद्यपि संसार में चंद्रमा तथा चंदन भी शीतल पदार्थ हैं तथा ताप के दूर करने वाले हैं किंतु ये बहुत थोड़े शीतल पदार्थ है तथा थोड़े ही ताप को नाश कर सकते हैं किंतु भगवान शीतलनाथ के वचन अत्यंत शीतल तथा समस्त संसार के तापों को दूर करने वाले हैं इसलिये ऐसे शीतलनाथ भगवान को मस्तक झुकाकर नमस्कार है ॥१०॥

श्रेयांसनाथ भगवान की स्तुति।

जगत्त्रये श्रेय इतो ह्ययादिति प्रसिद्धनामा जिन एष वन्द्यते।
यतो जनानां बहुभक्तिशालिनां भवंति सर्वे सफला मनोरथा ॥११॥

अर्थ—तीनों लोक में समस्त कल्याणों की प्राप्ति श्री श्रेयांसनाथ भगवान से होती है इसलिये हे जिनेन्द्र, श्रेयनाथ ईस नाम से प्रसिद्ध है तथा जो भव्यजीव इन श्रेयांसनाथ भगवान में गाढ़ भक्ति कर सहित हैं उन भव्यजीवों के इन्हीं भगवान की कृपा से समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं।

भावार्थ—११ ग्यारहवें तीर्थंकर का जो श्रेयांसनाथ भगवान नाम पड़ा है उसका कारण यही है कि तीनों लोक में उन्हीं की कृपा से कल्याणों की प्राप्ति होती है और उन्हीं की कृपा से भव्यजीवों के समस्त मनोरथ सिद्ध होते हैं ॥११॥

वासुपूज्यतीर्थंकर की स्तुति।

पादाब्जयुग्मे तव वासुपूज्य जनस्य पुण्यं प्रणतस्य तद्भवेत्।
यतो न सा श्रीरिह हि त्रिविष्टपे न तत्सुखं यन्न पुरः प्रधावति ।१२।

अर्थ—हे वासुपूज्य जिनेश जो भव्यजीव आपके दोनों चरण कमलों को नमस्कार करने वाला है उस भव्यजीव को इस संसार में उस अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है कि जिस पुण्य की कृपा से इन तीनों लोक में न तो कोई ऐसी लक्ष्मी है जो आगे दौड़कर न आती हो और न कोई ऐसा सुख है जो न मिलता हो।

भावार्थ—हे वासुपूज्य जिनेश जो मनुष्य आपके चरण कमलों की सेवा करने वाले हैं उस मनुष्य को अपूर्व पुण्य की प्राप्ति होती है तथा उस पुण्य की कृपा से वे इस संसार में उत्तमोत्तम लक्ष्मी को प्राप्त कर लेते है और समस्त प्रकार के सुख उनके सामने पलभर में आकर उपस्थित हो जाते हैं ॥१२॥

विमलानाथ तीर्थंकर की स्तुति।

मलैर्विमुक्तो विमलो न कैर्जिनो यथार्थनामा भुवने नमस्कृतः।
तदस्य नामस्मृतिरप्यसंशयं करोति वैमल्यमघात्मनामपि ॥१३॥

अर्थ—इस संसार में ऐसा कौन होगा जिस ने समस्त मलोंकर रहित तथा सार्थक नाम को धारण करने वाले जिनेन्द्र श्रीविमल नाथ को नमस्कार न किया हो अर्थात् समस्त ही जीव श्रीविमलनाथ भगवान को नमस्कार करते है इस लिये श्रीविमल नाथ भगवान के नाम का स्मरण ही पापी भी मनुष्यों को अत्यन्त विमल बना देता है।

भावार्थ—जो मनुष्य पापी हैं अर्थात् रात दिन पाप का संचय करते रहते हैं यदि वे मनुष्य भी श्री विमल नाथ जिनेन्द्र का नाम लेलेवें तो वे बात की बात में समस्त पापोंकर रहित हो जाते हैं क्योंकि विमल नाथ स्वयं समस्त प्रकार के मलोंकर रहित हैं तथा (समस्त प्रकार के मलोंकर जो रहित होवे उसको विमल कहते हैं) इस सार्थक नाम को भी विमल नाथ भगवान् धारण करते हैं तथा समस्त संसारी जीव उन को नमस्कार करते हैं॥१३॥

अनन्त नाथ तीर्थंकर की स्तुति।

अनंतबोधादिचतुष्टयात्मकं दधाम्यनंतं हृदि तद्गुणाशया।
भवेद्यदर्थी ननु तेन सेव्यते तदन्वितो भूरितृषेव सत्सदः॥१४॥

अर्थ—अनंत विज्ञानादि स्वरूप श्री अनंतनाथ भगवान को मैं उनके गुणों की आशा से अपने हृदय में धारण करता हूं क्योंकि संसार में यह बात प्रत्यक्ष गोचर है कि जो पुरुष जिस गुण की प्राप्ति का इच्छुक होता है वह मनुष्य उसकी ही सेवा करता है जिस प्रकार अत्यन्त प्यासा मनुष्य अपनी प्यास की शांति के लिये उत्तम (स्वच्छ जल से भरे हुए) सरोवर की सेवा करता है।

भावार्थ—जिस प्रकार अत्यन्त प्यासा मनुष्य अपनी प्यास के बुझाने के लिये अत्यन्त निर्मल जल से भरे हुए सरोवर की सेवा करता है उसी प्रकार अनन्त विज्ञान अनन्त वीर्य अनन्त सौख्य तथा अनन्त दर्शन इस अनन्त चतुष्टय का मैं भी आकांक्षी हूं इस लिये अनन्त चतुष्ट के धारण करने वाले श्री अनन्त नाथ भगवान को मैं अपने हृदय में धारण करता हूं क्योंकि जो जिस गुण की प्राप्ति का अभिलाषी होता है वह अवश्य ही उस की सेवा करता है॥१४॥

धर्मनाथ तीर्थंकर की स्तुति।

नमोस्तु धर्माय जिनाय मुक्तये सुधर्मतीर्थप्रविधायिने सदा।
यमाश्रितो भव्यजनोऽतिदुर्लभां लभेत कल्याणपरम्परां पराम्॥१५॥

अर्थ—जिस धर्मनाथ भगवान को आश्रयकर भव्य जीव अत्यन्त दुर्लभ सर्वोत्कृष्ट कल्याणों की परंपरा को प्राप्त होते है उन श्रेष्ट धर्मरूपी तीर्थ के प्रवर्ताने वाले तथा अष्टकर्मों के जीतने वाले श्री धर्मनाथ भगवान को मैं मोक्ष की प्राप्ति के लिये सर्वदा नमस्कार करता हूं ॥१५॥

शांतिनाथ भगवान की स्तुति।

विधाय कर्मक्षयमात्मशांति कृत् जगत्सु यः शांतिकरस्ततोऽभवत्।
इति स्वमन्यं प्रति शांतिकारणं नमामि शांतिं जिनमुन्नतश्रियम् ॥१६॥

अर्थ—जो शांतिनाथ भगवान् अपनी आत्मा की शांति करने वाले कर्मों के क्षय को करके समस्त जगत में शांति के करने वाले होते हुये ऐसे स्व तथा पर को शांति के करने वाले और अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों प्रकार की लक्ष्मी के स्वामी सोहलवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ भगवान को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं अर्थात् शांति के देने वाले श्री शांतिनाथ भगवान मुझे भी शांति प्रदान करें।

भावार्थ—जब तक इस आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध रहता है तब तक यह मेरा है यह तेरा है इस प्रकार के विकल्पों को करता हुआ यह सदा व्याकुल ही रहा करता है किन्तु जिस समय कर्म आत्मा से जुदे हो जाते है उस समय विकल्पों से रहित होने के कारण आत्मा शांत हो जाता है श्री शांतिनाथ भगवान ने अपने तपोबल से घातियां कर्मों का सर्वथा नाश कर दिया है इस लिये कर्मों से रहित होने के कारण वे शांत हैं और वे स्वयं शांत समस्त जगत में भी शांति के करने वाले हैं इस लिये इस प्रकार स्व परकी शांति के करने वाले और समस्त लक्ष्मी के स्वामी श्री शांतिनाथ भगवान को मैं मस्तक झुकाकर शांति की प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूं ॥१६॥

कुंथुनाथतीर्थंकरकी स्तुति।

दयांगिनां चिद्द्वितयं विमुक्तये परिग्रहद्वन्द्वविमोचनेन तत्।
विशुद्धमासीदिह यस्य मादृशां स कुंथुनाथोऽस्तु भवप्रशांतये ॥ १७

अर्थः—बाह्य तथा अभ्यंतर के भेद से समस्त प्रकार के परिग्रहों के छोड़ने के कारण जिस कुंथुनाथ भगवान के समस्त प्राणियों पर दया और चैतन्य ये दोनों विशुद्ध हो गये वे श्रीकुंथुनाथ भगवान मेंरे समान मनुष्यों को संसार की शांति के लिये हों।

भावार्थ—जब तक ममेदमिति (यह मेरा है ऐसे) मूर्छालक्षण परिग्रह संबंध आत्मा के साथ में रहता है तबतक किसी प्रकार की विशुद्धता नही होती और जिस समय इस परिग्रह का संबंध छूट जाता है उस समय विशुद्धि की प्राप्ति होती है श्रीकुंथुनाथ भगवान ने समस्त प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया है इसलिये बाह्य में तो समस्त प्राणियों पर दया कीविशुद्धि हुई तथा अंतरंग में चैतन्य की विशुद्धि हुई इसलिये ऐसे श्रीकुंथुनाथ भगवान मेरे समान मनुष्यों को संसार की शांति के लिये होवें ॥१७॥

अरनाथतीर्थंकरकी स्तुति ।

विभांति यस्यांघ्रिनखा नमत्सुरस्फुरच्छिरोरत्नमहोऽधिकप्रभः ।
जगद्गृहे पापतमोविनाशना इव प्रदीपाः स जिनो जयत्यरः ॥

अर्थ—नमस्कार करते हुए जो देवता उनके मस्तकों पर मुकटों में लगे हुए जो देदीप्यमान रत्न उनकी जो कान्ति उससे भी है अधिक प्रभा जिनकी ऐसे जिस अरनाथ जिनेन्द्र के चरणों के नख, संसाररूपी घर में पापरूपी अंधकार को नाशकरने वाले दीपकों के समान है वे अरनाथ भगवानइस लोक में जयवन्त हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार दीपक अंधकार को नाश करता है उसी प्रकार अत्यंत देदीप्यमान भगवान के चरण के नख भी पापरूपी अंधकार को नाश करते है अर्थात् जो भव्यजीव भगवान के चरणों के नखों की आराधना करते है उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं ॥१८॥

मल्लिनाथभगवान की स्तुति ।

सुहृत्सुखी स्यादहितः सुदुखितःस्वतोप्युदासीनतमादपि प्रभोः ।
यतः स जीयाज्जिनमल्लिरेकतां गतो जगद्विस्मयकारिचेष्टितः ॥१९॥

अर्थ—यद्यपि मल्लिनाथ भगवान स्वयं उदासीन हैं तो भी जिन मल्लिनाथ प्रभू से उनके स्नेहीभक्त सुख पाते है तथा उनके शत्रु दुःख पाते है इसलिये ऐसे वे आत्मस्वरूप में लीन तथा समस्त जगत को आश्चर्य करने वाली चेष्टा को धारण करने वाले श्रीमल्लिनाथ भगवान सदा इसलोक में जयवन्त प्रवर्तो ।

भावार्थ—यद्यपि यह बात अनुभव गोचर है कि जो मनुष्य उदासीन होता है अर्थात् जो मित्र शत्रु को समान मानता है उससे न तो मित्र सुखी होते हैं न दुखी होते है किंतु मल्लिनाथ भगवान में यह विचित्रता है कि वे स्वयं उदासीन होने पर भी अपने भक्तों को सुख देने वाले है तथा निदकों को दुख के देने वाले है (अर्थात् जो मनुष्य उनकी सेवा तथा भक्ति करता है उसको शुभ कर्म का बंध होता है जिस से उसको शुभकर्म के फलस्वरूप सुख की प्राप्ति होती है तथा जो मनुष्य उनकी निंदा करते है उनको घृणा की दृष्टि से देखता है उसको अशुभकर्मों काबंध होता है) जिससे उसको संसार में नाना प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है) इसलिये इस प्रकार अपने आत्मस्वरूप में लीन तथा आश्चर्यकारी चेष्टा को धारण करनेवाले श्रीमल्लिनाथ भगवान इसलोक में सदा जयवन्त रहो ॥१६॥

मुनिसुव्रत नाथ भगवान की स्तुति

विहाय नूनं तृणवत्स सम्पदं
मुनिर्व्रतैर्योऽभवदत्र सुव्रतः।
जगाम मद्धामविरामवर्जि तं
सुबोधदृङ्मे स जिनः प्रसीदतु ॥२०॥

अर्थ—जो मुनिसुव्रत नाथ मुनि, समस्त पदार्थों को निश्चय से तृण के समान छोड़ कर व्रतों को धारण करने से सुव्रत नाम को धारण करते हुए और जो नाशकर रहित (अविनाशी) मोक्ष पद को प्राप्त हुए तथा जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के धारी है ऐसे वे मुनिसुव्रत नाथ भगवान मेरे ऊपर प्रसन्न हों।

भावार्थ—जो उत्तम व्रतों को धारण करने वाला हो उसको सुव्रत कहते है बीसवें तीर्थंकर का जो सुव्रत नाम पड़ा है सो इसलिये पड़ा है कि उन्होंने समस्त संपदाओं का त्याग कर व्रतों को धारण किया है इसलिये इस प्रकार व्रतों को पालने के कारण सुव्रत नाम को धारण करने वाले तथा अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के धारी श्री मुनिसुव्रत नाथ भगवान मुझ पर प्रसन्न हों ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥२०॥

नमिनाथ तीर्थंकर की स्तुति ।

परम्परायत्ततयातिदुर्बलं
चलं स्वसौख्यं यदसौख्यमेव तत् ।
अदः प्रमुच्यात्मसुखे कृतादरो
नमिर्जिनो यः स ममास्तुमुक्तये ॥२१॥

अर्थ—जो नमिनाथ भगवान पराधीनता से प्राप्त तथा पर (भिन्न) और अत्यन्त दुर्बल तथा चंचल ऐसा इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ सुख दुःख स्वरूप ही है ऐसा समझ कर तथा इन्द्रिय सम्बन्धी सुख को छोड़ कर आत्म सम्बन्धी सुख में आदर करते हुए वे श्री नमिनाथ भगवान मुझे मुक्ति के लिये हों।

भावार्थ—इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ सुख पराधीन है और वास्तविक सुख से भिन्न है अत्यंत दुर्बल है तथा चंचल है और वह सुख नहीं दुःख स्वरूप ही है किंतु आत्म सम्बन्धी सुख स्वाधीन है स्वीय (अपना) है दुर्बलता रहित है स्थिर है और वही वास्तविक सुख है ऐसा भली भांति समझ कर जो नमिनाथ भगवान इन्द्रिय सम्बन्धी सुख को छोड़ कर आत्म-सम्बन्धी सुख में भली भांति आदर करते हुए वे श्री नमिनाथ भगवान मुझे मुक्ति के लिये होवें अर्थात् मुझे मुक्ति देवे ऐसी मेरी प्रार्थना है ॥२१॥

अरिष्टसंकर्तनचक्रनेमिता
मुपागतो भव्यजनेषु यो जिनः ।
अरिष्टनेमिर्जगतीतिविश्रुतः
स ऊर्जयन्ते जयतादितः शिवम् ॥२२॥

अर्थ—जो भगवान भव्यजनों के अशुभ कर्मों के नाश करने में चक्र की धारा पने को प्राप्त हैं इसलिये जो संसार में अरिष्टनेमि इस नाम से प्रसिद्ध है तथा जो गिरनार पर्वत से मोक्ष को पधारे है वे अरिष्टनेमि भगवान सदा इस लोक में जयवंत रहो।

भावार्थ—जिस प्रकार चक्र की धारा छेदन करने में पैनी रहती है उसी प्रकार भगवान भी भव्य जीवों के अशुभ कर्मों के नाशक है अर्थात् भगवान की कृपा से भव्य जीवों के अशुभ

कर्म नष्ट हो जाते हैं इसलिये जो भव्य जीवों के अशुभ कर्मों के नाश करने में चक्र की धारा के समान हैं अतएव जिन्होंने अरिष्टनेमि इस नाम को धारण किया है तथा जिन्होंने परम पूज्य श्री गिरनार पर्वत से मोक्ष पाई है वे श्री अरिष्टनेमि भगवान सदा इस लोक में जयवंत रहो ॥२२॥

यदूर्ध्वदेशे नभसि क्षणादहिप्रभोः फणारत्नकरैः प्रधावितम् ।
पदातिभिर्वा कमठाहतेःकृते करोतु पार्श्वः स जिनो ममामृतम् ॥२३॥

अर्थ—जिस पार्श्वनाथ भगवान के मस्तक पर आकाश में कमठासुर के मारने के लिये शेषनाग के फणों में लगे हुए जो रत्न उनकी किरणें, पदाति (सेना) के समान धावा करती हुई वे पार्श्वनाथ भगवान मेरे लिये मोक्ष को दो।

भावार्थ—किसी समय भगवान ध्यान में अत्यन्त लीन होकर वन में विराजमान थे उस समय उन के पूर्व भवका वैरी कमठासुर आकाश मार्ग से चला जा रहा था जिस समय उसका विमान इनके मस्तक पर आया तो आगे चला ही नहीं क्योंकि तीर्थंकर आदि महात्माओं के ऊपर किसी का विमान नही जाता। तब वह नीचे उतरा और भगवान को देखते ही उस को पूर्व भवका स्मरण हो गया बस फिर क्या था! भगवान को ध्यान से चलायमान करने के लिये उसने बहुत से उपाय सोचे और किये परन्तु भगवान के सामने वे सब निष्फल ही हुए अन्त में उसने मेघ वर्षाये तथा ओले गिराये और प्रचंड पवन चलाई उस समय धरणेंद्र और पद्मावती ने भगवान का उपसर्ग निवारण किया क्योंकि धरणेंद्र ने भगवान के मस्तक पर अपना फणा फैला कर मेघ का निवारण किया तथा पद्मावती ने आसन बनकर भगवान के उपसर्ग को निवारण किया उसी बात को अपने मन में धारण कर ग्रन्थकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि पार्श्वनाथ भगवान के मस्तक पर शेषनाग के फणों के रत्नों के किरण जहां तहां नही फैल रहे है किन्तु वे कमठ के मारने के लिये सेना ही हैं अतः ऐसे पार्श्वनाथ भगवान मुझे मुक्ति प्रदान करें ॥२३॥

धर्मवर्द्धमान भगवान की स्तुति।

त्रिलोकलोकेश्वरतां गतोपि यः स्वकीयकायेऽपि तथापि निस्पृहः ।
स वर्धमानोऽन्त्यजिनो नताय मे ददातु मोक्षं मुनिपद्मनंदिने ॥२४॥

अर्थ—जो वर्धमान स्वामी तीन लोक के ईश्वर होने पर भी अपने शरीर में भी निस्पृह

(इच्छा रहित) होते हुए वे अंतिम जिनेन्द्र वर्धमान स्वामी नमस्कार करते हुए मुझ पद्मनंदि मुनि के लिये मोक्ष प्रदान करो ॥२४॥

इस प्रकार इस श्री पद्मनंदी आचार्य विरचित श्री पद्मनंदि पंचविंशतिका में स्वयंभूस्तोत्र "चतुर्विंशति जिनेन्द्र" स्तोत्र समाप्त हुआ।

सुप्रभाताष्टकस्तोत्रम् ।

शार्दूलविक्रीडित ।

निश्शेषावरणद्वयस्थिति निशाप्रान्तेन्तरायक्षयो
द्योते मोहकृते गते च सहसा निद्राभरे दूरतः ।
सम्यग्ज्ञानदृगक्षियुग्ममभितो विस्फारितं यत्रत्
लब्धं यैरिह सुप्रभातमचलं तेभ्यो यतिभ्यो नमः ॥१॥

अर्थ—दोनों जो निश्शेषावरण अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शनावरण उनकी जो स्थिति वही हुई रात्रि उसके अंत होने पर तथा अतराय कर्म के क्षय होने से प्रकाश होने पर और मोहिनीय कर्म के द्वारा किये हुए निद्रा के भार के शीघ्र ही दूर होने पर जिस सुप्रभात में सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन रूप दोनों नेत्र उन्मीलित हुवे (खुले) उस अचल सुप्रभात को जिन यतियों ने प्राप्त कर लिया है उन यतियों के लिये नमस्कार है।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रभात काल में रात्रि का सर्वथा अन्त हो जाता है तथा प्रकाश प्रकट हो जाता है और निद्रा का नाश हो जाता है अर्थात् सोते हुवे प्राणी उठ बैठते है और दोनों नेत्र खुल जाते है उसी प्रकार जिस सुप्रभात में ज्ञानावरण और दर्शनावरण के सर्वथा नाश होने पर तथा मोहनीय कर्म की कृपा से उत्पन्न हुई निद्रा के सर्वथा दूर हो जाने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन प्रकट हुवे और ऐसे सुप्रभात को जिन मुनियों ने प्राप्त कर लिया है उन मुनियों के लिये मस्तक झुका कर नमस्कार है ॥१॥

यत्सच्चक्रसुखप्रदं यदमलं ज्ञानप्रभाभासुरं
लोकालोकपदप्रकाशनविधिप्रौढ़ं प्रकृष्टं सकृत।
उद्भूते सति यत्र जीवितमिव प्राप्तं परं प्राणिभिः
त्रैलोक्याधिपतेर्जिनस्य सततं तत्सुप्रभातं स्तुवे ॥२॥

अर्थ—तीनों लोक के स्वामी श्री जिनेन्द्र भगवान के मैं उस सुप्रभात स्तोत्र को नमस्कार करता हूं कि जो जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात समस्त जीवों को सुख का देने वाला है और समस्त प्रकार के मलों से रहित होने के कारण अमल है और ज्ञान की जो प्रभा उससे देदीप्यमान है तथा समस्त लोकालोक को प्रकाश करने वाला है और जो अत्यंत महान है और जिसके एकबार ही उदित होने पर समस्त प्राणियों को ऐसा मालूम पड़ता है कि हमको उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति हो जाती है अर्थात वे अपना जीवन धन्य समझते है।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रभात काल समस्त प्राणियों को सुख का देने वाला होता है और अंधकार के नाश हो जाने पर निर्मल होता है देदीप्यमान सूर्य की कान्ति से चमकीला होता है और समस्त पदार्थों का प्रकाशक होता है और प्रकृष्ट होता है तथा जिस प्रभात काल के उदित होने पर समस्त प्राणी अपना जीवन उत्कृष्ट समझते हैं उसी प्रकार तीन लोक के स्वामी श्री-जिनेन्द्र देव का भी प्रभात (केवल ज्ञान) है क्योंकि यह भी समस्त जीवों को सुख का देने वाला है (अर्थात् जिस समय केवल ज्ञान प्रगट होता है उस समय तीनों लोक के जीवों को आनंद होता है) और ज्ञानावरणादि कर्मों के अभाव से निर्मल है तथा ज्ञान की (अपनी) प्रभा से देदीप्यमान है और समस्त लोक तथा अलोक का प्रकाश करने वाला है और महान है और जिस केवल ज्ञान के उदित होने पर समस्त प्राणी अपने को धन्य समझते है उस तीनों लोक के स्वामी श्री जिनेन्द्र देव के सुप्रभात (केवल ज्ञान) के लिये नमस्कार है ॥२॥

एकान्तोद्धतवादिकौशिकशतैर्नष्टं भयादाकुलैः
जातं यत्र विशुद्धखेचरनुतिव्याहारकोलाहलम्।
यत्सद्धर्मविधिप्रवर्तनकरं तत्सुप्रभातं परं
मन्येऽर्हत्परमेष्ठिनो निरुपमं संसारसंतापहृत् ॥३॥

अर्थ—जिस अर्हंत भगवान के उपमा रहित सुप्रभात के होने पर भयभीत होकर एकांत सिद्धांत से मत्त ऐसे सैकड़ों वादीरूपी कौशिक (वाल उल्लू) नष्ट हो गये और अत्यंत शुद्ध जो विद्याधरों की स्तुति उसका जो शब्द उसका कोलाहल होता हुआ और जो सुप्रभात उत्तम धर्म की प्रवृत्ति का करने वाला है वह अर्हंत भगवान का सुप्रभात (केवल ज्ञान) समस्त संसार के संतापों को दूर करने वाला है ऐसा मैं मानता हूं।

भावार्थ—जिस प्रकार सुबह के समय समस्त उल्लू छिप जाते हैं तथा पक्षिगण अपने कलकल शब्दों से आकाश में कोलाहल करते है और उत्तम धर्म की प्रवृति होती है अर्थात् जिस प्रभात काल में मनुष्य अपनी २ धर्म क्रियायों में तत्पर हो जाते है और जो सुप्रभात उपमा रहित है तथा समस्त संतापों को दूर करने वाला है उसी प्रकार अर्हंत भगवान का भी सुप्रभात है क्योंकि भगवान के सुप्रभात के (केवल ज्ञान के) सामने भी वस्तु के एकांत स्वरूप को ही मानकर मदोन्मत्तवादीरूपी उल्लू नष्ट होजाते है और जिस सुप्रभात में विद्याधर भगवान की स्तुति करते है उस समय उनकी स्तुति के शब्द का कोलाहल सब जगह व्याप्त हो जाता है तथा भगवान का सुप्रभात (केवल ज्ञान) श्रेष्ठ धर्म की प्रवृत्ति का करने वाला है अर्थात् जिस समय संसार अज्ञानांधकार से व्याप्त हो जाता है उस समय केवल ज्ञानी के केवल ज्ञान से ही श्रेष्ट मार्ग की प्रवृत्ति होती है और यह भगवान का सुप्रभात उत्कृष्ट है उपमा रहित है तथा समस्त संसार के संतापों का दूर करने वाला है ऐसा मैं मानता हूं ॥३॥

सानंदं सुरसुन्दरीभिरभितः शक्रैर्यदा गीयते
प्रातः प्रातरधीश्वरं यदतुलं वैतालिकैः पठ्यते।
यच्चाश्रावि नभश्चरैश्च फणिभिः कन्याजनाद्गायतः
तद्वन्दे जिनसुप्रभातमखिलं त्रैलोक्यहर्षप्रदम् ॥४॥

अर्थ—जिन जिनेन्द्र भगवान के समस्त सुप्रभात स्तोत्र को आनन्द युक्त देवांगना तथा इन्द्र गान करते हे तथा उपमा रहित जिस सुप्रभात स्तोत्र को वंदीजन राजाओं के सामने सुबह के समय पढ़ते है और गान करती हुई नाग कन्याओं से गाये हुये जिस स्तोत्र को विद्याधर तथा नागेन्द्र सुनते भी हैं उस तीनों लोक को हर्ष के देने वाले भगवान के सुप्रभात स्तोत्र को मैं शिर नवा कर नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—जिन जिनेंद्र भगवान के स्तोत्र को स्वर्ग में तो बड़े आनंद से देवांगना तथा इन्द्र गान करते है और मध्य लोक में राजाओं के आगे प्रातः काल में वंदीजन गान करते है तथा अधो लोक मे नाग कन्या अपने मधुर स्वर मे गान करती है जिसको बड़ी लालसा से विद्याधर तथा नागेन्द्र सुनते है ऐसे उस तीनों लोकों को हर्ष के करने वाले भगवान के सुप्रभात को मैं नमस्कार करता हूं ॥४॥

उद्योते सति यत्र नश्यतितरां लोकेऽन्धचौरश्चिरं
दोषेशोंतरतीत यत्र मलिनो मंदप्रभो जायते ।
यत्रानीतितमस्ततेर्विघटनाज्जाता दिशो निर्मला
वंद्यं नंदतु शाश्वतं जिनपतेस्तत्सुप्रातं परम् ॥५॥

अर्थ—जिन जिनेन्द्र भगवान के सुप्रभात के प्रकाशमान होने पर संसार में पाप रूपी चोर सर्वथा नष्ट हो जाते है तथा मन रूपी चंद्रमा मलिन मंदप्रभ (फीका) हो जाता है और अनीति रूपी अंधकार के सर्वथा नाश हो जाने के कारण समस्त दिशाये स्वच्छ हो जाती है तथा जो भगवान का सुप्रभात उत्कृष्ट है तथा सदा काल रहने वाला है और वंदनीक है ऐसा वह जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात सदा इस लोक में जयवंत प्रवर्तो ।

भावार्थ—जिस प्रकार सुबह के हो जाने पर सब चोर नष्ट हो जाते हैं और चंद्रमा मलिन तथा फीका पड़ जाता है तथा समस्त अंधकार के नाश हो जाने से दिशा सर्वथा स्वच्छ हो जाती है और जो उत्कृष्ट तथा वंद्य है उसी प्रकार श्री जिनेन्द्र देव का भी सुप्रभात (केवल ज्ञान) है क्योंकि इस जिनेन्द्र के सुप्रभात के प्रकाशमान होने पर भी समस्त पाप रूपी चोर सर्वथा नष्ट हो जाते है तथा मन रूपी चंद्रमा भी मलिन तथा फीका पड जाता है अर्थात् मन का व्यापार सर्वथा नष्ट हो जाता है और अनीति रूपी मार्ग के सर्वथा नाश हो जाने के कारण समस्त दिशायें निर्मल हो जाती है (अर्थात् भगवान के सुप्रभात के प्रकाशमान होने पर मिथ्या मार्ग की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और उत्तम मार्ग की प्रवृत्ति, होती है) और जो जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात उत्कृष्ट है तथा सदा काल रहने वाला है और समस्त भव्य जीवों का वंद्य (स्तुति के करने योग्य) है ॥५॥

मार्गं यत्प्रकटीकरोति हरते दोषानुषंगस्थितिं
लोकानां विदधाति दृष्टिमचिरादर्थावलोकक्षमाम् ।
कामासक्तधियामपि कृशयति प्रीतिं प्रियायामिति
प्रातस्तुल्यतयापि कोऽपि महिमापूर्वः प्रभातोऽर्हताम् ॥६॥

अर्थ—जो अर्हंत भगवान का सुप्रभात मार्ग को प्रकट करता है और समस्त दोषों के संग से होने वाली स्थिति को नष्ट करता है तथा लोगों को दृष्टियों को शीघ्र ही पदार्थों के देखने में समर्थ बनाता है और जिन मनुष्यों की बुद्धि काम में आसक्त है अर्थात् जो पुरुष कामी है उनकी स्त्री विषयक प्रीति को नष्ट करता है इसलिये यद्यपि अर्हंत देव का प्रभात प्रातःकाल के समान मालूम पड़ता है तो भी यह प्रातःकाल से वचनागोचर अपूर्व महिमा का धारी है ऐसा जान पड़ता है।

भावार्थ—यद्यपि शब्द से प्रातःकाल तथा जिनेन्द्र का सुप्रभात समान ही प्रतीत होते हैं तो भी प्रातःकाल की (सुबह की) अपेक्षा अर्हंत भगवान के सुप्रभात की महिमा अपूर्व ही है क्योंकि प्रातःकाल तो मनुष्यों के चलने के लिये सड़क आदि मार्ग को प्रकट करता है किंतु भगवान का सुप्रभात सम्यग्दर्शनादि स्वरूप मोक्ष के मार्ग को प्रकट करता है तथा प्रातःकाल तो रात्रि की स्थिति का नाश करता है किंतु भगवान का सुप्रभात राग द्वेष रूपी दोषों की स्थिति को दूर करता है और प्रातःकाल तो घटपटादि थोड़े पदार्थों के देखने में ही मनुष्यों की दृष्टियों को समर्थ करता है किंतु अर्हंत भगवान का सुप्रभात मनुष्यों की दृष्टि को मूर्तीक तथा अमूर्तीक समस्त पदार्थों के देखने में समर्थ बनाता है तथा प्रातःकाल तो कामी पुरुषों की स्त्रीविषयक प्रीति को ही नष्ट करता है किन्तु अर्हंत भगवान का सुप्रभात समस्त प्रकार के मोह का नाश करने वाला है इसलिये प्रातःकाल की अपेक्षा अर्हंत भगवान का सुप्रभात अपूर्व महिमा का धारी है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं ॥६॥

यद्भानोरपि गोचरं न गतवच्चित्ते स्थितं तत्तमो
भव्यानां दलयत्तथा कुवलये कुर्वद्विकासश्रियम् ।
तेजः सौख्यहतेरकर्तृ सदिदं नक्तंचराणामपि
क्षेमं वो विदधातु जैनमसमं श्रीसुप्रभातं सदा ॥७॥

अर्थ—जो अंधकार सूर्य के भी गोचर [विषयभूत] नहीं है ऐसे इस भव्यजीवों के चित्तों में विद्यमान भी अंधकार को जो जिनेन्द्र का सुप्रभात नष्ट करने वाला है तथा भूमंडल में जो जिनेन्द्र का सुप्रभात विकास की शोभा को धारण करता है [अर्थात् पृथ्वीमंडल में विकास होता है] और जिनेन्द्र का सुप्रभात रात्रि में गमन-करने वाले जीवों के तेज तथा सुख के नाश को नहीं करता है ऐसा यह समीचीन तथा उपमारहित जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात सदा आप लोगों के कल्याण को करो।

भावार्थ—जो जिनेन्द्र का सुप्रभात, जहांपर सूर्य की भी गम्य नहीं है ऐसे भव्यजीवों के मन में मौजूद अंधकार का नाश करने वाला है तथा जो समस्त पृथ्वीमंडल के ऊपर प्रकाशमान है और सूर्य तो रात्रि में गमन करने वाले उल्लू आदि जीवों के तेज तथा सुख का नाश करने वाला है किंतु जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात रात्रि में गमन करने वाले जीवों के न तो तेज का नाश करने वाला है तथा न सुख का नाश करने वाला है और जो समीचीन है तथा उपमारहित है ऐसा यह जिनेन्द्र भगवान का सुप्रभात सदा आप लोगों के कल्याण को करे ॥७॥

भव्याम्बोरुहनन्दिकेवलरविः प्राप्नोति यत्रोदयं
दुष्कर्मोदयनिद्रया परिहृतं जागर्ति सर्वं जगत् ।
नित्यं यैः परिपठ्यते जिनपतेरेतत्प्रभाताष्टकं
तेषामाशु विनाशमेति दुरितं धर्मःसुखं वर्धते ॥८॥

अर्थ—जिन श्री जिनेन्द्र देव के सुप्रभात में भव्यरूपी कमलों को आनंद का देने वाला केवल ज्ञानरूपी सूर्य उदय को प्राप्त होता है और जिस भगवान के सुप्रभात में समस्त जगत खोटे कर्मों से पैदा हुई जो निद्रा उससे रहित होकर प्रबोध अवस्था को प्राप्त होता है आचार्यवर कहते है कि जिनेन्द्र भगवान के इस प्रकार के उत्तम सुप्रभाताष्टक को जो भव्यजीव नित्य पढ़ते हैं उन भव्य जीवों के समस्त पापों का नाश हो जाता है और उनके धर्म की वृद्धि होती है तथा सुख की भी वृद्धि होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रातःकाल में कमलों को आनंद के देने वाला सूर्य्य का उदय होता है तथा समस्त लोक निद्रा से रहित होकर प्रबोध अवस्था को प्राप्त हो जाता है अर्थात् जग जाता है उसी प्रकार भगवान का सुप्रभात भी है क्योंकि भगवान के सुप्रभात में भी भव्यरूपी

कमलों को आनंद देने वाले अथवा भव्यपद्मनंदी आचार्य को आनंद के देने वाले केवल ज्ञान रूपी सूर्य का उदय होता है और समस्त लोक खोटे कर्मों से पैदा हुई जो निद्रा उससे रहित होकर प्रबोध अवस्था को प्राप्त होता है इसलिये आचार्य कहते हैं कि जो भव्यजीव सदा इन जिनेन्द्र भगवानके सुप्रभाताष्टकस्तोत्र को पढ़ते हैं उन भव्यजीवों के समस्त अशुभ कर्मों का नाश हो जाता है और उनके सुख की तथा धर्म की वृद्धि होती है ॥८॥

इस प्रकार श्री पद्मनंदी आचार्यद्वारा विरचित श्री पद्मनंदिपंचविंशतिका में सुप्रभाताष्टकस्तोत्र नामक अधिकार समाप्त हुआ ।

श्रीशांतिनाथस्तोत्रम् ।

शार्दूलविक्रीडित ।

त्रैलोक्याधिपतित्वसूचनपरं लोकेश्वरैरुद्धृतं
यस्योपर्युपरीन्दुमण्डलनिभं छत्रत्रयं राजते ।
अश्रांतोद्गतकेवलोज्ज्वलरुचा निर्भर्सितार्कप्रभं
सोऽस्मान् पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथः सदा ॥१॥

अर्थ—जिन श्रीशांतिनाथ भगवान के मस्तक के ऊपर तीनों लोक के स्वामीपने के प्रकट करने में तत्पर तथा जो देवेन्द्रों द्वारा आरोपी चंद्रमा के समान तीन छत्र शोभित होते हैं और निरंतर उदय को प्राप्त ऐसा जो केवल ज्ञान उसकी जो निर्मलकांति उससे जिसने सूर्य की प्रभा को भी नीचे गिरा दिया है और जो समस्त पापों कर रहित हैं ऐसे वे श्री शांति नाथ जिनेन्द्र सदा हम लोगों की रक्षा करो ।

भावार्थ—श्रीशांतिनाथ भगवान तीनों लोक के स्वामी हैं इसबात के प्रकट करने के लिये जिन श्रीशांतिनाथ भगवान के मस्तक के ऊपर देवेन्द्रों के समान चंद्रमा समान तीन छत्र

आरोपित किये हैं और जिन्होंने सदा उदय को प्राप्त ऐसे अपने केवलज्ञान की कांति से सूर्य की प्रभा को भी नीचे कर दिया है और ज्ञानावरणादि कर्म जिनके पास भी नहीं फटकने पाते इसीलिये जो कर्मों से उत्पन्न हुई कालिमा से रहित है ऐसे शांतिनाथ भगवान सदा हमारी रक्षा करो अर्थात् ऐसे श्रीशांतिनाथ भगवान को नमस्कार है ॥१॥

देवः सर्वविदेप एव परमो नान्यस्त्रिलोकीमति
संत्यस्यैव समस्ततत्त्वविषया वाचः सतां सम्मताः ।
एतद्घोषयतीव यस्य विबुधैरास्फलितो दुन्दुभिः
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथः सदा ॥२॥

अर्थ—देवताओंकर ताड़ित (वजाई हुई) जिस श्रीशांतिनाथ भगवान की दुन्दुभि (नक्काड़ा) संसार में मानों इस बातको प्रकट करके कह रहा है कि समस्त पदार्थों को जानने वाले तथा तीनों लोकों के पति यदि हैं तो शांतिनाथ भगवान ही हैं किंतु इनसे भिन्न नकोई समस्त पदार्थों का जानने वाला है और न उत्कृष्ट तथा तीनों लोकों का पति ही है तथा तत्त्वों को वर्णन करने वाले इसी (भगवान) के वचन सज्जनों को समस्त हैं किंतु इनसे भिन्न किसी के वचन समस्त नहीं हैं ऐसे वे समस्त कर्मोंकर रहित श्रीशांतिनाथ भगवान सदा हमारी रक्षा करो ॥२॥

दिव्यस्त्रीमुखपङ्कजैकमुकरप्रोल्लासिनानामणि
स्फारीभूतविचित्ररश्मिरचितानम्रामरेन्द्रायुधैः ।
सच्चित्रीकृतवातवर्त्मनि लसत्सिंहासने यः स्थितः
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथः सदा ॥३॥

अर्थ—जो श्री शांतिनाथ भगवान, देवांगनाओं के जो मुखकमल वेही हुए एक दर्पण उनमें देदीप्यमान जो नाना प्रकार के रत्न उसकी जो चारों ओर फैली हुई किरण उनकर के वनाये हुए, तथा चारों ओर से मुड़े हुएऐसे जो इन्द्र धनुष, उनसे चित्र विचित्र जो आकाश, उसमें देदीप्यमान सिंहासन में विराजमान होते हुए ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्रीशांतिनाथ भगवान सदा हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—जिस समय भगवान को देवांगना आकर नमस्कार करती हैं उस समय उनके भूषणों के रत्नों की किरणों से चित्र विचित्र आकाश ऐसा मालूम पड़ता है मानों उसमें इंद्र धनुष ही पड़े हों तो इस प्रकार इन्द्रधनुषों के समान चित्र विचित्र आकाश में जो शांतिनाथ भगवान सिंहासन पर विराजमान होते हुए ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्रीशांतिनाथ भगवान हमारी रक्षा करो अर्थात् ऐसे शांतिनाथ भगवान को मस्तक झुकाकर नमस्कार है ॥३॥

गंधाकृष्टमधुव्रतव्रजरुतैर्व्यापारिता कुर्वती
स्तोत्राणीव दिवःसुरैः सुमनसां वृष्टिर्यदग्रेऽभवत् ।
सेवापातसमस्तविष्टपपतिस्तुत्याश्रयस्पर्धया
सोऽस्मान् पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथो जिनः॥४॥

अर्थ—जिस श्री शांतिनाथ भगवान के आगे आकाश में देवों द्वारा की हुई फूलों की वर्षा इस प्रकार से होती हुई मानों सेवा में आये हुए जो समस्त लोक के स्वामी देवेन्द्रादिक उनकी स्तुति से उत्पन्न हुई ईर्षा से, सुगंध से खैंचे हुए जो भ्रमर उनका जो समूह उनके शब्दों से स्तोत्रों को ही कर रही हो इसलिये इस प्रकार समस्त पापों से रहित श्री शांतिनाथ भगवान हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—आचार्यवर उत्प्रेक्षा करते हैं कि जिस समय भगवान के ऊपर पुष्प वृष्टि होती है उस समय उसकी सुगंधी से आये हुए जो भ्रमर उनके जो गुंजार शब्द वे गुंजार शब्द नहीं हैं किंतु तीनों लोक के पति देवेन्द्र नरेन्द्र धरणेन्द्र आकर भगवान की स्तुति करते हैं उस समय उनकी ईर्षा से पुष्पवृष्टि भी भगवान की मानों स्तुति कर रही है ऐसी मालूम होती है ॥४॥

खद्योतौ किमुतानलस्य कणिके शुभ्राभ्रलेशावथ
सूर्यचंद्रमसाविति प्रगुणितौ लोकाक्षियुग्मैःसुरैः ॥
तर्क्येते हि यदग्रतोतिविशदं तद्यस्यभामण्डलं
सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिःश्रीशांतिनाथः सदा ॥५॥

अर्थ—जिस श्री शांतिनाथ भगवान के भामंडल के आगे सूर्य तथा चंद्रमा को लोगों के नेत्र तथा देव ऐसा मानते थे कि क्या ये सूर्य चंद्रमा दो खद्योत [जुगनू] हैं अथवा अग्नि

के दो फुलिंगे हैं वा सफेद मेघ के ये दो टुकड़े हैं, ऐसा जिस शांतिनाथ भगवान का भामंडल था ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्री शांतिनाथ भगवान हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—जिस श्री शांतिनाथ भगवान का भामंडल इतना देदीप्यमान था कि जिसके सामने अत्यंत प्रकाशमान सूर्य चंद्रमा भी जुगनू तथा अग्नि के फूलिंगे और सफेद मेघ के टुकड़ों के समान जान पड़ते थे ऐसे वे समस्त कर्मों से पैदा हुई कालिमा से रहित श्री शांतिनाथ भगवान हमारी रक्षा करो ॥५॥

यस्याशोकतरुर्विनिद्रसुमनोगुच्छप्रसक्तैः क्वणद्
भृंगैर्भक्तियुतः प्रभोरहरहर्गायन्निवास्ते यशः ॥
शुभ्रं साभिनयोमरुच्चललतापर्यंतपाणिश्रिया
सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिःश्रीशांतिनाथःसदा ॥६॥

अर्थ—जिस श्री शांतिनाथ भगवान का भक्ति सहित अशोक वृक्ष खिले हुए फूल उनके जो गुच्छे उन पर बैठे हुए जो शब्द करते हुए भ्रमर उनसे प्रभू के निर्मल यश को गान कर रहा है ऐसा मालूम होता है और पवन से कंपित जो लता उनके जो अग्रभाग वेही हुए हाथ उनसे ऐसा जान पड़ता है मानो नृत्य ही कर रहा हो ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्री शांतिनाथ भगवान हमारी रक्षा करो।

भावार्थ—जिसके खिले हुवे फूलों के गुच्छों पर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं और जिसकी शाखाओं के अग्रभाग पवन से हिल रहे है ऐसे अशोक वृक्ष के नीचे बैठे ध्यानारूढ़ भगवान को अपने मन में भावना कर ग्रंथकार उत्प्रेक्षा करते हैं कि जो अशोक वृक्ष के फूले हुवे फूलों पर भ्रमर गुंजार शब्द कर रहे हैं वे शब्द उनके गुंजार के शब्द नहीं किंतु भक्ति वश होकर अशोक वृक्ष भगवान के निर्मल यश का गान कर रहा है तथा वे जो पवन से अशोक वृक्ष की लताओं के अग्रभाग हिल रहे हैं वे लताओं के अग्रभाग नहीं है किंतु वे अशोक वृक्ष के हाथ हैं तथा हाथ फैलाकर अशोक वृक्ष भक्तिवश होकर नृत्य कर रहा है इसलिये जिनका अशोक वृक्ष भक्तियुत होकर ऐसी चेष्टा कर रहा है ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्री शांतिनाथ भगवान हमारी रक्षा करो ॥६॥

विस्तीर्णाखिलवस्तुतत्वकथनापारप्रवाहोज्वला
निश्शेषार्थिनिषेवितातिशिशिरा शैलादिवोत्तुंगतः ।
प्राद्भूता हि सरस्वती सुरनुता विश्वं पुनाना यतः
सोऽस्मान्पातु निरञ्जनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथःसदा ॥७॥

अर्थ—जो अत्यंत विस्तीर्ण है तथा समस्त तत्वों का जो कथन वही हुवा प्रवाह उससे उज्ज्वल है और जिसकी समस्त अर्थीजन (याचक) सेवा करते हैं और जो अत्यंत शीतल हैं तथा जिसकी समस्त देव स्तुति करते हैं और जो समस्त जग को पवित्र करने वाली है ऐसी सरस्वति (गंगा) अत्यंत ऊंचे पर्वत के समान जिस श्री शांतिनाथ भगवान से प्रगट हुई है ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्री शांतिनाथ भगवान हमारी रक्षा करें ।

भावार्थ—जिस प्रकार गंगा नदी अत्यन्त लम्बी चौड़ी है और जिस का पार नहीं ऐसे प्रवाह से उज्वल है तथा जिस की याचकगण सेवा करते हैं और जो अत्यन्त शीतल है तथा जिस की बड़े बड़े देव स्तुति करते हैं और जो समस्त जगत को पवित्र करने वाली है तथा अत्यंत उन्नत ऐसे हिमालय पर्वत से प्रकट हुई है उसी प्रकार सरस्वती भी है क्योंकि यह भी अत्यंत विस्तीर्ण है तथा समस्त तत्वों का जो कथन वहीं हुआ प्रवाह उस से अत्यंत निर्मल है। इसके भक्त लोग इस की सेवा करते हैं और यह अत्यंत शीतल है और इसकी बड़े बड़े देव स्तुति करते हैं तथा समस्त जगत को पवित्र करने वाली है और अत्यंत उन्नत श्री शांति नाथ हिमालय से उत्पन्न हुई है इस लिये जिन से इस प्रकार गंगा नदी के समान सरस्वती उत्पन्न हुई है ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्री शांति नाथ भगवान हमारी रक्षा करो ॥७॥

लीलोद्वेल्लितबाहुकंकणरणत्कारप्रहृष्टैःसुरैः
चंचच्चन्द्रमरीचिसंचयसमाकारैश्चलच्चामरैः ।
नित्यं यः परिवीज्यते त्रिजगतां नाथस्तथाप्यस्पृहः
सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिः श्रीशांतिनाथःसदा ॥८॥

अर्थ—जिस शांति नाथ भगवान के ऊपर लीला से कंपित जो भुजा उन में पहिने हुवे जो कंकण उन काजो रणत्कार शब्द उन से अत्यन्त हर्षित ऐसे देव, देदीप्यमान जो चन्द्रमा उस

की जो किरणें उन का जो समूह उस के समान रूप को धारण करने वाले चंचल चमरों को ढोरते हैं और जो तीनों लोक के नाथ है तो भी जो निरीह है अर्थात् समस्त पदार्थों में इच्छाकर रहित है ऐसे वे समस्त पापोंकर रहित श्री शांति नाथ भगवान सदा हमारी रक्षा करो अर्थात् ऐसे श्री शांति नाथ भगवान को नमस्कार है।

भावार्थ—जिन श्री शांति नाथ भगवान के ऊपर समस्त आभूषणोंकर सहित देवेन्द्र, चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल चमरों को ढोरते है और जो तीनों लोक के नाथ हैं तो भी जिन भगवान की किसी पदार्थ में इच्छा नहीं है ऐसे वे समस्त प्रकार के पापोंकर रहित श्री शांति नाथ भगवान सदा हमारी रक्षा करो ॥८॥

निश्शेषश्रुतबोधवृद्धमतिभिः प्राज्यैरुदारैरपि
स्तोत्रैर्यस्य गुणार्णवस्य हरिभिः पारो नहि प्राप्यते
भव्यांभोरुहनंदिकेवलरविर्भक्त्या मयापि स्तुतः
सोऽस्मान्पातु निरंजनो जिनपतिःश्रीशांतिनाथःसदा ॥९॥

अर्थ—समस्त शास्त्रों के ज्ञान से जिन की बुद्धियां अत्यन्त विशाल हैं ऐसे इन्द्र भी अत्यन्त उत्कृष्ट तथा बड़े बड़े स्तोत्रों से जिन श्री शांति नाथ के गुणरूपी समुद्र का पार नहीं पा सकते ऐसे उन भव्यरूपी कमलों को अथवा भव्य पद्मनंदी को आनन्द के करने वाले केवल ज्ञान रूपी सूर्य के धारी श्री शांति नाथ भगवान की मैंने स्तुति की है इस लिये समस्त पापोंकर रहित श्री शांति नाथ भगवान हमारी रक्षा करो ॥९॥

इस प्रकार श्री पद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्री पद्मनंदि पंचविंशतिका में शांत्यष्टकस्तोत्र समाप्त हुआ।

---

१ क० पुस्तक वृद्धिमतिभिः—यह भी पाठ है।

जिनपूजाष्टकं ।

वसन्ततिलका ।

जातिर्जरामरणमित्यनलत्रयस्य जीवाश्रितस्य बहुतापकृतो यथावत् ।
विध्यापनाय जिनपादयुगाग्रभूमौ धारात्रयं प्रवरवारिकृतं क्षिपामि ॥१॥

अर्थ—जीवों के आश्रित अर्थात् जीवों में होने वाली तथा अत्यन्त संताप को देने वाली ऐसी जन्म जरा और मरण ये तीन प्रकार की अग्नि है उन तीनों प्रकार की अग्नियों को यथावत् बुझाने के लिये श्री जिनेंद्र भगवान के दोनों चरणों के अग्रभाग की भूमि में उत्तम जल से बनाई हुई तीन धाराओं का मैं क्षेप करता हूं ।

भावार्थ—जितने भर संसारी जीव हैं उन जीवों को जिस प्रकार अग्नि अत्यंत संताप को देने वाली होती है उसी प्रकार जन्म जरा और मरण ये तीन अत्यंत संताप के देने वाले हैं इस लिये इन तीनों के विनाश के लिये श्री जिनेन्द्र भगवान के दोनों चरणों के अग्रभाग की भूमि में मैं उत्तम निर्मल जल से बनाई हुई तीन धाराओं का क्षेप करता हूं अर्थात् तीन बार जल को चढ़ाता हूं ॥१॥ जलम्

यद्वद्वचोजिनपतेर्भवतापहारि
नाहं सुशीतलमपीह भवामि तद्वत् ।
कर्पूरचंदनमितीव मयार्पितं सत्
त्वत्पादपंकजसमाश्रयणं करोति ॥२॥

अर्थ—जिस प्रकार भगवान के वचन समस्त संसार के संताप के हरण करने वाले हैं उसी प्रकार अत्यंत शीतल भी मैं संसार के संतापों का हरण करने वाला नहीं हूं इसलिये ऐसा समझकर मेरे द्वारा चढ़ाया हुआ यह कपूर मिला हुआ चंदन हे भगवन् आपके चरण कमलों के आश्रय को करता है ।

भावार्थ—यद्यपि संसार में चंदन भी अत्यंत शीतल पदार्थ है किंतु चंदन अपने को आपके वचनों के सामने अत्यंत शीतल नहीं समझता क्योंकि आपके वचन तो संसार सम्बन्धी

समस्त संतापों के दूर करने वाले हैं किंतु ऐसा चंदन नहीं इसलिये हे भगवन् मेरे द्वार आपके चरण कमलों में चढ़ाया हुआ यह कपूरमिश्रित चंदन आपके चरण कमलों का आश्रय करता है ॥२॥ चंदनम्

राजत्यसौ शुचितराक्षतपुंजराजिर्-
दत्ताधिकृत्य जिनमक्षतमक्षधूर्तैः ।
वीरस्य नेतरजनस्य तु वीरपट्टो
बद्धः शिरस्यतितरां श्रियमातनोति ॥३॥

अर्थ—इन्द्रिय रूपी जो धूर्त उससे नहीं नष्ट किये गये ऐसे जो जिनेन्द्र भगवान हैं उनको आश्रय कर दी गई अत्यंत निर्मल जो अक्षतों के पुंजों की पंक्ति है वह अत्यंत शोभित होती सो ठीक ही है क्योंकि जो मनुष्य अत्यंत शूरवीर है उसके मस्तक पर बंधा हुआ ही वीरपट्ट शोभा को प्राप्त होता है डरपोक के मस्तक पर बंधा हुआ शोभा को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—जो मनुष्य शूरवीर है उसके शिर पर बंधा हुआ वीरपट्ट जिस प्रकार शोभा को प्राप्त होता है उस प्रकार डरपोक के शिर पर बंधा हुआ वीरपट्ट शोभा को नहीं प्राप्त होता उसी प्रकार जो मनुष्य इन्द्रिय रूपी धूर्तों से अक्षत है अर्थात् जो इन्द्रियों के वश में नहीं है उन्हीं मनुष्यों को आश्रय कर दी हुई यह निर्मल अक्षतों के पुंजों की श्रेणि सुशोभित होती है किंतु जो मनुष्य इन्द्रियों के आधीन है उन मनुष्यों के लिये दी हुई अक्षतों के पुंजों की पंक्ति शोभित नहीं होती जिनेन्द्र देव ने समस्त इन्द्रियों को वश में कर लिया है इसलिये उनको आश्रय कर दी हुई यह अक्षतों के पुंजों की पंक्ति शोभित होती है ॥३॥ अक्षतम्

साक्षादपुष्पशर एष जिनस्तदेनं
संपूजयामि शुचिपुष्पशरैर्मनोज्ञैः ।
नान्यं तदाश्रयतया किल यन्न तत्र
तत्तत्र रम्यमधिकां कुरुते च लक्ष्मीम् ॥४॥

अर्थ—ये जिनेन्द्र भगवान साक्षात् अपुष्पशर हैं अर्थात् मदन करके रहित हैं इसलिये मैं इन जिनेन्द्र भगवान का अत्यंत मनोहर ऐसे फूलों के हारों से पूजन करता हूं किंतु भगवान से

जो अन्य हैं वे मदनकर रहित नहीं हैं सहित ही हैं इसलिये फूलों के हारों से उनकी पूजा नहीं करता क्योंकि जो चीज जहांपर नहीं होती है वही वहांपर मनोहर समझी जाती है और वह वहां पर अत्यंत शोभा को प्राप्त होती है किंतु जो चीज जहांपर होती है वह वहांपर मनोहर नहीं होती और न वहांपर अत्यंत शोभा को ही धारण कर सकती है।

भावार्थ—यह नियम है कि जो चीज़ जहांपर नहीं होती है वही वहांपर मनोहर समझी जाती है तथा वही वहांपर शोभा को प्राप्त होती है किंतु जो चीज़ जहांपर होती है वह वहांपर मनोहर नहीं समझी जाती और वह वहांपर शोभा को भी प्राप्त नहीं होती। श्री जिनेन्द्र से भिन्न जितने भर देव है उन सबके पास पुष्पशर हैं अर्थात् वे सब "मदन सहित" हैं इसलिये उनकी पुष्पों की मालाओं से मैं पूजन नही करता क्योंकि उनके चरणों में चढ़ाई हुई फूलों की माला न मनोहर ही समझी जाती है और न वहांपर शोभा को ही प्राप्त हो सकती हैं। किंतु श्री जिनेन्द्र भगवान पुष्पशर रहित (मदन रहित) हैं इसलिये उनके चरण कमलों में चढ़ाई हुई फूलों की माला मनोहर होती है तथा शोभा को भी प्राप्त हो सकती हैं इसलिये श्री जिनेन्द्र देव का, ही मैं फूलों की मालाओं से पूजन करता हूं ॥४॥ पुष्पम्

देवोयमिन्द्रियवलं प्रलयं करोति
नैवेद्यमिन्द्रियवलऽदखाद्यमेतत् ।
चित्रं तथापि पुरतः स्थितमर्हतोऽस्य
शोभां विभर्ति जगतो नयनोत्सवाय ॥५॥

अर्थः—यह श्री जिनेन्द्र देवतो समस्त इन्द्रियों के वल को नष्ट करता है और यह नैवेद्य इंद्रियों के वल को वढ़ानवाला है तथा खाने योग्य है तोभी श्रीर्हंतभगवान के सामने चढ़ाया हुआ यह नैवेद्य समस्त जगत के नेत्रों के उत्सव के लिये शोभा को धारण करता है यह आश्चर्य है।

भावार्थ—संसार में यह देखने में आता है कि जो पुरुष जिस व्यसन का विरोधी होता है यदि वह व्यसनों को उत्पन्न करने वाली वस्तु उसके सामने रखदी जावे तो उस वस्तु को देखकर वह मनुष्य अवश्य ही विकृत हो जाता है किंतु भगवान में यह आश्चर्य है कि नैवेद्य भगवान के सामने रक्खा हुआ भी भगवान को विकृत नहीं करता क्योंकि नैवेद्य इंद्रियों के वल को वढ़ाने

वाला है तथा सुस्वादु है और भगवान समस्त इन्द्रियों के बल को प्रलय करने वाले हैं इसलिये नैवेद्य भगवान के सामने रक्खा हुआ लोगों के नेत्रों का उत्सव का करने वाला है ॥६॥

आरार्तिकं तरलबन्हिशिखं विभाति
स्वच्छ जिनस्य वपुषि प्रतिविम्बितं सत् ।
ध्यानानलो मृगयमाण इवावशिष्टं
दग्धुं परिभ्रमति कर्मचयं प्रचंडः ॥६॥

अर्थ—उन्नत शिखा को धारण करने वाली जो आरती की ज्वाला भगवान के शरीर में प्रतिबिम्ब है वह आरती ज्वाला नहीं है किंतु भगवान की ध्यान रूपी अग्नि है तथा वह बचे हुए समस्त अघातिया कर्मों को नाश करने के लिये ढूंढती फिरती ऐसी मालूम होती है ॥६॥

भावार्थ—चंचल है अग्नि की शिखा जिसमें ऐसी तथा श्रीजिनेन्द्र भगवान के स्वच्छ शरीर में प्रतिविम्बित हुई आरती ऐसी मालूम होती है मानों प्रचंड ध्यान रूपी अग्नि, बचे हुए कर्मों को भस्म करने के लिये जहां तहां ढूंढती हुई भ्रमण करती है ।

कस्तुरिका रसमयीरिव पत्रवल्लीः
कुर्वन्मुखेषु चलनैरिव दिग्वधूनाम् ।
हर्षादिव प्रभुजिनाश्रयणेन वात
प्रेङ्खद्वपुर्नटति पश्यत धूपधूम्रम् ॥७॥

अर्थ—दिशारूपी स्त्रियों के मुख में कस्तूरी के रस से बनाई हुई पत्र रचना के समान पत्र रचना को करता हुआ प्रभू जिनेन्द्र भगवान के आश्रय से, पवन से कंपित है शरीर जिसका धूप का धूवां, हर्ष से मानों नृत्य ही कर रहा है ऐसा मालूम होता है ।

भावार्थ—धूप का धूवां सब जगह पर फैल रहा है इससे तो यह मालूम पड़ता है है मानों वह दिशारूपी स्त्रियों के मुखों पर कस्तुरी के रस से रची हुई पत्र रचना के समान पत्र रचना को कर रहा हो क्योंकि कस्तूरी के रस का रंग तथा धूवां का रंग एक सा ही होता है तथा निकलते समय पवन से कंपित होता है उससे ऐसा मालूम पड़ता है कि वह मानों श्रीजिनेन्द्र के आश्रय के करने से हर्ष से नृत्य हीकर रहा हो ॥७॥ धूपम्॥

उच्चैः फलाय परमामृतसंज्ञकाय
नानाफलैर्जिनपतिं परिपूजयामि ।
तद्भक्तिरेव सकलानि फलानि दत्ते
मोहेन तत्तदपि याचत एव लोकः ॥८॥

अर्थ—सबसे ऊंचे तथा उत्तम अमृत है संज्ञा जिसकी ऐसे उस फल के लिये अर्थात् मोक्ष फल के लिये मैं श्री जिनेन्द्र भगवान की भांतिभांति के अनेक प्रकार के फलों से पूजा करता हूं यद्यपि श्री जिनेन्द्र भगवान की भक्ति ही समस्त फलों को देने वाली है तो भी लोक मोहसे फलों को याचना करता ही है।

भावार्थ—यद्यपि भगवान की भक्ति में ही यह सामर्थ्य है कि जो मनुष्य भगवान की भक्ति को करता है उसको उत्तमोत्तम समस्त प्रकार के फलों की प्राप्ति होती है तो भी मनुष्य मोह के वश होकर फलों की याचना करता है उसी प्रकार मुझे भक्ति करने से अविनाशी सुख के भंडार मोक्षरूपी सुख की प्राप्ति हो सकती है तो भी में मोह के वश होकर उस मोक्षरूप फल की प्राप्ति के लिये श्री जिनेन्द्र भगवान की नाना प्रकार के फलों को चढ़ाकर पूजा करता हूं ॥८॥

पूजाविधिं विधिवदत्र विधाय देवे
स्तोत्रं च संमदरसाश्रितचित्तवृत्तिः ।
पुष्पाञ्जलिं विमलकेवललोचनाय
यच्छामि सर्वजनशांतिकराय तस्मै ॥९॥

अर्थ—श्रेष्ठ जो हर्ष वही हुवा रस उसमें आश्रित है चित्तकी वृत्ति जिसकी ऐसा मैं (पूजक) शास्त्रानुसार भगवान की भलीभांति पूजा को करके तथा भलीभांति स्तोत्र को भी पढ़करके निर्मल केवल ज्ञानरूपी नेत्र के धारण करने वाले और समस्त जीवों को शांति के देने वाले उन श्री जिनेन्द्र भगवान के लिये पुष्पों की अंजलि को समपर्ण करता हूं ॥९॥पुष्पांजलिः॥

श्री पद्मनंदितगुणौघ न कार्यमस्ति
पूजादिना यदपि ते कृतकृत्यतायाः ।

स्वश्रेयसे तदपि तत्कुरुते जनोऽर्हन्
कार्याकृषिः फलकृते ननु भूपकृत्यै ॥१०॥

अर्थ—श्री पद्मनंदि आचार्यद्वारा गान किया गया है गुणोंका समूह जिनका ऐसे हे अर्हन् हे वीतराग यद्यपि आप कृतकृत्य हैं इसलिये उस कृतकृत्यपनेरूपहेतुसे आपको पूजा आदिकसे कुछभी कार्य नही है तोभी लोक अपने कल्याणकेलिये ही आपकी पूजा करता है क्योंकि खेती अपने कल्याणोंकी प्राप्तिकेलिये ही की जाती है किन्तु राजा के कामकेलिये नहीं की जाती ॥

भावार्थ—जिस प्रकार किसान लोग खेती को अपने ही कल्याणों के लिये करते हैं राजा के कल्याणों के लिये नहीं उसी प्रकार हे समस्त गुणों के भंडार श्री जिनेंद्रदेव जो मनुष्य आपकी पूजा करते है वे अपने कल्याणों के लिये ही करते हैं आपके लिये नहीं करते क्योंकि आप समस्त कामों को कर चुके हैं इसलिये कृतकृत्य है अतः आपको पूजन आदि कार्य से किसी प्रकार का कोई भी प्रयोजन नहीं है ॥१०॥

इस प्रकार श्रीपद्मनंदिआचार्यद्वारा विरचित श्री पद्मनंदिपंचविंशतिकामें पूजाष्टकनामक अधिकार समाप्त हुआ ॥

अ करुणाष्टकम् ।

त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानंदैककारण कुरुष्व ।
मयि किंकरेऽत्र करुणां यथा तथा जायते मुक्तिः ॥१॥

अर्थ—हे तीनों लोकों के गुरु, हे कर्मों के जीतने वाले महात्माओं के स्वामी, और हे उत्कृष्ट मोक्षरूपी आनंद के देने वाले जिनेंद्र मुझ दास पर ऐसी दया कीजिये जिस से कि मेरी मोक्ष होजावे अर्थात् समस्तपाप कर्मों से मैं सर्वथा छूट जाऊं ॥ १ ॥

निर्विण्णोहं नितरामर्हन् बहुदुःखया भवस्थित्या ।
अपुनर्भवाय भवहर कुरु करुणामत्र मयि दीने ॥२॥

अर्थ—हे समस्त घातिया कर्मों को जीतने वाले अर्हंत भगवान, अनेक प्रकार के दुःखों को देने वाली ऐसी जो संसार की स्थिति है उससे मैं सर्वथा खिन्न हूं इसलिये हे संसार के नाश करने वाले जिनेन्द्र इस संसार में मुझ दीन पर ऐसी दया कीजिये जिससे मुझे फिर से जन्म न धारण करना पड़े अर्थात् मैं मुक्त हो जाऊं ॥२॥

उद्धर मां पतितमतो विषमाद्भवकूपतः कृपां कृत्वा ।
अर्हन्नलमुद्धरणे त्वमसीति पुनः पुनर्वच्मि ॥३॥

अर्थ—हे प्रभो मैं इस भयंकर संसाररूपी कुवे में पड़ा हुवा हूं इसलिये मेरे ऊपर दया करके मुझे इस संसाररूपी भयंकर कुवे से बाहिर निकालिये क्योंकि हे अर्हन् भगवन् इस कूप से मुझे निकालने में आप ही समर्थ हैं ऐसा मैं फिर २ से आपकी सेवा में निवेदन करता हूं ॥३॥

त्वं कारुणिकः स्वामी त्वमेव शरणं जिनेश तेनाहम् ।
मोहरिपुदलितमानः पूत्कारं तव पुरः कुरुते ॥४॥

अर्थ—हे जिनेश हे प्रभो यदि संसार में दयावान हैं तो आप ही हैं और भव्यजीवों के शरण हैं तो आप ही हैं इसलिये मोहरूपी वैरी ने जिसका मान (अभिमान) नष्ट कर दिया है ऐसा मैं आपके सामने ही पूत्कार को करता हूं अर्थात् फुक मार मार कर रोता हूं ॥४॥

ग्रामपतेरपि करुणा परेण केनाप्युपद्रुते पुंसि ।
जगतां प्रभो न किं तव जिन मयि खलकर्मभिः प्रहते ॥५॥

अर्थ—जो मनुष्य जिस गांव का अध्यक्ष (मुखिया) है यदि उस गांव में किसी मनुष्य पर कोई अन्य मनुष्य आकर उपद्रव करे अर्थात् उसको दुःख देवे तो वह ग्राम का मुखिया भी जब उस दुःखित मनुष्य पर करुणा करता है तो हे जिनेन्द्र आप तो तीनों लोक के प्रभू हैं और मुझे अत्यंत दुष्ट कर्मों ने सता रक्खा है तो क्या आप मेरे ऊपर करुणा न करेंगे ? अवश्य ही दया करेंगे ॥५॥

अपहर मम जन्म दयां कृत्वेत्येकत्र वचसि वक्तव्यो ।
तेनातिदग्ध, इति मे देव वभूव प्रलापित्वम् ॥६॥

अर्थ—हे प्रभो सबका मूलभूत एक ही शब्द कह देना चाहिये वह एक शब्द यही है कि कृपा कर आप मेरे जन्म को [संसार को] सर्वथा नष्ट करें क्योंकि मैं इस जन्म से अत्यंत दुःखित हूं इसलिये यह मेरा आपके सामने प्रलाप हुआ है अर्थात् मैं विलप २ कर रो रहा हूं ॥६॥

तव जिन चरणाब्जयुगं करुणामृतसंगशीतलं यावत् ।
संसारतापतप्तः करोमि हृदि तावदेव सुखी ॥७॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र संसार रूपी आतापसे संतप्त हुआ मैं जबतक दया रूपी जल के संग से अत्यंत शीतल ऐसे आपके दोनों चरण कमलों को हृदय में धारण करता हूं तभी तक मैं सुखी हूं ।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई मनुष्य धूप के संतापसे अत्यंत संतप्त होवे तथा उस समय पानी के संबंध से अत्यंतशीतल ऐसे कमलोंको अपने हृदय पर धरे तो जिस प्रकार वह सुखी होता है उसी प्रकार हे प्रभो हे जिनेंद्र मैं भी संसार के प्रखर सताप से अत्यंत संतप्त हूं इसलिये जबवक मैं दयारूपी जल के संबंध से अत्यंत शीतल ऐसे आपके दोनों चरणकमलों को अपने हृदय में धारण करता हूं तबतक मैं अत्यंत सुखी रहता हूं ॥७॥

जगदेकशरण भगवन्नसम श्रीपद्मनन्दितगुणौघ ।
किं बहुना कुरु करुणामत्र जने शरणमापन्ने ॥८॥

अर्थ—हे समस्त जगत के एकशरण, हे भगवन् आप से अतिरिक्त जनों में नहीं पाये जांय ऐसे श्री पद्मनंदि नामक आचार्य द्वारा गान किये गुणों के समूह को धारण करने वाले हे जिनेश हे प्रभो अब मैं विशेष कहां तक कहूं बस यही प्रार्थना है कि इस शरण में आये हुए जन पर अर्थात् मुझ पर आप इस संसार में दया करें ॥८॥

इति श्री पद्मनंदि आचार्य-द्वारा विरचित श्री पद्मनंदि पञ्चविंशतिका में
करुणाष्टक नामक अधिकार समाप्त हुआ ।

क्रियाकांड चूलिकाधिकारः !

शार्दूलविक्रीड़ित ।

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तशमताशीलक्षमाद्यैर्घनैः
संकेताश्रयवज्जिनेश्वर भवान् सर्वैर्गुणैराश्रितः ।
मन्ये त्वय्यवकाशलब्धिरहितैः सर्वेऽत्र लोके वयं
संग्राह्या इति गर्वितैः परिहृतो दोषैरशेषैरपि ॥१॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश निविड़ जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, शमता, शील और क्षमा आदिक समस्त गुण हैं उन्होंने संकेत के घर के समान आप का आश्रय किया है इस लिये आप में जिन्होंने स्थान को नहीं पाया और जो समस्त लोक में हम संग्राह्य (ग्रहण करने योग्य) हैं इस प्रकार के अभिमानकर संयुक्त हैं ऐसे समस्त दोषों ने, आप को छोड़ दिया है ऐसा मालूम होता है।

भावार्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि हे जिनेंद्र आप में जो समस्त गुण ही गुण दीखते हैं और दोष एक नहीं दिखता उस का कारण यही मालूम पड़ता है कि समस्त गुणों ने पहले से ही आपस में सलाह करे आप को स्थान बना लिया और पीछे उन के विरोधी जो दोष हैं उन्होंने आप में स्थान को नहीं पाया तब उन दोषों को इस बात का अभिमान उत्पन्न हुआ कि हम समस्त संसार में फैले हुए हैं और समस्त संसार के ग्रहण करने योग्य हैं यदि एक केवल जिनेन्द्र में हम को आश्रय नहीं मिया और उन्होंने हम को ग्रहण नहीं किया तो हमारा कोई भी नुक्सान नहीं इस लिये इस प्रकार के अभिमान से आप को उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया ॥१॥

वसंततिलका ।

यस्त्वामनंतगुणमेकभुवं त्रिलोक्याः
स्तौति प्रभूतकविताविगुणगर्वितात्मा ।
आरोहति द्रुमशिरः स नरो नभोऽन्तं
गन्तुं जिनेन्द्र मतिविभ्रतो बुधोऽपि ॥२॥

अर्थ— जिनेन्द्र आप तो अनंतगुणों के भंडार हैं और तीनों लोक के एक स्वामी हैं ऐसा समझ कर भी यदि प्रचुर जो कविता का गुण उस से जिस की आत्मा अत्यन्त गर्वकर सहित है अर्थात् जो कविता चातुर्यका बड़ा भारी अभिमानी है ऐसा कोई मनुष्य आप की स्तुति करे तो समझ लेना चाहिये कि वह बुद्धिमान भी मनुष्य अपनी बुद्धि के भ्रम से (मूर्खता) आकाश के अन्त को प्राप्त होने के लिये वृक्ष की चोटी पर चढ़ता है ऐसा निस्संदेह मालूम होता है।

भावार्थ—आकाश अनन्त है तथा सब जगह पर व्याप्त है इस लिये सैंकड़ों वृक्षों की चोटी पर चढ़ने से भी जिस प्रकार उस का अन्त नहीं मिल सकता उसी प्रकार हे जिनेंद्र आप भी अनंत गुणों के भंडार हैं और समस्त जगत के स्वामी है इस लिये आप का स्तवन करना भी अत्यंत कठिन है यदि कोई मनुष्य अपनी कवित्व शक्तिका अभिमान रखकर आप की स्तुति करना चाहे तो वह बुद्धिमान होने पर भी सर्वथा मूर्ख है ऐसा समझना चाहिये ॥२॥

शक्नोति कर्तुमिह कः स्तवनं समस्त-
विद्याधिपस्य भवतो विबुधार्चिताङ्घ्रेः ।
तत्रापि तज्जिनपते कुरुते जनो यत्
तच्चित्तमध्यगतभक्तिनिवेदनाय ॥३॥

अर्थ—हे प्रभो आप समस्त विद्याओं के स्वामी हैं और आपके चरणों की बड़े २ देव अथवा बड़े २ पंडित आकर पूजन करते हैं इसलिये संसार में आपकी स्तुति के करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं है तो भी हे जिनेन्द्र जो लोग आपकी स्तुति करते हैं वे केवल अपने चित्त में प्राप्त जो भक्ति उसके निवेदन करने के लिये ही करते हैं और दूसरा कोई भी कारण नहीं है ॥३॥

नामापि देव भवतः स्मृतिगोचरत्वं
वाग्गोचरत्वमथ येन सुभक्तिभाजा ।
नीतं लभेत स नरो निखिलार्थसिद्धिं
साध्वी स्तुतिर्भवतु मा किल कात्र चिंता ॥४॥

अर्थ—हें जिनेन्द्र हे प्रभो जो आपका भक्त मनुष्य आपके नाम को भी स्मरण करता है अथवा आपके नाम को वचन द्वारा कहता भी है उस मनुष्य को भी संसार में समस्त प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है तब आपकी उत्तम रीति से स्तुति हो अथवा मत हो कोई भी चिंता नहीं।

भावार्थ—जो मनुष्य आपकी स्तुति तथा भक्ति करता है वह किसी न किसी लाभ के लिये ही करता है यदि उस भव्य जीव को आपके नाम के स्मरण से अथवा आपके नाम के उच्चारण करने से ही समस्त प्रकार की सिद्धियां प्राप्त हो जावें तो चाहे आपकी स्तुति उससे उत्तम रीति से हो या न हो कोई चिंता नहीं ॥४॥

एतावतैव मम पूर्यत एव देव
सेवां करोमि भवतश्चरणद्वयस्य।
अत्रैव जन्मनि परत्र च सर्वकालं
न त्वामितः परमहं जिन याचयामि ॥५॥

अर्थ—हे जिनेश इस भव में तथा परभव में मैं आपके चरणों की सदा काल सेवा करता रहूं यही मुझे प्राप्ति होवे किंतु मैं इससे अधिक आपसे भी नहीं मांगता ॥५॥

सर्वागमावगमतः खलु तत्त्वबोधो
मोक्षाय वृत्तमपि सम्प्रति दुर्घटं नः।
जाड्यात्तथा कुतनुतस्त्वयि भक्तिरेव
देवास्ति सैव भवतु क्रमतस्तदर्थम् ॥६॥

अर्थ—समस्त प्रकार के शास्त्रों के ज्ञान से निश्चय से तत्वों का ज्ञान होता है और उन्हीं शास्त्रों से मोक्ष के लिये सम्यक्‌चारित्र की भी प्राप्ति होती है किंतु इस पंचम काल में हमारे लिये वे दोनों मूर्खता के कारण तथा दुर्गंधिमय शरीर के कारण अत्यंत दुर्घट है अर्थात् सहसा

---

१. यह श्लोक ख. पुस्तक में नहीं है मालूम होता है लेखक की कृपा से छूट गया है क्योंकि यह श्लोक प्रकरण से सर्वथा संबंध रखता है।

प्राप्त नहीं हो सकते इसलिये मुझ में जो आपकी भक्ति है वही क्रम से मोक्ष के लिये होवे ऐसी प्रार्थना है।

भावार्थ—यद्यपि मोक्ष के लिये तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति तथा सम्यक् चारित्र की प्राप्ति शास्त्रों से हो सकती है किन्तु इस पंचम काल में अज्ञानता की अधिकता से तथा असमर्थ और दुर्गंधमय शरीर के कारण न तो तत्त्व ज्ञान ही हमसरीखे मनुष्यों को हो सकता है और न सम्यक् चारित्र ही पल सकता है और मोक्ष को चाहते ही है इसलिये हे जिनेन्द्र यह विनय पूर्वक प्रार्थना है कि जो मुझ में आपकी भक्ति मौजूद है वही मुझे मोक्ष के लिये होवे ॥६॥

हरति हरतु वृद्धं वार्धकं कार्यकान्तिं
दधति दधतु दूरं मंदतामिन्द्रियाणि।
भवति भवतु दुःखं जायतां वा विनाशः
परमिह जिननाथे भक्तिरेका ममास्तु ॥७॥

अर्थ—वृद्धावस्था समस्त शरीर की कांति को नष्ट करती है सो करो तथा समस्त इन्द्रियां बहुत काल तक मंद हो जाती है सो होवें और संसार में दुःख होता है सो भी हो, तथा विनाश भी हो किन्तु जिनेन्द्र भगवान में जो मेरी भक्ति है वह सदा रहो ऐसी प्रार्थना है।

भावार्थ—वृद्धावस्था में चाहे मेरे समस्त शरीर की कांति नष्ट हो और मेरी समस्त इन्द्रियां भी शिथिल होवें तथा मुझे दुःख भी भोगना पड़े और मेरा मरण भी हो जावे तो भी जो जिनेन्द्र भगवान में मेरी भक्ति है वह सदा स्थिर रहे यह विनय से प्रार्थना है ॥७॥

अस्तु त्रयं मम सुदर्शनबोधवृत्त.
संबंधि यांतु च समस्तदुरीहितानि।
याचे न किञ्चिदपरं भगवन् भवन्तं
नाप्राप्तमस्ति किमपीह यतस्त्रिलोक्याम् ॥८॥

अर्थ—हे प्रभो इस संसार में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी जो त्रयी है वह मेरे होवे तथा मेरे समस्त पाप नष्ट होजावें बस यही मैं आपसे याचना करता हूं किंतु इससे

भिन्न दूसरी वस्तु, मैं नहीं मांगता क्योंकि संसार में इनसे भिन्न ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो गई हो ॥

भावार्थ—हे जिनेश मैं इस संसार में बड़ी से बड़ी ऋद्धि का धारी देव भी हो चुका तथा राजा भी हो चुका और मैं ने अनेक विभूतियां प्राप्त करलीं किंतु अभी तक मुझे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं हुई है और मेरे पाप भी अभी नष्ट नहीं हुवे हैं इसलिये मैं यह आपसे याचना करता हूं कि मुझे इन तीनों की प्राप्ति होजावे तथा समस्त कर्म मेरे नष्ट होजावे और इनसे अधिक मैं आपसे कुछ भी नहीं मांगता क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि से भिन्न वस्तु का मांगना बिना प्रयोजन का है ॥८॥

धन्योऽस्मि पुण्यनिलयोस्मि निराकुलोऽस्मि
शांतोस्मि नष्टविपदस्मि विदस्मि देव ।
श्रीमज्जिनेन्द्र भवतोऽङ्घ्रियुगं शरण्यं
प्राप्तोस्मि चेदहमतिन्द्रियसौख्यकारि ॥९॥

अर्थ—हे श्री जिनेन्द्र जो सुख अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रियों से नहीं हो सकता है उस सुख के करने वाले यदि मुझे संसार में आपके दोनों चरण प्राप्त हो गये तो हे देव मैं धन्य हूं पुण्यवान हूं समस्त प्रकार की आकुलताओं कर रहित हूं शांत हूं तथा सब प्रकार की आपत्तियोंकर भी रहित हूं और ज्ञानी हूं ऐसा भलीभांति समझता हूं ॥

भावार्थ—हे प्रभो यदि संसार में जीवों को अलभ्य है तो अतीन्द्रिय सुख के करने वाले आपके चरण कमल ही है और जब मुझे उन्हीं की प्राप्ति हो गई तब मैं धन्य हूं, पुण्यवान हूं, निराकुल हूं, शांत हूं, और समस्त प्रकार की आपत्तियोंकर रहित हूं तथा ज्ञानी हूं ऐसा मैं अपने को मानता हूं ॥९॥

रत्नत्रये तपसि पंक्तिविधे च धर्मे
मूलोत्तरेषु च गुणेष्वथ गुप्तिकार्ये ।
दर्पात् प्रमादत उतागसि मे प्रवृत्ते
मिथ्यास्तु नाथ जिनदेव तव प्रसादात् ॥१०॥

अर्थ—हे प्रभो जिनेश सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय में, तप में, दस प्रकार के धर्म में, तथा मूलगुण और उत्तरगुणों में और तीन प्रकार की गुप्तियों में जो कुछ अभिमान से अथवा प्रमाद से मुझे अपराध लगा हो सो हे जिनदेव हे नाथ आपके प्रसाद से वह मेरा अपराध सर्वथा मिथ्या हो ऐसी प्रार्थना है ॥१०॥

मनोवचोऽङ्गैः कृतमङ्गिपीड़नं
प्रमोदितं कारितमत्र यन्मया।
प्रमादतो दर्पत एतदाश्रयं
तदस्तु मिथ्या जिन दुष्कृतं मम ॥११॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेश प्रमाद से अथवा अभिमान से जो मैं ने मन वचन काय से जीवों को पीड़ा दी है अथवा दूसरों से मैंने दिवाई है वा जीवों को पीड़ा देने वाले दूसरे जीवों को मैं ने अच्छा कहा है इनसे पैदा हुवा वह समस्त पाप मेरा मिथ्या हो ॥११॥

चिंतादुष्परिणामसंततिवशादुन्मार्गगाया गिरः
कायात्संवृतिवर्जितादनुचितं कर्मार्जितं यन्मया।
तन्नाशं व्रजतु प्रभो जिनपते त्वत्पादपद्मस्मृते-
रेषा मोक्षफलप्रदा किल कथं नास्मिन् समर्था भवेत् ॥१२॥

अर्थ—हे प्रभो हे जिनेन्द्र चिंता से खोटे परिणामों की संतति से तथा खोटे मार्ग में गमन करने वाली वाणी से और संवर रहित शरीर से जो मैंने नाना प्रकार के कर्मों का उपार्जन किया है वे समस्त कर्म आपके चरणकमलों के स्पर्श से सर्वथा नाश को प्राप्त होवें क्योंकि आपके दोनों चरणकमलों की जो स्मृति है वह निश्चय से मोक्षफल के देने वाली है इसलिये वह पाप-कर्मों के नाश करने में क्यों नहीं समर्थ होगी ?॥

भावार्थ—हे जिनेश मैंने खोटे पदार्थों की चिंता से तथा खोटे परिणामों से कुत्सितवचनों से और संवर कररहित शरीर से अनेक प्रकार के कर्मों का संचय किया है किन्तु हे जिनेन्द्र अब उन कर्मों के नाश का उपाय आपके दोनों चरणकमलों की स्मृति ही है अतः उससे ये मेरे समस्त पाप नष्ट होजावें क्योंकि आपके दोनों चरणकमलों की स्मृति में जब जीवों को मोक्षरूपी फल के

देने की शक्ति मौजूद है तब क्या वह स्मृति इन पापकर्मों के नाशमें समर्थ नहीं हो सकती है अवश्य ही हो सकती है ॥१२॥

वसन्ततिलका ।

वाणी प्रमाणमिह सर्वविदस्त्रिलोकी
सद्मन्यसौ प्रवरदीपशिखासमाना ।
स्याद्वादकांतिकलिता नृसुराहिवंद्या
कालत्रयप्रकटिताखिलवस्तुतत्त्वा ॥१३॥

अर्थ—जो सर्वज्ञदेव की वाणी स्याद्वादरूपी कांतिकर संयुक्त है और जिसकी मनुष्य देव नागकुमार सब ही स्तुति करते हैं तथा जो तीनों कालों में रहने वाले समस्त तत्त्वों को प्रकट करने वाली है अतएव जो तीन लोकरूपी घरमें उत्कृष्टदीपक की शिखा के समान है वही वाणी प्रमाण है ॥

भावार्थ—जिस प्रकार दीपक कांतिकरसहित होता है और वंदनीय होता है तथा पदार्थों का प्रकाश करने वाला होता है उसी प्रकार जो सर्वज्ञ की वाणी स्याद्वादरूपी कांतिकर सहित है और मनुष्य देव नागकुमार आदि सबोंसे वंदनीय है तथा तीनों कालों में रहने वाले समस्त पदार्थों को प्रकट करने वाली है ऐसी वह त्रिलोकरूपी मकान में उत्कृष्टदीपक के समान केवली की वाणी ही प्रमाण है ॥१३॥

पृथ्वी ।

क्षमस्व तद्वाणि तज्जिनपतिश्रुतादिस्तुतौ
यदूनमभवन्मनोवचनकायवैकल्यतः ।
अनेकभवसंभवैर्जडिमकारणैः कर्मभिः
कुतोत्र किल मादृशे जननि तादृशं पाटवम् ॥१४॥

अर्थ—हे मातः सरस्वति मनवचनकायकी विकलता से जिनेन्द्र भगवान की स्तुति में अथवा शास्त्र की स्तुति में जो कुछ [मुझसे] हीनता हुई है उसको क्षमा कर। क्योंकि अनेक

भवों में उत्पन्न हुवे तथा जडताके कारण जो कर्म हैं उनसे मेरे समान मनुष्य में तथा शास्त्र आदि की भलीभांति स्तुति करने में कहां से इतनी चतुरता आसकती है ? ॥

भावार्थ—हे तात अनेक भवों में उत्पन्न तथा जडता के कारण घोर कर्मों का प्रभाव मेरी आत्मा के ऊपर पड़ाहुवा है इसलिये जिनेन्द्र भगवान की स्तुति में तथा शास्त्र आदि की स्तुति में जितनी विद्वत्ता होनी चाहिये उतनी विद्वत्ता मुझमें नहीं है इसलिये ममवचनकायकी विकलता से जो श्री जिनेन्द्र की स्तुति में अथवा शास्त्र आदि की स्तुति में हीनता हुई है उसको हे मातः सरस्वति आप क्षमा करें ॥१४॥

अनुष्टुप् ।

पल्लवोयं क्रियाकांड कल्पशाखाग्रसंगतः
जीयादशेषभव्यानां प्रार्थितार्थिफलप्रदः ॥१५॥

अर्थ—समस्त भव्य जीवों को अभिलषित फलों का देने वाला ऐसा यह क्रियाकांड-रूपी कल्पवृक्ष का शाखा में लगा हुआ क्रियाडांड चूलिका अधिकाररूपी जो पल्लव है वह सदा इसलोक में जयवन्त रहो ।

भावार्थ—जिस प्रकार कल्पवृक्ष की शाखा के अग्रभाग में लगा हुआ पल्लव जीवों को अभीष्ट फलों का देनेवाला होता है उसीप्रकार यह क्रियाकांडरूपी कल्पवृक्ष की शाखा पर लगा हुआ क्रियाकांड चूलिका नामक अधिकार रूपी पल्लव भी भव्य जीवों को अभीष्ट फलका देनेवाला है इसलिये ऐसा वह पल्लव सदा इस लोक में जयवंत रहो. ॥१५॥

भुजंगपालप्रयात ।

क्रियांकांड संबंधिनी चूलिकेयं
नरैः पठ्यते यैस्त्रिसन्ध्यं च तेषाम् ।
वपुर्भारती चित्तवैकल्यतो या
न पूर्णा क्रिया सापि पूर्णत्वमेति ॥१६॥

अर्थ—जो भव्य जीव इस क्रियाकांड संबंधिनी चूलिका को तीनों काल (प्रातःकाल, मध्यान्हकाल, तथा सायंकाल,) पढ़ता है तथा पढ़ेगा उस भव्य जीव की जो क्रियामन वचन काय की विकलता से पूर्ण नहीं हुई है वह शीघ्र ही पूर्ण हो जाती है ॥१६॥

पृथ्वी ।

जिनेश्वर नमोस्तु ते त्रिभुवनैकचूड़ामणे
गतोऽस्मि शरणं विभो भवभिया भवंतं प्रति ।
तदाहतिकृते बुधैरकथि तत्वमेतन्मया
श्रितं सुदृढ़चेतसा भवहरत्वमेवात्र यत् ॥१७॥

अर्थ—हे तीन भुवन के चूड़ामणि जिनेन्द्र आपके लिये नमस्कार हो संसार के भय से भीत होकर मैं आपके शरण को प्राप्त हुआ हूं विद्वान लोगों ने जो संसार की पीड़ा के नाश करने के लिये तत्त्व कहा है उसका मैंने दृढ़चित्त से आश्रय कर लिया है अर्थात् अपने अंतरंग में धारण कर लिया है क्योंकि इस संसार में आप ही समस्त संसार के नाश करने वाले हो ॥१७

वसंततिलका ।

अर्हन् समाश्रितसमस्तनरामरादि
भव्याब्जनन्दिवचनांशुरवेस्तवाग्रे ।
मौखर्यमेतदबुधेन मया कृतं यत
तद्भूरिभक्तिरभसंस्थितमानसेन ॥१८॥

अर्थ—हे अर्हन् सभा में बैठे हुए जो समस्त मनुष्य तथा देव आदिक भव्य जीव वे ही हुए कमल उनको आनंद के देनेवाले हैं वचनरूपी किरण जिनके ऐसे आप जिनदेव सूर्य के सामने जो मुझ अपंडित ने वाचालता प्रकट की है वह अत्यंत गाढ़ जो भक्ति उसमें स्थित मनसे ही की है ॥

भावार्थ—इस श्लोक से आचार्य ने अपनी लघुता प्रकट की है यथा हे जिनेन्द्र जिस प्रकार सूर्य की किरण कमलों को आनंद देनेवाली होती है उसी प्रकार आपके वचनरूपी किरण

भी समवशरण में बैठे हुए मनुष्यदेव आदि भव्य जीवों को आनंद के देने वाली होती है इसलिये आप सूर्य के समान हैं अतः आपके आगे मैं मूर्ख हूं आपकी स्तुति कर नहीं सकता किंतु यह जो मैंने कुछ वचनों से वाचालता प्रकट की है वह आपकी भक्ति से प्रेरित मन से ही की है ॥१८॥

इति श्रीपद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्रीपद्म दिपञ्चविंशतिका में
क्रियाकाण्डचूलिका नामक अधिकार समाप्त हुआ ॥

अथैकत्वभावानादशकम्

अनुष्टुप् ।

स्वानुभूत्यैव यद्गम्यं रम्यं यच्चात्मवेदिनाम् ।
जल्पे तत्परमज्योतिरवाङ्मानसगोचरम् ॥१॥

अर्थ—जो परमतेज स्वानुभव से ही जाना जाता है और जो पुरुष आत्मस्वरूप के जानने वाले हैं उन को मनोहर मालूम पड़ता है और जो तेज न वचन के गोचर है और न मन का विषय भूत है उस परमतेज का मैं वर्णन करता हूं ।

भावार्थ—परम ज्योति से यहां पर आत्मरूपी तेज लिया गया है वह आत्मरूपी तेज अमूर्त है (चैतन्यस्वरूप है) इस लिये न तो मूर्तवाणी के गोचर है और न मन के गोचर है और जो आत्मरूप के जानने वालों को अत्यन्त मनोहर मालूम पड़ता है तथा जो स्वानुभव से ही गम्य है ऐसे उग तेज को मैं वर्णन करता हूं ॥१॥

एकत्वैकपदप्राप्तमात्मतत्वमवैति यः ।
आराध्यते स एवान्यैस्तस्याराध्यो न विद्यते ॥२॥

अर्थ—जो भव्य जीव एकत्व स्वरूप को प्राप्त ऐसे आत्मतत्व को जानता है उस पुरुष को अन्य लोग पूजा आराधना करते हैं किन्तु उसका आराध्य कोई नहीं अर्थात् वह किसी को नहीं पूजता ॥२॥

एकत्वज्ञो बहुभ्योऽपि कर्मभ्यो न बिभेति सः।
योगी सुनौगतोऽम्भोधिजलेभ्य इव धीरधीः ॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार धीरबुद्धि पुरुष उत्तम नाव में बैठा हुआ समुद्र के जल से भय नहीं करता है उसी प्रकार जो योगी एकत्वस्वरूप का जानने वाला है वह बहुत भी कर्मों से अंशमात्र भी भय नहीं करता है ॥३॥

चैतन्यैकत्वसंवित्तिर्दुर्लभो सैव मोक्षदा।
लब्धा कथं कथञ्चिच्चेच्चिंतनीया मुहुर्मुहुः ॥४॥

अर्थ—चैतन्य के एकत्व का जो ज्ञान है वह अत्यन्त दुर्लभ है और वह ज्ञान ही मोक्ष का देने वाला है इस लिये यदि किसी रीति से उस चैतन्य का ज्ञान हो जावे तो बारंबार उस ज्ञान का चिंतवन करना चाहिये।

भावार्थ—जिस समय आत्मा में समस्त कर्मों के सम्बन्ध से रहित एक है इस प्रकार आत्मा में एकत्व का ज्ञान होता है उसी समय मोक्ष की प्राप्ति होती है क्योंकि मोक्ष का कारण चैतन्य के एकत्व का ज्ञान ही है किन्तु इस चैतन्य के एकत्व का ज्ञान बड़ी कठिनता से होता है। तदि भाग्यवश चैतन्य के एकत्व का ज्ञान हो भी जाय तो विद्वानों को (मोक्ष की प्राप्ति के अभिलाषियों को) चाहिये कि वे वारंवार इस का चिंतवन करें किन्तु उस के चिंतवन करने में प्रमाद न करें ॥४॥

इस आशय को लेकर समयसार में भी कहा है।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगवंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्य ॥५॥

अर्थ—जितने भर जीव संसार में वर्तमान है उन सब ने प्रायः काम भोग सम्बंधी कथा तो सुनी है तथा उस का परिचय और अनुभव भी किया है इस लिये काम भोग सम्बंधी कथा

उनके लिये सुलभ है किंतु एकत्व और विभक्त आत्मा का उनको कभी भी ज्ञान नहीं हुआ है इस लिये केवल उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं है इस लिये भव्य जीवों को चाहिये कि वे एकत्व और विभक्त आत्मा की प्राप्ति के लिये उद्योग करें ॥५॥

मोक्षएव सुखं साक्षात्तच्च साध्यं मुमुक्षुभिः।
संसारेऽत्र तु तन्नास्ति यदस्ति खलु तन्न तत् ॥६॥

अर्थ—साक्षात् यदि सुख है तो मोक्ष में ही है और उस सुख को मोक्षाभिलाषी ही सिद्ध कर सकते हैं इस संसार में साक्षात् सुख नहीं है और जो है भी वह निश्चय से सुख नहीं दुख ही है।

भावार्थ—बहुत से मूर्ख मनुष्य इन्द्रियों से जायमान सुख को ही साक्षात् सुख समझते हैं किन्तु वह साक्षात् सुख नहीं क्योंकि वह अनित्य है तथा परिणाम में दुःख का देने वाला है किन्तु वास्तविक सुख मोक्ष में ही है क्योंकि वह नित्य है और निर्विकल्प है और उस सुख को जो मनुष्य मोक्ष के अभिलाषी है वे ही सिद्ध कर सकते है इसलिये मोक्षाभिलाषियों को चाहिये कि वे उस सुख के लिये पूरा २ प्रयत्न करें ॥६॥

किञ्चित्संसारसंबंधि वंधुरं नेति निश्चयात्।
गुरूपदेशतोऽस्माकं निःश्रेयसपदं प्रियम् ॥७॥

अर्थ—संसार सम्बन्धी भी कोई वस्तु निश्चय से हम को प्रिय नहीं है किन्तु श्री गुरु के उपदेश से हमको मोक्षपद ही प्रिय है।

भावार्थ—अनेक मनुष्य संसार मे स्त्री, पुत्र, मित्र, सुवर्ण आदि पदार्थों को प्रिय मानते हैं किन्तु वे निश्चय से हमको प्रिय नही हैं क्योंकि वे दुःख के देने वाले है यदि एक प्रिय है तो श्री गुरु के उपदेश से जिसका स्वरूप जाना गया है ऐसा मोक्ष ही प्रिय है ॥७॥

मोहोदयविषाक्रान्तमपि स्वर्गसुखं चलम्।
का कथाऽपरसौख्यानामलं भवसुखेन मे ॥८॥

अर्थ—मोह का जो उदय वही हुवा विष उससे व्याप्त यदि स्वर्ग सुख भी संसार में विनाशीक है तब स्वर्ग से भिन्न जितने भर सुख है उनकी क्या कथा है अर्थात् वे तो अवश्य ही विनाशीक हैं इसलिये मुझे संसार सम्बन्धी सुख नहीं चाहिये।

भावार्थ—समस्त मनुष्यों का यह सिद्धांत है कि संसार में सबसे उत्तम सुख स्वर्ग का सुख है किन्तु यह उन मनुष्यों का भ्रम है क्योंकि मोहोदय रूप विष से व्याप्त वह स्वर्ग सुख भी चलायमान है विनाशीक है और जब स्वर्ग सुख ही चलायमान तथा विनाशीक है तब और सुख तो अवश्य ही विनाशीक हैं इसलिये मुझे संसार के सुख से कोई प्रयोजन नहीं ॥८॥

[1]लक्ष्यीकृत्य सदात्मानं शुद्धबोधमयं मुनिः।
आस्ते यः [2]सुमतिश्चात्र सोप्यमुत्र चरन्नपि ॥९॥

अर्थ—श्रेष्ठ बुद्धि का धारक जो मुनि इस भव में निर्मल सम्यग्ज्ञान स्वरूप तथा श्रेष्ठ आत्मा को लक्ष्यकर रहता है वह परभव में गया हुवा भी इसी प्रकार आत्मा को लक्ष्यकर रहता है।

भावार्थ—आत्मा सम्यग्ज्ञान स्वरूप है तथा अति श्रेष्ठ है इसलिये जो उत्तम बुद्धि का धारक मुनि इस भव में इस प्रकार के आत्मा को लक्ष्यकर रहता है परभव में गये हुवे भी उस मुनि का लक्ष्य आत्मा में वैसा ही बना रहता है इसलिये मुनियों को चाहिये कि वे इसी प्रकार आत्मा में लक्ष्य रक्खें ॥९॥

वीतरागपथे [3]स्वस्थः प्रस्थितो मुनिपुंगवः।
तस्य मुक्तिसुखप्राप्तेः कः प्रत्यूहो जगत्त्रये ॥१०॥

अर्थ—अपने आत्मस्वरूप में तिष्ठने वाले जिस उत्तम मुनि ने वीतराग मार्ग में गमन किया है उस मुनि की मोक्ष की प्राप्ति में तीनों लोक में कोई भी विघ्न नहीं है।

१. क. पुस्तक में "लक्ष्मीकृत्य" यह भी पाठ है॥ २ ख. पुस्तक में "अमितिश्चत्र" यह भी पाठ है॥ ३ क. पुस्तक में "स्वच्छ" यह भी पाठ है। ४

भावार्थ—जब तक मुनि वीतराग मार्ग में गमन नहीं करता तब तक तो उस को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि उस के लिये मोक्ष को प्राप्ति में बहुत से विघ्न आकर उपस्थित हो जाते है किन्तु जो मुनि वीतराग मार्ग में गमन करने वाले है उन को मोक्ष सुख की प्राप्ति में तीनों लोक में किसी प्रकार का विघ्न आकर उपस्थित नही होता इस लिये मोक्ष सुखके अभिलाषी मुनियों को वीतराग मार्ग में ही स्थित रहना चाहिये ॥१०॥

इत्येकाग्रमना नित्यं भावयन् भावनापदम् ।
मोक्षलक्ष्मीकटाक्षालिमालापद्मश्च जायते ॥११

अर्थ—जो मुनि इस प्रकार एकचित्त होकर सदा ऐसी भावना करता रहता है वह मुनि मोक्षरूपी जो लक्ष्मी उन के जो कटाक्ष वेही हुवे अलिमाला (भ्रमर समूह) उसके लिये कमल के समान होता है।

भावार्थ—जिस प्रकार कमल पर स्वयं भ्रमर आकर बैठ जाते हैं उसी प्रकार जो मुनि उपर्युक्त भावना को करने वाले हैं उन मुनियों के ऊपर मुग्ध होकर स्वयं मोक्षरूपी लक्ष्मी अपने कटाक्ष पातों को करती है अर्थात् वे मुनि शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं इस लिये मुनियों को चाहिये कि वे सदा ऐसी ही भावना करते रहें ॥११॥

एतद्धर्मफलं धर्मः स चेदस्ति ममामलः ।
आपद्यपि कुतश्चिंता मृत्योरपि कुतो भयम् ॥१२॥

अर्थ—इस मनुष्य भवका फल धर्म हैं यदि मेरे वह धर्म निर्मल मौजूद है तो आपत्ति के आने पर भी मुझे चिंता नहीं और न मुझे मरण से ही भय है।

भावार्थ—जब तक निर्मल धर्म की प्राप्ति नहीं होती तब तक तो आपत्ति में चिंता रहती है तथा जन्म मरण से भी भय रहता है किन्तु यदि इस मनुष्य भवका फल निर्मल धर्म मेरे पास मौजूद हैं तो न तो मुझे आपत्ति में किसी प्रकार की चिंता हो सकती है और न मुझ को जन्म मरण से भी भय हो सकता है ॥१२॥

इति श्री पद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्री पद्मनंदि पंचविंशतिका में
एकत्व भावना नामक अधिकार समाप्त हुआ।

अथ परमार्थविंशतिः ।

मोहद्वेषरतिश्रिता विकृतयो दृष्टाः श्रुताः सेविताः
बारम्बारमनंतकालविचरत्सर्वाङ्गिभिः संसृतौ ।
अद्वैतं पुनरात्मनो भगवतो दुर्लक्ष्यमेकं[1] परं
बीजं मोक्षतरोरिदं विजयते भव्यात्मभिर्वंदितम् ॥१॥

अर्थ—ससार में अनंतकाल से भ्रमण करते हुए प्राणियों ने मोह द्वेष राग के आश्रित जो विकार हैं उन को देखा है सुना है तथा उन को अनुभव भी किया है किंतु भगवान आत्मा के अद्वैत को न देखा है और न सुना है तथा उस का अनुभव भी नहीं किया है इस लिए कठिन रीति से देखने योग्य तथा एक और उत्कृष्ट तथा भव्य जीवों से सदा बंदित ऐसा यह भगवान आत्मा का अद्वैत इस लोक में जयवंत है ।

भावार्थ—मोह रागद्वेष आदि कर्मों का विकार समस्त संसारी प्राणियों के साधारण रीति से पाये जाते हैं इस लिये जो जीव अनंत काल से संसार में भ्रमण करने वाले हैं उन्होंने अनेक बार इन मोह विकारों को देखा है तथा सुना है और इन का अनुभव भी किया हैं किंतु अभी तक कर्मों से रहित आत्मा का अनुभव आदिक नहीं किया है इस लिये दुर्लभ कठिन रीति से देखने योग्य तथा एक उत्कृष्ट और मोक्षरूपी वृक्ष का बीज तथा जिस की भव्य जीव सदा स्तुति करते रहते हैं ऐसा वह आत्मा का अद्वैत (कर्म रहित आत्मा) सदा इस लोक में जयवंत है ॥१॥

अन्तर्बाह्यविकल्पजालरहिता शुद्धैकचिद्रूपिणी
बन्दे तां परमात्मनः प्रणयिणीं कृत्यान्तगां स्वस्थताम् ।
यत्रानंतचतुष्टयामृतसरित्यात्मानमन्तर्गतं
न प्राप्नोति जरादिदुस्सहशिखो जन्मोग्रदावानलः ॥२॥

अर्थ—जो स्वस्थता अंतरंगतथा बहिरंग दोनों प्रकार के विकल्पोंकर रहित है तथा शुद्ध एक चैतन्य स्वरूप को धारण करने वाली है और परमात्मा से प्रीति करने वाली है तथा कृत्य

1 क० पुस्तक में "दुर्लभम्" यह भी पाठ है ।

कृत्य है ऐसी उस स्वस्थता को नमस्कार करता हूं क्योंकि जिस अनंत विज्ञानादि चतुष्टय स्वस्थतारूपी अमृत नदी के मध्य में रहे हुए आत्मा को वृद्धावस्था आदि दुस्सह ज्वालाओं को धारण करने वाली जन्मरूपी भंयकर अग्नि प्राप्त ही नहीं हो सकती।

भावार्थ—जिस प्रकार उत्तम जल से भरी हुई नदी के भीतर स्थित पदार्थ का भयंकर ज्वाला को धारण करने वाली भंयकर भी अग्नि कुछ भी नहीं कर सकती उसी प्रकार जिस अनंत चतुष्टय स्वरूप नदी के मध्य में प्रविष्ट आत्मा का जरा दुस्सह ज्वालाओं को धारण करनेवाली भी भयंकर जन्मरूपी अग्नि कुछ भी नहीं कर सकती अर्थात् जिस स्वस्थता की (आत्मस्वरूप के अनुभवपने की प्राप्ति से आत्मा जन्म मरण आदि कर रहित हो जाता है और जो शुद्ध, एक, चैतन्य स्वरूप को धारण करने वाली तथा कृत्य कृत्य है ऐसी उस स्वस्थता को मैं नमस्कार करता हूं। ॥२॥

एकत्वस्थितये मतिर्यदनिशं संजायते मे तथा
प्यानंदः परमात्मसंन्निधिगतः किञ्चित्समुन्मीलति।
कंचित्कालमवाप्य सैव सकलैः शीलैर्गुणैराश्रिता
तामानंदकलां विशालविलसद्बोधां करिष्यत्यसौ ॥३॥

अर्थ—जो निरंतर मेरी बुद्धि एकत्व स्थिति की ओर जाती है उससे भी मुझे परमात्म संबंधी कुछ २ आनंद उत्पन्न होता है यदि वही बुद्धि कुछकाल तक समस्तशील आदि उत्तम गुणों से सहित होकर रहेगी तो अवश्य ही विशाल तथा देदीप्यमान है ज्ञान जिसमें ऐसी उस आनंद की कला को प्राप्त करेगी ॥

भावार्थ—जब मुझे एकत्व स्थिति की ओर बुद्धि के जाने से ही परमात्मा संबंधी कुछ ज्ञान होता है तब यदि मेरी बुद्धि कुछ काल तक शील आदि गुणों से विशिष्ट रहेगी तो अवश्य ही परमात्मा के आनंद को प्राप्त होगी इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं ॥३॥

केनाप्यस्ति न कार्यमाश्रितवता मित्रेण चान्येन वा
प्रेमाङ्गेऽपि न मेस्ति सम्प्रति सुखी तिष्ठाम्यहं केवलः।

संयोगेन यदत्र कष्टमभवत्संसार चक्रे चिरं
निर्विण्णः खलु तेन तेन नितरामेकाकिता रोचते ॥४॥

अर्थ—मेरे आश्रित जो मित्र हैं न तो मुझे उनसे कुछ काम है और न मुझे दूसरे से भी काम है और मुझे अपने शरीर में भी प्रेम नहीं इस समय मैं अकेला भी सुखी हूं क्योंकि मुझे संसाररूपी चक्र से मित्र आदि के संयोग से कष्ट हुआ था इसलिये मैं निश्चय से उदासीन हूं और मुझे अब एकान्त स्थान ही प्रिय है ॥

भावार्थ—जबतक मेरा मित्र स्त्री पुत्र आदि पर पदार्थों से संबंध रहा तबतक मुझे नानाप्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ा इसलिये अब मुझे उन मित्र तथा स्त्री पुत्र आदि पदार्थों से कुछ भी काम नहीं है किंतु मैं अब सर्वथा उदासीन हूं और मुझे एकान्त ही अच्छा लगता है ॥४॥

यो जानाति स एव पश्यति सदा चिद्रूपतां न त्यजेत्
सोहं नापरमस्तिकिंचिदपि मे तत्वं सदेतत् परम् ।
यच्चान्यत्तदशेषकर्मजनितं क्रोधादिकायादि वा
श्रुत्वा शास्त्रशतानि सम्प्रति मनस्येतच्छ्रुतं वर्तते ॥५॥

अर्थ—जो जानता है वही सदा देखता है और जो चैतन्यस्वरूप नहीं छोड़ता है वह मैं ही हूं तथा अन्य पदार्थ मेरा कुछ भी नहीं है और यही समीचीन तत्त्व । अन्य जो क्रोधादिक तथा शरीर आदिक है वे समस्त कर्मों से उत्पन्न हुवे हैं इसलिये सैकड़ों शास्त्रों को सुनकर मनमें यही सिद्धांत स्थित है ॥

भावार्थ—मैंने सैकड़ों शास्त्रों का अवलोकन किया है इसलिये मेरे मन में यह सिद्धांत स्थिर होगया हैं कि जो जानता है और चैतन्यस्वरूप को नहीं छोड़ता है वह मैं ही हूं और संसार में दूसरा कोई भी पदार्थ मेरा नहीं और ये जो क्रोधआदि तथा शरीर आदिक कार्य हैं वे समस्त कर्मों से पैदा हुवे हैं ॥५॥

हीनं संहननं परीषहसहं नाभूदिदं साम्प्रतं
काले दुःखमसंज्ञकेऽत्र यदपि प्रायो न तीव्रं तपः ।

कश्चिन्नातिशयस्तथापि यदसावार्तं हि दुष्कर्मणा-
मंतः शुद्धचिदात्मगुप्तमनसः सर्वं परं तेन किम् ॥६॥

अर्थ—दुःखम है नाम जिसका ऐसे इस पंचमकाल में संहनन हीन होता है इसी लिये इस समय वह संहनन परीषहों का सहने वाला भी नहीं होता है और प्रायः करके तीव्र तप भी नहीं हो सकता है तथा किसी प्रकार का अतिशय भी नहीं होता तो भी मैं दुष्कर्मों से पीड़ित हूं इसलिये अंतरंग में शुद्ध जो चैतन्य स्वरूप उससे गुप्त मनके धारी मुझसे समस्त पदार्थ पर हैं मुझे उन परपदार्थों से क्या प्रयोजन है? ॥

भावार्थ—जिस समय चतुर्थ काल की प्रवृत्ति थी उस समय संहनन उत्तम था और वह संहनन समस्त परीषहों का सहन करने वाला था और उस समय घोर तप भी धारण किया जा सकता था तथा अनेक प्रकार के अतिशय भी प्रकट होते थे इसलिये उस समय दुष्कर्मों की पीड़ा का भय नहीं था किन्तु इस पंचमकाल में न तो उत्तम संहनन है और इसीलिये वह संहनन परीषहों के सहन करने में समर्थ नहीं। और इस काल में घोर तप भी धारण नहीं किया जाता है तथा किसी प्रकार का अतिशय भी प्रकट नहीं होता और दुष्कर्म दुःख बराबर देते ही है इसलिये अंतरंग में शुद्ध ऐसे चैतन्यस्वरूप से गुप्त मन को धारण करने वाले मुझसे समस्त पदार्थ पर हैं तथा उनसे मुझे किसी प्रकार का प्रयोजन नहीं है यही मुझे विचारना चाहिये ॥६॥

सद्दग्बोधमयं विहाय परमानंदस्वरूपं परं
ज्योतिर्नान्यदहं विचित्रविलसत्कर्मैकतायामपि।
कार्ष्ण्ये कृष्णपदार्थसन्निधिवशाज्जाते मणौ स्फाटिके
यत्तस्मात्पृथगेव स द्वयकृतो लोके विकारो भवेत् ॥७॥

अर्थ—नाना प्रकार के विद्यमान जो कर्म उनकी एकता होने पर भी मैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान स्वरूप और परमानंद स्वरूप तथा उत्कृष्टतेज के धारी आत्मा को छोड़ कर भिन्न नहीं हूं अर्थात् आत्मस्वरूप ही हूं क्योंकि काले पदार्थ के संबन्ध से स्फटिकमणि के काले होने पर भी वह कृष्णता उससे भिन्न ही है और विकार जो संसार में होता है वह दो पदार्थों द्वारा किया हुवा ही है ॥

क, पुस्तक में "कार्यादिव" यह भी है।

भावार्थ—जिस प्रकार अत्यंत निर्मल स्फटिकमणि के पास कोई चीज काले वर्ण की रख दी जावे तो यद्यपि उस काले पदार्थ के संबंध से स्फटिकमणि काली हो जाती है तो भी वह कालिमा उस स्फटिकमणि से भिन्न ही है उसका रूप नहीं। किंतु उसका स्वच्छता आदिक ही स्वरूप है उसी प्रकार यद्यपि कर्म तथा आत्मा नीरक्षीर के समान अभिन्न मालूम पड़ते है तो भी मैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानस्वरूप तथा परमानंद स्वरूप और उत्कृष्ट तेज के धारी आत्मा से, भिन्न नहीं हूं किंतु उस आत्मास्वरूप ही हूं ॥७॥

इसी आशय को लेकर समयसार में भी कहा है।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावा सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्वतः पश्तोऽमी नो दृष्टाःस्यु दृष्टमेकं परं स्यात् ॥८॥

अर्थ—इस पुरुष के रूप, रस, गंध आदिक तथा राग, द्वेष मोह आदिक जितनेभर भाव हैं समस्तभिन्न हैं इसलिये जो पुरुष अंतरंग तत्त्व का देखने वाला है उसके दृष्टि गोचर ये कोई भाव नहीं होते किंतु उसके दृष्टि गोचर वह प्रधान तेज ही होता है ॥८॥

आपत्सापि यतेः परेण सह यः संगो भवेत् केनचित्
सापत्सुष्ठु गरीयसी पुनरहो यः श्रीमतां संगमः।
यत्तु श्रीमदमद्यपानविकलैरुत्तानितास्यैर्नृपैः
सम्पर्कः सुमुमुक्षुचेतसि सदा मृत्योरपि क्लेशकृत् ॥९॥

अर्थ—यती का किसी दूसरे पदार्थ के साथ जो संयोग होता है वह एक प्रकार की आपत्ति है और उसी यती का श्रीमानों के साथ संगम होजावे तो बड़ी भारी आपत्ति है और जो पुरुष लक्ष्मी के मदरूपी मदिरा से मत्त हो रहे हैं और जिनके मुख ऊंचे को है ऐसे राजाओं के साथ संबंध होंजावे तो वह संबंध मोक्षाभिलाषी के चित्त में मरण से भी अधिक दुःख का देने वाला है॥

भावार्थ—यह बात अनुभव सिद्ध है कि मनुष्यों को जो कुछ कष्ट होते हैं वे पर के संबंध से ही होते हैं और यतियों का यतिपना तो परके संबंध से रहित होने से ही होता है क्योंकि यदि यतियों का सामान्य लोगों के साथ भी संबंध हो तो उनको दुःख भोगना पड़ता है और

यदि उन्हीं यतीश्वरों का श्रीमान मनुष्यों के साथ संबंध होजावे तो उनको घोर आपत्ति का सामना करना पड़ता है और जिस प्रकार मदिरा के पान से मनुष्य मत्त हो जाता है और उन्नत मुख हो जाता है उसी प्रकार जो राजा, लक्ष्मी का जो घमंड वही हुवा मद्य उसके पीने से मत्त हैं और जिनके मुख ऊपर को चढ़े हुये है ऐसे राजाओं के साथ उन मोक्षाभिलाषी यतियों का संबंध हो जावे तो उन यतियों के चित्त में संबंध मरण से भी अधिक वेदना का करने वाला होता है इसलिये जो मुनि मोक्षाभिलाषी है उनको संसार में किसी के साथ संबंध नहीं रखना चाहिये किंतु अपने आत्मस्वरूप का ही चिंतवन करना चाहिये ॥९॥

स्निग्धा मा मुनयो भवंतु गृहिणो यच्छन्तु मा भोजनं
मा किञ्चिद्धनमस्तु मा वपुरिदं रुग्वर्जितं जायताम् ।
नग्नं मामवलोक्य निन्दतु जनस्तत्रापि खेदो न मे
नित्यानंदपदप्रदं गुरुवचो जागर्ति चेच्चेतसि ॥१०॥

अर्थ—सदा आनंद स्थानों को देने वाला ऐसा श्री गुरु का वचन यदि मेरे चित्त में प्रकाशमान है तो चाहे मुनिगण मेरे ऊपर प्रीति मति करो और भले ही गृहस्थ लोग मुझे भोजन मत दो और मेरे पास धन भी चाहे कुछ न हो और मेरा शरीर भी भले ही रोगकर रहित मत हो और लोग मुझे नग्न देख कर चाहे मेरी निन्दा भी करो तो भी मुझे किसी प्रकार का खेद नहीं॥

भावार्थ—जिस समय मेरे मन में सदा आनंद का देने वाला गुरु का वचन प्रकाशमान न हो। उस समय यदि मुनिगण मेरे ऊपर प्रीति न करे, तथा श्रावक लोग मुझे भोजन न देवे, और मेरे पास धन न होवे तथा शरीर भी निरोग न होवे तथा मुझे नग्न देखकर लोग मेरी निन्दा करें तो मुझे खेद हो सकता है किंतु यदि मेरे मन में श्री गुरु का उपदेश विराजमान है तो मुझे उपर्युक्त कोई भी बात खेद के करने वाली नहीं हो सकती क्योंकि श्री गुरु का उपदेश सदा आनंद स्थान का देने वाला है ॥१०॥

दुःखव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे
नित्यं दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यन्ति सर्वेऽङ्गिनः ।

तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनो
यात्यानंदकरं परं स्थिरतरं निर्वाणमेकं पदम् ॥११॥

अर्थ—जो संसार रूपी वन नाना प्रकार के दुःख रूपी जो हस्ती अथवा अजगर उनसे व्याप्त है और जिसमें हिंसा असत्य चोरी आदिक दोष रूपी वृक्ष मौजूद हैं और जो संसार रूपी वन दुर्गति रूपी जो भीलों के स्थान उनकर सहित जो खोटे मार्ग उनकर सहित हैं ऐसे संसाररूपी वन में सदा समस्त जीव भ्रमण करते रहते है किन्तु उसी संसार रूपी वन में उत्तम गुरुओं द्वारा प्रकाशित मार्ग में जो मनुष्य गमन करने वाला है वह मनुष्य समस्त प्रकार के आनंदों को करने वाले और उत्कृष्ट तथा निश्चल और अनुपम ऐसे निर्वाण स्थान को अर्थात् मोक्षस्थान को प्राप्त होता है ॥

भावार्थ—जिस प्रकार वन नाना प्रकार के हस्ती अजगर और वृक्ष तथा भिल्लों के घरोंकर सहित भयंकर मार्गों का स्थान होता है और उसी वन में किसी हितैषी द्वारा बतलाये हुए मार्ग से जो मनुष्य गमन करता है वह अपने उत्तम अभीष्ट स्थान पर पहुंच जाता है उसी प्रकार यह संसार भी वन है क्योंकि इस में भी नाना प्रकार के दुःखरूपी हस्ती मौजूद हैं और यह हिंसा आदिक दोपरूपी वृक्षों का स्थान है तथा दुर्गतिरूप भीलों के घरोंकर सहित है खोटे भयंकर मार्ग इस में भी हैं इस लिये इस प्रकार के संसाररूपी वन में जो मनुष्य उत्तम गुरुओं द्वारा प्रकाशित मार्ग में गमन करता है वह मनुष्य कल्याणों के करने वाले निश्चल उत्कृष्ट तथा अनुपम निर्वाण पुर को प्राप्त होता है ॥११॥

यत्सातं यदसातमङ्गिषु भवेत्तत्कर्मकार्यं ततः
तत्कर्मैव तदन्यदात्मन इदं जानंति ये योगिनः।
ईदृग्भेदविभावनाश्रितधियां तेषां कुतोहं सुखी
दुःखी चेति विकल्प कल्मषकला कुर्यात्पदं चेतसि ॥१२॥

अर्थ—जीवों में जो सुख तथा दुःख है वे समस्त कर्मों के कार्य है इस लिये कर्म ही हैं और कर्म आत्मा से भिन्न है इस बात को जो योगीश्वर जानते है उन्हें इस प्रकार की भेदभावना के भावने वाले योगीश्वरों के मन में, मैं सुखी हूं और मैं दुःखी हूं इस प्रकार की विकल्प संबंधी जरा सी भी मलिनता कैसे स्थान को प्राप्त कर सकती है ?

भावार्थ—जब तक योगियों को इस बात का भलीभांति ज्ञान नहीं होता कि सुख दुःख आदिक जो कार्य हैं वे कर्मों के कार्य है इस लिये कर्म ही हैं और आत्मा कर्मों से सर्वथा भिन्न है तभी तक उनके मन में मैं सुखी हूं तथा दुःखी हूं इस प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं किन्तु जिस समय योगियों को इस प्रकार का भलीभांति ज्ञान हो जाता है कि कर्म तथा उनके सुख-दुःख आदि कार्य सर्व आत्मा से भिन्न हैं उस समय उनके मन में कभी भी मैं सुखी हूं तथा दुःखी हूं इस प्रकार के मलिन विकल्प नहीं होते हैं इस लिये योगियों को चाहिये कि वे कर्म तथा आत्मा के भेद को भलीभांति जानकर मैं सुखी हूं तथा दुःखी हूं इस प्रकार के मलिन विकल्पों से सर्वदा विमुक्त रहें ॥१२॥

देवं तत्प्रतिमां गुरुं मुनिजनं शास्त्रादि मन्यामहे
सर्वं भक्तिपरा वयं व्यवहृतौ मार्गे स्थिता निश्चयात् ।
अस्माकं पुनरेकताश्रयणतो व्यक्तीभवच्चिद्गुण-
स्फारीभूतमतिप्रबंधमहसामात्मैव तत्त्वं परम् ॥१३॥

अर्थ—जब तक हम व्यवहार मार्ग में स्थित हैं तभी तक हम भक्ति में तत्पर होकर देव को देव की प्रतिमा को गुरु को मुनिजनों को तथा सर्व शास्त्र आदि को मानते हैं किंतु निश्चयनय से तो एकत्व के आश्रय से प्रकट हुआ जो चैतन्यरूपी गुण उस से प्रगल्भ जो बुद्धि उस बुद्धि सम्बंधी तेज के धारी हमारे केवल एक आत्मा ही उत्कृष्ट तत्त्व है किन्तु इस से भिन्न कोई भी तत्त्व नहीं है ।

भावार्थ—जब तक हम व्यवहार मार्ग में स्थित हैं तब तक तो हम भक्तिवश होकर देव को भी मानते है देव की प्रतिमा को नमस्कार करते हैं तथा गुरु और मुनिजनों को भी मानते हैं शास्त्र आदि की भी भलीभांति भक्ति करते हैं किन्तु जिस समय शुद्ध निश्चय मार्ग का अवलंबन करते है उस समय आत्मा ही हमारा उत्कृष्ट तत्व है क्योंकि उस समय एकत्व की भावना से प्राप्त हुई जो बुद्धि की प्रौढ़ता उस से देव आदि का कुछ भी भेद प्रतीत नहहीं होता ॥१३॥

वर्षं हर्षमपाकरोतु तुदतु स्फीता हिमानी तनुं
धर्मः शर्महरोस्तु दंशमशकं क्लेशाय सम्पद्यताम् ।

अन्यैर्वा बहुभिः परीषहभटैरारभ्यतां मे मृतिर्-
मोक्षं प्रत्युपदेशनिश्चलमतेर्नात्रापि किञ्चिद्भयम् ॥१४॥

अर्थ—चाहे वर्षा मेरे हर्ष को नष्ट करे और बढ़ा हुआ जो बरफ का समूह वह भले ही मेरे शरीर को पीड़ा दे, और सूर्य का आताप भी मेरे कल्याणों का नाश करने वाला हो और डांस मच्छर भी मुझे दुःख देवे, तथा और भी जो बचे हुवे परीषह रूपी सुभट हैं उनसे भी भले ही मेरा मरण हो जाओ तो भी मुझे इनमें किसी से कुछ भी भय नहीं है क्योंकि मेरी बुद्धि मोक्ष के प्रति जो उपदेश उससे निश्चल है।

भावार्थ—परीषह आदि के जय से मोक्ष होता है ऐसे मोक्ष के लिये श्री गुरु द्वारा दिये हुवे उपदेश से मेरी बुद्धि निश्चल है इसलिये वर्षा काल में चाहे वर्षा मेरे हर्ष का नाश करो और शरद काल में चाहे बढ़े हुवे बरफ का समूह मेरे शरीर को दुःखित करो और उष्ण काल में सूर्य का आताप भले ही मेरे कल्याणों का नष्ट करने वाला होवे और डांस मच्छर आदिक भी चाहे मुझे दुःख देवे और दूसरे २ बचे हुवे सुभटों से भी चाहे मेरी मृत्यु हो जावे तो भी मुझे इनमें से किसी से भी कुछ भय नहीं है ॥१४॥

चक्षुर्मुख्यहृषीककर्षकमयो ग्रामो मृतो मन्यते
चेद्रूपादिकृषिक्षमा बलवता बोधारिणा त्याजितः ।
तच्चिंतां न च सोऽपिसम्प्रति करोत्यात्मा प्रभुःशक्तिमान्
यत्किञ्चिद्भवतितात्र तेन च भवोप्यालोक्यते नष्टवत् ॥१५॥

अर्थ—आत्मा सर्व शक्तिशाली प्रभू है इसलिये यह, यद्यपि सम्यग्ज्ञान का वैरी जो ज्ञानावरण कर्म (अथवा मोह) है उसके द्वारा, नेत्र है प्रधान जिन्हों में ऐसी जो इन्द्रियां उन इन्द्रिय रूपी किसानों से बना हुवा (इन्द्रिय रूपी किसान स्वरूप) जो ग्राम उसको मरा हुवा मानता है तथा उन इन्द्रिय रूपी किसानों की जो रूपादि खेती उसकी जो ज़मीन उससे रहित भी मानता है तो भी उन इन्द्रियों की तथा इन्द्रियों के विषयों की कुछ भी चिंता नहीं करता क्योंकि वह समझता है कि जो कुछ होने वाला है वह तो होगा ही इसलिये वह समस्त जगत को सर्वथा नष्ट सा ही समझता है।

भावार्थ—जिस प्रकार सर्व शक्तिमान राजा किसी वैरी द्वारा उजड़े हुवे अपने गांव को तथा ज़मीन को देखकर कुछ भी चिन्ता नहीं करता उसी प्रकार सर्व शक्तिशाली यह आत्मा भी ज्ञानावरणादि द्वारा नेत्रादि इन्द्रियों को नष्ट मानता है तथा रूपादि से रहित भी मानता है तो भी उनकी चिंता नहीं करता क्योंकि वह भली भांति जानता है कि जो कुछ होने वाला है वह तो नियम से होता ही है इसलिये वह समस्त जगत को नष्ट ही सदा समझता रहता है ॥१५॥

कर्मक्षत्युपशांतिकारणवशात्सद्देशनाया गुरो
रात्मैकत्वविशुद्धबोधनिलयो निश्शेषसंगोज्झितः ।
शश्वत्तद्गतभावनाश्रितमना लोके वसन् संयमी
नावद्येन स लिप्यतेब्जदलवत्तोयेन पद्माकरे ॥१६॥

अर्थ—कर्मों के क्षय से तथा कर्मों के उपशम से अथवा गुरु के उत्तम उपदेश से जो संयमी आत्मा के एकत्व से निर्मल ज्ञान का स्थान है तथा समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित है और निरन्तर जिसका मन आत्म सम्बन्धी भावना कर सहित है ऐसा वह संयमी संसार में रहता हुवा भी जिस प्रकार सरोवर में कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार अंश मात्र भी पापों से लिप्त नहीं होता।

भावार्थ—चाहे कमल का पत्ता कितने भी अगाध पानी में क्यों न पड़ा हो तो भी वह जरा भी पानी से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार जिस संयमी का मन कर्मों के उपशम से अथवा कर्मों के सर्वथा क्षय से वा गुरू के उत्तम उपदेश से आत्मा के एकत्व सम्बन्धी निर्मल ज्ञान का धारक है और समस्त प्रकार की परिग्रहों से रहित है और जिसका चित्त सदा आत्म सम्बन्धी एकत्व भावनाकर सहित है वह संयमी यद्यपि संसार में भी मौजूद है तथापि समस्त प्रकार के पापों से अलिप्त ही है अर्थात् उसकी आत्मा के साथ किसी प्रकार के कर्मों का सम्बन्ध नहीं है ॥१६॥

गुर्वंघ्रिद्वयदत्तमुक्तिपदवीप्राप्त्यर्थनिर्ग्रंथता
जातानन्दवशान्ममैन्द्रियसुखं दुःखं मनो मन्यते ।
सुस्वादुःप्रतिभासते किल खलस्तावत्समासादितो
यावन्नो सितशर्करातिमधुरा सन्तर्पिणी लभ्यते ॥१७॥

अर्थ—गुरू के जो दोनों चरण उनसे दी हुई जो मोक्ष पदवी उसकी प्राप्ति के लिये जो निग्रंथता उससे उत्पन हुवा जो आनंद उससे मेरा मन इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुवा जो सुख है वह दुःखी ही है ऐसा मानता है सो ठीक ही है क्योंकि जबतक स्वच्छ तथा अत्यंत मधुर और तृप्ति करने वाली शर्करा (सक्कर) की प्राप्ति नहीं होती तभी तक खल अत्यंत मिष्ट मालूम पड़ती है।

भावार्थ—जब तक स्वच्छ अत्यंत मिष्ट तथा तृप्ति की करने वाली शक्कर की प्राप्ति नहीं होती तभी तक मनुष्य को खल अत्यंत मिष्ट मालूम पड़ती है किन्तु जिस समय उत्तम मिष्ट शक्कर की प्राप्ति हो जाती है उस समय वह खल जरा भी मिष्ट नहीं मालूम होती उसी प्रकार जबतक जीवों को गुरु के दोनों चरणों से प्रदत्त जो मोक्षरूपी पदवी उसकी प्राप्ति के लिये जो निग्रंथता उससे उत्पन्न हुवा जो आनंद उसका अनुभव नहीं होता तभी तक उनको इन्द्रियों से उत्पन्न हुवा सुख, सुख मालूम पड़ता है किंतु जिस समय उस आनंद का अनुभव हो जाता है उस समय इन्द्रियों से उत्पन्न हुवा सुख, सुख नहीं प्रतीत होता किंतु वह दुःख ही प्रतीत होता है मुझे उस प्रकार के वचना गोचर आनंद का अनुभव है इसलिये मुझे इन्द्रियों से जायमान सुख, दुःख ही है ऐसा सर्वथा मालूम पड़ता है ॥१७॥

निर्ग्रन्थत्वमुदा ममोज्वलतरध्यानाश्रितस्फीतया
दुर्ध्यानाक्षसुखं पुनः स्मृतिपथप्रस्थाय्यपि स्यात्कुतः।
निर्गत्योद्गतवातबोधितशिखिज्वालाकरालाद्गृहात्
शीतां प्राप्य च वापिकां विशति कस्तत्रैव धीमान्नरः ॥१८॥

अर्थ—अत्यंत निर्मल जो ध्यान उसके आश्रय से अत्यंत वृद्धिंगत निग्रंथता से पैदा हुवा यदि हर्ष मेरे मौजूद हैं तो मुझे खोटे ध्यान से उत्पन्न हुवा जो इन्द्रिय संबंधी सुख उसका कैसे स्मरण हो सकता है ? क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष है जो चलती हुई जो पवन उससे जाज्वल्यमान जो अग्नि की ज्वाला उससे अत्यंत भयंकर ऐसे घर से निकल कर और अत्यंत शीत ऐसी बावड़ी को पाकर फिर उसी जाज्वल्यमान अग्नि से भयंकर घर में प्रवेश करेगा ?

भावार्थ—अत्यंत उत्कृष्ट जो पवन उससे जाज्वल्यमान जो अग्नि की ज्वाला उससे भयंकर घर से निकल कर तथा अत्यंत निर्मल जल से भरी हुई बावड़ी को पाकर जिस प्रकार बुद्धिमान पुरुष फिर से उस जाज्वल्यमान अग्नि से भयंकर मकान में प्रवेश नहीं करता। उसी प्रकार

यदि मुझ में अत्यन्त निर्मल जो ध्यान उसके आश्रय से अत्यंत बढ़ा हुवा ऐसा निर्ग्रंथता से उत्पन्न हुवा आनंद मौजूद है तो मुझे खोटे ध्यान से उत्पन्न हुवा जो इन्द्रिय संबंधी सुख उसका स्मरण नहीं हो सकता है अर्थात् इन्द्रियों से उत्पन्न हुवे सुख को मैं सुख नहीं मान सकता ॥१८॥

जायेतोगद्‌तमोहतोऽभिलषिता मोक्षेपि सा सिद्धिहृत्
तद्भूतार्थपरिग्रहो भवति किं क्वापि स्पृहालुर्मुनिः ।
इत्यालोचनसंगतैकमनसा शुद्धात्मसंबन्धिना
तत्त्वज्ञानपरायणेन सततं स्थातव्यमग्राहिणा ॥१६॥

अर्थ—यदि उत्पन्न हुवे मोह से मोक्ष में भी अभिलाषा की जाय तो वह इच्छा मोक्ष के नाश करने वाली होती है इसलिये जो शुद्ध निश्चयनय का आश्रय करने वाला है वह कहीं भी इच्छा नहीं करता इसलिये जिस मुनि का मन आलोचनाकर सहित है और जो शुद्ध आत्मा से संबंध रखने वाला हैं तत्त्वों के ज्ञान में दत्तचित्त है उस मुनि को चाहिये कि वह समस्त प्रकार की परिग्रहों से रहित ही रहै ॥

भावार्थ—समस्त कर्म तथा कर्मों के कार्यों का जिस समय सर्वथा नाश हो जाता है उसी समय मोक्ष की प्राप्ति होती है। इच्छा मोह से उत्पन्न होती है इसलिये वह कर्म का कार्य होने पर भी कर्म ही है इसलिये मोक्ष के विषय में भी किसी मुनि की इच्छा हो जावे तो वह इच्छा मोक्ष की निषेध करने वाली ही है अतः जो मुनि शुद्ध निश्चय नय के आश्रय करने वाले हैं और मोक्ष के अभिलाषी है वे कदापि किसी पदार्थ में जरा भी इच्छा नहीं करते है इसलिये आचार्यवर उपदेश देते हैं कि जिन मुनियों का मन आलोचना करके सहित है तथा जो समस्तकर्मों से रहित आत्मा से संबंध रखने वाले हैं अर्थात् कर्म रहित आत्मा के ध्यान करने वाले हैं और जो तत्त्वों के ज्ञान में दत्तचित्त हैं उनको चाहिये कि वे सर्वथा समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित रहैं अर्थात् किसी पदार्थ में (ममेदं) यह मेरा है ऐसी बुद्धि कदापि न करें ॥१६॥

जायंते विरसा रसा विघटते गोष्ठीकथाकौतुकं
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च ।

जोषं वागपि धारयत्यविरतानन्दात्मशुद्धात्मन
श्चिन्तायमपि यातुमिच्छति समं दोषैर्मनः पंचताम् ॥२०॥

अर्थ—सदा आनंदरूप जो शुद्धात्मा उसके चिंतवन होनेपर रस जो हैं सो विरस हो जाते हैं और गोष्ठी में जो कथा का कौतूहल है वह नष्ट हो जाता है और समस्त विषय नष्ट हो जाते हैं तथा शरीर में भी अंशमात्र भी प्रीति नहीं रहती और वाणी भी जोष को धारण कर लेती है अर्थात् अर्थात् मौन का अवलम्बन करना पड़ता है और समस्त दोषों के साथ मनभी नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—जबतक मनुष्य निरंतर आनन्द स्वरूप परमात्मा का विचार नहीं करता तब तक उसको रस प्रिय लगते हैं गोष्ठी की कथा का कौतूहल भी उत्तम लगता है और तबतक विषय भी नष्ट नहीं होते तथा शरीर में भी प्रीति बनी रहती है और वाणी भी मौन को धारण नहीं करती तथा समस्त दोष भी मौजूद रहते है और मन भी कायम बना रहता है किंतु जिस समय उस आनंद स्वरूप परमात्मा का विचार आकर उपस्थित हो जाता है उस समय रस प्रिय नहीं लगते गोष्ठी में जो कथा का कौतुहल रहता है वह भी नष्ट हो जाता है विषय भी समस्त किनारा कर जाते है शरीर में प्रीति भी नही रहती और वाणी मौन को धारण कर लेती है और कोई प्रकार दोष भी नहीं रहता तथा दोषों के साथ मन भी सर्वथा नष्ट हो जाता है ॥२०॥

तत्त्वं वागतिवर्ति शुद्धनयतो यत्सर्वपक्षच्युतं
तद्वाच्यं व्यवहारमार्गपतितं शिष्यार्पणे जायते।
प्रागल्भ्यं न तथापि तत्र विवृतौ बोधो न तादृग्विध-
स्तेनायं ननु मादृशो जडमतमौनाश्रितस्तिष्ठति ॥२१॥

अर्थ—शुद्धनिश्चयनय से तो तत्त्व वचन के अगोचर है तथा समस्त प्रकार के पक्षों कर (अपेक्षाओं कर) रहित है किंतु व्यवहार मार्ग में आया हुआ वह तत्त्व शिष्यों के बोध के लिये (वाच्य वचन के द्वारा कहने योग्य) होता है तोभी (ग्रन्थकार कहते हैं) कि उस तत्त्व के व्याख्यान के करने में न तो मुझ में भलीभांति प्रौढ़ता है और न मुझमें उसके वर्णन करने योग्य ज्ञान ही है इसलिये मेरे समान जड बुद्धि पुरुष मौन को धारणकर ही रहता है।

भवार्थ—यद्यपि शुद्धनिश्चय से तत्त्व आवाच्य है तथा समस्त प्रकार की अपेक्षाओं रहित है तोभी वह तत्त्व शिष्यों को बोध कराने के लिये व्यवहार से वाच्य है वचन से कहा

जा सकता है इसलिये ग्रन्थकार कहते है तो भी इस परमार्थ तत्त्व को मैं भलीभांति वर्णन नहीं कर सकता क्योंकि उस तत्त्व के वर्णन करने में न तो मुझे अपने में प्रौढ़ता ही प्रतीत होती है और न उतना मुझमें ज्ञान ही विद्यमान है इसलिये मैं अब मौन को ही धारण करता हूं ॥२०॥

इस प्रकार श्रीपद्मनन्दि आचार्य द्वारा विरचित श्रीपद्मनन्दि पंचविंशातिका में
परमार्थ संगति नामक अधिकार समाप्त हुआ ।

अथ शरीराष्टकाधिकारः ।

शार्दूलविक्रीडित ।

दुर्गंधाशुचिधातुभित्तिकलितं संछादितं चर्मणा
विरामूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद्दुःखाखुभिश्छिद्रितम् ।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जरावन्हिना
चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढो जनो मन्यते ॥१॥

अर्थः—यह शरीररूपी झोंपड़ा दुर्गंध तथा अपवित्र वीर्य आदि धातुरूपी भीतों से बना हुवा है और चाम से ढका हुआ है तथा विष्टा मूत्र आदि से भी भरा हुआ है और इसमें क्षुधा आदिक बलवान दुःखरूपी चूहों ने छेद कर रक्खे है और यह अत्यंत क्लिष्ट है और इसके चारो ओर जरारूपी अग्नि मौजूद है तो भी मूर्ख जीव इसको स्थिर तथा अत्यंत पवित्र मानता है यह बड़े आश्चर्य की बात है ॥ १ ॥

दुर्गन्धं कृमिकीटजालकलितं नित्यं स्रवद्दूरसं
शौचस्नानविधानवारिविहितप्रक्षालनं रुग्भृतम् ।
मानुष्यं वपुराहुरुन्नतधियो नाडीव्रणं भेषजं
तत्रान्नं वसनानि पट्टकमहो तत्रापि रागी जनः ॥ २ ॥

अर्थ—दुर्गंधमय तथा लट और कीड़ाओं के समूहकर व्याप्त और जिसमें चारों ओर से रक्त, पीव, आदि वह रहे हैं और जिसका प्रचालन पवित्र जल से किया जाता है और जो नाना-प्रकार के रोगोंकर व्याप्त है और जिसमें औषधि अन्न और वस्त्ररूपी पट्टी है ऐसे मनुष्य के शरीर को उच्चबुद्धि के धारक मनुष्य नाड़ीव्रण (घाव) कहते हैं तो भी बड़े आश्चर्य की बात है ऐसे निकृष्ट शरीर में भी जीव रागी बनते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार घाव अत्यंत दुर्गंधमय होता है और नाना प्रकार के लट कीड़े आदिक से व्याप्त होता है और सदा जिसमें रक्त आदि टपकता रहता है और अत्यंत शुद्धजल से धोया जाता है तथा जिसके ऊपर औषधि लगाई जाती है तथा पट्टी बांधी जाती है उसी प्रकार यह शरीर भी है क्योंकि यह भी नानाप्रकार की दुर्गंध से व्याप्त है तथा इसमें भी नानाप्रकार के कीड़े मौजूद हैं और लोहू पीव आदिक घृणा के करने वाले रस भी इससे सदा बहते हैं और उत्तम जल से भी इसका स्नान कराया जाता है तथा नाना प्रकार के भयंकर रोगों का भी यह घर अन्न रूपी औषधि भी इसके उपयोग में लाई जाती और वस्त्ररूपी पट्टी भी इसपर बांधी जाती है परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि ऐसे निकृष्ट शरीर में भी मनुष्य राग करता है ? और इस को खराबनहीं मानता है ॥ २ ॥

नृणामशेषाणि सदैव सर्वथा
वपूंषि सर्वाशुचिभांजि निश्चितम् ।
ततः क एतेषु बुधः प्रपद्यते
शुचित्वमम्बुस्तुतिचंदनादिभिः ॥ ३ ॥

अर्थ—मनुष्यों के समस्त शरीर सदा काल सब प्रकार से अपवित्र हैं ऐसा भलीभांति निश्चित है इसलिये संसार में ऐसा कौनसा बुद्धिमान पुरुष होगा जो शरीर को स्नान तथा चंदन से पवित्र करने का प्रयत्न करेगा।

भावार्थ—यदि मनुष्य का शरीर किसी प्रकार से तथा किसी काल में पवित्र होता तब तो स्नानों से तथा चंदनों के लेप से इसका पवित्र करना फलप्रद समझा जाता परंतु यह शरीर तो न किसी प्रकार से शुद्ध हो सकता है और न किसी काल में पवित्र हो सकता है इसलिये जो

मनुष्य वास्तविकरीति से शरीर की दशा को जानने वाले हैं ऐसे वे विद्वान पुरुष कभी भी स्नान तथा चंदनादि के लेपों से शरीर का शुद्ध बनाने का प्रयत्न नहीं करते ॥ ३ ॥

तिक्तेश्वाकुफलोपमं वपुरिदं नैवोपभोग्यं नृणां
स्याच्चेन्मोहकुजन्मरन्ध्ररहितं शुष्कं तपोधर्मतः ।
नांते गौरवितं तदा भवनदीतीरे क्षमं जायते
तत्तत्तत्र नियोजितं वरमथासारं सदा सर्वथा ॥ ४॥

अर्थ—मनुष्यों का शरीर कड़वी तूमड़ी के समान है इसलिये वह सर्वथा उपयोग करने के योग्य नही है यदि यही शरीर मोह तथा खोटे जन्मरूपी छिद्रोंकर रहित होवे और तपरूपी धूप से सूखा हुवा होवे और अंतरंग में अभिमान करके सहित न होवे तो यह संसार रूपी नदी से पार करने में समर्थ हो सकता है इसलिये उस शरीर में उत्कृष्ट भी चंदन आदि लगाना सदा सर्वथा असार ही है।

भावार्थ—जिस प्रकार तूंवी कड़वी होने के कारण उपभोग योग्य नहीं होती और यदि वही तूंवी छिद्रकर रहित होवे तथा धूप से सूखी हुई होवे और अंतरंग में भारी न होवे तो नदी के पार होने में समर्थ होती है उसी प्रकार यह शरीर भी है क्योंकि यह भी तूंवी के समान कड़ुवा दुःख का देने वाला है और यदि यही शरीर मोह तथा खोटे जन्म रूपी छेदोंकर रहित होवे। तपरूपी धूप से सूखा हुआ होवे और अंतरंग में अभिमानकर सहित न होवे तो अवश्य ही यह संसार रूपी नदी के पार होने में समर्थ हो सकता है अन्यथा असार है इस लिये भव्य जीवों को ऐसा ही प्रयत्न करना चाहिये कि जिस से उन का शरीर मोहादि छिद्रोंकर रहित होवे और तप सहित होवे तथा अंतरंग में अभिमान करके सहित न होवे तभी उन को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ॥४॥

मालिनी

भवतु भवतु यादृक् तादृगेतद्वपुर्मे
हृदि गुरुवचनं चेदस्ति तत्तत्त्वदर्शि ।
त्वरितमसमसारानंदकंदायमाना
भवति यदनु भावादक्षया मोक्षलक्ष्मीः ॥५॥

अर्थ—वस्तु के वास्तविक स्वरूप का दिखाने वाला यदि गुरु का वचन मेरे मन में विद्यमान है तो यह मेरा शरीर जैसा है वैसा रहे कोई चिंता नहीं क्योंकि मन में विद्यमान उस श्री गुरु के वचन के अनुभव से ही बात की बात में असाधारण सर्वोत्तम आनन्द को देने वाली तथा अविनाशी मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—यदि मन में गुरु का वचन विद्यमान न रहे और उस समय शरीर पुण्य की संचय करने वाली शुभ क्रिताओं में न लगा हो तो उस समय चिंता अवश्य करनी चाहिये और यदि समस्त पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का प्रकाश करने वाला गुरु का वचन मन में विद्यमान है तो शरीर चाहे कैसा भी रहे कोई चिंता नहीं क्योंकि उस गुरु के वचन के अनुभव से ही दूसरी जगह पर न पाया जाय ऐसी सर्वोत्तम आनन्द को देने वाली तथा अविनाशी मोक्ष रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति होती है इस लिये जहां तक बने वहां तक भव्य जीवों को गुरु के वचन में अवश्य ही श्रद्धान रखना चाहिये ॥५॥

शार्दूलविक्रीड़ित ।

पर्यन्ते कृमयोऽथ वन्हिवशतो भस्मैव मत्स्यादनात्
विष्टास्यादथवा वपुः परिणतिस्तस्येदृशी जायते ।
नित्यं नैव रसायनादिभिरपि क्षय्येव यत्तत्कृते
कः पापं कुरुते बुधोऽत्र भविता कष्टा यतो दुर्गतिः ॥६॥

अर्थ—जिस शरीर की अवस्था ऐसी होती है कि अंत समय में तो लटें पड़ जाती हैं अथवा अग्नि से भस्म हो जाता है वा मछली आदिकों के खाने से विष्टा स्वरूप में परिणित हो जाता है और नित्य नहीं है तथा अनेक प्रकार की रसायन आदिक खाने पर भी नष्ट हो जाता है उस शरीर के लिये ऐसा संसार में कौन बुद्धिमान पुरुष होगा जो पाप करेगा जिस पाप के आगे अनेक प्रकार के दुःखो को देने वाली दुर्गति होवेगी।

भावार्थ—यदि यह शरीर अंत समय में लट आदि कीड़ों से व्याप्त तथा अग्नि से भस्म स्वरूप और मछली आदि के खाने पर विष्टास्वरूप, न होता तथा नित्य और रसायनादि के खाने से विनाशीक न होता तब तो उस शरीर के लिये अनेक प्रकार के पापों का करना कोई खराब नहीं था किन्तु यह शरीर तो मरण समय में अनेक प्रकार के कीड़ाओं से व्याप्त हो जाता है तथा

अग्नि से जल कर भस्म हो जाता है और जिस समय मछली आदिक जीव इस को खा लेते हैं उस समय यह उन की विष्टास्वरूप में परिणत हो जाता है तथा नित्य भी यह नहीं है और अनेक प्रकार की रसायन आदिकों के खाने पर भी नष्ट हो जाता है फिर ऐसा कौनसा बुद्धिमान होगा ? जो इस के लिये अनेक प्रकार के पापों को संचय करेगा ? क्योंकि पापों से अनेक प्रकार के दुःखों को देने वाली दुर्गति की आगामी भवों में प्राप्ति होती है ॥६॥

संसारस्तनुयोग एषविषयो दुःखान्यतो देहिनो
वन्हेर्लोहसमाश्रितस्य घनतो घातो यथा निष्ठुरात् ।
त्याज्या तेन तनुर्मुमुक्षुभिरियं युक्त्या महत्या तथा
नो भूयोपि यथात्मनो भवकृते तत्सन्निधिर्जायते ॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार लोह के आश्रित अग्नि को अत्यंत कठिन घन से घात (चोट) सहने पड़ते हैं उसी प्रकार शरीर के सम्बन्ध से यह संसार होता है और संसार से जीवों को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं इसलिये जो भव्य जीव मुमुक्षु हैं अर्थात् मोक्ष के अभिलाषी हैं उनको ऐसा किसी बड़ी भारी युक्ति के साथ इस शरीर का त्याग कर देना चाहिये कि जिससे पुनः इस आत्मा को संसार में भ्रमण कराने के लिये इस शरीर का सम्बन्ध न होवे ।

भावार्थ—जिस समय लोह पिंड अग्नि में रख दिया जाता है और जब वह अग्नि स्वरूप परिणत हो जाता है उस समय जिस प्रकार उस लोह के पिंड के साथ २ उस अग्नि पर भी अत्यन्त कठोर घन के द्वारा अनेक चोटें पड़ती है उसी प्रकार जबतक इस शरीर का सम्बन्ध रहता है तबतक जीवों को नाना प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है क्योंकि इस शरीर के सम्बंध से जीव नाना प्रकार के पापों का उपार्जन करता है और उन पापों से उस को इस चतुर्गति स्वरूप संसार में घूमना पड़ता है और संसार में घूमने से उस को अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं इस लिये आचार्यवर उपदेश देते हैं कि जो मनुष्य मुमुक्षु है अर्थात् संसार के दुःखों से छूट कर मोक्ष को जाना चाहते है उन को चाहिये कि वे ऐसी किसी बड़ी भारी युक्ति से इस शरीर का त्याग करें कि फिर से अनेक भावों में भ्रमण करने वाले इस शरीर का आत्मा के साथ सम्बन्ध न होवे ॥७॥

रक्षापोषविधौ जनोस्य वपुषः सर्वः सदैवोद्यतः
कालादिष्टजरा करोत्यनुदिनं तज्जर्जरं चानयोः।
स्पर्द्धामाश्रितयोर्द्वयोर्विजयनी सैका जरा जायते
साक्षात्कालपुरस्सरा यदि तदा कास्था स्थिरत्वे नृणाम् ॥८॥

अर्थ—यह मनुष्य तो इस शरीर की रक्षा करने में तथा पोषण करने में सदा लगा रहता है परन्तु काल की आज्ञा कारिणी दासी यह वृद्धावस्था सदा उस शरीर को जर्जरित अर्थात् छिन्नभिन्न करती रहती है और यदि आपस में ईर्षा द्वेष करने वाले ऐसे इन जन्ममरणों के मध्य में काल है आगे जिस के ऐसी सब को जीतने वाली यह वृद्धावस्था मौजूद है तो यह शरीर सदाकाल रहेगा ऐसा मनुष्यों को क्या दृढ़ विश्वास है?

भावार्थ—यदि इस शरीर को रात दिन उजाड़नेवाली यह काल की दासी वृद्धावस्था न होती तब तो मनुष्यों का नाना प्रकार से इस शरीर की रक्षा करना, दूध दही घी आदि स्निग्ध पदार्थों से और इत्र फुलेल सुगंध लगा कर इस शरीर का पोषण करना व्यर्थ न होता किन्तु मनुष्य तो सदा इस शरीर का रक्षण करता रहता है और सदा ही इसका पोषण करता रहता है तो भी यह दुष्टा जरा उस को उजाड़ती ही रहती है इस लिये सदा किया हुआ भी रक्षण तथा पोषण इस शरीर का व्यर्थ ही हो जाता है और यदि परस्पर में ईर्षा रखने वाले जन्म मरण के मध्य में सब को जीतने वाली और जिस के आगे काल मौजूद है ऐसी वृद्धावस्था न होती तब तो मनुष्यों को, यह शरीर सदा काल रहेगा कभी भी नाश नहीं होगा ऐसा विश्वास करना उचित होता लेकिन काल की दासी सबों को जीतने वाली वृद्धावस्था तो जन्म मरणों के बीच में बैठी हुई है इस लिये क्या निश्चय है कि यह शरीर सदा काल रहेगा इस लिये जो मनुष्य वास्तविक तत्व के स्वरूप को जानने वाले हैं उनको चाहिये कि वे इस शरीर को स्थिर समझ कर व्यर्थ इस की रक्षा तथा पोषण न करें और यह स्थिर है यह भी न मानें ॥८॥

इति श्री पद्मनंदि आचार्य द्वारा विरचित श्री पद्मनंदि पंचविंशतिका में
शरीराष्टकनामक अधिकार समाप्त हुआ।

ख० पुस्तक में पातात्र तो निराहतः यह भी पाठ है।

अथ स्नानाष्टकम् ।

शार्दूलविक्रीड़ित ।

सन्माल्यादि यदीयसन्निधिवशादस्पृश्यतामाश्रयेद्-
विण्मूत्रादिभृतं रसादिघटितं वीभत्सु यत्पूति च ।
आत्मानं मलिनं करोत्यपि शुचिं सर्वाशुचीनामिदं
संकेतैकगृहं नृणां वपुरपां स्नानात् कथं शुद्धयति ॥ १ ॥

अर्थ—जिस शरीर के सम्बंधमात्र से ही उत्तम सुगंधित पुष्पों की वनी हुई माला भी स्पर्श करने योग्य नहीं रहती हैं और जो शरीर विष्टा मूत्र आदिक से चौतरफा भरा हुआ है और अनेक प्रकार के रस आदिकों से वना हुवा है और अत्यंत भय का करने वाला है तथा दुर्गंध व्याप्त है और जो शरीर अत्यंत पवित्र भी आत्मा को मलिन करदेता है और समस्त जितनेभर संसार में अपवित्र पदार्थ है उन सब का संकेत घर है ऐसा यह मनुष्यों का शरीर जल के स्नान से कैसे शुद्ध हो सकता है ? ॥

भावार्थ—अनेक मनुष्य ऐसा समझते हैं कि यह शरीर स्नान करने से पवित्र होता है लेकिन यह सर्वथा उनकी भूलही है क्योंकि जो मनोहर पुष्पों की माला अत्यंत सुगंधित तथा उत्तम होती है वह माला भी एक समय इस शरीर के संबन्ध से ही ऐसी हो जाती है कि औरकी तो क्या वात ? उसका स्पर्श भी नहीं किया जाता है और स्वयं यह शरीर विष्टा मूत्र आदि निकृष्ट पदार्थों का भंडार है तथा अनेक प्रकार के रसों से भरा हुवा है और अत्यंत भयंकर तथा दुर्गंधमय है और यद्यपि आत्मा पवित्र है लेकिन यह शरीर उस आत्मा को भी अपवित्र बनालेता है और जितनेभर संसार में अपवित्र पदार्थ हैं उन सब का स्थान यह शरीर है इसलिये ऐसा निकृष्ट शरीर कैसे जलसे शुद्ध हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता ॥ १ ॥

आत्मातीव शुचिःस्वभावत इति स्नानं वृथास्मिन् परे
कायश्चाशुचिरेव तेन शुचितामभ्येति नो जातुचित् ।
स्नानस्योभयथेत्य भूद्धिफलता ये कुर्वते तत्र नरस्तेषां
भूजलकीटकोटीहननात्पापाय रागाय च ॥ २ ॥

अर्थ—आत्मा तो स्वभाव से अत्यंत पवित्र है इसलिये उस आत्मा के पवित्र करने के लिये स्नान करना व्यर्थ ही है और शरीर सर्वथा अपवित्र ही है यह कदापि पवित्र हो नहीं सकता इसलिये इस शरीर के पवित्र करने के लिये भी वह स्नान बिना प्रयोजन का ही है अतः दोनों प्रकार से स्नान विफल ही है ऐसा सिद्ध हुवा इसलिये ऐसा निश्चय होने पर भी जो पुरुष स्नान को करते हैं उन मनुष्यों द्वारा किया हुवा वह स्नान करोड़ों पृथ्वीकायके तथा जलकायके जीवों के नाश होने से पाप के तथा राग के लिये ही होता है ॥

भावार्थ—यह बात विचारने योग्य है कि मनुष्य जो स्नान करते हैं वे किसी चीज़ की शुद्धि के लिये स्नान करते हैं। कहोगे यदि आत्मा की शुद्धि के लिये स्नान करते हैं तो उनका स्नान करना सर्वथा व्यर्थ ही है क्योंकि आत्मा स्वभाव से ही अत्यंत शुद्ध है और जो स्वभाव से शुद्ध होता है उसको शुद्ध करने वाले दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नही होती यदि कहोगे कि कि शरीर की शुद्धि के लिये स्नान करते हैं तो भी स्नान करना सर्वथा निरर्थक ही है क्योंकि जो पदार्थ सर्वथा अशुद्ध होता है वह कदापि शुद्ध नहीं हो सकता जिस प्रकार कोयला कभी भी सफेद नहीं हो सकता। शरीर सर्वथा अशुद्ध है इसलिये उसकी शुद्धता स्नान से हो नहीं सकती इसलिये स्नान शरीर तथा आत्मा दोनों के लिये सर्वथा विफल ही है किंतु जो मनुष्य ऐसा समझ कर भी स्नान करते है वे करते हैं वे लोग पाप का ही संचय करते हैं क्योंकि स्नान के करने से पृथ्वीकायके तथा जलकायके जीवों का विध्वंस होता है और जीवों के विध्वंस से पाप होता ही है यह बात सर्वसम्मत है। तथा स्नान करने से राग भी बढ़ता है इसलिये मनुष्यों को यह कभी भी नहीं समझना चाहिये कि स्नान शरीर तथा आत्मा की शुद्धि के लिये होता है किन्तु यत्किंचित बाह्य शुद्धि के लिये ही होता है ॥ २ ॥

चित्ते प्राग्भवकोटिसंचितरजः सर्वंधिताविर्भवन्
मिथ्यात्वादिमलव्यपायजनकः स्नानं विवेकः सताम् ।
अन्यद्वारिकृतं तु जन्तुनिकरव्यापादनात्पापकृत्,
नो धर्मो न पवित्रता खलु ततः काये स्वभावाशुचौ ॥३॥

अर्थ—पूर्व भवों में उपार्जन किये हुए जो करोड़ों पाप उनके संबंध से प्रकट होते हुए मिथ्यात्वादिक मल उनके नाश को करने वाला सज्जनों के चित्त में जो विवेक है वही स्नान है किंतु इससे भिन्न जो जल से किया हुआ स्नान है व अनेक जीवों के विध्वंस करने वाला होने

से पाप का ही करनेवाला है क्योंकि स्वभाव से ही अपवित्र इस शरीर में न तो स्नान से ही पवित्रता हो सकती है और न धर्म ही हो सकता है।

भावार्थ—शुद्धिका अर्थ निर्मलता है और निर्मलता उसी समय हो सकती है जिस समय समस्त मलों का नाश हो जावे जल से किया हुआ जो स्नान है उससे निर्मलता नही होती समय समस्त मलों का नाश हो जावे जल से किया हुआ जो स्नान उससे निर्मलता नही होती है किंतु मलों की (पापों की) ही उत्पत्ति होती है क्योंकि जल स्नान के होने पर अनेक जीवों का विध्वंश होता है और उससे पापकी उत्पत्ति होती है। किंतु सज्जनों के चित्त में जो हिता-हत का विवेक है वही स्नान है क्योकि वही स्नन सर्वभवो में उपार्जन किये हुए जो करोडों पाप उन पापों से उत्पन्न हुआ जो मिथ्यात्व आदिक मल उस मल का सर्वथा नाश करने वाला है इसलिये जो मनुष्य स्नान से शुद्धि मानते है उनके चित्त में जो हिताहित का विवेक वह विवेक ही परम शुद्धि का कारण स्नान है ऐसा भली भांति समझना चाहिये ॥३॥

सम्यग्बोधविशुद्धवारिणि लसत्सद्दर्शनोर्मिव्रजे
नित्यानंदविशेषशैत्यसुभगे निश्शेषपापद्रहि ।
सत्तीर्थे परमात्मनामनि सदा स्नानं कुरुध्वं बुधाः
शुद्धयर्थं किमु धावत त्रिपथगामालाप्रयासाकुलः ॥४॥

अर्थ—भोभव्यजीवो जिसमें सम्यग्ज्ञानरूपी अत्यंत निर्मल जल मौजूद है तथाजिसमें देदीप्यमान अनेक तरंगे विद्यमान है और सदा आनंद को देनेवाली उत्तम शीतलता कर मनोहर है और जो समस्त पापों का नाश करने वाला है ऐसे इस परमात्मा नामक उत्तम तीर्थ में ही सदा स्नान करो अनेक प्रकार के प्रयत्नों से व्याकुल होकर क्यों शुद्धता के लिये प्रयाग आदिक तीर्थों में गंगा आदिक नदियों में भटकते फिरते हो।

भावार्थ—बहुत से भोले प्राणी शुद्धि के अर्थ स्नान के लिये प्रयाग आदि तीर्थों में तथा गंगा आदि तीर्थों पर भटकते फिरते है किंतु परम करुणा के धारी आचार्य उनपर करुणाकर उपदेश देते हैं कि यदि तुम शुद्धि के लिये तीर्थ में स्नान करने की इच्छा रखते हो तो तुम इस परमात्मारूपी उत्तम तीर्थ में ही स्नान करो क्योंकि जिस प्रकार प्रयाग आदि तीर्थों में गंगा आदि नदियों का जल रहता है उसी प्रकार इस परमात्मारूपी तीर्थ में भी सम्यग्ज्ञानरूपीउत्तम पवित्र

जल मौजूद है तथा जिस प्रकार प्रयाग आदि तीर्थों में गंगा आदि नदियों का जल मनोहर लहरों सहित होता है उसी प्रकार इस परमात्मारूपी तीर्थ में भी सम्यग दर्शन आदि उत्तम तरंगों का समूह मौजूद है तथा जिस प्रकार प्रयाग आदि तीर्थ गंगा आदि नदियों के जल से शीतल रहते है उसी प्रकार यह परमात्मारूपी तीर्थ भी सदा जो आनंद विशेष वही हुई शीतलता उस-कर मनोहर है तथा यह आत्मारूपी तीर्थ समस्त पापों का नाश करने वाल, है अर्थात् जो पुरुष गोता मारने वाले है उनकी अत्मा के साथ किसी प्रकार के कर्मल का संबन्ध नहीं रहता है इसलिये यही समस्त तीर्थों में उत्तम तीर्थ है किन्तु जो वास्तविक तीर्थ नहीं केवल तीर्थ के समान मलूम पड़ते है ऐसे प्रयाग आदि तीर्थों में गंगा आदि नदियों पर तुम क्यों व्यर्थ स्नान करते हो।

नो दृष्टः शुचितत्त्वनिश्चयनदो न ज्ञानरत्नाकरः
पापैः क्वपि न दृश्यते च समतानामातिशुद्धा नदी ।
तेनैतानि विहाय पापहरणे सत्यानि तीर्थानि ते
तीर्थाभाससुरापगादिषु जडा मज्जंति तुष्यंति च ॥५॥

अर्थ—मूर्ख लोगों ने अपने पापों तथा दुर्भाग्यों की कृपा से न तो पवित्र निश्चयरूपी तालाब को देखा है और न ज्ञान रूपी समुद्र उनकी नज़र पड़ा है तथा कही पर उन्होंने समता रूपी शुद्ध नदी को भी नहीं देखा है इसलिये वे मूर्ख पुरुष पापों के सर्वथा नाश करने वाले इन पवित्र तीर्थों को छोड़ कर जो वास्तविक तीर्थ नहीं है तीर्थाभास अर्थात् तीर्थों के समान मालूम पड़ते है ऐसे गंगा आदि तीर्थों में स्नान करते है और स्नान करके अपने को अत्यंत संतुष्ट मानते हैं।

भावार्थ—यदि निश्चयनय से देखा जावे तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र रूपी नदी में भली भांति स्नान करने से समस्त पापों का नाश होता है किन्तु इनसे भिन्न नदियों में स्नान करने से थोड़े भी पापों का नाश नहीं होता किंतु जो पुरुष पापी है मूर्ख हैं इसलिये अपने पापों की तीव्रता से अथवा दुर्भाग्यों से जिन्होंने सम्यग्दर्शन रूपी तालाब को नही देखा है तथा सम्यग्ज्ञान रूपी समुद्र भी जिनकी नजर नही पड़ा है और अत्यंत शुद्ध समता रूपी नदी की ओर भी जो झांक कर नहीं देख सके हैं वे ही ऐसे समस्त पापों के नाश करने वाले पवित्र तीर्थों को छोड कर सदा पाप के संचय करने वाले तथा जो तीर्थ नहीं है (तारने वाले नहीं हैं)

किंतु उल्टे संसार में डुबाने वाले होने के कारण तीर्थ के समान मालूम पड़ते हैं ऐसे गंगा त्रिवेणी आदि तीर्थों को ही उत्तम तीर्थ मान कर उनमें स्नान करते हैं तथा उनमें स्नान कर अपने को संतुष्ट मानते हैं तथा कृतकृत्य मानते हैं यह बड़ी भारी भूल है इसलिये जो सर्वथा पापों का नाश करना चाहते है सुखी होना चाहते हैं उनको चाहिये कि वे समस्त पापों के नाश करने वाले तथा परम पवित्र सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूपी नदियों में स्नान करें और इन्हीं को परम तीर्थ समझें किन्तु इनसे भिन्न गंगा आदि नदियों की ओर झांक कर भी नहीं देखें और उनको तीर्थ न समझ कर सर्वथा तीर्थाभास ही समझें ॥५॥

नो तीर्थं न जलं तदस्ति भुवने नान्यत्किमप्यस्ति तत्
निश्शेषाशुचि येन मानववपुः साक्षादिदं शुध्यति ।
आधिव्याधिजरामृतिप्रभृतिभिर्व्याप्तं सदा तत्पुनः
शश्वत्तापकरं यथास्य वपुषो नामाप्यसह्यं सताम् ॥६॥

अर्थ—यह मनुष्यों का शरीर अत्यंत तो अपवित्र है तथा सदा आधि व्याधि जरा मरण आदिक उपाधियों से व्याप्त है और सदा तापका करने वाला है तथा सज्जन पुरुष इसका नाम श्रवण भी नहीं कर सकते ऐसा यह मनुष्यों का शरीर है इसलिये इस खराब शरीर के शुद्ध करने में न तो कोई उत्तम तीर्थ इस संसार में है और न कोई इसकी साक्षात् शुद्धि का करने वाला जल है तथा इनसे भिन्न और भी वस्तु कोई ऐसी नही है जो इस शरीर को वास्तविक रीति से शुद्ध कर सके—

भावार्थ—बहुत से भोले मनुष्य इस अत्यंत अपवित्र शरीर की वास्तविक दशा को न जानकर दूसरों के कहने सुनने से प्रयाग आदि तीर्थों में गंगा आदि नदियों में स्नान कर इसको पवित्र समझ लेते हैं तथा कोई २ कूवें आदि के जल को ही गंगा आदि का जल मानकर तथा उस जल से स्नान कर इसको पवित्र समझ लेते है तथा कोई कोई तीर्थ जल से भिन्न रज आदि लगाकर ही अपने शरीर को पवित्र मान लेते हैं किन्तु आचार्यवर कहते है कि यह उन मनुष्यों की बड़ी भारी भूल है क्योंकि यह शरीर इतना अपवित्र है किं इसके बराबर संसार में कोई चीज अपवित्र नहीं तथा यह शरीर अनेक प्रकार की आधि ज्वर आदिक व्याधि वृद्धावस्था मरण आदि दुःखों का घर है अर्थात् इसी के संबंध से मनुष्यों को अनेक प्रकार के आधि व्याधि आदिक सहने पड़ते हैं तथा यह जीवों को अनेक प्रकार के संताप का भी करने वाला है इसलिये

ऐसे निकृष्ट इस शरीर के पवित्र करने के लिये इस संसार में न तो कोई तीर्थ है तथा कोई जल भी नहीं है और इनसे भिन्न और भी कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो इस शरीर को पवित्र कर सके इसलिये सज्जनों को चाहिये कि वे प्रयाग आदि तीर्थों को तथा गंगा आदि नदियों के जलों को और रज आदि दूसरी वस्तुओं को भी इस सर्वथा अपवित्र शरीर की शुद्धि में कारण न समझें किन्तु इनको उलटे अपवित्र करने वाले ही समझें ॥६॥

सर्वैस्तीर्थजलैरपि प्रतिदिनं स्नानं न शुद्धं भवेत्
कर्पूरादिविलेपनैरपि सदा लिप्तं च दुर्गंधभृत् ।
यत्नेनापि च रक्षितं क्षयपथप्रस्थायि दुःखप्रदं
यत्तस्माद्वपुषः किमन्यदशुभं कष्टं च किं प्राणिनाम् ॥७॥

अर्थ—संसार में जितने प्रयाग आदि तीर्थ हैं। तथा जितनी उन तीर्थों में गंगा आदिक विशाल २ नदियां हैं। यदि उन सब नदियों के जल से धोया भी जावे तो यह शरीर शुद्ध नहीं हो सकता। तथा अत्यंत सुगन्धित कपूर आदि पदार्थों से भी यदि इसके ऊपर लेप किया जाये तौ भी यह सुगन्धयुक्त नहीं होता। किन्तु उल्टा दुर्गंधयुक्त ही हो जाता है और इसकी अनेक प्रकारों से यदि रक्षा भी की जाय तो भी वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। तथा यह शरीर नाना प्रकार के दुःखों को भी देने वाला है इसलिये जीवों को इस शरीर से अधिक न तो कोई अशुभ है तथा कष्ट का देने वाला भी कोई इससे अधिक नहीं है॥

भावार्थ—बहुत से मनुष्य यह समझते है कि जल से स्नान करने पर यह शरीर शुद्ध हो जायगा किन्तु आचार्य इस बात का उपदेश देते हैं कि अरे भाई थोड़े से जल की तो क्या बात है यदि समस्त तीर्थों के जल से भी इस शरीर को धोया जावे तो भी यह रंचमात्र भी शुद्ध नहीं होता। तथा बहुत से यह जानते हैं कि अतर फुलेल कपूर आदिक से लिप्त करें तो यह सुगंधियुक्त हो जायगा किंतु आचार्य इस बात को पुकार २ कर कहते हैं कि इस दुर्गंधमय शरीर में चाहे जितना अतर लगाया जाय। चाहे जितना फुलेल लगाया जाय और कपूर भी खूब लगाया जाय, तो भी यह शरीर अंशमात्र भी सुगंधित नहीं हो सकता किंतु उल्टा और दुर्गंधमय ही होता चला जाता है। तथा बहुत से मनुष्य यह समझते हैं कि यह हमारा शरीर सदाकाल कायम रहे इसलिये वे इसके लिये नाना प्रकार के प्रयत्न करते हैं इसकी रक्षा के उपायों को सोचते हैं तो भी जिस प्रकार बिजली क्षणमात्र में चमक कर नष्ट हो जाती है उसी प्रकार यह

शरीर भी क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है। तथा शरीर से ही मनुष्यों को इस संसार में नाना प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है इसलिये संसार में इस शरीर से अधिक न तो कोई प्राणियों के लिये अशुभ पदार्थ है और न कोई उनको इस शरीर से अधिक कष्ट का ही देने वाला है इसलिये भव्यजीवों को चाहिये कि वे न तो इस शरीर को जल आदि से शुद्ध माने और अतर फुलेल कपूर आदि से सुगंधित भी न समझे तथा इसको क्षणभर में विनाशीक समझकर इसकी रक्षा का भी उपाय न करे। नहीं तो उनको पीछे जरूर ही पछिताना पड़ेगा ॥७॥

तंभव्या भूरिभवार्चितोदितमहादृङ्मोहसर्पोल्लसन्
मिथ्या बोधविषप्रसंगविकला मंदीभवद्दृष्टयः।
श्रीमत्पंकजनंदिवक्त्रशशिभृद्बिंबप्रसूतं परं
पीत्वा कर्णपुटैर्भवंतु सुखिनः स्नानाष्टकाख्यामृतम् ॥८॥

अर्थ—अनेक भवों में जिसका उपार्जन किया गया है ऐसा जो प्रवल दर्शनरूपी महासर्प उसके काटने से तमाम शरीर में फैला हुवा जो मिथ्यात्वरूपी विष उसके संबंध से जो अत्यंत दुःखित हैं तथा जिनका सम्यग्नर्शन मंद हो गया है ऐसे जो मनुष्य हैं वे श्रीमान् पद्मनंदी आचार्य के मुखरूपी चंद्रमा से निकला हुवा जो यह स्नानाष्टकरूपी अमृत है उसको अपने कानों से पीकर सुखी होवें।

भावार्थ—जिस समय किसी मनुष्य को काला नाग काट लेता है उस समय उसको बड़ा दुःख होता है तथा समस्त शरीर में विष के फैल जाने से उस मनुष्य की दृष्टि बंद होजाती है। यदि वही मनुष्य कहीं से अमृत को पाकर पान कर जावे तो उसका विष सर्वथा नष्ट हो जाता है उसी प्रकार इन जीवों को भी अत्यंत भयंकर तथा बलवान दर्शन मोहरूपी सर्प के काटने से इनकी आत्मा में मिथ्यात्व रूपी विष का फैलाव फैल गया है। इसलिये ये अत्यंत दुःखी हैं तथा इन की सम्यग्दर्शन रूपी दृष्टि भी बन्द हो रही है। इस लिये आचार्यवर इन को उपदेश देते हैं कि हे भव्य जीवो यदि उस विषय को नाशकर तुम सुखी होना चाहते हो तो यह काम करो कि श्रीमान् मुनि पद्मनंदि के (हमारे) मुख रूपी चन्द्रमा मुख से निकले हुवे इस स्नानाष्टक

रूपी अमृत का पान करो जिससे तुम सुखी हो जावो तथा तुम्हारे ऊपर मोहरूपी सर्प के काटने से उत्पन्न हुआ जो मिथ्यात्व रूपी विष वह सर्वथा नष्ट हो जावे।

इस प्रकार श्री पद्मनंदि द्वारा विरचित श्री पद्मनंदि पंचविंशतिका नामक ग्रन्थ में स्नानाष्टक नामक अधिकार समाप्त हुआ।

अथ ब्रह्मचर्याष्टकम्

भवविवर्धनमेव यतो भवेदधिकदुःखकरं चिरमंगिनाम्।
इति निजांगनयापि न तन्मतं मतिमतां सुरतं किमतोन्यथा ॥१॥

अर्थ—जिस मैथुन के करने से संसार की ही वृद्धि होती है तथा जो मैथुन समस्त जीवों को अत्यन्त दुःख का देने वाला है इस लिये सज्जन पुरुषों ने उस को अपनी स्त्री के साथ करना भी ठीक नहीं माना है वे सज्जन दूसरी स्त्रियों से अथवा अन्य प्रकार से उस को कैसे अच्छा मान सकते हैं ?

भावार्थ—मैथुन के करने से अनेक प्रकार के कीड़ों का विघत होता है तथा विघत से हिंसा होती है और हिसा से कर्मों का बंध होता है तथा कर्मों के बंध से इस पंचपरावर्तन रूप संसार में घूमना पड़ता है इस लिये मैथुन के करने से केवल ससार की वृद्धि ही है· तथा मैथुन करने से मनुष्यों को नाना प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है इस लिये मैथुन समस्त जीवों को अधिक दुःख का देने वाला है ऐसा भली भांति समझ कर जिन सज्जन पुरुषों ने उस मैथुन को अपनी स्त्री के साथ भी करना अनुचित समझा है वे सज्जन पुरुष दूसरी स्त्रियों से तथा अन्य प्रकार से मैथुन करना कैसे योग्य समझ सकते हैं ॥१॥

पशव एव रते रतमानसा इति बुधैः पशुकर्म तदुच्यते।
अभिधया ननु सार्थकयानया पशुगतिः पुरतोस्य फलं भवेत् ॥२॥

अर्थ—जो मनुष्य मैथुन करने के अत्यन्त अभिलाषी हैं वे साक्षात् पशु ही हैं क्योंकि जो वास्तविक रीति से पदार्थों के गुण दोषों को विचारने वाले हैं ऐसे बुद्धिमानों ने इस मैथुन को

पशु कर्म कहा है सो इस मैथुन को पशु कर्म कहना सर्वथा ठीक ही है क्योंकि मैथुन करने वाले मनुष्यों को मैथुन कर्म से आगे पशु गति ही होती है।

भावार्थ—मैथुन को विद्वान लोगों ने पशु कर्म इसलिये कहा है कि जिस प्रकार पशुओं का काम हित तथा अहितकर रहित होता है उसी प्रकार इस मैथुन में भी मनुष्य बिना इसके गुण दोष विचारे ही प्रवृत्त हो जाता है इसलिये इस प्रकार के मनुष्य जोकि सदा मैथुन की ही इच्छा करने वाले हैं और उसमें उत्तरोत्तर अभिलाषा को बढ़ाते ही जाते हैं वे साक्षात् पशु ही हैं तथा विद्वान लोगों ने जो इस मैथुन को पशु कर्म संज्ञा दी है सो बिलकुल ठीक ही है क्योंकि जो मनुष्य बड़ी लालसा पूर्वक इस मैथुन कर्म के करने वाले हैं उनको आगे भव में जाकर पशु गति ही मिलती है इसलिये आगे जाकर इस मैथुन कर्म का फल पशु गति की प्राप्ति ही है ॥२॥

यदि भवेदबलासु रतिः शुभा
किल निजासु सतामिह सर्वथा ।
किमिति पर्वसु सा परिवर्जिता
किमिति वा तपसे सततं बुधैः ॥३॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि सज्जन पुरुषों को यदि अपनी स्त्रियों के साथ मैथुन कर्म करना शुभ होता उत्तम फल का देने वाला होता तो वे अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वों में अपनी स्त्री का त्याग क्यों कर देते तथा तप के समय भी उन अपनी स्त्रियों को विद्वान लोग क्यों छोड़ देते।

भावार्थ—जैन शास्त्रों में अष्टमी चतुर्दशी पर्वों का बड़ा भारी माहात्म्य माना गया है तथा जिन २ भव्यजीवों ने इन पर्वों में यथायोग्य व्रतों का पालन किया है उनको अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम फलों की प्राप्ति भी हुई है इसलिये उत्तम फल के अभिलाषी सज्जन पुरुष इन पर्वों में यथायोग्य भलीभांति व्रतों का आचरण करते हैं जिस समय ये सज्जन पुरुष अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्वों में उपवास आदि व्रतों को धारण करते हैं उस समय वे परस्त्रियों का त्याग तो करते ही हैं किंतु अपनी स्त्रियों को भी सर्वथा त्याग कर देते हैं इसी युक्ति को लेकर आचार्य उपदेश देते हैं कि हे अत्यंत निकृष्ट मैथुन कर्म के अभिलाषी पुरुषों ! यदि सज्जनों को अपनी स्त्रियों में की हुई प्रीति अथवा उनके साथ किया हुआ मैथुन शुभ फल का देने वाला होता तो सज्जन पुरुष

पर्वों में उपवास व्रतों को धारण करते समय स्त्रियों का क्यों सर्वथा त्याग कर देते इसलिये मालूम होता है कि अपनी स्त्रियों के साथ किया हुआ भी मैथुन किसी प्रकार के शुभ फलों का देने वाला नहीं है तथा जिस समय सज्जन पुरुष संसार में काम भोग आदि से विरक्त होकर तप को जाते हैं उस समय सर्वथा स्त्रियों का त्याग करके ही जाते है बताओ यदि स्त्रियों के साथ मैथुन करने से जरा भी शुभ फल की प्राप्ति होती तो सज्जन पुरुष तप के समय अपनी स्त्रियों को साथ क्यों नहीं लेजाते इसलिये साफ मालूम होता है कि मैथुन करने से थोड़े से भी उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती ॥३॥

रतिपतेरुदयान्नरयोषितोरशुचि-
नोर्वपुषोः परिघट्टनात् ।
अशुचि सुष्ठुतरं तदितो भवेत्
सुखलवे विदुषः कथमादरः ॥४॥

अर्थ—जिस समय काम की उत्पत्ति होती है उस समय काम की उत्पत्ति से अत्यंत अपवित्र दोनों शरीरों का आपस में परिघट्टन अर्थात् घिसना होता है तथा उस परिघट्टन से अत्यंत अपवित्र फल की प्राप्ति होती है इसलिये थोड़े से सुख की प्राप्ति के लिये विद्वान लोग कैसे उस मैथुन में आदर कर सकते हैं। कभी भी नहीं कर सकते।

भावार्थ—यह नियम है कि जैसा कारण होता है कार्य भी वैसा ही होता है यदि कारण अच्छा होवे तो कार्य भी उससे अच्छा ही उत्पन्न होता है और यदि कारण खराब होवे तो कार्य भी उससे खराब ही उत्पन्न हुआ देखने में आता है मैथुन उस समय होता है जिस समय कामी दोनों स्त्री पुरुषों को काम की अति तीव्रता होती है तथा तीव्रता के होने पर जब उन दोनों के अत्यन्त अपवित्र शरीरों का आपस में मिलाप होता है इसलिये जब दोनों अपवित्र शरीरों का मिलाप ही मैथुन की उत्पत्ति में कारण पड़ा तो समझना चाहिये कि मैथुन का एक अत्यन्त खराब फल है इसलिये इस प्रकार के मैथुन से उत्पन्न हुये थोड़े सुख में विद्वान लोग कैसे आदर को कर सकते है ? अर्थात् कभी, भी नहीं कर सकते ॥४॥

अशुचिनि प्रसभं रतकर्मणि
प्रतिशरीररतिर्यदपि स्थिता ।

चिदरिमोहविजृंभणदूषणा
दियमहो भवतीति निषेधिता ॥५॥

अर्थ—काम के वशीभूत होकर बलात्कार से अत्यन्त अपवित्र मैथुन कर्म के होने पर कामी स्त्री पुरुषों के शरीर में उत्पन्न हुई यह काम संबंधी प्रीति चैतन्य का वैरी जो मोह उसके फैलाव के दूषण से होता है इसलिये यह काम की प्रीति सर्वथा निषिद्ध मानी गई है।

भावार्थ—जब तक इस आत्मा में मोहनीय कर्म की प्रबलता रहती है तबतक वास्तवक चैतन्य स्वरूप आत्मा का प्रकट नहीं होता क्योंकि आत्मा का जो वास्तविक चैतन्यस्वरूप है उसका यह मोहनीय कर्म प्रबल वैरी संसार में है। और यह जो रति उत्पन्न होती है सो इस मोहनीय कर्म की प्रबलता से होती है क्योंकि काम के वशीभूत होकर जब दोनों स्त्री पुरुष परस्पर में स्नेह रूपी रस्सी में बंध जाते है तथा स्नेहरूपी रस्सी बंधकर जब वे मैथुन कर्म में प्रवृत्त होते हैं उस समय उन दोनों के शरीर में यह काम संबंधी रति स्थित होती है इसलिये रति की उत्पत्ति आत्मा के वास्तविक चैतन्य के वैरी मोह के फैलाव से ही होती है इसीलिये वास्तविक वस्तु के स्वरूप से हटानेवाली इस रति का निषेध विद्वान लोगों ने किया है ॥५॥

निरवशेषयमद्रुमखंडने शितकुठारहतिर्ननु मैथुनम्।
सततमात्महितं शुभमिच्छिता परिहतिविधिनास्य विधीयते ॥६॥

अर्थ—आचार्य कहते है कि यह मैथुन कर्म समस्त संयमरूपी वृक्ष के खंडन करने में तीक्ष्ण कुठार की धारा के समान हैं इसलिये जो मनुष्य निर्मल अपनी आत्मा के हित के करने वाले है वे इसका सर्वथा त्याग कर देते हैं।

भावार्थ—पांच प्रकार के स्थावर तथा जीवों की जो रक्षा करना है इसी का नाम संयम है वह संयम मैथुनकर्म में प्रवृत्ति होने पर कदापि नहीं पलता है क्योंकि मैथुनकर्म के करने से अनेक प्रकार के जीवों का विघात होता है इसलिये मैथुन करने से किसी प्रकार के आत्म के हित की प्राप्ति नहीं होती है इसीलिये जो पुरुष यह चाहते है कि हमारी आत्मा का किसी प्रकार से हित होवे वे इस महान निकृष्ट पाप के करने वाले मैथुनकर्म का सर्वथा त्याग करते है अतः

आत्महितैपियों को कदापि इस मैथुनकर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिये किंतु इसका दूर से ही त्याग कर दुना चाहिये ॥६॥

मधु यथा पिबतो विकृतिस्तथा वृजिनकर्मभृतः सुरते मतिः ।
न पुनरेतदभीष्टमिहाङ्गिनां न च परत्र यदायतिदुःखदम् ॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा पीने वाले पुरुष को, विकार होते हैं उसी प्रकार जो पुरुष पापी हैं उसकी सदा रति करने में उच्छा रहती है किन्तु यह मद्य जीवों को किसी प्रकार के हित का करने वाला नहीं है तथा दूसरे भव में भी यह अनेक प्रकार के दुःख को देनेवाला है।

भावार्थ—जिस प्रकार जो पुरुष सदा मदिरा का पीने वाला है यदि उसको किसी रीति से मदिरा न मिले तो उसको अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं उसी प्रकार जो मनुष्य पापी हैं अर्थात् मैथुन आदि खराब काम करने में जरा भी भय नहीं करता है उस मनुष्य को सदा अभिलाषा मैथुन कर्म के करने की ही रहती है किंतु यह मैथुन कर्म किसी प्रकार के हित का करने वाला नहीं केवल नाना प्रकार भयंकर दुःखों का देनेवाला है इसलिये परभव में भी किसी प्रकार की सुख की आशा नहीं इसलिये जो पुरुष मोक्षाभिलाषी है आत्मा के सुख को चाहते हैं उनको चाहिये कि वे कदापि मैथुन कर्म में अपनी प्रवृत्ति को न करें ॥७॥

रतिनिषेधविधौ यततां भवेच्चपलतां प्रविहाय मनः सदा ।
विषयसौख्यमिदं विषसन्निभं कुशलमस्ति न भुक्तवतस्तव ॥८॥

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश देते है कि जो मनुष्य अपना हित चाहते है उनको इस रीति से अपने मनको अच्छी तरह शिक्षा देनी चाहिये कि हे मन तू सदा चपलता को छोड़कर रह तथा रति के निषेध करने में प्रयत्नकर क्योंकि यह विषयसौख्य विषके समान है और इस विषय सुख को भोगने वाले तेरी किस प्रकार से कुशल नहीं है ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विष के भक्षण करने वाला होता है उसकी जिस प्रकार संसार में खैर नही रहती उसको अनेक प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है उसी प्रकार हे मन यह विषय सुख भी मानिंद जहर के है इ सलिये जो तू इसमें सुखमानकर रातदिन इसके भोगकरने में तत्पर रहता है इसमें तेरी खैर नहीं तुझे नानाप्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा

इसलिये ऐसा भलीभांति समझकर हे मन तू अपनी चंचलता को छोड़दे तथा रतिकर्मके लिये सदा जैसे बने वैसे कोशिश कर ॥ ८ ॥

युवतिसंगतिवर्जनमष्टकं प्रति मुमुक्षुजनं भणितं मया।
सुरतरागसमुद्रगता जनाः कुरुत मा क्रुधमत्र मुनौ मयि ॥९॥

इति श्री पद्मनंद्याचार्यवरचितपद्मनंदिपंचविंशतिका
समाप्ता।

अर्थ—जो मनुष्य मुमुक्षु हैं मोक्ष की प्राप्ति के अभिलाषी हैं उन्हीं मनुष्यों के लिये यह मैंने युवति स्त्रियों के संग को निषेध करने वाला अष्टक का अर्थात् ब्रह्मचर्याष्टक का वर्णन किया है किंतु जो मनुष्य भोगरूपी रागसमुद में डूबे हुवे हैं इस अष्टक को अच्छा नहीं समझते हैं वे मुझे मुनि जानकर मेरे उपर क्षमा करें ॥

इस प्रकार श्री पद्मनंदिआचार्य द्वारा विरचित श्री पद्मनंदिपंचविंशतिका में
ब्रह्मचर्याष्टक नामक अधिकार समाप्त हुवा।

इस प्रकार श्री पद्मनंदिआचार्य द्वारा विरचित श्री पद्मनंदिपंचविंशतिका का
नवीन हिन्दी भषानुवाद समाप्त हुवा।
